भारतीय ताल वाद्यों का उपयोग एवं तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्०

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :

पं० राम आश्रयझा (रामरंग)

सेवा निवृत्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

संगीत एवं ललित कला विभाग

इलाहाबाद बिश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री :

श्रीमती मुक्ति व्यास

वरिष्ट प्रवक्ता

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग

इलाहाबाद डिग्री कालेज

इलाहाबाद

१९९५
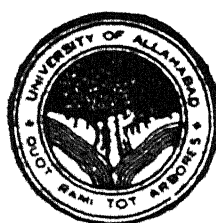
पं० रामाश्रय झा (रामरंग)

सेवा निवृत्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संगीत एवं ललित कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

आवास
५५७ बी० एच० एस० भरद्वाजपुरम्
इलाहाबाद-२०० ००६

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "भारतीय अवनद्य वाद्य एवं इनका तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर शोध कार्य करने का परिणाम है । जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी॰ फिल्॰ उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में श्रीमती मुक्ति व्यास द्वारा लिखा गया है । शोध सामग्री मौलिक एवं शोध परक है । इस हेतु मैं शोध प्रबन्ध को परीक्षणार्थ प्रेषित करने की संस्तुति करता हूँ ।

रामाश्रय झा १६.६.९५

(रामाश्रय झा)

निर्देशक

भूमिका

मानव प्राणी प्रकृति का सबसे नायाब तोहफा है तो संगीत उसकी झंकार । हंस वाहिनी माँ सरस्वती एक ओर ज्ञान प्रदायिनी हैं तो दूसरी ओर मयूर वाहिनी [सरस्वती] कला की देवी हैं । मनुष्य प्रकृति देवी का सबसे सजग सन्तान है जो प्रकृति माँ के सौन्दर्य का अनन्य उपासक भी है । जहाँ सौंदर्य और आनन्द है वहीं गीत की मधुर गुनगुनाहट भी आ ही जाती है ।

एक प्रकार से संगीत ही जीवन है । मनुष्य क्या पशु भी इसके मोह पाश से अलग नहीं हो पाता तभी तो नाद के वशीभूत हो मृग हो या जहरीला सर्प वह भी बन्दी बन जाता है । शीतल वायु के सनसनाते झोंके हों या झरने की कलकल ध्वनि दोनों ही मन को आनन्दित करते हैं ।

सरस्वती की वीणा की मधुर झंकार से ही संगीत का प्रारम्भ माना जा सकता है । आज के घोर वैज्ञानिक युग में व्यक्ति प्रायः सब कुछ बुद्धि की तुला पर तौल कर करता सा दिखाई पड़ता है, लेकिन फिर भी संगीत की मधुर स्वर लहरी में भाव विभोर हो बुद्धि को ताख पर रखकर कहीं ढोलक तो कहीं मंजीरा और करताल झंकरित कर झूम उठता है । इस झूम उठने में भी एक लय ताल ध्वनि की एक क्रमबद्ध योजना रहती है ।

संगीत शास्त्रीय हो या लोकगीत दोनों में स्वर ताल का क्रम बद्ध उतार-चढ़ाव होता है । शास्त्रीय संगीत में तबला और मृदंग प्रमुख हैं, तो लोकगीत में ढोलक मंजीरा ढपली कुछ नहीं तो घड़े को चोटकर ही थिरकते हुये गा उठते हैं । यदि जंगल में कीड़े द्वारा खाए बाँस से कौतूहलवश बाँसुरी का जन्म हुआ तो डंके की चोट पर ध्वनि कर समय का ज्ञान कराया गया जिससे घंटे का जन्म हुआ ।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है । जैसे कि कीड़े द्वारा खाए बाँस से बाँसुरी का जन्म हुआ तो अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति भी एक प्रकार से किसी अनुमानित आधार पर थाप देकर तबला, मृदंग एवं ढोलक जैसे अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति मानी जा सकती है । तबला अरबी के "तबल" शब्द का विकसित रूप है ।

ऐसा माना जाता है कि प्राचीन काल में वैदिक मंत्रों को छन्दबद्ध कर उसके दुरूपयोग पर[1] ऋषियों ने एक प्रकार से रोक लगाई तो दूसरी ओर गुरू शिष्य परम्परा के द्वारा पठन-पाठन के द्वारा शिष्यों को अभ्यास द्वारा रटाकर वैदिक मंत्रों की दुरूहता को सहज करके आज तक गुरू शिष्य परम्परा के द्वारा संग्रहीत {वैदिक मंत्रों} कर सके हैं । इस लय ताल की सुनिश्चित योजना को जीवन में संगीत मय कर सहज और सुलभ करने में संगीत का विशेष महत्व है । संगीत के द्वारा कठिन छन्दबद्ध पदों को गाकर भी सरस बनाया जाता है । गायन, वादन एवं नृत्य के संगम को ही संगीत कहा गया है । इस संगम को ही तीर्थराज प्रयाग {पूर्णानिन्द} बनाने को अवनद्ध वाद्यों का विशेष महत्व है ।

ऐसे अवसर पर मैं प्रथमतः अपने स्व. गुरू आनन्द पाल अग्रवाल को अपना श्रद्धा सुमन अर्पित कर रही हूँ जिनकी छत्रछाया कि कृपा है कि मैं तबले पर हाथ रख पा रही हूँ । वैदिक काल से गुरू शिष्य परम्परा में गुरू का विशेष महत्व रहा है, संगीत का ज्ञान तोबिना गुरू के अधूरा ही है या कबीर के शब्दों में - "हरि रूठे ठौर है । लेकिन गुरू के रूठने में कल्याण नहीं, कारण "बलिहारी गुरू आपने गोविन्द दियो बताय" इसलिए प्रथमतः मैं अपने गुरू श्रद्धेय पं. रामाश्रय झा जी को अपना श्रद्धा सुमन ही समर्पित कर पा रही हूँ, आभार प्रकट करने की न तो धृष्टता कर सकती हूँ न शान्ति का अनुभव ही कर सकूँगी । संगीत विभाग की अध्यक्षा डा. {कु.} गीता बनर्जी को अपना हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिनके सहयोग के बिना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का पूरा हो सकना संभव ही नहीं था । मैं प्रयाग विश्व-विद्यालय के संगीत विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष डा. साहित्य कुमार नाहर को धन्यवाद ज्ञापित कर उनके सहयोग को झुठलाना होगा । इसलिए मैं उन्हें मात्र अपना स्नेह ज्ञापित करती हूँ ।

मैं अपने पति श्री सुनीत व्यास के प्रति कुछ अधिक न कहकर मात्र इतना ही कहना चाहती हूँ कि वह मेरे पारिवारिक दायित्व

---

1. एक ओर गद्य को रटना सहज नहीं है, तो दूसरी ओर उसे समझना सहज है ।

के भार के कारण शोध प्रबन्ध के लड़खड़ाते डग भरते चलने में निराश करने की जगह प्रेरणा देते हुये उत्साहित करते रहे हैं । उन्हीं के फलस्वरूप प्रस्तुत शोध प्रबन्ध आपके सामने है ।

लेखिका उन सभी गुरूजनों एवं अपने सहयोगियों के प्रति भी आभार ज्ञापित करना चाहती है जिन्होंने कभी किसी भी रूप में जाने-अनजाने किसी प्रकार की भी सहायता की ।

श्री राम नरायन जी, जिनका मेरा पारिवारिक सम्बन्ध रहा है, उन्होंने विशेष आत्मीय ढंग से इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में मुझे सहायता प्रदान की, उनकी मैं आभारी हूँ ।

आखिर में मैं अपने कालेज - इलाहाबाद डिग्री कालेज की प्रभारी डा॰ ﴾कु॰﴿ माया अग्रवाल को कुछ न कहकर मात्र अपनत्व ज्ञापित करती हूँ साथ ही प्राचार्य डा॰ हर्ष देव सिंह को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे सहयोग प्रदान किया है ।

मुक्ति व्यास

﴾ मुक्ति व्यास ﴿

अनुक्रमणिका — पृष्ठ संख्या

अध्याय १

१. संगीत

२. भारतीय प्राचीन संगीत

३. संगीत वाद्यों का वर्गीकरण

४. अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति, विकास एवं प्रकार

संगीत

भारत में "संगीत" शब्द का व्यवहार गाने, बजाने और नाचने की कलाओं के अर्थ में किया जाता है । "संगीत" मूलतः संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति गै धातु में "क्त" प्रत्यय के योग से बने "गीत" शब्द के पूर्व "सम" उपसर्ग लगकर हुई है । "सम" का अर्थ सम्यक रूप से सुशोभित गान होता है ।

संगीत शब्द में सम् उपसर्ग अर्थात् सम्यक का तात्पर्य "वादन" और नर्तन से है । अर्थात् "गान" को उपरंजित करने के लिए जब उसके साथ वादन और नर्तन का भी संप्रयोग होता है तब संगीत की विधा पूर्ण होती है । इसी संगीत की शास्त्रोक्त परिभाषा इस प्रकार बताई गयी है :

"गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते" {21}
{संगीत रत्नाकर, प्रथमः स्वरगताध्यायाः, प्रथम प्रकरणम् }

अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों को संगीत कहते हैं । इस प्रकार संगीत शब्द में गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों का समावेश माना गया है । संगीत शब्द के व्युत्पत्तिगम्य अर्थ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि संगीत में गीत प्रधान है और वादन व नर्तन इत्यादि शेष कलाओं का कार्य उसे सम्यक बनाना है । अतएव संगीत के अन्तर्गत गीत को श्रेष्ठ और वाद्य व नृत्य को सहायक मानते हुए गीत को स्वतंत्र, वाद्य को गीताश्रित और नृत्य को वाद्याश्रित माना गया है जैसे:

नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च
अतो गीत प्रधानत्वाद त्रादावमिधीयते {24}
{संगीत रत्नाकर, प्रथमः स्वरगताध्यायः, प्रथमं प्रकरणम् ।

संगीत के अन्तर्गत नाचने के अर्थ में दो शब्द व्यवहृत होते हैं । नृत्त और नृत्य, इन दोनों शब्दों में थोड़ा अन्तर है । केवल ताल और लय सहित पद संचालन मात्र को नृत्त कहते हैं और जब नृत्त के साथ अभिनय भी संयुक्त हो जाता है, तब उसे नृत्य कहा जाता है । यहाँ अभिनय से तात्पर्य पदार्थाभिनय अर्थात् गीत के शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए किये जाने वाले अभिनय से

भारतीय संगीत इतना प्राचीन है कि इसके जन्म की कहानी खोजी नहीं जा सकती । इसकी प्राचीनता को देखते हुए ही विद्वानों में इसके जन्म के विषय में अनेक विलक्षण एवं पौराणिक गाथाएं प्रचलित हैं । पुराण हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ हैं । अतः संगीत का वर्णन पुराणों में प्राप्त होने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुओं ने संगीत का सम्बन्ध धर्म से जोड़ दिया है । परिस्थितियों में भारतीय संगीत के जन्म का इतिहास खोजने के लिए हमें ग्रन्थों तथा पुरातन अवशेष जो कुछ भी प्राप्त हो सकें, उन्हीं का आश्रय लेना होगा ।

आर्य लोग भी देवी-देवता को मानते थे, वे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश सभी को मानते थे । वे ब्रह्मा जी को जगत का उत्पन्न करने वाला, विष्णु भगवान को जगत का पालन करने वाला और महेश को संसार का संहारकर्ता मानते हैं । इसमें विष्णु भगवान के हाथ में शंख, पुराण में कहा गया है कि यह शंख समुद्र मंथन के समय प्राप्त हुआ था । महादेव जी ने पिनाक का आविष्कार किया । इसे तन्त्र वाद्य का पिता कहा गया है । जब शंकर भगवान ने त्रिपुर र का संहार कर दिया और उसी प्रसन्नता में नाचने लगे तो इस नृत्य को तांडव कहा गया । उनके नाच में ताल की संगति के लिए ब्रह्मा जी ने उनके पुत्र गणेश जी को डमरू नामक ताल-वाद्य बनाकर दिया ।

इसी प्रकार की एक रोचक घटना "अद्भुत रामायण" में प्राप्त होती है । कहा जाता है कि एक बार नारद ऋषि को इस बात का बड़ा अहंकार हो गया कि उन्होंने पूर्ण रूप से संगीत का अध्ययन कर लिया है । इस अहंकार को नष्ट करने के लिए भगवान विष्णु उन्हें अपने साथ स्वर्ग में भ्रमण कराने के लिए ले गये । मार्ग में उन्हें एक विशाल भवन मिला जिसमें उन्होंने अनेक पुरुष व स्त्रि को अपने टूटे अंगों की पीड़ा के कारण विलाप करते हुये देखा । भगवान विष्णु वहां ठहर गये और उनके विलाप का कारण जानना चाहा । उन्होंने कहा कि वे सब भगवान शंकर द्वारा उत्पन्न किये गये राग व रागिनियां हैं । नारद ना कोई ऋषि है, जो न गाना जानते हैं और न ही बजाना, उन्हीं के बेढंगे गायन वादन ने हमारी यह अंगहीन स्थिति पैदा कर दी है । जब तक स्वयं शंकर भगव या और कोई शुद्ध गायक इन अशुद्ध रागों को शुद्ध न कर दे तब तक पुनः हमारे अंगों की पूर्व स्थिति में होना कठिन है । इस पर नारद ऋषि ने भगवान से क्षमा मांगी और अपने मिथ्या अहंकार को नष्ट कर दिया । इस प्रकार यह पता चल है कि भारतीय संगीत में राग-रागिनियों के जन्म दाता शंकर भगवान ही हैं ।

संक्षिप में यही कहा जा सकता है कि माँ सरस्वती के हाथों में वीणा, नारद ऋषि के हाथों में नारदीय वीणा, शंकर जी के हाथ में डमरू, विष्णु भगवान के हाथ में शंख इत्यादि इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि जब से सृष्टि का जन्म हुआ था तभी से भारतीय संगीत शुरू हुआ था । इस हेतु भारतीय संगीत में राग-रागनियों की उत्पत्ति शंकर जी और पार्वती जी से माना गया है ।

इसके अतिरिक्त संसार के सभी प्राचीन ग्रन्थों में भारत के वेदों का ही प्रमुख स्थान है । वैदिक कालीन सभ्यता को एक प्रतिष्ठित सभ्यता के रूप में माना गया है । कुछ लोगों का अनुमान है कि इस सभ्यता के उच्च स्तर पर पहुचने के बहुत पूर्व ही संगीत का जन्म हो चुका था । उनका कहना है कि जब मनुष्य को अपने भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तभी उसे ध्वनि का सहारा लेना पड़ा । इसे डा॰ कर्ट सच ने "भावाभिव्यक्ति की सहायता " से संगीत का जन्म कहा है । इसी के साथ जब मनुष्य ने भाषा का निर्माण कर लिया तब उसने एक दो स्वरों की सहायता से छोटी सी धुन बना ली और उन्हीं के आधार पर संगीत का जन्म हुआ हो । इसी शब्दों के आधार पर संगीत का जन्म भी कह सकते हैं ।

संगीत का जन्म दाता प्रकृति को भी कहा जा सकता है । जिस प्रकार मनोहर दृष्य को देखकर एवं छायाओं को देखकर चित्रकला का जन्म हुआ होगा, प्राकृतिक रूप में पड़े हुये पत्थर के टुकड़ों को देखकर मूर्तिकला का जन्म हुआ होगा, उसी प्रकार प्रारम्भिक मनुष्य ने अपने जीवन के आस-पास संगीतमय वातावरण देखा । सरिताओं की ऊँची-नीची लहरों से, सागर की उत्ताल तरंगों से, पक्षियों के प्रलुब्धकारी कलरव से और समीर के मधुर, शीतल झोंकों की अंगड़ाइयों की ध्वनियों को सुनकर ही मनुष्य ने संगीत को जन्म दिया होगा मनुष्य ने अपनी प्रसन्नता आशाएँ और विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के समय ऊँची-नीची ध्वनियों की सहायता से अपने भावों को व्यक्त किया होगा । यही कालान्तर में संगीत बन गया होगा । संभवतः उस समय के लोग एक याँ दो ऊँचे-नीचे नादों को ही काम में लाते होंगे ।[1] वैसे भी संगीत में मनुष्यों की ध्वनियों का ही अनुसरण किया जाता है, जिसके माध्यम से मनुष्य के भावों का सबल और स्वस्थ्य स्पष्टीकरण होता है ।[2]

यही नहीं वरन् मनुष्य संगीत के एक स्वर के माध्यम से ही अपने भावों का स्पष्टीकरण इतनी सफलतापूर्वक कर सकता है जितना कि अनेक पृष्ठों के लेखों द्वारा संभव नहीं है ।[1]

विद्वानों का मत है कि भारत के संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर भी उस समय ही यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जब कि यूनान से असभ्यता का युग समाप्त भी नहीं हो पाया था ।[2] कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्व पाषाण काल के लोग वास्तव में भारत के मूल निवासी थे । इस काल में संगीत वाद्य का जन्म हो चुका था । पत्थर का एक संगीत वाद्य इस युग में पाया जाता है जिसे "अग्सा" कहते हैं । कुछ विद्वान इसे शिकार का शस्त्र मानते हैं, लेकिन वास्तव में यह पत्थर का औजार नहीं है, संगीत वाद्य ही है । ये लोग इसे बजाकर अपने विचित्र स्वरों का आनन्द लिया करते थे । ये लोग "ह् तू हेवा ह् ह् हेवा" जैसी विचित्र प्रकार की संगीतात्मक ध्वनि निकालते थे ।[3]

इसके उपरान्त उत्तर पाषाण काल में संगीत की अवस्था पूर्व काल से काफी सुधर चुकी थी । यदि इस काल की सभ्यता का विश्लेषण किया जाय तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उसकी पृष्ठभूमि में संगीत की वह वस्तु थी जिसने उस सभ्यता को जन्म दिया।[4] यही नहीं वरन् सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान लोवास्की का कथन है कि "वर्तमान संगीत की नींव ताम्र युग के संगीत पर रखी हुई है ।" इस काल में संगीत के द्वारा रोगों की चिकित्सा भी प्रारम्भ हो चुकी थी ।[5]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि द्रविड़ों को संगीत के वैज्ञानिक रूप का पता था, तभी तो उन्होंने संगीत का चिकित्सा के क्षेत्र में प्रयोग किया ।[6] एक विद्वान का कहना है कि द्रविड़ लोगों की सभ्यता और संस्कृति बड़ी उच्च कोटि की थी । इनका संगीत ज्ञान भी प्रशस्त था । आर्यों ने द्रविड़ों से ही संगीत की अलभ्य थाती प्राप्त की थी । द्रविड़ों ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में संगीत को अपनाया । उनका संगीत किसी भी सभ्य एवं सुसंस्कृत जाति से कम नहीं था ।[7]

---

1. डीसेंट आफ मैन- चार्ल्स अरविन पृष्ठ-57।
2. सर डब्ल्यू जोन्स और कर्नल टाड, टाड का राजस्थान-वाल्यूम-1,पृ. 466.
3. द हिस्ट्री आफ अर्ली म्यूजिक आफ इंडिया-मिस्टर गल्फ इल मिल.
4. द हिस्ट्री आफ म्यूजिकल फैक्ट्स- मिस्टर टर्नेल आस्की.
5. द एन्वान्टिक पावर आफ म्यूजिक-डावास्की रेमेलो और द हेल्थ एण्ड म्यूजिक-जेन काक्स.

द्रविड़ नारियों ने पुरूषों से अधिक संगीत को अपनाया । हमारा अनुमान है कि प्रारंभिक संगीत तथा नृत्य जानवरों की बोलियों और उनकी चेष्टाओं का ही अनुकरण मात्र रहा हो । संभवतः उनके प्रिय गीतों में प्रेम संबंधी गीत, वर्षा के गीत, युद्ध गीत, दुःख के समय के गीत, अन्य ऋतु सम्बन्धी गीत हैं । उनकी बंशी बांस और हड्डियों की तथा वीणा लकड़ी की बनी हो । ताल वाद्यों में मिट्टी या लकड़ी से बनी कूड़ियों पर खाल लगी हो । वैदिक काल में भूमि दुन्दुभि नामक वाद्य भी प्राप्त होता है ।[1]

========

---

1. भारतीय संगीत के चार चरण- कु. विक्सा हील.

भारतीय प्राचीन संगीत

सन् 1992 ई0 में पंजाब में मोहन जोदड़ो और हड़प्पा में खुदाई हुई है, उनमें जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनके द्वारा सिन्धु घाटी की सभ्यता का पता चलता है। पुरातत्ववेत्ताओं तथा इतिहासकारों की सम्मति से ये वस्तुएं ईसा से 4500 से 5000 वर्ष पूर्व की हैं।

सबसे पहले सन् 1992 में श्री राधाकृष्ण बनर्जी ने सिन्धु के नीचे की ओर लरकाना से लगभग पचीस मील दक्षिण में पुराने पर्वत के एक खंडहर को खोजा। श्री सर जान मार्शल, श्री नोनीगोपाल मजूमदार, रायबहादुर दयाराम साहनी, अरनेस्ट मैके, रायबहादुर राम प्रसाद चन्द, राम प्रसाद, के0एन0 दीक्षित, श्री ह्वीलर इत्यादि अनेक विद्वानों ने इन खंडहरों की खुदाई कराई। इस खुदाई में जो अनेक वस्तुएं प्राप्त हुई उनमें भगवान शंकर की तांडव नृत्य करती हुई एक मूर्ति तथा कांसे की बनी नग्न नारी की एक मूर्ति जिसके हाथ में बहुत सारी चूड़ियां हैं और जो नृत्य की मुद्रा में है, उपलब्ध हुई है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे चित्र भी मिले हैं जिनमें नृत्य के उत्कृष्ट नमूने भी प्रस्तुत किये गये हैं। उन खंडहरों की दीवारों पर सांगीतिक चित्र भी मिले हैं।

इन मूर्तियों में एक ऐसी मिट्टी की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसमें गले से लटकता हुआ ढोल जैसा वाद्य है और एक वाद्य आधुनिक मृदंग के पूर्वज जैसा भी प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे चित्र भी प्राप्त हुये हैं, जिनमें वीणा का स्वरूप तथा "करताल" के सदृश्य वाद्य दिये गये हैं।[1]

इसके अतिरिक्त सतलज के किनारे अम्बाला से लगभग 60 मील उत्तर में रोपड़ नामक स्थान पर भी खुदाई करने पर विभिन्न प्रकार के संगीत वाद्यों के चिन्ह प्राप्त हुये हैं। इस स्थान पर एक ऐसी स्त्री की मूर्ति प्राप्त हुई है, जो चार तारों की वीणा को बजा रही है।[2]

यहीं पर कुछ सिक्कों पर वीणा के चित्र भी प्राप्त हुये हैं, ये सिक्के समुद्र गुप्त के समय के हैं। विद्वानों का अनुमान है कि रोपड़ की सभ्यता ईसा से लगभग 200 से 600 वर्ष पूर्व की है। इसके अतिरिक्त लोथाल की खुदाई में नारियल खोल के टुकड़े का एक ऐसा टुकड़ा मिला है, जिसमें दो स्थानों पर

1- हिस्ट्री ऑफ इण्डियन म्यूजिक-स्वामी प्रज्ञानन्द, प्रथम संस्करण, पृष्ठ-87,

2- यह मूर्ति भारत सरकार के दिल्ली स्थित आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेंट में है।

गडढे है । लोगो का अनुमान है कि यह किसी बाँध की घुड़च होगी । इसका काल अनुमान से ईसा से 2000 वर्ष पूर्व का माना जाता है ।

इन आधारो पर यह कहा जा सकता है कि रोपड़ की खुदाई की वस्तुएं जो कि ईसा से लगभग 200 से 600 वर्ष पूर्व तक की हैं, उनमे चार तार की वीणाएं प्रचलित थी, जिनसे संभवतः चार स्वर उत्पन्न होते होंगे । जब कि "लोयल" की खुदाई में प्राप्त हुई वस्तुओ का समय ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व का माना जाता है । इस समय दो तारो के वाद्यों का प्रचलन रहा होगा । इन सब बातो को देखते हुये यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस काल में गीतो का विकास हो चुका था, अनेक छन्द बन चुके थे, जो कि सांगीतिक रूप से गाये जाते थे । खुदाई में एक ऐसी मुद्रा भी प्राप्त हुयी है जिसमें एक नारी गाती हुई मुद्रा में चित्रित है ।[1]

एक प्रसिद्ध इतिहासकार कीर्डियल शोक्स ने सिंधु घाटी की सभ्यता के विषय में लिखा है कि भारतीय संगीत विश्व के संगीत में पहले भी अग्रणी था ।[2]

इन सभी बातो को देखते हुये एक विद्वान ने लिखा है कि द्रविड़ जाति की सभ्यता और संस्कृति तथा सिंधु घाटी की सभ्यता और संस्कृति में बहुत कम अन्तर पाया जाता है । प्रायः दोनो ही सभ्यताओ में साम्यता ही पाई जाती है । दोनो वर्गों की सभ्यता में संगीत का विकास एक जैसा ही है । कुछ भी अंतर नहीं मालुम होता है । यही नहीं वरन् हमे यह भी मालुम हुआ है कि शिल्प और कला शब्दो का उद्गम भी द्रविड़ो द्वारा ही हुआ है, जो बाद में संस्कृत भाषा में प्रवेश कर गये । इससे यह भी सिद्ध होता है कि आर्यों के भारत में आने से पूर्व ही यहाँ वीणा तथा ताल वाद्यों का प्रचार था ।

स्व0 जवाहर लाल नेहरू भी सिंधु घाटी की सभ्यता का वर्णन करते हुये एक स्थान पर कहते है कि सिंधु घाटी की सभ्यता और आज के हिन्दू समाज के बीच की बहुत सी कड़िया गायब है और ऐसे जमाने से गुजरे हैं जिनके बारे में हमारी जानकारी नही के बराबर है । एक को दूसरे जमाने से जोड़ने वाली कड़िया अक्सर जाहिर भी नही है और इस बात की जाने कितनी घटनाएं घटी है और कितने परिवर्तन हुये हैं ।

1- दी फ्लो ऑफ इण्डियन म्यूजिक- श्री जोन मार्क्स फेली.

इस प्रकार देखा जाय तो संगीत का जन्म मनुष्य भावाभिव्यक्ति के कारण हुआ और ईसा से लगभग 4500 से 5000 वर्ष पूर्व भी भारतीय संगीत का स्तर ऊंचा था । साथ में संगीत का शास्त्रीय पक्ष भी सबल था । उस समय लोगो को संगीत के वैज्ञानिक रूप का भी ज्ञान था । तभी उसका प्रयोग चिकित्सा के क्षेत्र में होता था वीणा और मृदंग जैसे वाद्यों का वादन प्रचलित था । पूर्व पाषाण काल में महिलाएं संगीत के कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं होती थी और न ही उन्हें नृत्य का ज्ञान था, परन्तु उत्तर पाषाणकाल में आकर इन लोगों में सामाजिक भावना का उदय हुआ और महिलाएं नृत्य मे दक्ष हो चली थी ।

इस प्राचीन काल से आगे हमें भारत का वैदिक युग प्राप्त होता है । इस युग के प्रमुख ग्रन्थ वेद हैं। हमें उनके द्वारा उस काल का काफी कुछ ज्ञान हो जाता है ।

वैदिक युग में संगीत

ईसा से लगभग 2000 से 1000 वर्ष पूर्व वेदो का रचना काल बताया जाता है । वेदों की संख्या चार है, जिन्हें- ऋगवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और शामवेद कहते हैं । आर्यों को संगीत से इतना प्रेम था कि उन्होंने सामवेद को केवल गान करने के लिए ही बनाया था । साथ ही एक उपवेद की भी रचना की गयी थी जिसका नाम "गन्धर्ववेद" था । इसमें संगीत का ज्ञान हमें संहिताओं, ब्राहमण ग्रन्थो, प्रतिशाख्यों, व्याकरण और पुराणादि के द्वारा प्राप्त होता है ।

वैदिक युग का प्रारम्भ आर्यों के आगमन से माना जाता है, परन्तु अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि आर्य कहाँ के निवासी थे । एक विद्वान का कथन है कि वह स्थान भारत ही है जहाँ से आर्य लोग सम्पूर्ण विश्व में फैले । वास्तव में आर्य भारत के ही मूल निवासी थे । इनका संगीत ज्ञान अत्यन्त उत्कृष्ट था । अतः इस काल के साहित्य का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि प्रत्येक परिवार में संगीत का उच्च स्थान था । उनका गायन-वादन ताल स्तर में होता था । ऋगवेद काल में संगीत का विकास जितना गृहों में हो पाया उतना बाहर नहीं हुआ । इस काल में प्रातः समय गायन-वादन के माध्यम से देवताओ की आराधना की जाती थी । यद्यपि

सामान्य लोग भी शास्त्रीय संगीत से परिचित थे, फिर भी लोक संगीत की धारा फूट निकली थी । संगीतज्ञ प्रायः ब्राह्मण ही होते थे और वे ही लोक संगीत की रचना करते थे । इस युग में हमें गायक वादक एवं नर्तक तीनो प्रकार के कलाकार मिलते थे । इस युग में वीणा का प्रयोग होता था । संगीतज्ञो को समाज उच्च दृष्टि से देखता था । स्त्रियाँ भी संगीत के कार्यक्रमों में निःसंकोच भाग लिया करती थी ।

उस काल में "समन" नामक एक मेला हुआ करता था । इसमें स्त्रियाँ विशेषकर कुमारियाँ वर की खोज में वहाँ जाया करती थी । मेला रात में हुआ करता था । इस उत्सव का वर्णन जर्मन विद्वान ए.बी.केगी ने अपनी पुस्तक "ऋगवेद" में 19 पृष्ठ पर किया है । वे लिखते है कि पत्नियाँ और कुमारियाँ प्रसन्नतापूर्वक वसनो से अलंकृत होकर समन की ओर चल पड़ती थी । जब प्रान्तर और खेत हरियाली से ढक जाते है तब युवा और युवतियाँ सह नृत्य करती हुई मैदानो की ओर दौड़ चलते हैं । मृदंग धमक उठते हैं, लड़के और लड़कियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़कर नाचने लगते है और तब तक नाचते रहते है, जब तक उनके साथ भूमि और दिशाये भी चक्कर नहीं खाने लगती और उनके नाचते समुदाय को धूल के बादल नहीं घेर लेते ।

यह एक प्रकार का संगीतिक मेला था, जहाँ आदमियों के लिए नारियाँ जाती थी, युवतियाँ और प्रौढ़ाये पति की खोज में और वेश्यायें मौके का फायदा उठाने ।

इस संगीत के उत्सव में कुमारियों की संगीत सम्बन्धी प्रतिभा की खोज/जाँच हो जाती थी जो कुमारी अपनी सांगीतिक उच्चता को प्रमाणित करने में सफल होती, उसका चुनाव विवाह के लिए कर लिया जाता था, यही समन आगे चलकर "समज्जा" के नाम से पुकारा जाने लगा ।

"समज्जा" की यह प्रथा लगभग प्रथम शताब्दी तक चली । इसके विषय मे किसी विद्वान का कहना है-"पौराणिक युग में वर - वधु के चुनाव समज्जा के द्वारा ही होते रहे, यह सम्पूर्ण संगीतमय उत्सव था ।"[1] इसी समज्जा के विषय में डा. वासुदेव सरन अग्रवाल लिखते हैं "जिसमें जनसमुदाय इकट्ठा होकर, वह उत्सव समज्जा कहलाता है"। ग्रन्थों से यह विदित होता है कि समज्जा विशेष प्रकार की गोष्ठियाँ थी, जिसमें स्त्री-पुरुष, बाल -वृद्ध एकत्रित ह होकर अनेक

1- दी हाई ऑफ इण्डियन म्यूजिक- रोबर्ट टेम्पल.

प्रकार के खेल-तमाशे, नृत्य-संगीत, हस्ति युद्ध, मेष युद्ध, दण्ड युद्ध, मल्ल युद्ध आदि खेल या क्रीड़ाएं करते थे, इन्हें समाज कहा जाता था । समज्जा का प्रचलन महाभारत काल में भी था । इस काल की कुछ विशेषताएं इस प्रकार थीं:

§1§ संगीत के द्वारा ईश्वर आराधना का मौलिक भाव वैदिक युग से ही भारत द्वारा सम्पूर्ण विश्व में फैला ।[1]

§2§ इस काल के संगीत का शास्त्रीय रूप इतना पवित्र एवं शुद्ध है कि उसके मुकाबले विश्व के अन्य देशों के संगीत में वैसा उत्तम रूप प्राप्त नहीं होता ।[2]

§3§ इस युग में कवि और संगीतज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था । साहित्यकार और संगीतकार दोनो को एक दूसरे का पूरक समझा जाता था ।[3]

§4§ "वैदिक युग के कलाकारो का चरित्र बड़ा ही उज्जवल और उच्च कोटि का होता था वे कला की साधना के लिए बड़े-बड़े आकर्षण का त्याग करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे ।" -रौजयार्क.

§5§ आर्य लोगों के जीवन का शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा बचा हो जिसमें संगीत ने प्रवेश न किया हो । इस युग के धर्म और संगीत एक हो गये थे । इस काल का कोई भी धार्मिक संस्कार बिना संगीत के पूर्ण नहीं होता था ।

§6§ गायन-वादन और नृत्य में स्त्रियां अधिक समय दिया करती थीं ।

§7§ इस युग में मृदंग, वीणा, वंशी व डमरू इत्यादि वाद्यो का वर्णन प्राप्त होता है ।

संक्षेप में हम कह सकते है कि वैदिक युग में संगीत का जितना सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है, उतना हमे भारत के अन्य किसी भी युग में नहीं प्राप्त होता ।

1- दी औरिजिन ऑफ यूनिवर्सल डिवीजन- जार्ज बुलस.
2- दी ओल्डेस्ट म्यूजिक ऑफ द वर्ल्ड-यूनानी विद्वान- ओवगीसा.
3- दी यूनिवर्सल मिरर्स ऑफ म्यूजिक- मि. रोवत.

पौराणिक युग में संगीत
=x=x=x=x=

वैदिक युग से आगे हमें पौराणिक तथा महाकाव्य काल प्राप्त होते हैं । अतः इस युग के संगीत की स्थिति देखने के लिए हमें पुराणों, उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है । इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि पौराणिक युग में सामान्य लोगों में शास्त्रीय संगीत के प्रति प्रेम कम होता जा रहा था और लोक गीत तथा लोक नृत्य का प्रचार बढ़ता जा रहा था । इस काल में अनेक लोक गीत एवं नृत्य निर्मित हुये । इन लोकगीतों एवं नृत्यों में मनुष्य की रुचियों का पूर्ण ध्यान रखा जाता था । मेलों में संगीत का काफी प्रचलन होता था । यह मेले दो-तीन दिनों तक बराबर चलते रहते थे । गृहस्थ जीवन सम्पूर्ण संगीतमय होता था । समाज में संगीतज्ञों की संख्या बढ़ती जा रही थी, लेकिन संगीतज्ञ अशिक्षित नहीं होते थे। संगीत और शिक्षा दोनों का ज्ञान बच्चों को प्रारम्भ से ही दिया जाता था।नाटकों एवं रंग मंच पर भी नारियों का काम करना भी गौरव की बात समझी जाती थी । समाज के अन्दर समय-समय पर संगीत सम्बन्धी भाषण भी होते थे, जिनमें जीवन की वे पगडंडियां दिखाई देती थीं जिस पर चलकर मानव प्रगति की मंजिल पर पहुंचता था । हरिवंश पुराण में उर्वशी, हेमा, रम्भा, मेनका, तिलोत्तमा इत्यादि नर्तकियों के नामों से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में नृत्य कला भी चरम सीमा पर थी । इन ग्रन्थों में वीणा, पणव, मृदंग और देव दुन्दुभि इत्यादि वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है ।

बौद्ध काल में संगीत
=x=x=x=x=

इस काल में शास्त्रीय संगीत का विकास महाभारत काल से अधिक हुआ । इसी काल के समीप [अर्थात् 566 ई0पू0] भगवान बुद्ध का जन्म काल माना जाता है । इस काल का बौद्धिक साहित्य जो कि "जातक", "पिटक" और "अवदान" के रूप में प्राप्त है, उसमें इस काल की स्थिति का पता चलता है । जातक का अभिप्राय एक विशेष शीर्षक वाली कहानी से है, जिसमें बोधि-सत्व के जीवन सम्बन्धी किसी घटना का वर्णन है । पिटक अर्थात पिटारी बुद्ध वचनों के संग्रह का नाम और अवदान में भिक्षु-भिक्षुणियों के पूर्व जन्म की कथायें हैं । इस काल के संगीत में जीवन काल की व्यापकता का समावेश

अधिक हो गया था । वही संगीत सफल समझा जाता था, जो अपने संगीत प्रदर्शन से मानव को समस्त विकारों से ऊपर उठा सके । भगवान बुद्ध के संपूर्ण सिद्धांतों को गीतों की लड़ियों में पिरो दिया गया था । उन गीतों का सुन्दर ढंग से गायन करके गांव-गांवऔर नगर-नगर की सुप्त जनता को जागरण के पथ पर लाया गया । इस काल में वीणा पर गायन होता था, शास्त्रीय संगीत अपने पूर्ण यौवन पर था, संगीत में जो वासना की धुंध छाई हुई थी, वह विनष्ट हो गयी थी ।

महाकाव्य काल में संगीत
=x=x=x=x=x=x=

पुराणों के उपरान्त हमें महाकाव्य काल मिलता है । इस काल के प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण और महाभारत हैं । ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व ऋषि बालमीकि ने रामायण को लिखा था । रामायण के आधार पर यह विदित होता है कि इस काल में स्वयंवर की प्रथा थी और वर-वधू के चुनाव के अवसर पर संगीत का आयोजन हुआ करता था । राम चन्द्र जी के विवाह उत्सव पर धनुष तोड़े जाने के समय जयमाला पहनाने के समय तथा श्री रामचन्द्र जी के चौदह वर्ष वन में रहने के पश्चात् अयोध्या लौटते समय अनेक स्थानों पर संगीत का आयोजन किया जाना उल्लिखित है । जब लक्ष्मण जी सुग्रीव के अन्तर्महल में प्रवेश करते हैं तो वहां वीणा वादन के शुद्ध संगीत को सुनते हैं । बालमीकि आश्रम में लव-कुश को संगीत की शिक्षा दी जाती है । रावण तथा उसकी पत्नी मन्दोदरी भी उत्तम संगीत ज्ञाता थे ।

इस काल के बच्चों में भी संगीत प्रियता पाई जाती है । नारियां अपने अवकाश के समय भी नृत्य सीखती थीं । भेरी, घट, डिमडिम, मृदुक इत्यादि वाद्यों का प्रचार रामायण काल में पाया जाता है जिनका उल्लेख बालमीकि रामायण में है।[1] इससे स्पष्ट है कि राम राज्य में संगीत का काफी प्रचार था । शायद ही कोई ऐसा घर मिलता था जिसमें संगीत का अस्तित्व किसी न किसी रूप में न हो । एक विद्वान के अनुसार रामायण काल में हमें जितने उत्कृष्ट एवं सुन्दर संगीत की मनोरम झांकी मिलती है, उतनी इससे पूर्व किसी काल में नहीं मिलती ।इस काल के राजे-महाराजे ही संगीत के मर्मज्ञ थे तो उनकी प्रजा क्यों न संगीत प्रेमी होती।इस काल में तीनों उपकरणों-गायन, वादन तथा नृत्य की उन्नति हुई ।[2]

1. संगीत का संक्षिप्त इतिहास-मिo कोमुदनी.
2. सिविलाइजेशन आफ द्राविड़ पीरियड-श्याम सजील.

इससे लगभग 100 वर्ष बाद अर्थात् ईसा से लगभग 300 वर्ष पूर्व महाभारत ग्रन्थ का रचनाकाल माना जाता है । इसका मूल कथानक सम्पूर्ण ऐतिहासिक माना जाता है । इस काल में संगीत का रूप वैदिक कालीन संगीत से कुछ परिवर्तित हो चला था, परन्तु यह परिवर्तन उसके मौलिक तत्त्व में न होकर केवल उसकी प्रदर्शन करने की शैलियों में हुआ । इस युग में ज्ञानी लोग संगीत को समाज की कुरूपता मिटाने के कार्य में प्रयोग करते थे । धर्म और संगीत अधिक समीप आते जा रहे थे । "रास लीला नृत्य" का निर्माण भी इसी काल में हो गया था । नारियों में संगीत के प्रति रुचि दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थी । वही नारी सुन्दर समझी जाती थी जो संगीत की प्रतिभा से आलोकित हो । महाभारत काल का संगीत पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था ।

भगवान कृष्ण की बंशी के बारे में कहा जाता है कि वे संगीत के महान पंडित थे, उन्हें का संपूर्ण ज्ञान था । उनकी बंशी में विचित्र जादू था । श्रीकृष्ण जैसा बंशी वादक आज तक विश्व में पैदा नहीं हुआ । उनकी बंशी ने समाज को संगीतमय बना डाला ।[1]

मौर्य काल में संगीत

ईसा से लगभग 321 वर्ष पूर्व चन्द्र गुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से नन्द राजा को पराजित करके उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था । चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं संगीत प्रेमी था, उसकी संगीत प्रियता की प्रशंसा मेगस्थनीज ने अपनी पुस्तक "इंडिका" में किया है । मेगस्थनीज के वर्णन के अनुसार इस युग में नाट्य शालायें एवं संगीत गृह भी विद्यमान थे । चन्द्रगुप्त मौर्य अपने दरबार में अनेक लड़कियों को रखता था, जो उसका मनोरंजन गायन और नृत्य से किया करती थीं । वह समय-समय पर संगीत सभाओं का आयोजन भी किया करता था, जिसमें सभी प्रकार के संगीतज्ञ भाग ले सकते थे, जो कलाकार उसे उत्तम लगता, उसे पुरस्कार भी दिया करता था ।[2] इतना सब कुछ होते हुये भी सामान्य जनता में संगीत का उतना प्रचार नहीं रहा जितना कि जैन और बौद्ध काल में था । इस काल में लोक संगीत व लोक नृत्य का प्रचार अधिक था । त्यौहारों के अवसरों पर भी संगीत का आयोजन हुआ करता था। साधारण जनता में मृदंग, मंजीरा, ढोल, बंशी और ढप इत्यादि का प्रचार था ।

1. दी सर्वे आफ इन्डियन म्यूजिक - डाइयोगाल .
2. दी म्यूजिक आफ एन्सियेन्ट इंडिया-अग्रवाल.

सम्राट अशोक का काल

सम्राट बिन्दुसार की मृत्यु के बाद 273 ई0पू0 में उनका पुत्र अशोक गद्दी पर बैठा। अशोक ने क्रोध, अहंकार, ईर्षा इत्यादि कुप्रवृत्तियों के दमन पर बल दिया। संगीतकार के चरित्र को भी पावन वातावरण में ढाला। "समज्जा" जिसका प्रचलन बीच में बन्द हो गया था, पुनः चालू किया, परन्तु जब अशोक ने देखा कि समज्जा में बहुत कुछ अनौचित्य होता है, तो उसने समज्जा को बन्द करने की घोषणा की। श्रृंगारिक गीतों का बहिष्कार होने लगा। संगीत की नीवें विलासिता के वातावरण से हटकर आत्मा के विकास में स्थापित होने लगीं। चन्द्रगुप्त के समय में संगीतज्ञों की जो प्रतिष्ठा समाज से हट गयी थी, अशोक ने उसे पुनर्स्थापित किया।

अशोक की पत्नी तिष्यरक्षिता की परिचारिका, चारुमित्रा महान संगीतज्ञ थी। वह वीणा वादन में निपुण थी। वीणा का प्रचलन जो चन्द्रगुप्त के समय में कम हो गया था, अब पुनः अशोक के समय में गतिशील हो गया। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेक देशों में अपने व्यक्तियों को भेजा। इन प्रचारकों ने जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म का उपदेश दिया वहाँ-वहाँ भारतीय संगीत स्वतः ही बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के अपनी गौरवमयी अमिट छाप छोड़ता चला गया। इस प्रकार इस काल में भारतीय संगीत का लंका, तिब्बत, चीन, बर्मा, मिस्र, जावा, सुमात्रा इत्यादि अनेक देशों में प्रचलन हो गया।

=====

भरत कृत नाट्य शास्त्र

=:=:=:=:=:=

अनेक व्यक्तियों के मतानुसार नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत का काल भी यही है, जब कि कुछ लोगों ने भरत को चौथी शताब्दी का माना है और कुछ के मत के अनुसार भरत का काल ईसा से बहुत पूर्व था । नट और अभिनेताओं को भरत कहा जाने लगा था । पाणिनि के ग्रन्थ में भी भरत की चर्चा मिलती है । इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि आदि भरत कोई अवश्य रहे होंगे । "बाल्मीकि रामायण" में भरत के कुछ सूत्रों का प्रतिपादन मिलता है। नाट्य शास्त्र के 6 अध्याय (28 से 33 तक) संगीत से सीधा सम्बन्ध रखते हैं । इनमें 28वें अध्याय में वाद्यों के 4 भेद स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्छनाएं 18 जातियां उनके ग्रह, अंश, न्यास इत्यादि का विवरण है । उन्तीसवें अध्याय में जातियों का रसानुकूल प्रयोग तथा विभिन्न प्रकार की वीणाएं और उनकी वादन विधि दी गयी है । तीसवें अध्याय में सुषिर वाद्यों का वर्णन है । इकत्तिसवें अध्याय में कला, लय और विभिन्न तालों का विवरण है। बत्तीसवें में ध्रुव के 5 भेद, छन्द विधि तथा गायक-वादकों के गुण दिये हैं और तैंतीसवें पर अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति, भेद, वादन विधि, उनके वादन की 18 जातियां और वादकों के लक्षणों का वर्णन है ।

इस प्रकार 28वें और 29वें अध्याय तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । इसके अतिरिक्त छठें अध्याय में रस और लक्षण तथा व्याख्या, भाव का लक्षण और व्याख्या, आठ रसों और उनके उपकरणों सहित वर्णन, रसों के देवता और वर्ण तथा सातवें में भाव, विभाव, अनुभाव आदि की सामान्य व्याख्या, स्थायी व्यभिचारी और सात्विक भावों का विवरण दिया हुआ है । उन्नीसवें अध्याय में स्वरों का रसों में विनियोग, तीन स्थान, काकु, अलंकार आदि का वर्णन है इस आधार पर नाट्य शास्त्र के 9 अध्याय संगीत के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं । भरत के पुत्र दत्तिल द्वारा लिखित "दत्तिलम" ग्रन्थ का उल्लेख भी मिलता है । यह ग्रन्थ पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का कहा जाता है, जबकि ईसा की दूसरी शताब्दी में दत्तिल का एक शिलालेख मिलता है । दत्तिल ने भरत के सूत्रों का ही प्रतिपादन किया है ।

मतंग कृत "बृहद्देशी"

आठवीं शताब्दी में मतंग मुनि प्रणीत बृहद्देशी ग्रन्थ मिलता है जिसमें ग्राम और मूर्छना का विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है। मतंग का कथन है कि रागों के सम्बन्ध में न तो भरत ने और न अन्य विद्वानों ने कहा है। इसलिए रागों के विषय में जैसा प्रचलित है उसी के अनुसार उसके लक्षण बताते हैं। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि मतंग के समय में रागों का प्रचार अच्छी प्रकार से समाज में हो चुका था। मतंग ने इन्हीं प्रचलित देशी रागों के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए इस ग्रन्थ को लिखा। इसके नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ में "बृहद्" रूप में "देशी" रागों की व्याख्या की गयी है। देशी संगीत साधारण लोगों, स्त्रियों, बच्चों आदि, समाज के सभी व्यक्तियों को प्रिय था। इतना ही नहीं ऐसा प्रतीत होता है कि मतंग के समय में न केवल जातियों का स्थान रागों ने लिया था, वरन् अनेकों प्राचीन रागों के स्थान पर कुछ नवीन राग भी प्रचलित हो गये थे। मतंग के मतानुसार जातियों से ही ग्राम-राग की उत्पत्ति हुई तथा स्वर और श्रुतियों से जातियों का जन्म हुआ। राग जाति की परिभाषा देते समय मतंग लिखते हैं कि- स्वरों का ऐसा आकर्षक मेल जो चित्त को प्रसन्नता दे, वह राग कहलाता है। जातियों के विषय में उन्होंने वे ही 10 लक्षण ।ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, षाडव, आदव, अल्पत्व, बहुत्व, न्यास और उपन्यास तथा अपन्यास। जो आज भी रागों के हैं, बताये हैं।

अनुमान किया जाता है कि जाति गायन भरत मुनि से पूर्व भी प्रचलित था, जो भरत काल में अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था, कारण की मतंग के मतानुसार मध्यम ग्राम की जातियों का प्रयोग नाटक के मुख अर्थात् आरम्भ में, षड्ज ग्राम की जातियों का प्रयोग प्रति मुख में, साधारित जातियों का प्रयोग नाट्य के विकास के समय में, पंचम जाति का प्रयोग विमर्श अर्थात् बात-चीत के समय में किया जाता था। मतंग ने सर्वप्रथम संगीत के साहित्य में राग शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है कि इनसे पूर्व जातियों के पांच भेद थे, जिन्हें क्रम से शुद्धा, भिन्ना, बेसरा, गौड़ी और साधारित कहते हैं। परन्तु इसके समय में वे सात हो गये थे जिन्हें क्रम से- शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, राग जाति, साधारणी भाषा जाति और विभाषा जाति कहते हैं। इनके मतानुसार शुद्धा

और भिन्ना में प्रत्येक का 8-8 भेद है । इसी प्रकार गौड़ी के 3, राग के 8, साधारणी के 7, भाषा के 16, और विभाषा के 12 भेद हैं । इन्होंने अपनी जातियों के नाम भी भिन्न दिये हैं ।

नारद कृत - नारदीय शिक्षा

सातवीं शताब्दी के लगभग "नारदीय शिक्षा" नामक एक ग्रन्थ नारद का लिखा हुआ मिलता है । इस ग्रन्थ में भी सामवेदीय स्वरों को विशेष महत्व देते हुये सात ग्राम रागों का वर्णन मिलता है, जिनके नाम इस प्रकार हैं :

1- षाडव, 2- पंचम, 3- मध्यम, 4- षड्ज ग्राम, 5- साधारित, 6- कैशिक मध्यम, 7- मध्यम ग्राम ।

सातवीं और आठवीं शताब्दियों में दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन का विशेष जोर रहा । अतः भक्ति और संगीत के सामंजस्य द्वारा जगह-जगह कीर्तन और भजन गाये जाने लगे । इसी प्रकार धार्मिक भावना का बल पाकर इस काल में संगीत का यथेष्ट प्रचार हुआ ।

नारद कृत संगीत मकरन्द

आठवीं शताब्दी में नारद का एक और ग्रन्थ संगीत मकरन्द प्रकाश में आया । इस ग्रन्थ में प्रथम बार पुरुष राग, स्त्री राग और नपुंसक रागों का वर्गीकरण मिला । परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उन्होंने रागिनी शब्द का प्रयोग नहीं किया । इनमें 20 पुरुष राग, 24 स्त्री राग और 13 नपुंसक राग गिनाये गये तथा साथ में स्वर, मूर्छना, राग, ताल, आदि विषयों को लिया गया । रागों के इस वर्गीकरण का आधार उनका रस है । उनका कहना है कि रौद्र, अदभुत और वीर रस के लिए पुरुष राग, श्रृंगार और करुण रस के लिए स्त्री राग और भयानक हास्य तथा शान्त रस की उत्पत्ति के लिए नपुंसक रागों को प्रयोग में लाना चाहिए । इस ग्रन्थ में रागों की जातियां ।सम्पूर्ण षाडव और आडव। तथा रागों के गायन समय को भी बताया गया है । श्रुतियों के नाम प्रचलित परम्परा से भिन्न हैं ।भरत मुनि ने जहां 33 अलंकारों का वर्णन किया है, वहां इस ग्रन्थ में केवल 19 ग्रन्थकारों का निरूपण है तथा वीणा के 18 भेदों का वर्णन भी है । इसी के आधार पर आगामी ग्रन्थकारों ने राग-रागिनीवर्गीकरण किये हैं ।

उत्तर काल

1300 से 1800 ई0 संगीत का विकासकाल माना जाता है। तेरहवीं शताब्दी के समाप्त होते ही अर्थात् चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण में यवनों का आक्रमण होने से देव गिरि का यादव वंश नष्ट हो गया जिसके फलस्वरूप भारतीय संगीत और सभ्यता पर यवनों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। इसी समय मुस्लिमों द्वारा फारस के रागों का भारत में आगमन प्रारंभ हुआ। दिल्ली का शासन सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के हाथ था। 1296 ई0 तक संगीत कला की विशेष उन्नति हुई।

अमीर खुसरो का समय। सन् 1279 से 1316 तक।

खिलजी के दरबार में हजरत अमीर खुसरो नाम के और कुशल गायक राज्य मंत्री थे। इन्होंने अनेक नवीन राग, नवीन वाद्य और नवीन तालों की रचना की। इससे संगीत कला की और विकास हुआ। इनके विषय में कहा जाता है कि अमीर खुसरो ही वह प्रथम तुर्क थे जिन्होंने अपने देश के रागों को भारतीय संगीत में मिलाकर एक नवीनता पैदा की। ऐसा भी कहा जाता है कि गोपाल नायक प्रसिद्ध गायक भी इसी दरबार में आ गये थे और अमीर खुसरो से उसकी संगीत प्रतियोगिता भी दिल्ली में हुयी। अमीर खुसरो ने कई प्रकार के गीत, ताल तथा वाद्यों की रचना की जैसे- गीतों में गजल, कव्वाली, तराना, कलबा, उगाल। रागों में- जिलाफ, साजगीरी, सरपरदा, यमन, रात की पूरिया, बरारी, तोड़ी, पूर्वी इत्यादि। ताल- झूमरा, आड़ा चौताल, सुल्फा, पस्तो फरोदस्त, सवारी इत्यादि वाद्यों में सितार, तबला। गोपाल नायक ने भी कुछ रागों का आविष्कार किया जिसमें पीलू, बड़हंस सारंग और बिरज उल्लेखनीय हैं।

लोचन कृत राग तरंगिनी

15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लोचन कवि ने हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ राग तरंगिनी लिखा जो इस काल की प्रथम पुस्तक थी। लोचन कवि ने अपने ग्रन्थ में जयदेव और विद्यापति का उदाहरण दिया है। यह दोनों शास्त्रकार बारहवीं और चौदहवीं शताब्दी के थे। इन्होंने सभी अन्य रागों को बारह जनक मेलों में विभाजित किया है। कुछ लोगों का ऐसा

विश्वास है कि आधुनिक थाट-राग वर्गीकरण का बीजारोपण भी राग तरंगिनी में ही हुआ ।

सुल्तान हुसैन शरकी

पन्द्रहवीं शताब्दी में (1458 से 1499 ई0) जौनपुर के बादशाह सुल्तान हुसैन शरकी संगीत कला के अत्यन्त प्रेमी थे। उन्होंने ख्याल गायकी (कलावंती ख्याल) का आविष्कार किया एवं अनेक नवीन रागों की रचना की जैसे- जौनपुरी-तोड़ी, सिन्धु- भैरवी, रसीली-तोड़ी, 12 प्रकार के श्याम, जौनपुरी सिन्धूरा इत्यादि । इसी समय अर्थात् 1458 से 1533 के बीच उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के जोर पकड़ा । भजन-कीर्तन के रूप में संगीत का जगह-जगह उपयोग होने लगा । साथ ही साथ बंगाल में चैतन्य महाप्रभु एवं अन्य भगवान भक्तों द्वारा संकीर्तन का प्रचार हुआ जिससे संगीत को बहुत बल प्राप्त हुआ ।

रामामात्य कृत स्वर मेल कलानिधि

सन् 1550 ई0 के लगभग कर्नाटक संगीत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ "स्वर मेल कला निधि" रामामात्य द्वारा लिखा गया जिससे 7 शुद्ध स्वर तथा 7 विकृत स्वरों की रचना की गयी जिसमें बहुत से रागों का वर्णन किया गया । इस ग्रन्थ में 5 प्रकरण हैं, इनके नाम- उपोद्घात प्रकरण, स्वरप्रकरण, वीणा प्रकरण, मेल प्रकरण और राग प्रकरण हैं । राग प्रकरण में 20 थाटों के अन्तर्गत 63 जन्य रागों का उल्लेख है । वीणा प्रकरण में वीणा के दण्ड पर 14 स्वरों को स्थापित किया गया जिसमें 7 शुद्ध तथा 7 विकृत स्वर माने गये हैं ।

अकबर का समय

इसे संगीत का स्वर्ण युग कहा जाता है । सोलहवीं शताब्दी (1556 से 1605 ई0) में संगीत की विशेष उन्नति हुई, यह बादशाह अकबर का समय था । अकबर संगीत के विशेष प्रेमी थे, उनके दरबार में 36 संगीतज्ञ थे जिनमें प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन, बैजु बावरा, राम दास और तानरस खाँ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

तानसेन और बैजु बावरा

इससे पहले तानसेन राजा रामचन्द्र के यहाँ रहते थे, इनकी संगीत की प्रशंसा सुनकर अकबर ने इन्हें अपने दरबार में प्रधान गायक के रूप में रखा ।

कहा जाता है कि तानसेन और बैजू बावरा की संगीत प्रतियोगिता भी एक बार हुई । तानसेन ने कुछ रागों का आविष्कार भी किया जिन्हें दरबारी कान्हड़ा, मियाँ की सारंग, मियाँ की मल्हार इत्यादि नामों से जाना जाता है । तानसेन के संगीत से प्रभावित होकर इनके अनेक शिष्य भी हो गये । बाद में यह शिष्य वर्ग दो भागों में बँट गये, एक रबाबिये, बिनकरों के प्रतिनिधि, रामपुर के वजीर खाँ तथा रबाबियों के प्रतिनिधि मोहम्मद अली खाँ रामपुर रियासत वाले माने जाते हैं ।

स्वामी हरिदास

अकबर के समय में ही स्वामी हरिदास वृन्दावन के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ महात्मा हुये । इनका जन्म संवत् 1569 भाद्रपद शुक्ल आठ सन् 1512 ई0 में हुआ । तानसेन इनके शिष्य ही थे । स्वामी जी के शिष्यों द्वारा संगीत का प्रचार अनेक नगरों में भली प्रकार हुआ । कहा जाता है कि स्वामी हरिदास जी अपने समय के सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ थे ।

ग्वालियर के राजा मान सिंह तोमर

अकबर के समय में ही ग्वालियर के राजा मान सिंह तोमर द्वारा ग्वालियर का प्रसिद्ध संगीत घराना चालू हुआ । ध्रुपद गायकी का श्रेय भी राजा मान सिंह को ही दिया जाता है ।

सूर, कबीर, तुलसी और मीरा

सोलहवीं शताब्दी संगीत और भक्ति काव्य के समन्वय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा क्योंकि इसी शताब्दी में सूरसागर के रचयिता एवं गीत काव्य के प्रकाण्ड विद्वान महात्मा सूरदास राम चरित् मानस के यशस्वी लेखक गोस्वामी तुलसी दास, हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रतीक संत कबीर दास तथा सुप्रसिद्ध कवियित्री और भजन गायिका मीरा बाई द्वारा भक्तिपूर्ण काव्य के प्रचार से संगीत प्राप्ति का साधन बनकर उच्चतम शिखर पर पहुँची । सूर, तुलसी और मीरा आदि भक्त कवियों और कवियित्रियों द्वारा वृन्दावन में संगीत का प्रचार तथा दक्षिण के संगीतज्ञ पुंडरीक विट्ठल ने 4 ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम इस प्रकार हैं- राग माला, राग मंजरी, नर्तन निर्णय तथा सद्राग चन्द्रोदय ।

जहाँगीर राज्य ।18वीं शताब्दी।

सोमनाथ कृत राग विबोध

1605 ई0 से 1627 ई0 तक जहाँगीर का राज्य रहा । इसी शासन काल में दक्षिण भारत की राजमुंद्री स्थान निवासी पं0 सोमनाथ ने संगीत का ग्रन्थक राग विबोध लिखा । इस ग्रन्थ में उन्होंने अनेक वीणाओं का वर्णन किया तथा रागों का जन्य जनक पद्धति से वर्गीकरण किया । इन्होंने 22श्रुतियों पर 7 शुद्ध स्वर स्थापित करने के उपरान्त 15 विकृत स्वरों का वर्णन किया । इन्होंने अपने 75 जन्य रागों का वर्गीकरण 23 मेलों के अन्तर्गत किया । आज भी अनेक रागों का रूप इन प्राचीन रागों के समान ही प्रतीत होता है ।इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ उत्तरी संगीतज्ञों के लिए विशेष महत्व रखता है ।

पं0 दामोदर कृत "संगीत दर्पण"

जहाँगीर के समय में ही हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति पर 1625 ई0 में संगीत दर्पण नामक ग्रन्थ का निर्माण पं0 दामोदर ने किया । इसमें संगीत रत्नाकर के भी बहुत से श्लोक कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं । रागाध्याय का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया । स्वराध्याय में नादोत्पत्ति, श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना तथा 52 तानों का वर्णन है । कूट तानों को बनाने का क्रम तथा कूट तानों में नष्ट और उद्दिष्ट को खोजने का क्रम विस्तार से समझाया है । इसी अध्याय में स्वर, साधारण वर्ण, अलंकार आदि का भी संक्षिप्त वर्णन है ।

वेंकटमुखी कृत "चतुर्दंडि प्रकाशिका"

1660 ई0 के लगभग सारंगदेव गुरु परम्परा के शिष्य पं0 व्यंकटमुखी ने दक्षिण पद्धति के आधार पर संगीत का एक ग्रन्थ "चतुर्दंडि प्रकाशिका" का निर्माण किया । इसमें गणितानुसार सप्तक के 12 स्वरों से 72 मेल अर्थात थाट और एक थाट से 484 रागों की उत्पत्ति सिद्ध की है । 72 थाटों में से 19 थाट जो दक्षिण पद्धति में प्रयोग किये जाते हैं, का विवरण तथा इन थाटों से उत्पन्न 55 रागों का विवरण भी इस पुस्तक में मिलता है ।

औरंगजेब का समय (1658 से 1707 ई0तक)

अहोबल कृत "संगीत पारिजात"

17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उस काल के संगीत विद्वान पं0 अहोबल ने सन् 1650 ई0 के लगभग हिन्दुस्तानी संगीत का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ "संगीत पारिजात" लिखा। पं0 अहोबल ने सर्वप्रथम वीणा के तार पर तार की लंबाई पर भिन्न-भिन्न नाम से अपने शुद्ध तथा विकृत स्वरों की स्थापना की। अहोबल का शुद्ध थाट भी लोचन की भाँति आजकल प्रचलित काफी थाट के समान है। इन्होने शुद्ध विकृत कुल मिलाकर 29 स्वर बताये हैं। इन्होंने अपने रागों का वर्गीकरण थाटों में नहीं किया परन्तु कहीं-कहीं थाटों का नाम दे दिया। इस ग्रन्थ में लगभग 122 रागों का वर्णन मिलता है।

हृदय नारायण देव कृत-हृदय कौतुक और हृदय प्रकाश

संगीत पारिजात के पश्चात् हृदय नारायण देव ने "हृदय कौतुक" और हृदय प्रकाश" नामक दो ग्रन्थों की रचना की जिनमें अहोबल का अनुकरण करते हुये 12 स्वर स्थान वीणा के तार पर समझाये। इन्होंने तरंगिणी के ही 12 थाटों को लेकर एक नवीन राग "हृदय राग" और जोड़कर एक और थाट बढ़ा दिये। इस नवीन राग में इन्होंने दो नवीन स्वर त्रिश्रुति "मा" तथा त्रिश्रुति "नी" और जोड़ दिया, साथ में रागों का परिचय देने वाले श्लोक स्वरों का वर्ज्या वर्ज्य बताते हुये रागों के स्वर स्वरूप को भी बताते हैं।

भाव भट्ट ग्रन्थ

संगीत विद्वान पं0 भावभट्ट ने संगीत के तीन ग्रन्थ (1674 से 1709 ई0 के लगभग) लिखे हैं- (1) अनूप विलास, (2) अनूपांकुश, तथा (3) अनूप संगीत रत्नाकर। भाव भट्ट दक्षिण संगीत पद्धति के लेखक थे। इनका शुद्ध थाट मुखारी है। बीस मेलों (थाटों) से इन्होंने सब रागों का विभाजन किया। अनूपसंगीत रत्नाकर में पुन: श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना, तान, वर्ण और अलंकार आदि के विषय में रत्नाकर से ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया गया। अनूपांकुश में श्रुतियों का वर्णन करके राग अध्याय में राग वर्गीकरण को संगीत दर्पण के अनुसार रखा।

मुहम्मद शाह रंगीले (18वीं शताब्दी)

सदारंग-अदारंग

18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध 1729 ई० से 1740 ई० में मुगल वंश के अंतिम बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले हुये। ये संगीत के अत्यन्त प्रेमी थे। बहुत से गानों में इनका नाम प्रायः आजकल भी पाया जाता है। रंगीले के दरबार में दो अत्यन्त प्रसिद्ध गायक सदारंग और अदारंग थे जिन्होंने हजारों ख्यालों की रचना करके अनेक शिष्य तैयार किये। वास्तव में ख्याल की गायकी के प्रचार का श्रेय सदारंग और अदारंग को ही है। इन्हीं के ख्याल आज सर्वत्र प्रचार में आ रहे हैं। इसी काल में शोरी मियाँ ने टप्पा ईजाद करके प्रचलित किया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संगीत साधना साधारण रूप में चलती रही। उधर मुग़लिया बादशाहों की शक्ति क्षीण होने लगी और अंग्रेजों का पंजा धीरे-धीरे भारत पर जमने लगा। इस उथल-पुथल में संगीत कला बड़े-बड़े राजाश्रयों से पृथक होकर स्वतंत्र रूप से तथा कुछ छोटी-छोटी रियासतों में पलने लगी।

श्रीनिवास का "राग तत्व विबोध"

इसी काल में श्रीनिवास पंडित ने "राग तत्व विबोध" नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। इन्होंने भी अहोबल पारिजातकार की भाँति 12 स्वर स्थान बतलाकर अपना शुद्ध थाट आधुनिक काफी थाट के समान निश्चित किया। यह एक छोटा सा ग्रन्थ है, इसमें वीणा के तार पर स्वरों की स्थापना की गई है। [illegible] है। [illegible], ओडो, षाडो और सम्पूर्ण की परिभाषा देकर मूर्च्छना [illegible] में कुछ कम समझाते हैं। उनका कहना है कि राग के चार भाग होते हैं, इन्हें क्रम से उद्ग्राह, स्थायी, संचारी और मुक्तायी कहते हैं। इन्होंने अपने मेलों के वर्णन में केवल 12 शुद्धियों का ही प्रयोग किया है। राग अध्याय का [illegible] विवरण संगीत पारिजात से लिया गया है। मध्य कालीन ग्रन्थकारों में श्रीनिवास पंडित ही अंतिम ग्रन्थकार हैं।

"संगीत सारामृत" और "राग लक्षणम्"

इसी काल में (1765 से 1768 ई०) तंजोर के मराठा महाराजा तुलाजी राव भोंसले द्वारा संगीत "सारामृत" नामक पुस्तक लिखी गयी। संगीत सारामृत में दक्षिणी संगीत पद्धति का वर्णन किया गया है। 72 थाट को स्वीकार

किया है तथा 21 मेलों द्वारा 110 जन्य रागों का वर्णन किया है। राग लक्षणम् में रागोत्पादक 72 थाट मानकर उनके द्वारा अनेकों रागों का विवरण स्वरों सहित दिया है। यह ग्रन्थ भी दक्षिण में प्रचलित संगीत पद्धति का आधार ग्रन्थ माना जाता है।

संगीत प्रचार का आधुनिक काल
(1900 से 1950 ई0)

इस आधुनिक काल में संगीत के उद्धार और प्रचार का श्रेय भारत की दो विभूतियों को है जिनके नाम हैं, पं0 विष्णु नारायण भातखंडे और पं0 विष्णु दिगम्बर पुलुस्कर। दोनों ही महानुभावों ने देश में जगह-जगह पर्यटन करके संगीत कला का उद्धार किया। जगह-जगह अनेक संगीत विद्यालयों की स्थापना की। संगीत सम्मेलनों द्वारा संगीत पर विचार-विनिमय भी हुआ जिसके फलस्वरूप जनसाधारण में संगीत के प्रति रुचि विशेष रूप से उत्पन्न हुई। इस काल में शास्त्रीय साधना के साथ-साथ संगीत में नवीन प्रयोग द्वारा एक विशेषता पैदा करने का श्रेय विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर को है। उन्होंने प्राचीन राग-रागिनियों के आकर्षक स्वर समुदायों को लेकर अन्य कलात्मक प्रयोगों द्वारा रवीन्द्र संगीत के रूप में एक नई चीज संगीत प्रेमियों को दी।

पं0 विष्णु नारायण भातखंडे और उनके ग्रन्थ

पं0 विष्णु नारायण भातखंडे जी का जन्म बम्बई प्रान्त के बालकेश्वर नामक स्थान पर 10 अगस्त, 1860 ई0 को हुआ। इन्होंने 1883 ई0 में बी0ए0 और 1890 ई0 में एल0एल0बी0 की परीक्षा पास की। इनकी लगन आरम्भ से ही संगीत की ओर थी। सन् 1904 ई0 में आपकी ऐतिहासिक संगीत यात्रा प्रारंभ हुई जिसमें आपने भारत के सैकड़ों स्थानों का भ्रमण करके संगीत संबंधी साहित्य की खोज की। आपने बड़े-बड़े गायकों का संगीत सुना और उसकी स्वर लिपि तैयार करके हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका के नाम से एक ग्रन्थ माला प्रकाशित कराई, जिसके 6 भाग हैं। शास्त्रीय (थ्यौरी) ज्ञान के लिए आपने हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के 4 भाग मराठी में भी लिखे। संस्कृत भाषा में भी आपने लक्ष्य गीत और अभिनव राग मंजरी नामक पुस्तकें लिखकर प्राचीन भारत की विशेषताओं तथा उसमें फैली हुई भ्रान्तियों पर प्रकाश डाला। श्री भातखंडे ने अपना शुद्ध थाट बिलावल को मानकर थाट पद्धति को स्वीकार

करते हुये 10 थाटों में बहुत से रागों का वर्गीकरण किया ।

1910 ई0 में आपने बड़ौदा में एक विशाल संगीत सम्मेलन किया, जिसका उद्‌घाटन महाराजा बड़ौदा द्वारा हुआ । इसमें संगीत के विद्वानों द्वारा संगीत के अनेक तथ्यों पर गंभीरता पूर्वक विचार हुआ और एक आल इंडिया म्यूजिक एकेडमी की स्थापना का प्रस्ताव भी स्वीकार हुआ । इस संगीत सम्मेलन में भातखंडे जी के संगीत सम्बन्धी जो महत्वपूर्ण भाषण हुये वे अंग्रेजी में "हिस्टोरिकल सर्वे आफ दी म्यूजिक आफ अपर इंडिया" नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं ।

बाद में आपके प्रयत्नों से अन्य कई स्थानों पर भी संगीत सम्मेलन हुये तथा संगीत विद्यालयों की स्थापना हुई जिसमें लखनऊ का "मैरिस म्यूजिक कालेज" (अब भातखंडे संगीत विद्यापीठ), ग्वालियर का माधव संगीत विद्यालय तथा बड़ौदा का म्यूजिक कालेज विशेष उल्लेखनीय हैं ।

राजा नवाब अली कृत "मुआरिफुन्नगमात"

1911 ई0 के लगभग लाहौर के रहने वाले एक संगीत विद्वान राजा नवाब अली खाँ भातखंडे जी के सम्पर्क में आये । राजा साहब ने अपने एक प्रसिद्ध गायक नजीर खाँ को आचार्य भातखंडे जी के साथ संगीत के शास्त्रीय ज्ञान तथा लक्षण गीतों को सीखने के लिए भेजा और उर्दू में संगीत की एक सुन्दर पुस्तक "मुआरिफन्नगमात" नाम से लिखी ।

पं0 विष्णु दिगम्बर पलुष्कर

पं0 विष्णु दिगम्बर पलुष्कर का जन्म 1872 ई0 में श्रावणी पूर्णिमा के दिन कुरून्दवाड़ (बेलगांव) में हुआ । आपको संगीत शिक्षा गायनाचार्य पंडित बालकृष्ण बुवा से प्राप्त हुई । 1896 ई0 में आपने संगीत प्रचार के लिए भ्रमण आरम्भ किया। पलुष्कर जी ने अपने सुमधुर आकर्षक संगीत के द्वारा संगीत प्रेमी जनता को आत्म विभोर कर दिया । पंडित जी के व्यक्तित्व के प्रभाव से सभ्य समाज में संगीत की लालसा जाग उठी, जिसके फलस्वरूप संगीत के कई विद्यालय स्थापित हुये जिनमें लाहौर का गान्धर्व महाविद्यालय सर्वप्रथम 5 मई, 1901 ई0 को स्थापित हुआ और यही मुख्य केन्द्र बन गया । पंडित जी का कार्य आगे बढ़ाने के लिए उनके शिष्यों के सामूहिक प्रयत्नों से "गांधर्व महाविद्यालय मंडल" की स्थापना हुई जिसके अन्तर्गत बहुत से केन्द्र विभिन्न नगरों में स्थापित हो चुके हैं ।

1920 ई0 से पलुस्कर जी कुछ विरक्त से रहने लगे। अतः 1922 ई0 में "राम नाम-आधार आश्रम" खोला, तब से आपका संगीत भी राम नाम मय हो गया। इस प्रकार संगीत को पवित्र वातावरण में स्थापित करके अंत में संगीत का यह पुजारी 21 अगस्त, 1931 ई0 को मिरज में प्रभु धाम को प्रस्थान कर गया। पंडित जी द्वारा संगीत की कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुई थीं जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं: संगीत बाल बोध, स्वल्पालाप, संगीत तत्व दर्शक, संगीत प्रवेश तथा भजनामृत लहरी इत्यादि।

आपकी स्वर लिपि पद्धति भातखंडे स्वर लिपि पद्धति से भिन्न है। प्रो0 डी0वी0पलुस्कर जो अपने समय के गायकों में एक अच्छे गायक माने जाते थे, आपही के सुपुत्र थे।

स्वतंत्र भारत में संगीत

भारत स्वतंत्र होकर जब से यहाँ अपनी राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई है, तब से संगीत प्रचार द्रुतगति से देश में बढ़ रहा है। जगह-जगह स्कूल और कालेजों में यह पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हो गया है तथा कुछ विश्वविद्यालयों में बी0ए0, एम0ए0 की परीक्षाओं में एक विषय के रूप में रख दिया गया है। इधर आकाशवाणी तथा दूरदर्शन द्वारा भी संगीत का प्रचार दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। संगीत की अनेक शिक्षण संस्थाएं भी विभिन्न नगरों में सुचारु रूप से संचालित हो रही हैं। देश का शिक्षित वर्ग संगीत की ओर विशेष रूप से आकर्षित होकर अब संगीत के महत्व को समझने लगा है। अच्छे घराने के युवक-युवतियाँ तो संगीत की शिक्षा को ग्रहण कर ही रहे हैं, जनसाधारण में भी संगीत के प्रति आशातीत अभिरुचि उत्पन्न हो रही है। इधर संगीत सम्बन्धी पुस्तकें भी अच्छी-अच्छी प्रकाशित होने लगी हैं। संगीत कला के विकास के लिए यह सब शुभ लक्षण हैं। इस प्रकार निकट भविष्य में भी भारतीय संगीत उच्च शिखर पर आसीन होकर अपनी विशेषताओं से संसार का मार्गदर्शन करेगा।

==========

संगीत वाद्यों का वर्गीकरण

अनाहत और आहत नाद के दो भेद हैं । आहत नाद जिसको हम सुन सकते हैं, व्यवहार में ला सकते हैं, अपने पांच ध्वनि रूपों में जिन्हें संगीतात्मक ध्वनियां कहते हैं, प्रस्फुटित होता है[1]– ये संगीतात्मक ध्वनियां नखज, वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज होती हैं । वीणा आदि वाद्य नखज हैं, बंशी आदि वाद्य वायुज हैं, मृदंग आदि वाद्य चर्मज तथा मंजीरा आदि लोहज हैं तथा कण्ठ ध्वनि शरीरज है । इन पांच प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करने वाले वाद्यों को "पंचमहावाद्यानि" कहा गया है । इनमें से एक ईश्वर द्वारा निर्मित है जो नैसर्गिक है तथा अन्य चार प्रकार के वाद्य मानव विरचित हैं[2]।

कुछ अन्य ग्रन्थकारों द्वारा ये ध्वनियां चार अथवा तीन भी कही गयी हैं लेकिन कोहल के मतानुसार ये पांच हैं[3]

महर्षि भरत और दत्तिल ने इनकी संख्या चार मानी है जो तत, आनद्ध, घन एवं सुषिर हैं[4] । नारद ने तीन ही ध्वनियां स्वीकार की हैं-आनद्ध तत, एवं घन[5] । विभिन्न मतों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीतहोता है कि जिन लोगों ने कण्ठ ध्वनि को भी वाद्य ध्वनि के अन्तर्गत ले लिया, उन्होंने कुल संख्या 5 मानी है, जिन्होंने कण्ठ ध्वनि को वाद्य ध्वनि से अलग रखा है, वे वाद्यों की ध्वनियां चार मानते हैं । जो लोग तीन ध्वनियां मानते हैं वे चौथी क्यों नहीं मानते, यह स्पष्ट नहीं होता । उपनिषदों एवं पुराणों में कहीं-कहीं अनेक ध्वनियाँ मानी गयी हैं किन्तु उनका उद्देश्य वाद्यों का वर्गीकरण नहीं हो सकता । प्राचीन युग में विकसित वाद्यों के प्रकारों को देखते हुये महर्षि भरत का वर्गीकरण सर्वथा उचित तथा पर्याप्त प्रतीत होता है । इन चार प्रकार के वाद्यों के लक्षण को स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा है :

तत्रं तन्त्रीकृतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ।
घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश उच्यते । भ0ना0 28।2

इस प्रकार तत अवनद्ध सुषिर और घन क्रमशः तन्त्री वाद्य पुष्कर वाद्य, ताल वाद्य तथा वंशी वाद्य हैं । महर्षि भरत के उक्त वचनों से यह संकेत मिलता है कि उस समय समस्त वाद्यों को आतोद्य भी कहते थे । महर्षि बालमीकि तथा महाकवि कालीदास ने बहु-वाद्य सूचक के रूप में तूर्य शब्द का भी प्रयोग किया है । महाभारत में भी अनेक वाद्यों के साथ बजने के संदर्भ में तूर्य का उल्लेख हुआ है । पाली साहित्य में तुरिय शब्द वृन्दावन का द्योतक माना गया है । विमानवत्थु में तुरित पंचांगिका के अन्तर्गत पाँच प्रकार के वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें आतत, वितत, आतत-वितत, घन और सुषिर कहा गया है ।

महर्षि भरत द्वारा निर्धारित वाद्यों का चतुर्विध वर्गीकरण तथा उनके नामों को ही अनेक परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है । वाद्यों के वर्गीकरण के दो हजार वर्ष के इतिहास में केवल दो परिवर्तन विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं । इनमें से प्रथम है वितत शब्द का प्रयोग, जो अवनद्ध के स्थान पर हुआ है तथा दूसरा है ततानद्ध नाम का नया वर्गीकरण । वितत शब्द का प्रयोग तानसेन तथा उसके बाद के कलाकारों द्वारा विशेष रूप से प्रचारित हुआ है । तानसेन ने तत, वितत, घन और सुषिर नाम से वाद्यों के वर्गीकरण का कई स्थानों पर उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं

नाद नगर बसायो सुरपति बसन छायो उनचास
कोट ताम अच्छर विश्राम पायो ।
गीत छन्द तत वितत घन सिखर कंचन ताल में
किवाड़ आलाप तालों ।
हीरा पै याद नग लगे बरज जंबीर ग्रोवर कुंजी बाकी
तासें ध्रुपद सो नग छिपायो ।।
आनन्द भयो आज आयो विजै कर घर घर मंगल चार ।
अनेक गज तुरंग साजे नौबत नगाड़े बाजे गज तुरंग साजे सवार ।
तत वितत घन सिखर नाना विधि बाजत सुरपति के द्वार ।
ब्रम्ह वेद पढ़ै नारद मुनि गावै राजा राम चन्द्र जाके बार ।
तानसेन कहें सुनो साह अकबर दशहरा सुभग भई तिथि बार ।

तत को पहले कहत है वितत दूसरा जान
तीजो धन चौथे शिखर तान्सेन परमार
तार लगे सब साज के सो तत हैं सुम मान
चरम चढ़ायो बाको मुखर वितत सु कहे बखान
कस ताल के आदि दै धन जिय जानहु भीत
तान्सेन संगीत रस बाजत सिखर पुनीत ।।

तान्सेन कृत "संगीत सार"

उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं भी अवनद्ध शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, "चरम मढ़्यो जाको भखर वितत सुकहे बखान" के द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने जिसे अवनद्ध, आनद्ध या नद्ध वाद्य कहा है उसी को तान्सेन ने वितत कहा है ।

अवनद्ध के स्थान पर वितत शब्द कहाँ से और कैसे आया ? खोज करने पर इसका प्रयोग दो स्थानों में देखने में आता है । तान्सेन ने यद्यपि अपने शास्त्रीय पृष्ठभूमि संगीत-रत्नाकर का आधार लेकर बनाई है, लेकिन वितत शब्द का प्रयोग रत्नाकर में नहीं हुआ है । तान्सेन के पूर्व रचित संगीत चूड़ामणि में अवश्य अवनद्ध के स्थान पर वितत शब्द का प्रयोग मिलता है जैसे-

तत च वितत चैव घनं सुषिर मेव च
गानं चैव तु पंचैतत पंचशब्दा प्रकीर्तिता
ततं च तन्त्रितं विधाद् विततं मुखनादमम्
घनं च कांस्यतालादि [तु] किरं वायुपूरितम् ।।

संगीत चूड़ामणि, बड़ौदा संस्करण

संगीत चूड़ामणि के वितत शब्द के उपर्युक्त में पाली साहित्य के आचार्यों का प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि अभी तक की खोज के अनुसार विमान-वत्थु तुरिय [वृन्दावन] के अन्तर्गत जिन पाँच प्रकार के वाद्य-वर्गीकरण का नामोल्लेख किया है, उसमें तत को आतत और अवनद्ध को वितत कहा गया है । इस प्रकार ऐसा कहा जा सकता है कि वितत शब्द पाली से आया है जो गायकों की भाषा में तुकबन्दी के लिए विशेष प्रयुक्त होने के कारण स्वीकार कर लिया गया है । किसी भी पंक्ति में "तत वितत धन सिखर" शब्द योजना का बैठ जाना अत्यन्त आसान होता है । लेकिन यदि वितत के स्थान पर अवनद्ध

शब्द डालना हो तो अच्छा खासा बौद्धिक व्यायाम करना पड़ेगा । तब भी संगीत की दृष्टि से जो सुविधा तत-वितत से प्राप्त होती है तत अवनद्ध में प्राप्त नहीं होती । इस प्रकार मध्य युग से ये दो [illegible] धारायें साथ-साथ चल पड़ीं । संगीत के संस्कृत ग्रन्थों में महर्षि भरत की परम्परा का परिपालन हुआ किन्तु कथाकारों तथा बोल चाल की भाषा में अवनद्ध के स्थान पर वितत का ही प्रयोग होता रहा । संभवतया बोलचाल की भाषा में यह शब्द तानसेन के काफी पहले से प्रचार में आ गया था क्योंकि तानसेन के पूर्ववर्ती कवि जायसी ने अपने पद्मावत में भी वितत शब्द का ही प्रयोग किया है :

तत वितत सिखर घन तारा,

पाँचों सबद होईं झनकारा ।। 61 ।। —पद्मावत, पृष्ठ-687.

इस प्रकार न केवल वितत बल्कि तानसेन द्वारा प्रयुक्त शिखर शब्द भी यहाँ उसी रूप में मौजूद है । कुछ विद्वानों के मतानुसार "पृथ्वीराज रासो" में भी इन शब्दों का प्रयोग मिलता है । इस प्रकार यह माना जा सकता है कि वितत शब्द मूल पाली से चलकर प्राकृत तथा अपभ्रंश से होता हुआ मध्ययुग की हिन्दी में आया है । उर्दू और हिन्दी अलग-अलग भाषायें हो जाने पर हिन्दी ने अपना सम्बन्ध संस्कृत से बढ़ाया है । फलस्वरूप वितत के स्थान पर अवनद्ध शब्द का प्रचार हुआ । इधर कुछ कला मर्मज्ञों ने सोचा कि तत, वितत, अवनद्ध, घन और सुषिर ये पाँच शब्द हैं तथा वर्गीकरण केवल चार किये गये हैं । अतएव तत से वितत शब्द के मेल खाने के कारण उन्होंने एक नई कल्पना कर डाली । तत को उस वाद्य श्रेणी में रखा गया है जो प्रहार से बजाया जाता है तथा वितत को उस श्रेणी में रखा गया है जो रगड़ कर बजाये जाते हैं । शेष के लक्षण प्राचीन ही हैं लेकिन यह अवधारणा का कोई आधार नहीं है ।

प्राचीन काल से अब तक वाद्यों के रूप में अनेक परिवर्तन हुये हैं तथा होते आ रहे हैं । कई ऐसे वाद्य भी निर्मित हो चुके हैं जिनका उपर्युक्त चार वर्गों के मूल सिद्धान्तों से सामान्जस्य नहीं बैठता, फिर भी हम उन सब वाद्यों को किसी न किसी लक्षण के आधार पर उन्हीं चार वर्गों में विभाजित कर लेते हैं । इस दिशा में यदि हम भारतीय वाद्यों के साथ-साथ विश्व भर के वाद्यों को वर्गीकृत करना चाहें तब तो समस्या और कठिन होती दिखाई पड़ती है । भारतीय संगीत के इतिहास में नये वाद्यों के उपर्युक्त नये वर्गीकरण

के लिए भी थोड़ा बहुत प्रयास दिखाई पड़ते हैं लेकिन उन्हें अधिक महत्ता प्रदान नहीं की गयी, फलस्वरूप यह प्रयास भी विफल रहा ।

भारतीय वाद्यों का इतिहास देखने से पता चलता है कि "उपंग" जैसा वाद्य हमारे यहां बहुत पहले से मौजूद है । इसमें चमड़ा भी प्रयुक्त होता है और तार भी । यह ताल वाद्य है । इसी प्रकार प्रायः गज से बजने वाले वाद्य- सारंगी, रावण हत्या, इसराज आदि ऐसे हैं, जो तंत्री वाद्य हैं, किन्तु इनमें चमड़ा भी प्रयुक्त होता है । ये स्वर वाद्य हैं । उपंग में ध्वनि उत्पादन चमड़े से नहीं अपितु तन्त्री से किया जाता है और वह तन्त्री यहां स्वर की अपेक्षा लय और ताल का व्यक्त करती है । अवनद्ध वाद्य के लक्षणों के अनुसार यह वाद्य उनसे कुछ भिन्न हो जाता है । प्राचीन युग में ढोल, ढोलक आदि को पटह कहा जाता था, अतः पटहिका से छोटे ढोलकी का भाव लिया जा सकता है । इस छोटी ढोलकी में तार अथवा तांत लगे रहने से इसे तन्त्री पटहिका आज का जुपपुपी, आनन्द लहरी अथवा गोपी जन्त्र का जिसे मध्य काल में उपंग कहा जाता था, यही रूप दिखाई पड़ता है । अतएव यह वाद्य अपने विशेष लक्षण के कारण भिन्न वर्ग की अपेक्षा रखता है । इस तरह का नया वर्ग बनाने का सर्वप्रथम विमानवत्थु में पाई जाती है । उसके बाद "संगीत पाठ" नामक ग्रन्थ में इस प्रकार का वर्गीकरण मिलता है । यह ग्रन्थ हस्त लिखित रूप में राम नगर किले के "सरस्वती भंडार ग्रन्थालय" में संग्रहीत है तथा अनुमानतः सोलहवीं शताब्दी के बाद की रचना है । इसमें तत, आनद्ध, ततानद्ध, घन और सुषिर इस प्रकार वाद्यों के पांच वर्ग माने गये हैं । यहां भी ततानद्ध को आतत-वितत की तरह प्रयोग किया गया है । हमारे देश में मध्य युग के आस-पास एक नवीन वाद्य जल तरंग का विकास हुआ ।[3] संगीत पारिजात में इसे घन वाद्य के अन्तर्गत माना गया है । कुछ काल बाद अन्य संगीतोपयोगी ध्वनि उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को उचित स्वरान्तराली पर स्थिर कर उनका भी जल तरंग की भांति प्रयोग किया जाने लगा । ऐसे सभी वाद्य जल तरंग के नाम से प्रसिद्ध हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि इस प्रकार के वाद्यों को किसी एक प्रकार के अन्य वर्ग में रखना तथा उस वर्ग का नाम भी वाद्य तरंग रखना चाहिए ।

1.

तत वाद्य

वादन क्रिया के आधार पर इस वर्ग को चार उपवर्गों में विभाजित किया गया है :-

1- उंगलियों से छेड़कर बजाये जाने वाले वाद्य जिसमें स्वरमंडल, तानपूरा आदि आते हैं ।

2- कोण, त्रिकोण (मिजराब) से बजाये जाने वाले वाद्य, इसमें सितार, सरोद, रुद्रवीणा, विचित्र वीणा, संजोरी वीणा, गोटुवाद्यम् आदि आते हैं ।

3- गज से रगड़ कर बजाये जाने वाले वाद्य । इस वाद्य में सारंगी, वायलिन, रावण हत्था, इसराज, दिलरुबा आदि आते हैं ।

4- डण्डी से प्रहार करके बजाये जाने वाले वाद्य । इस वर्ग में संतूर, कानून आदि वाद्य आते हैं ।

अवनद्ध वाद्य

वादन क्रिया की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों को निम्नलिखित पाँच उपवर्गों में बांटा जा सकता है :-

1- दोनों हाथों के पंजों से अथवा उंगलियों से बजाये जाने वाले वाद्य । इस वर्ग में पखावज, मृदंगम् (कर्नाटक), तबला, ढोलक, खोल, नाल, मादल आदि वाद्य आते हैं । इस वर्ग के वाद्य अपनी क्लिष्ट तथा विविधतापूर्ण वादन सामग्री के कारण भारत में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं । इस वर्ग में यद्यपि सभी वाद्य अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं, किन्तु पखावज, तबला तथा ढोलक का विशेष स्थान है ।

2- एक हाथ की उंगलियों द्वारा बजने वाले वाद्य । इस वर्ग में हुड़क, खंजरी, दायरा आदि आते हैं ।

3- डंकु से बजाये जाने वाले वाद्य । इस वर्ग में नगाड़ा, धौंसा, दमामा, ढाक आदि आते हैं ।

4- एक ओर हाथ से और एक ओर डंडी से बजाये जाने वाले वाद्य। इस वर्ग में पड़ा, ढोल, पटह आदि आते हैं ।

5- घुंडी की चोट से बजने वाले वाद्य । इस वर्ग में डमरु, ढक्का आदि आते हैं ।

बनावट की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों को निम्नलिखित चार उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

।1। भीतर से खोखले तथा दोनों मुखों पर मढ़े हुये वाद्य । इन वाद्यों के पाँच रूप देखने को मिलते हैं :-

1- गोपुच्छ- एक ओर बड़ा मुख दूसरी ओर छोटा मुख तथा बीच से उठा हुआ। भरतकालीन मृदंग का एक भाग ऐसा ही होता था। आधुनिक मृदंग को इसी रूप में लिया जा सकता है ।

2- यवाकृति- अपेक्षाकृत दोनों मुख छोटे तथा मध्य भाग उठा हुआ, भरतकालीन मृदंग का एक भाग ऐसा ही था । आधुनिक खोल को इसी रूप में लिया जा सकता है ।

3- हरीतकी- दोनों मुख लगभग समान तथा मध्य भाग भी समान। भरतकालीन मृदंग का एक भाग ऐसा ही होता है । आधुनिक युग में पंजाबी ढोलक तथा महाराष्ट्रियन ढोलक आदि का यही रूप प्रचलित है ।

4- मध्यभाग और दोनों रूप समान । यह वाद्य एक फुट से दो फुट या इससे भी अधिक व्यास के वृत्ताकार होते हैं । इस वर्ग में डमरु, हुड़क आदि आते हैं ।

।2। प्रथम वर्ग के पाँच उपभेदों के बाद अब हम दूसरे उपवर्ग पर विचार करेंगे । ये वाद्य भीतर सेखोखले होते हैं किन्तु यह एकमुखी होते हैं और इनका दूसरा छोर बन्द होता है । इस उपवर्ग के भी अनेक उपभेद देखे जाते हैं जिन्हें मुख्यतः निम्नलिखित तीन उपभेदों में रखा जा सकता है :-

1- अर्द्ध गोपुच्छ. इस प्रकार के वाद्यों के मुख का वृत्त जितना होता है उससे दूसरे छोर का वृत्त अधिक होता है । इस वर्ग में तबला का दाहिना भाग तथा घट आदि रखे जा सकते हैं ।

2- अर्द्ध यवाकृति इस वर्ग के वाद्यों का मुख बड़ा होता है तथा दूसरा छोर कुछ नुकीला होता हुआ बड़ा होता है । नक्कारा, नगड़िया आदि इसी के उपभेद हैं ।

3- अर्द्ध हरीतिकी इस वर्ग के वाद्यों का मुख बड़ा होता है साथ ही दूसरा छोर जो बन्द होता है वह नुकीला न होकर कुछ गोलाई लिये हुये होता है। तबला का बायाँ भाग तथा कुछ अन्य वाद्य भी इस वर्ग में आते हैं।

।3। भीतर से खोखले दोनों मुखों पर मढ़े हुये तथा अन्य मुख बन्द वाद्यों के रूप ऊपर बताये जा चुके हैं। इसका तीसरा रूप वह है वह जो भीतर से खोखले होते हैं। दो मुख होते हैं लेकिन मढ़ा एक ही मुख जाता है दूसरा खुला रहता है। ऐसे वाद्यों का प्रचार अफ्रीका तथा पाश्चात्य देशों में देखा जाता है।

।4। लकड़ी की चार से छह अंगुल तक चौड़ी पट्टी में जो गोल पहलदार अथवा अन्य किसी आकृति का छोटा या बड़ा घेरा बनाती है, उसी में एक ओर चमड़ा मढ़ा रहता है। इस उपवर्ग में अनेक वाद्य हैं जो चंग, डफ, डफला, करच्छ, गंजीरा, खंजरी, दायरा आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

सुषिर वाद्य

वादन क्रिया की दृष्टि से सुषिर वाद्यों के दो भेद परिलक्षित होते हैं :-

।1। मुंह से फूंककर बजाये जाने वाले इस वर्ग में बंशी, मुरली, पाविका, पुंगी, शहनाई, नागस्वर आदि आते हैं।

।2। अन्य किसी साधन से वायु उत्पन्न करके बजाये जाने वाले वाद्य। इस वर्ग में हारमोनियम, स्वर पेटी आदि आते हैं।

बनावट की दृष्टि से सुषिर वाद्यों के अनेक उपवर्ग हो सकते हैं, किन्तु मुख्य रूप से उन्हें निम्नलिखित उपवर्गों में बाँटा जा सकता है :-

।1। सादे बने हुये वाद्य : इन वाद्यों में फूंक के स्थान पर एक छेद होता है तथा स्वरों के लिए जो छिद्र होता है, उन्हें खोलने तथा बन्द करने की क्रिया उंगली के पोरों से की जाती है। जैसे-बंशी, मुरली, पाविका आदि।

।2। पत्तीदार सादा वाद्य : इन वाद्यों में फूंक के स्थान पर एक विशेष प्रकार की बनी हुई पत्ती लगाकर फूंकते हैं किन्तु स्वर के छिद्रों का सीधा सम्बन्ध उंगली के पोरों से होता है, जैसे शहनाई, नागस्वर

आदि में ।

|3| पत्तीदार चाभीदार वाद्य : इस वर्ग के वाद्यों में फूंक के स्थान पर विशेष प्रकार की पत्ती लगी होतीहै तथा स्वरों के छिद्रों को खोलने तथा बन्द करने के लिए चाभियां लगी होती हैं, जैसे- क्लारिनेट, सेक्सोफोन आदि में ।

|4| फूंकने वाला मुख : सामान्य किन्तु दूसरी ओर का मुख फूलदार अर्थात् बाहर की ओर फैला हुआ जैसा कि शहनाई, नागस्वर आदि में होता है ।

|5| घुमावदार बने हुये : इस वर्ग में अधिकांश पीतल के बने हुये फूंक के वे वाद्य आते हैं जिनका अधिकांश उपयोग बैंडों में होता है । यह सभी विदेशी वाद्य हैं जिन्हें भारतीय बैंड पार्टियों ने अपना लिया है ।ट्रम्पेट आदि इसी वर्ग के वाद्य हैं ।

|6| रीड लगे हुये वाद्य : इस वर्ग में वे सभी वाद्य आते हैं जिनमें एक एक स्वर के लिए पीतल तथा अन्य किसी धातु के अलग-अलग रीड बनाकर क्रमानुसार लगा दिया जाता है । इसवर्ग में हारमोनियम हारमोनिका, स्वरपेटी आदि आते हैं ।

<u>घन वाद्य</u>

वादन क्रिया की दृष्टि से घन वाद्यों के मुख्यतः तीन उपवर्ग माने गये हैं :-

|1| एक से ही दो हिस्सों को परस्पर टकराकर बजाये जाने वाले वाद्य । इस उपवर्ग में झांझ, मंजीरा, कंठताल, कर्त्रिका आदि आते हैं ।

|2| डण्डी अथवा लकड़ी की या किसी अन्यमुलायम वस्तु से बनी हथौड़ी से प्रहार कर बजने वाले वाद्य । इस उपवर्ग में घंटा, जयघंटा, विजय घंटा जांग, गेमलन, बड़ी झांझ आदि आते हैं ।

|3| हाथ हिलाकर बजाये जाने वाले वाद्य । इस उप वर्ग में वे सभी वाद्य आते हैं जिनमें किसी पोले पदार्थ के भीतर कंकड़ आदि भरा रहता है जैसे- झुनझुना, रम्भा आदि ।

|4| बनावट की दृष्टि से घन वाद्यों के अनेक भेद हैं जिनकी गणना कर अनेक उपवर्ग बनाना अभी तक किसी के लिए संभव नहीं हो सका है ।

वास्तव में मध्यकाल से ही विश्व के अनेक देशों में, विशेषकर पाश्चात्य देशों में इतने नये वाद्यों का नये नये रूपों में आविष्कार हुआ है कि उनका वर्गीकरण विश्व के संगीतवेत्ताओं के लिए एक कठिन समस्या बन गयी है। भारत में वाद्यों को चार वर्गों में बांटा गया है। इसी प्रकार चीन में वाद्यों के आठ वर्ग माने गये हैं जो वाद्यों के निर्माण में प्रयुक्त वस्तुओं के आधार पर हैं। चीनी विद्वानों के मत में ध्वनि उत्पन्न करने की सामग्री चमड़ा, पत्थर, धातु, मिट्टी, लकड़ी बांस, रेशम, तुम्बी।लौकी या कद्दू। हैं, अतएव इन्हीं ध्वनि उत्पादक सामग्रियों के आधार पर वाद्यों के आठ वर्ग मान लिये गये हैं।

पाश्चात्य देशों में मुख्यतः तीन वर्ग ही प्रचार में हैं जिन्हें,

तंत्री वाद्य

हवा वाद्य

प्रहार वाद्य

कहते हैं। उसप्रकार के वाद्यों के अवनद्ध वाद्य तथा घनवाद्य दोनों प्रकार के वाद्य माने जाते हैं। पाश्चात्य देशों में वर्गीकरण के बारे में सबसे पहले श्री विक्टर चार्ल्स जो ब्रुसल्स के संगीत वाद्यों के संग्रहालय के जन्मदाता तथा संरक्षक थे, उनके मतानुसार जब वाद्यों की संख्या रफ्तार से बढ़ती जा रही थी और जिनमें बहुत थोड़ थोड़े भेद के कारण वर्गीकरण करना उचित नहीं है, अतः मोटे तौर पर सभी संगीत के वाद्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है।

1914 में डा0श्रिच, एम0वान हार्न बोस्टल तथा श्री कुर्ट सैक के परस्पर सहयोग से एक नया वर्गीकरण हुआ जिसका मुख्य आधार था ध्वनि उत्पादक सामग्री। यह वर्गीकरण हार्न वास्टल सैक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्री कुर्ट सैक ने अपने ग्रन्थ "दी हिस्ट्री आफ म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेंट" में लिखा है कि हार्न वोस्टल सैक के वर्गीकरण को भी वाद्यों के वर्गीकरण का अंतिम रूप नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वाद्य मनुष्यों द्वारा निर्मित होता है तथा जिसकी कल्पना करने का कोई सीमा नहीं है। अतएव वाद्यों के प्रकारों को भी बांध पाना मुश्किल है।

अवनद्ध वाद्यों के प्रकार

दक्षिण एवं उत्तर भारत के प्रमुख अवनद्ध वाद्य, प्राचीन एवं अर्वाचीन

अवनद्ध वाद्य

जो वाद्य अन्दर से पोले तथा चमड़े से मढ़े होते हैं तथा हाथ या किसी प्रकार की चीज से प्रहार करने से आवाज, स्वर अथवा बोल उत्पन्न करते हैं उसे अवनद्ध वाद्य कहते हैं । इस प्रकार के वाद्यों को अवनद्ध और वितत वाद्य भी कहा जाता है । महर्षि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अवनद्धों के अन्तर्गत मुख्य रूप से पुष्कर वाद्यों का वर्णन किया है । भरत के अनुसार अवनद्ध वाद्यों की संख्या 100 है ।

मानसोल्लास में मृदंग, पटह, हुड्क, हुडुक्का, मर्दल, ढक्का, सेल्लुका, कुडुवा, डमरू, करटा, डक्कली, घटम, भरी, दुन्दुभी, निसाण, तम्बकी, घड्स तथा त्रिवली को अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत माना गया है ।

संगीत रत्नाकर में मर्दल, करटा, ढवसा, घट, पटह, घढसा, ढक्का, कुडुक्का, कुड्का, रूंज, डमरू, डक्का, मण्डिक्का, डक्कुली, सेल्लुका, झल्लरी, भाण, त्रिवली, दुन्दुभी, भेरी, निसाण, तुम्बकी नामक वाद्यों की गणना अवनद्ध वाद्यों में माना है । "संगीत पारिजात" में अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, दुन्दुभि, भरी, रूंज, डमरू, पटह, चक्रवाद्य और हुडुक्का को मुख्य माना गया है ।

इस प्रकार संगीत ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के नामों से अनेक प्रकार के अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख किया गया है । अहोवल ने लिखा है कि समय के अनुसार अनेक वाद्य हैं । उनमें से कुछ मुख्य रूप से हैं:- मृदंग, पटह, मर्दल, हुडुक, हुडुक्का, ढक्का, डमरू, डक्कली, घटम, भेरी, दुन्दुभी, तम्बकी, घड्स और त्रिवली । इनमें से कुछ वाद्यों में दोनों तरफ चमड़ा मढ़ा होता है और कुछ वाद्यों में केवल एक ही तरफ चमड़ा मढ़ा होता है । प्राचीन तथा मध्य कालीन अवनद्ध वाद्यों के रूप तथा उनकी वादन विधि जो विभिन्न संगीत ग्रन्थों में मिलतीहै, वह प्राय: इस प्रकार है:-

आवज अथवा हुडुक

डा॰ वासुदेव शरण अग्रवाल ने आयुज के सम्बन्ध में कहा है- आयुज शब्द आतोद्य से बना है । अमरकोष में वाद्य, वादित्तत, आतोद्य को पर्याय माना है । {अमरकोष 1-6-4-5} नाट्य शास्त्र में भी अतोद्य शब्द से सब वाद्यों का ग्रहण किया है । {33/1-20, संगीत रत्नाकर में लिखा है कि वाद्यों के

स्थानीय नाम जानने वाले कुछ लोग आवाज {जो आउज का ही रूप है}को हुडुक्का का पर्याय मानते हैं ।

आइने-अकबरी को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय भी आवज हुडुक्का का ही पर्याय माना जाता था । अपट छाप में हुडुक का कहीं उल्लेख नहीं है, लगता है उस समय हुडुक की अपेक्षा आवज का ही अधिक प्रचार रहा होगा । जिस प्रकार आजकल मृदंग के लिए पखावज का प्रयोग होता है ।

संगीत दामोदर में अलाम्बुज का वर्णन किया है और लिखा है:

"अलाबजं वाद्यं मलेक्षावाद्यं
वाममुखं त्रयोदश अंगुलिम्
दक्षिणमुखम् द्वादशांगुलम्"

"आइने अकबरी" में आवज का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आवज देखने से लगता है मानों दो नगाड़े पीछे से जोड़ दिये गये हैं । इसप्रकार हम कह सकते हैं कि दो नगाड़े को जोड़कर उनका मुख चमड़े से ढक कर तथा रस्सी से कस देने से जो रूप होगा वही रूप हुडुक्का से बनता है ।

संगीत रत्नाकर में लिखा है कि हुडुक्का की लम्बाई एक हाथ तथा गोलाई अठारह अंगुल होती है । उसके खोल की मोटाई एक अंगुल तथा मुख का व्यास सात अंगुलहोता है । उसमें एक ही रस्सी होती है और मुख का मंडल दस अंगुल का होता है उसमें दोनों उठे हुये मुखों की मोटाई सवा अंगुल का होता है । यह मोटाई उस चमड़े की होती है, जो खोल के मुख को ढकता है ।

"संगीत पारिजात {2-116-119} के अनुसार यह दो मुखी वाद्य सोलह अंगुल लम्बा तथा बीच में पतला होता है । इसके मुख का व्यास 8-8 अंगु[illegible] होता है जो चमड़े की डोरियों से कसे रहते हैं । इनमें भेद होते हैं तथा दो कुंडे लगे रहते हैं, एक अलग डोरी लगी होती है जिसको पकड़कर यह वाद्य बजाया जाता है ।

भरत नाट्यशास्त्र में इस वाद्य का नाम पणवदिया गया है तथा इसे अवनद्य वाद्य में प्रमुख स्थान प्राप्त था । हुडुक्का और पणव का महत्व सारंगदेव से पूर्व भी बहुत था । सारंगदेव के समय तक तथा उसके पश्चात् मृदंग तथा ढोलक {पटह} कस महत्व बहुत अधिक बढ़ने लगा तथा हुडुक्का का प्रयोग कम हो गया।

---

1. यहाँ मुख का अभिप्राय गजरा, कड़ा अथवा घेरा से है । इसी गजरे में पुड़ी की खोल को लपेटा जाता है तथा इसी गजरे में छेद करके सुतली डालकर खींचने से पुड़ी के चमड़े में कसाव आ जाता है ।

इसी काल में इसका आवज नाम भी प्रचलित हो गया जैसा कि "संगीतोपनिषद्सारोद्धार" से पता चलता है । आवज का थोड़ा प्रचलन उस समय तक था जब तक कि तबला का विकास नहीं हुआ । तबले का विकास होते ही आवज तथा पटह दोनों महत्वपूर्ण वाद्य लोक संगीत के वाद्य बनकर रह गये । उत्तर भारत में केवल कहार जाति के लोग ही हुडुक्का का प्रयोग करते देखे जाते हैं ।

उपंग

मध्यकाल से ही उपंग नामक वाद्य का काफी प्रचार होने का प्रमाण मिलते हैं[1] । कृष्णभक्त कवियों ने तो स्थान स्थान पर इसका उल्लेख किया है, पर प्रयत्न करने के उपरान्त अभी तक संगीत के किसी संस्कृत ग्रन्थ में इसका कोई उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ । आज भी समस्त भारत में उपंग का प्रयोग तरह-तरह से देखा जाता है ।

इसका स्वरूप छोटी ढोलक के काठ को बीच से काटकर दो टुकड़े में करके फिर उसके खुले हुये दोनों मुखों में से बड़े वाले मुख को खंजरी की तरह चमड़े से मढ़ दिया जाता है तथा इस चमड़े के बीच में तार अथवा तांत प्रवेश होने योग्य एक छेद होता है, उसके भीतर तांत अथवा तार को डालकर बाहर निकाल दिया जाता है। बाहर निकले हुये तार में एक बटन फंसा दिया जाता है जिससे तार को खींचने पर ही वह उससे अलग नहीं होता है । बटन और मढ़ी हुई खाल के मध्य एक चांदी के रुपये के आकार की मोटी खाल और लगा दिया जाता है ताकि तार खींचने से बटन पर जोर पड़ने से मढ़ा हुआ चमड़ा कट नहीं पाता है । इस प्रकार का खोखले काठ का एक और ढांचा तैयार करके उसे भी खालें में मढ़ दिया जाता है । यह ढांचा इतना छोटा होता है कि हाथ की मुट्ठी में वह आसानी से और मजबूती से पकड़ा जा सके । अब तार का दूसरा छोर उस छोटे से ढांचे के खालें में इसी प्रकार फंसाया जाता है जैसे कि पहले वाले ढांचे में फंसाया गया है । वाद्य को बजाते समय बड़े ढांचे को बाईं कॉख में दबाया जाता है और छोटे ढांचे को दाईं हाथ की मुट्ठी से पकड़ा जाता है । दाहिने हाथ में सरोद का जवा अथवा मिजराब पहन कर तार पर प्रहार किया जाता है । इस वाद्य

---

1. चंग उपंग नागसुर तूरा
   महु बरि बाज वांसि भल पूरा । - जायसी पदमावत, 527-5.
   गन गगन गगन बाजे उपंग-कृष्णदास, मुरली मुरज श्याम उपंग-सूरदास ।

इस वाद्यमें दादरा और कहरवा के विभिन्न बोल निकाले जाते हैं । इन बोलों को निकालते समय मुट्ठी से पकड़े हुये ढाँचे को खींचा तथा ढीला किया जाता है । इस प्रकार स्वर ऊँचा तथा नीचा होता है । इस वाद्य में करीब हुड़ुक का जैसा आवाज निकलता है लेकिन स्वर की ऊँचाई-निचाई हुड़ुक से अधिक उपंग में होती है । इस आधुनिक युग में उदयशंकर जैसे नृत्याचार्य ने उपंग का प्रयोग करते रहे । कुछ फिल्मों में भी इस वाद्य का प्रयोग पाया जाता है।

इस प्रकार उपंग वाद्य नृत्यादि में किसी भाव विशेष के लिए प्रयुक्त किया जाताहै । उपंग को बनाने का सिद्धान्त तो एक ही है लेकिन स्थान विशेष के कारण सामग्री में अन्तर होता है फिर भी मुख्य ढाँचे की रचना, खाल से मढ़ना, तार या ताँत को लगाना आदि बातें सभी जगह एक सीहोती हैं । उपंग को बंगाल में खमक या आनन्दलहरी कहा जाता है । राजस्थान में इस वाद्य को उपंग कहते हैं ।

डा०अरुण कुमार सेन ने इसे "नस-तरंग" माना है । नस-तरंग उपंग से भिन्न वाद्य है । नस तरंग से गुनगुनाहट से स्वर निकलते हैं लेकिन उपंग में तार को छेड़ने से झन्नाटे का स्वर निकलता है । कृष्णदास ने एक पद में लिखा है :- " गन गगन गगन बाजे अंग"

म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान में 119 पृष्ठ पर श्रुति उपंग नामक एक वाद्य का उल्लेख किया गया है । इसको देखने से प्रतीत होता है कि या तो यह उपंग है या उसी जाति का कोई अन्य वाद्य है ।

<u>करटा</u>

संगीत शास्त्रों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि यह मध्यकालीन ताल वाद्य है । इसका उल्लेख संगीत रत्नाकर, संगीत मकरन्द, संगीत समयसार आदि ग्रन्थों से उपलब्ध हुआ है । कई विद्वानों के मतानुसार करटा ढोल का ही एक प्रकार है । यह विजय सार की लकड़ी से बनाया जाता है जो चौबीस या इक्कीस अंगुल चौड़ा होता है । इसकी परिधि 80 अंगुल होती है, दोनों मुखों पर चढ़ाव की रीति से 3-3 ताँतके तार बाँधे जाते हैं तथा दोनों मुखों पर काठ या लोहे के कड़े लगाकर उन्हें कोमल चमड़े से लपेट दिया जाता है । उन कड़ों में 14-14 छेद करके फिर करटा का दोनों मुख ढोल की भाँति मढ़ दिये जाते हैं । उन चौदह छेदों में बीच-बीच के छेदों को छोड़कर उसे कसने के

लिए चमड़े की बद्दी लगाई जाती है । उसके खाली छिद्रों में फिट पतले चमड़े की बद्दी पहले की ही भाँति लगाई जाती है जिससे बद्दियां चढ़ाव-उतार युक्त हो जाती हैं । इसके दोनों कड़ों के पास से एक तीन अंगुल चौड़ी चमड़े की पट्टी बाँधी जाती है । इस ताल वाद्य को बेंत की डण्डी से बजाया जाता है ।

करचक्र

चक्रवाद्य अथवा करचक्र का उल्लेख संगीतसार में प्राप्त होता है । यह वाद्य दस अंगुल मोटा, चार अंगुल लम्बा, एक गोल चक्राकार आकार जिसका बीच आर-पार से पोला होता है । एक अंगुल का दल होता है । एक मुख को चमड़े से मढ़ा जाता है । बजाते समय चमड़े को पानी से भिगोकर बाँये हाथ से उसका किनारा दबाकर दाहिने हाथ से बजाया जाता है । इस वाद्य में "डबक" इसका पाठाक्षर होता है । संगीतसार भाग-2, पृष्ठ संख्या-74 में इस वाद्य के बारे में लिखा गया है । इसवाद्य को "दायरा" अथवा खंजरी कहा गया है ।

कुडुक्का

कुडुक्का का उल्लेख "संगीत सुधा" "वाद्य प्रकाश" आदि ग्रन्थों में मिलता है । संगीत रत्नाकर में इस वाद्य के सम्बन्ध में बहुत संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है । यह हुडुक्का का ही एक रूप है । इससे अधिक इस वाद्यके सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है ।

कुडुवा

इस वाद्य का उल्लेख "मानसोल्लास" "संगीत रत्नाकर" "संगीतसुधा" "संगीतसार" आदि में पाया जाता है। इन ग्रन्थों के अनुसार इस वाद्य का स्वरूप और वादन विधि इस प्रकार है-

विजयसार का काठ इक्कीस अंगुल लम्बा हो जिसमें सात-सात अंगुल चौड़े दो मुख हों, यह काठ ऊंचा-नीचा नहीं होता । लकड़ी इसकी बराबर होती है । इसके दोनों मुख पर बेल दो कड़े होते हैं जो चमड़े से मढ़े होते हैं । दोनों कड़ों में सात-सात छेद होते हैं जिनमें बद्दी डालकर उन्हें कसकर बाँधा जाता है । इन दोनों मुखों से डंडे से बजाया जाता है ।

1.

खंजरी

यह वाद्य डफ, दायरा तथा करचक्र के आकार का होता है किन्तु नाप में उससे छोटा होता है। खंजरी में तीन या चार जोड़ी छोटी झांझें उसकी लकड़ी के घेरे को काटकर लगाई जाती है। ये झांझे उसकी लकड़ी के घेरे को काटकर लगाई जाती है। यह झांझें खंजरी बजाते समय स्वयं हिलती हैं तथा खंजरी के आवाज के साथ मिलकर बहुत सुन्दर ध्वनि प्रस्फुटित होती है। इसका घेरा लकड़ी का बनाया जाता है। जिसमें एक ओर पतली खाल मढ़ी रहती है। यह खाल इतनी खिंची रहती है कि इसको बजाते समय गीले कपड़े से पोंछते रहना पड़ता है। इसमें कहरवा, दादरा के बोल बड़े अच्छे ढंग से बजते हैं। दाहिने हाथों से ढोलक के समान बोल निकाले जाते हैं। बायें हाथ से उसे पकड़ते हैं। पकड़ते समय भी मध्यमा और अनामिका उंगली के पोरों से उसके किनारे की खाल को कभी कभी दबाते हैं जिससे उसकी आवाज में गुमुक उत्पन्न होती है। इस सामान्य खंजरी से कुछ आकार में बड़ी खंजरी भी होती है। इसका घेरा पीतल की चादर का बनाया जाता है, झांझें इसमें भी लगी रहती है। इस प्रकार की खंजरी का नृत्य के साथ भी प्रयोग किया जाता है।

दक्षिण भारत में अहोबल के बताये हुये चक्रवाद्य के समान एक वाद्य और होता है जिसका नाम मंजीरा है जो आज भी प्रयोग में लाया जाता है। उत्तर भारत में खंजरी, चंग आदि वाद्य का प्रयोग भजनों, खयालों तथा लोक-गीतों के साथ प्रयुक्त होता है।

हुडुक

इसको लोक प्रचलित शब्दावली में डिमडिमा भी कहते हैं। इसमें दो तबले होते हैं जिनमें पेंदे में एक-एक छेद होता है। दाहिने हाथ के तबले को महीन चमड़े की झिल्ली से मढ़ा जाता है। बायें तबले को मोटे चमड़े से कुछ ढीला मढ़ा जाता है। चमड़े किनारे से डोरे बांध कर उसको नीचे पेंदी के छेद से निकालकर बायें हाथ के उंगली से बांया तबला बजाते समय अंगूठे से डोरी को खींचने पर उसमें से "गोंकार" की ध्वनि निकलती है। इसका प्रचलित नाम गुटक है। यह दाहिने हाथ की मध्य उंगली और अंगूठे की रगड़ से इस भाग में "गोंकार" शब्द निकलता है। इसको दण्डक कहा जाता है। हुडुक वाद्य का

उल्लेख संगीत रत्नाकर, संगीत सार, मानसोल्लास आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है किन्तु इसका विशेष महत्व कभी नहीं रहा और इसीलिए अब इसका प्रयोग बिलकुल समाप्त हो गया है ।

चंग

उत्तर प्रदेश में लोक गीत के स्तर का ख्याल गाने वालों का यह प्रसिद्ध वाद्य गोलाकार पतले चमड़े से मढ़ा हुआ होता है । इसका व्यास 18 इंच से 22 अंगुल का होता है । घेरा चार अंगुल चौड़ी लकड़ी से बनाया जाता है जिसमें एक ओर खाल मढ़ी होती है । खंजरी से इसका घेरा दुगुने से तिगुना बड़ा होता है । फलतः इसमें मढ़ी हुई खाल चाहे जितनी भी कसी हो कुछ समय के बाद ढीली पड़ने लगती है । वर्षा के मौसम में अधिक ढीला होता है । इसीलिए आजकल इसका घेरा पीतल का बनने लगा है जिसमें खाल को कसने के लिए चाभियां लगी रहती हैं । इस प्रकार इसमें चमड़ा को कसने के लिए ढंग पाश्चात्य साइड ड्रम की तरह होता है । इस प्रकार वादक अपनी इच्छानुसार कस सकता है और ढीला कर सकता है ।

पं० अहोबल ने चार अंगुल घेरा तथा दस अंगुल व्यास का एक वाद्य का जिक्र किया है जिसको करचक्र बताया है । यह वाद्य आधुनिक खंजरी तथा चंग वाद्य के मध्य का माना जाता है । चंग को डफली भी कहते हैं । जैसा कि कहावत है- "अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग" इससे यह प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग गायक लोग इसे बजाकर गाने के लिए करते थे ।

डफली और चंग के बजाने की विधि तथा बोलों में कई प्रकार के भेद पाये जाते हैं । कुछ लोग दायें हाथ की तर्जनी में कांसे का एक छल्ला पहन कर घेरे पर मात्रा बताने के लिए प्रहार करते हैं, कुछ लोग हाथ में बांस की खपच्ची लेकर प्रहार करते हैं । कुछ लोग डफ को कंधे में लटकाकर उस पर बांस की डण्डी से प्रहार करके वादन क्रिया करते हैं ।

झल्लरी

महर्षि भरत ने अपने युग में प्रचलित अवनद्ध वाद्यों की संख्या 100 बताई है जिन्हें अंग प्रत्यंग के रूप में वर्गीकृत किया गया है । इन अवनद्ध वाद्यों के विभाजन का आधार स्वर था । जिन अवनद्ध वाद्यों में स्वर मिलाने की कोई व्यवस्था नहीं थी, उन्हें महर्षि भरत ने प्रत्यंग वाद्य माना है । प्रत्यंग

वाद्यों में झल्लरी, पटह, भरी, झंझा, दुन्दुभि, डिंडिम आदि को माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि झल्लरी ही ऐसा वाद्य है जिसे स्वर में नहीं मिलाया जाता था। झल्लरी का जो वर्णन संगीत रत्नाकर में पाया जाता है उसके अनुसार यह वाद्य आधुनिक चंग या खंजरी की तरह है।

संगीत रत्नाकर के काल में झल्लरी के साथ-साथ उसका एक छोटा रूप भी प्रचलित था जिसे "भाण" कहा गया है[1]। इसी भाण तथा झल्लरी को संगीत पारिजात में चक्रवाद्य या करचक्र के नाम से सम्बोधित किया है। आधुनिक युग में इसे खंजरी के नाम से सम्बोधित किया जाता है। दायरा तथा चंग भी इसी तरह के वाद्य हैं। संगीत रत्नाकर का कहना है कि यह चमड़े से मढ़ा अवनद्ध वाद्य है। बाये हाथ के अंगूठे में लटकाकर दाहिने हाथ के शंकु द्वारा इसको बजाया जाता है। काफी ग्रन्थों में घन वाद्य के रूप में ही माना है।

पं0 अहोबल के मतानुसार यह अठारह अंगुल व्यास की अठारह पल भारी मध्य से दो अंगुल गहरी, डोरी से युक्त होती है तथा ढीले हाथ से बजाईजाती है। यहां इसके चमड़े से मढ़े जाने का संकेत नहीं है। अतः यह अवनद्ध वाद्य न होकर घन वाद्य का रूप ले लेती है। ब्रज में झल्लरी बारह अंगुल से सोलह अंगुल व्यास की कांसे की चादर से बनी हुई प्रायः एक सूत मोटी होती है। यह झालरि लकड़ी की डण्डी से बजाई जाती है। इसे घड़ियाल भी कहते हैं। संगीत रत्नाकर आदि में इसे"जय घंटा" कहा गया है। अतएव जिस प्रकार"भेरी" अवनद्ध तथा सुषिर रूप में दो भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, उसी प्रकार "झल्लर" अवनद्ध तथा घन वाद्य के रूप में है।

ढक्का

ढक्का का वर्णन संगीत रत्नाकर, संगीत मकरन्द, संगीत सार, मानसोल्लास आदि में प्राप्त है। सभी ग्रन्थों के वर्णन में यद्यपि संक्षिप्त अन्तर पाया जाता है, परन्तु मूलरूप में यह वाद्य एक सा ही है। उक्त सभी ग्रन्थों के आधार पर उसका रूप इस प्रकार माना जाता है- जिस प्रकार ढ्वस की रचना होती है उसी प्रकार ढक्का की भी रचना की जाती है। लेकिन ढक्का के दोनों मुख 13-13 अंगुल चौड़े रखे जाते हैं। इनको बाईं बगल में दबाकर दाहिने

1.

हाथ से डण्डी द्वारा बजाया जाता है । कुछ लोग इसे धौंसा कहते हैं । इस वाद्य का पाटाक्षर ट्टै ट्टै है[1] ।

डमरु या डोरु

श्रीकृष्ण की बंशी, सरस्वती की वीणा तथा शंकर के डमरु को हिन्दू धर्म ग्रन्थों में आध्यात्मिक महत्व प्रदान किया गया है । कहते हैं कि ताण्डव नृत्य के समय शिवजी डमरु बजाते हैं । नन्दिकेश्वर कारिका के अनुसार भगवान शंकर के डमरु से व्याकरण के चौदह सूत्र उत्पन्न हुये हैं :

नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्को नवपन्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धाने तद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।।
—नन्दकिशोर कारिका, प्रथम श्लोक, चौखंबा प्रकाशन, वारा.

यह महेश्वर सूत्र समस्त वड.मय तथा इनमें प्रदर्शित स्वर-वर्ण, संगीत-स्वरों के आधार हैं । स्वर वर्णों का सांगीतिक रुप भी है । अ, इ, उ को क्रमशः षड्ज, रिषभ, गन्धार भी कहा गया है[2] ।

संगीतसार में डमरु का लक्षण इस प्रकार कहा है । एक वितस्ति लम्बा काठ लेके आठ-आठ अंगुल चौड़े दो मुख और बीच में पतला करिए । इनको दोनों मुखों पर चमड़ा मढ़िये । चमड़े को तानने वाले डोरों को बीच में बांध दीजिये । फिर बीच में पकड़कर डोरन को दाबकर दाहिने हाथ से डंका से बजाइये । दोनों मुखों में, सों डमरु जानिये । इनमें "ड" पाटाक्षर है । कोई आचार्यों के मत से क, र, ख, ट- ये चार वर्ण कहे हैं[3] । उपर्युक्त वर्णन "संगीत रत्नाकर के आधार पर किया गया है जो निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट होता है :

वितस्तिमात्रदैर्घ्यः स्यादष्टांगुलमखद्वयः
भो भस्य मंडलीयुक्ते मुख बद्धे च चर्मणो ।।
त्रिवली वल्धामध्यो निबद्धः सूत्रदोरकैः ।
मध्ये च गाढ़तांनीता वन्चन्यो वादनाय च ।
भवतो प्रान्तसंलग्नसमून्मदनगोलकैः ।
अतो डमरु को मध्ये धृत्वा हस्तद्वयेन च ।
डवर्णो वादनीयः प्रोक्तो निःशंक सूरिणा ।
अन्यैः कखरटा वर्णा प्रोक्ता डमरुकेड़धिकाः ।।
संगीत रत्नाकर, वाद्याध्यायः.

1.
2.
3.

सूरदास ने अपने पदों में शिव के रूप में बाल कृष्ण का वर्णन करते हुये तथा शंकर के आगमन की सूचना देते हुये डमरु का निम्न रूप में वर्णन किया है :

।1। "सखी री नन्दनंदन देखु ।
धूर धूसरि जटा जूटित हरि किये हर वेणु ।"
"झुन झुनाकर हंसत मोहन नाचत डोरु बजाय ।"

।2। "आयो है अवधूत जोगी कन्हैया दिखलावे है हो माय "
हाथ त्रिशूल दूजे कर डमरु सिंगी नाद बजावै ।"

जिस प्रकार संगीत रत्नाकर एवं संगीत सार में विवेचित है, डमरु करीब दो मुट्ठी लम्बा तथा बीच में एकदम पतला होता है । इसके मुख का व्यास लगभग एक मुट्ठी होता है जो पतले चमड़े से ढंका रहता है। इसे रस्सी के मध्य में जहाँ वाद्य पतला होता है, रस्सी के ऊपर एक कड़े के समान रस्सी कसी रहती है और उसके दोनों छोर लटकते रहते हैं । इन्हीं दोनों सिरों पर एक-एक घुण्डी बनी होती है । इसे सीधे हाथ से मध्य स्थान पर पकड़कर हाथ घुमाया जाता है जिससे घुण्डियाँ मुखों पर प्रहार कर शब्द उत्पन्न करती है ।

वर्तमान समय में जोगी लोग डमरु के दोनों ओर की घुण्डियों को बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से बेंत के एक टेढ़े टुकड़े से बजाते हैं ।आजकल शिव मंदिरों में बड़े आकार का प्रयोग आरती के समय दोनों हाथों से मध्य स्थान को पकड़कर किया जाता है । इस बड़े आकार के डमरु का रूप प्रायः वर्तमान हुडुक जैसा ही है, वादन क्रिया में अन्तर के कारण इसे डमरु ही कहते हैं । दक्षिण भारत में बड़े डमरु को हुडुक्का कहते हैं । उत्तर भारत में डमरु का विशेष प्रयोग भालू, बन्दर आदि का नाच दिखाने में प्रयोग करते हैं ।

डिमडिमी[1]

डिमडिमी को बच्चों के खेलने वाला डमरु कहना चाहिए ।डिमडिमी डमरु से छोटे आकार में होती है । इसका ढाँचा मिट्टी का होता है जिसके दोनों मुखों पर झिल्ली मढ़ी होती है। झिल्ली को किसी डोरे से न कसकर सरेस से चिपका देते हैं । डमरु की भाँति इसमें भी बीच में डोरा लपेट कर उसके दोनों छोरों पर छोटी कड़ी गाँठें झिल्ली से टकरा कर आवाज पैदा करती है।

1.

कभी-कभी इसमें चमड़े के झिल्ली के स्थान पर बाँस का कागज भी चिपकाते हैं तथा उसे विभिन्न रंगों से रंग देते हैं।

डफ[1]

डफ का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थानोंपर भिन्न भिन्न रूपों में होता है लेकिन राजस्थान और ब्रज में डफ होली की प्रतीक माना जाता है। डफ की ध्वनि सुनाई पड़ते ही फाग की याद आने लगती है। इन स्थानों में डफ बजाते हुये रात रात भर फाग गाये जाते हैं। जहाँ कहीं भी होली के वाद्यों का प्रकरण आया है वहाँ डफ का वर्णन अवश्य रहता है। यह एक हाथ से दो हाथ तक के व्यास का होता है। पतली लकड़ी के घेरे पर जो लगभग 6 अंगुल का होता है, पतले चमड़े का मढ़ा होता है। चंग की तरह बजाया जाता है। ब्रज में नगाड़ों को भी जो चौपाइयों के साथ बजाते हुये होली पर निकला जाता है, डफ कहते हैं। इसे दो-तीन व्यक्ति लकड़ियों से पीटते हैं। इससे डमडम का शब्द निकलता है। दक्षिण में इसे मड़ा नगाड़ा कहते हैं। वास्तव में डफ - ढफ, ढपला, चंग आदि एक ही जाति के वाद्य हैं जो अपने सामान्य रूप तथा वादन विधि के अन्तर से देश के सभी भागों में प्रचलित हैं। कहरवा तथा दादरा ताल के विभिन्न रूपों में यह सभी वाद्य अपना आकर्षण पैदा करते हैं। नृत्य के साथ प्रायः इसका प्रयोग दो बाँस की खपच्चियों से किया जाता है।

डक्का

डक्का अथवा डंका हुडुक्का जाति का एक वाद्य है। इसका उल्लेख संगीत रत्नाकर, संगीत पारिजात तथा संगीत सार में किया गया है।

एक बालिस्त का लम्बा पोला लकड़ी का ढाँचा जिसका मध्य भाग पतला हो, जिसके दोनों मुखों का वृत्त आठ अंगुल का हो तथा पिण्ड आधा अंगुल मोटा हो,[2] इसके दोनों मुखों पर चार-चार ताँबे की कीलें रखी जाती हैं जिसमें दो ऊर्ध्वमुखी तथा दो अर्द्धमुखी होंगी। इन कीलों में दो-दो तातें बाँधी जाती हैं। इनके दोनों मुख हुडुक्का की भाँति चमड़े से मढ़े जाते हैं जिसे बारह अंगुल की शलाका लेकर दाहिने हाथ से बजाया जाता है। बायें हाथमें हाथी दाँत का टुकड़ा जो जवा की भाँति हो लेकर ताँतों को बजाया जाता है। इसमें हुडुक्का के ही पटाक्षर होते हैं। संगीत पारिजात में ढक्का के तत अवनद्ध जाति

1-
2- संगीत रत्नाकर, वाद्य अध्याय, ।। 1113 ।।

का दो मुख वाला वाद्य बताया है जो एक हाथ लम्बा होता है । मुख का व्यास बारह अंगुल तथा अन्य स्थानों पर आठ अंगुल होता है । इसका मुख एक चमड़े से मढ़ा होता है । इस चमड़े के मध्य से तांत की एक तंत्री को एक सिरे पर गांठ देकर निकाल ली जाती है । यह तंत्र बायें हाथ से नीचे धारण किया जाता है तथा उसी हाथ से उसकी तंत्री को खींच कर दाहिने हाथ सेबजाया जाता है।

डक्कली

डक्कली अथवा ढक्कली केम नाम का उल्लेख बहुत कम ग्रन्थों में हुआ है जिससे यह लक्षित होता है कि इस वाद्यका कभी विशेष प्रचार नहीं था । इसका जो वर्णन संगीत रत्नाकर तथा संगीत सार में उपलब्ध है, उसके अनुसार इसका रूप इसप्रकार होता है[1] ।

बैल की सींग, हाथी के दांत अथवा कांसे का नौ अंगुल का खोखला ढाचा तैयार करके जिसके दोनों मुख 4-8 अंगुल वृत्त के बनाये जाते हैं । इन मुखों को चमड़े से मढ़कर इनमें तांबे अथवा लोहे का कड़ा पहनाया जाता है ।इन कड़ों में 5 छेदकर उनमें बद्दी अथवा डोरी पहनाये जाते हैं जो बहुत कसी और न बहुत ढीली हो, बीच मेंकमरबन्द की भांति डोरा बांधे जाते हैं, बीच के डोरे पर अनामिका रखकर मध्यमा तथा तर्जनी नीचे मुख के कड़े पर रखे अंगूठा ऊपर की ओर रखें । इस प्रकार उसे पकड़कर चमड़े में लगे छल्ले को खींचकर दाहिनी हाथ से वादन करें । इसके पाटाक्षर "र, ट, तं, त" होते हैं ।

ढक्का

यह विजयसार काठ से बनता है । इसकी लम्बाई एक हाथ तथा परिधि 39 अंगुल की होती है । इसके दोनों मुख 12-12 अंगुल के होते हैं । दोनों मुखों को कड़ चमड़े से लपेटा जाता है तथा उसमें 7-7 छेदकर चमड़े से मढ़ दिया जाता है, उन छेदों में मोटा डोरा लगाया जाता है । बांया मुख बांये हाथ से और दाहिने मुख को बांस की कमच्ची से बजाया जाता है । इसमें ढम-ढम पाटाक्षर होते हैं ।

---

1. संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय, श्लोक सं० 1126-1131 तथा संगीत सार-भाग-2.

तम्बकी

तम्बकी निसान का ही एक भेद है जो निसान से प्रमाण और ध्वनि से बहुत कम है । इसके अन्य लक्षण निसान जैसे ही हैं । तम्बकी का उल्लेख कुछ ग्रन्थों में उपलब्ध होता है और सभी स्थानों पर निसान का ही एक छोटा रूप माना जाता है ।

त्रिवली

त्रिवली का वर्णन मानसोल्लास, संगीत रत्नाकर, संगीत सुधा संगीत सार, वाद्य प्रकाश आदि में पाया जाता है । मानसोल्लास, संगीत रत्नाकर तथा संगीत सार में इसके रूप का लगभग एक सा ही वर्णन किया गया है।

एक हाथ की लम्बाई वाले काठ को जो बीच में थोड़ा पतला हो तथा भीतर से खोखला हो, जिसके दोनों मुख सात-सात अंगुल के हों, उसे त्रिवली कहते हैं । दोनों मुख चमड़े से मढ़े रहते हैं । इसके लिए उन दोनों मुखों में लोहे के कड़े पहनाये जाते हैं तथा उनमें 7-7 छेद किये जाते हैं। इन छेदों में सुतली तथा चमड़े की बद्धी डालकर उसे कसते हैं । इन कसे हुये डोरों के बीच में दबाकर दूसरे डोरों से उसको बांध देते हैं ।उसी में एक पट्टी बांधकर उसे कंधों से लटकाकर दोनों हाथों से वादन क्रिया करते हैं । " त दों दों दे" आदि बोल निकलते हैं ।

दर्दर या दर्दुर

महर्षि भरत ने दर्दुर को अवनद्ध वाद्यों में अंग वाद्य मानकर इसे पर्याप्त महत्व प्रदान किया है, पर इस अवनद्ध वाद्य का महत्व उनके बाद के आचार्यों ने स्वीकारनहीं किया है । भरत के अनुसार यह घंट के आकार का होता है । इसका मुख 9 अंगुल का होता था जिसके ऊपर चमड़े की पुड़ी का विस्तार 12 अंगुल का होता है । यह चमड़े की पुड़ी सुतलियों से पहुव के समान ही कसी रहती थी । इस वाद्य में बोलों को निकालने के लिए दोनों हाथों का प्रयोग किया जाता था । दाहिने हाथ का प्रयोग युक्त, अयुक्त तथा बन्द ध्वनियों के वादन के लिए होता था । बाये हाथ का प्रयोग दाहिने हाथ के सहायक के रूप में होता था । संगीत

रत्नाकर में घट का वर्णन भरत के समान विस्तृत नहीं है तथा उसकी वादन क्रिया भी मर्दल के समान ही मानी गयी है।

घड़ा (घट)

जिसका पेट बड़ा हो, कण्ठ लम्बा हो और मुख संकुचित हो उसे घड़ा कहा गया है। घट के दोनों रूपों का प्रचार एक सा है। चमड़े से मढ़े जाने वाले घट का विकास त्रिमुखी तथा पंचमुखी के रूप में भी हुआ जिसमें घट के एक मुख के स्थान पर तीन मुख अथवा पाँच मुख बताये गये थे जिसके बीच का एक मुख बड़ा तथा शेष सभी उससे कुछ छोटे आकार में होते थे। इस प्रकार का एक पंचमुखी घट आज भी मद्रास म्यूजियम तथा पूना के केलकर संग्रहालय में विराजमान है। दूसरे प्रकार का घट जो चमड़े से मढ़ा नहीं होता है आजकल अधिक प्रयुक्त होता दिखाई पड़ता है। चमड़ा रहित घट का वादन क्रिया दो प्रकार से होता है। घट को अपनी गोद में सीधा रखकर अर्थात् उसका मुख ऊपर हो, ऐसा रखकर बायें हाथ की हथेली से उसका मुख बंद करते तथा खोलते हैं जिससे घट के भीतर का व्याप्त वायु पर दबाव डालता है और उसमें से गंभीर ध्वनि उत्पन्न होती है। यह ध्वनि तबले के डुग्गी, ढोलक के वाम मुख की तरह होता है। दाहिनी हाथ की उँगलियों में से अथवा धातु के किसी कठोर वस्तु को उँगलियों से पकड़कर घट पर प्रहार करते हैं जिससे ताल वाद्यों के दाहिने मुख से ध्वनि निकलती है। दक्षिण संगीत की गोष्ठियों में कभी-कभी ताल वाद्य गोष्ठियों का भी आयोजन होता है जिसे ताल कचेहरी कहते हैं जिसमें मृदंग, मंजीरा तथा घटम् तीनों के वादक क्रमशः एक दूसरे के साथ वादन करते हैं तथा कठिन और द्रुतगति के बोलों का चमत्कार दिखाते हैं। दक्षिण शास्त्रीय कंठ संगीत के साथ ही प्रायः घट का प्रयोग होता दिखाई पड़ता है। इस प्रकार भरत कालीन दर्दुर वादन की परम्परा अपने सामान्य परिवर्तन के साथ आज भी देश में प्रचलित है।

दुन्दुभि

जिस प्रकार वैदिक साहित्य में वीणा का काफी वर्णन मिलता है उसी प्रकार अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि का उल्लेख भी मिलता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा अन्य प्राचीन उपनिषदों में दुन्दुभि का वर्णन आया है। कुछ

और ग्रन्थों में भूमि दुन्दुभि का भी वर्णन आया है । भूमि दुन्दुभि गड्ढा खोदकर उसको चमड़े से मढ़कर बनाई जाती है और व्रात के समय बजाई जाती है । कुछ विद्वानों के अनुसार दुन्दुभि में एक ही नग होता था और वह बड़ा होता था । प्राचीन दुन्दुभि और भूमि दुन्दुभि एक ही नग का बड़ा नगाड़ा जैसा होता था, परन्तु जब से उसका सम्बन्ध शहनाई आदि के साथ हुआ तब से उसमें भी भीषण तथा जोरदार ध्वनि उत्पादन के अतिरिक्त मृदंग ऐसे पाटाक्षर निकालने की भी आवश्यकता हुई । इसीलिए उस बड़े आकार के साथ एक छोटे आकार की झील का भी समावेश हो गया । इसके कारण दुन्दुभि में मृदंग आदि के पाटाक्षर आसानी से निकलने लगे । वास्तव में दुन्दुभि, नगाड़ा, नक्कारा, धौंसा, निसान, तम्बकी, दमामा आदि एक ही जाति के वाद्य हैं । इसको बजाते समय आग के आँच या सूरज की गर्मी से तपाकर बजाया जाता है । हिन्दी शब्द सागर में दुन्दुभि का अर्थ नगाड़ा और धौंसा के समान लिखा है। जिस प्रकार तबले में दो नग होते हैं एक बाँया और दूसरा दाँया और दोनों को मिलाकर तबला कहा जाता है, उसी प्रकार दुंन्दुभि में भी दो नग होते हैं एक बड़ा नगाड़ा जिसका शब्द गंभीर होता है तथा एक छोटा नगाड़ा जिसका शब्द छोटा तथा ऊंचा होता है। इस प्रकार वह दो स्वर वाला दो नग का वाद्य दुन्दुभि कहलाता है ।

निसान[1]

संगीत रत्नाकर के अनुसार निसान कांसे, तांबे अथवा लोहे का बना हुआ वाद्य है जो क्रमशः उत्तम, मध्यम अथवा अधम माना जाता है[2]. इसके पेंदे में कांसा भरा होता है तथा मुख भैंस के चमड़े से मढ़ा होता है[3]. इसका मुख बड़ा तथा पेंदा छोटा होता है । बीच में दोनों का आधा होता है । वह चमड़े द्वारा जिसमें कड़े पड़े होते हैं, से कसा जाता है । इन कड़ों को जोर से कसकर उसे बजाते हैं । इसका दृढ़ शब्द भीरुओं को दहलाने वाला तथा वीरों को रोमांचित करने वाला होता है।

संगीत सार में निसान को दुन्दुभि जाति का वाद्य माना है । इसी निसान से मिलता जुलता वाद्य दमामा था, जिसका मध्य युग में नक्कारा

---

1. "हलहू बाजे लागे बाजन दुन्दुभि धौंसा गौंजे ।परमानन्द दास।
2. चित्र-170 आ.
3. देखें-चित्र संख्या-150.

खाने में प्रयोग होता था । मध्य कालीन कृष्ण भक्त कवियों ने होली के अवसर पर अन्य वाद्यों के साथ निसान का भी उल्लेख किया है[1]. निसान का प्रयोग मुख्य रूप से युद्धस्थल पर ही होता था ।[2]

पणव

मृदंग के समान पणव भी भारत का अति प्राचीन अवनद्ध वाद्य है । कुछ ऐसे तथ्यप्राप्त होते हैं जिनके आधार पर पणव तथा पटह वैदिक कालीन वाद्य समझे जा सकते हैं । महर्षि भरत ने मृदंग के बाद अवनद्ध वाद्यों में पणव को ही सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है । प्राचीन सांस्कृतिक साहित्य में पणव का उल्लेख काफी मात्रा में हुआ दिखाई पड़ता है जैसे- बालमीकि रामायण के कुछ स्थान पर :

पणवेन सहानिन्द्रासुप्ता मदकृतप्रभा- सुन्दर काण्ड, 11-43
ततो भेरी मृदंगानां पणवानां च धनोपमः ।
शंखनेमिस्वनीन्मिश्रः सम्बभूव धनोपमः ।। युद्धकाण्ड, 44-12
इसी प्रकार महाभारत में भी निम्नवत् श्लोक मिलता है :-
भेरी पणवशंखानां मृदमानां च निस्वनः - अरण्य पर्व- 132/19
भेरी मृदंग पणवैः शंखवेणु च निस्वनैः- उद्योग पर्व, 78/16

महर्षि भरत ने मृदंग के साथ-साथ पणव तथा दर्दुर को भी स्वाति मुनि के द्वारा विश्वकर्मा की सहायता से बनाया हुआ माना है :

ध्यात्वा सृष्टिं मृदंगानां पुष्करानसृजत ततः ।
पणवं दर्दरं चैव सहितो विश्वकर्मणा ।। भ0ना0 34-9

सोलह अंगुल लम्बा मध्य भाग भीतर की ओर दबा जिसका विस्तार आठ अंगुल तथा जिसके दोनों मुख पांच अंगुल के हों[3] और भीतर का खोखला भाग चार अंगुल के व्यास का होता है ।

पणव के दोनों मुख कोमल चमड़े से मढ़े जाते थे जिन्हें सुतली से कस दिया जाता था । सुतलियों का यह कसाव कुछ ढीला रखा जाता था जिसे वादन के समय बाये हाथ से मध्य भाग को दबाकर तथा ढीला कर आवश्यकतानुसार ऊंची नीची ध्वनि निकाली जाती थी । बाये हाथ से पणव की सुतलियों को कसते हुये तथा ढीला करते हुये दाहिनी हाथ की कनिष्ठा

1. कांस्यजस्ताग्रजो लौहो चोत्तमो मध्यमोधमः। एकवक्त्रो महान्वक्त्रे स्वल्पोधोध्येवाकृतिः ।। ।।52 ।। ।सं. र. वाद्याध्यायः।
2. बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के ।भूषण।
3. अभिनव गुप्ताचार्य भ0ना0शास्त्र. पृ0-457.

तथा अनामिका के द्वारा विभिन्न करणों का वादन किया जाता है । अन्य बोलों को निकालने के लिए अन्य उंगलियों का भी प्रयोग होता था । कसे हुये पणव में मुख्य रूप से " ख ख न न" आदि बोल निकलते थे तथा सुतलियों का कसाव कम कर देने पर "ल था" आदि बोल निकलते थे ।

समस्त वादन क्रिया को देखने से पता चलता है कि पणव की सुतलियों को ढीला करना तथा कसने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था तथा वादन क्रिया में कनिष्ठा और अनामिका का अधिक प्रयोग होता था ।

पटह

हिन्दी शब्द सागर में पटह का अर्थ नगाड़ा और दुन्दुभि दिया है, परन्तु पटह न तो नगाड़ा है और न ही दुन्दुभि । संगीत पारिजात के मतानुसार पटह का अर्थ ढोलक है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि पटह "ढोल इति भाषाया" और फिर स्पष्ट व्याख्या की है कि पटह भेरी जाति का वाद्य है जो डेढ़ हाथ लम्बा होता है। किसी-किसी के मत से यह स्थूल चमड़े से मढ़ा होता है । कुछ लोग इसे पतले चमड़े से मढ़ते हैं । यह लकड़ी अथवा हाथ किसी से भी बजाया जा सकता है। संगीत सार के अनुसार मध्यकालीन ढोलक को ही प्राचीन युग में पटह कहा जाता था । ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पटह भारत के प्राचीनतम अवनद्ध वाद्यों में प्रतीत होता है ।पटह का जैसा वर्णन धर्म ग्रन्थों तथा संगीत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उससे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही मृदंग के बाद सर्वाधिक प्रचार पटह का ही रहा है । किसी किसी ग्रन्थकार ने मृदंग और मर्दल आदि से भी पटह का अधिक वर्णन किया है । इसका एक ही कारण हो सकता है कि पटह शास्त्रीय तथा लोक संगीत दोनों के लिए उपयुक्त माना गया है, जब कि मृदंग, मार्दल आदि का प्रयोग शास्त्रीय संगीत के लिए श्रेयस्कर कहा गया है। बाल्मीकि रामायण में पटह सम्बन्धी उल्लेख निम्नलिखित श्लोक से प्राप्त होता है:

पटहं चारुसर्वांगी न्यस्य शेते शुभस्तनी । 39 ।

।सुन्दर काण्ड, सर्ग - 10, गीता प्रेस सं. ।

बालमीकि रामायण के पश्चात् प्रायः सभी पौराणिक ग्रन्थों में जिसमें महाभारत भी है तथा संस्कृत नाटकों आदि में पटह का नाम उल्लेख प्राप्त होता है । संगीत के प्राप्त ग्रन्थों में "मानसोल्लास", "नान्यदेव" का "भरतभाष्य",

संगीत रत्नाकर, संगीतोपनिषत्सारोद्धार आदि ग्रन्थों में पटह का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है जिसके अनुसार पटह का स्वरूप तथा वादन विधि इस प्रकार है। पटह दो प्रकार के होते हैं :

(1) देशी पटह

(2) मार्गी पटह

देशी पटह का रूप

इसकी लम्बाई डेढ़ हाथ की होती है तथा इसका दक्षिण और वाम मुख क्रमशः सात तथा साढ़े छः अंगुल व्यास के होते हैं। शेष बातें मार्गी पटह की ही भाँति होती है। पटह के लिए खैर की लकड़ी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। देशी पटह के आकार में सामान्य अन्तर भी हो सकता है।

मार्गी पटह का रूप

इसकी लम्बाई डेढ़ हाथ से ढ़ाई हाथ की होती है तथा बीच में का भाग कुछ उठा हुआ होता है। इसके दाहिने मुख का व्यास साढ़े ग्यारह अंगुल तथा बाम मुख साढ़े दस अंगुल का होता है। काठ, भीतर से खोखला होता है तथा उसके दोनों मुख गोल होते हैं। दाहिने तथा बायें मुख पर लोहे अथवा काठ की हँसुली पहनाकर उन्हें चमड़े से लपेट दिया जाता है। दाहिने मुख पर पतला चमड़ा तथा बाम मुख पर मोटा चमड़ा मढ़ा जाता है। इन हंसुलियों में सात-सात छेद कर रेशम की डोरी पिरो दी जाती है जिसमें सोना, पीतल अथवा लोहे के छल्ले डाल दिये जाते हैं जिन्हें आवश्यकतानुसार खींच कर स्वर में मिलाया जाता है।

पटह के बोल

पटह में निम्नलिखित 16 वर्ण प्रयुक्त होते हैं :-

क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, र और ह। इन्हीं अक्षरों के संयोग से अनेक बोलों की रचना की जाती है। उदाहरण के लिए किण, खण, जिण, घण, ठण, तण, दण, दण, हण आदि। इसी प्रकार अन्य अक्षरों के संयोग से भी भिन्न-भिन्न बोलों की रचना की जाती है। पटह को लगभग एक हाथ की मुड़ी हुई डण्डी से भी बजाया जाता है। सामान्यरूप से प्र

पद्मासन पर बैठकर दोनों जंघोंपर पटह रखकर बजाया जाता है ।

मानसोल्लास, संगीत रत्नाकर, संगीत सार आदि ग्रन्थों में पटह के लिएजिन वर्णों का तथा उनके वादन क्रिया का जो वर्णन किया गया है वह पटह के साथ-साथ मृदंग, मार्दल, हुड्क्का आदि से भी संबंधित है । प्राचीन काल में अवनद्ध वाद्य में बजने वाले बोलों को पाट कहा जाता था । अतः जहां-जहां पाठ अथवा पाटाक्षर का प्रयोग हो वहां उस वाद्य के बोल समझना चाहिए ।

भेरी[1]

हिन्दी शब्द सागर में वर्णित भेरी, दुन्दुभि नहीं है । इसी प्रकार हिन्दी शब्द सागर में भेरी का अर्थ ढोलक, नगाड़ा तथा ढक्का बताया गया है, परन्तु भेरी न नगाड़ा है और न ढोल न ढक्का । भेरी मृदंग जाति की दो हाथ लम्बी धातु से बनी हुई दो मुखों वाली वाद्य होती है जिसका एक मुख एक हाथ लम्बे व्यास का मढ़ा होता है । यह मुख चमड़े से मढ़े और डोरियों से कसे हुये होते हैं जिनमें कासे के कड़े पड़े होते हैं । संगीत रत्नाकर में लिखा है कि यह तांबे की बालिस्त लम्बी होती है । उसे दाहिनी ओर लकड़ी से तथा बाईं ओर हाथ से बजाया जाता है। संगीत सार में भेरी का लक्षण संगीत रत्नाकर के अनुसार ही है।[2] उसके बजाने की विधि से इसके तथा इसकी जाति के अन्य वाद्यों में अन्तर आ जाता है । वर्तमान में अवनद्ध वाद्यों की सूची में भेरी और रण भेरी नाम के दो पृथक वाद्यों का वर्णन आया है किन्तु अहोबल ने लिखा है कि यह वाद्य मित्रों को आनन्द देने वाला तथा शत्रुओं का हृदय विदीर्ण करने वाला वाद्य है ।

उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में विवाहोत्सव के समय एक लम्बी तुरही जिसका आकार ध्वनि विस्तारक यंत्र की भांति होता है, जो लगभग पांच हाथ लम्बी तथा मुख से फूंकने पर एक ही स्वर देने वाली होती है, भेरी कहलाती है । इसको बजाने वाला जाति का कोल होता था, जो "भोठिया" कहलाता था । विवाह के प्रत्येक अवसर पर पहले भेरी नाद होता था, तत्पश्चात् कार्य प्रारम्भ होता था, ।अतएव यह माना जा सकता

1. भेरी मृदंग डफ झालरि बाजत कर करताल ।गोविन्द स्वामी।
2. संगीत सार, भाग-2 ।पृ0 77-78।

है कि भेरा का आनद्ध तथा सुषिर रूप प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। भेरी का नामोल्लेख अति प्राचीन काल से प्राप्त होता है जिसका संक्षिप्त वर्णन तेरहवें खण्ड में दिया गया है।

मण्डिडक्का

मंडिडक्का का उल्लेख संगीत रत्नाकर तथा संगीत सार में उपलब्ध होता है। वर्णन से यह डक्का अथवा डंका के समान मालूम होता है। इसके काठ की लम्बाई 16 अंगुल की होती है तथा इसके दोनों मुख 8-8 अंगुल के होते हैं। काठ का पोला ढांचा ढक्का की ही भांति बीच में पतला होता है। तांबे की कील तथा तांत डक्का की ही भांति लगाई जाती है। इसके दोनों मुख चमड़े से मढ़े होते हैं। इसकी तांत में दो-दो छल्ले पिरोये जाते हैं जिन्हें बायें हाथ से पकड़कर तथा बायें मुख का चमड़ा दबाकर दाहिने हाथ से अथवा डण्डी से वादन किया जाता है। इसका वादन चर्यागान तथा देवीपूजा के समय किया जाता है[1]।

मंदिलरा

कुछ लोगों की धारणा है कि संगीत रत्नाकर में वर्णित मार्दल से ही मादल और मंदिलरा शब्द बने हैं। कृष्णदास ने एक पद में कहा है:

"गिड़गिड़तां थितां थितां मंदिलरा बाजे"

इन बोलों को देखकर किसी को यह स्वीकार करने में आपत्ति न होगी कि मंदिलरा मृदंग या मार्दल का ही कोई दूसरा रूप है, परन्तु श्री चुन्नी लाल "शेष" ने इसे ब्रज के एक लोक वाद्य के रूप में माना है। उनका कहना है कि यह मृदंग नहीं अपितु जन्मोत्सव के समय बजाया जाने वाला एक विशेष वाद्य है। मिट्टी के एक घड़े को लेकर उस पर उल्टी थाली रखकर बांस की खपच्चियों से थाली को बजाते हैं जिससे बड़ी सुन्दर ध्वनि निकलती है। यह वाद्य मंदिलरा कहलाता है तथा इसे ब्रज का ही एक लोक वाद्य कह सकते हैं।

मुख चंग[2]

संगीत ग्रन्थ में मुख चंग को चंगू कहा गया है। चूंकि इसकी ध्वनि कुछ चंग के समान ही होती है तथा इसका प्रयोग भी ताल वादन के निमित्त

1. संगीत रत्नाकर वाद्याध्याय:
2. आउझ बर मुंह चंग नैन सल्लोंन, री रंग मीणी ग्वालिनि- सूर.

निमित्त होता है, इसीलिए इसे चंगू नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, किन्तु चंग से इसकी अलग पहचान रखने के कारण तथा चूंकि इसका वादन मुख के योग से होता है, अतः इसे मुख चंग कहा जाने लगा । संगीत पारिजात के अनुसार चंगका आकार "त्रिशूलवत्" होती है[1] जिसके पाँच भागों की लम्बाई 4 अंगुल तथा मध्य भाग की पाँच अंगुल होती है। बाहर की ओर लम्बाई अधिक होती है । वादक मोम लगाकर इसके स्वर को ऊंचा तथा नीचा करते हैं तथा बीच के भाग को दाँतों से दबाकर बजाते हैं[2] ।

मुख चंग कांस अथवा लौह आदि धातुओं से बनाया जाता है । इसका आकार त्रिशूल का कांटा जैसा होता है । दो पुष्ट शंकुओं के मध्य बिच्छू के डंक के समान ऊपर को पूंछ उठाये हुये एक पाता होता है । दोनों पुष्ट शंकुओं को ऊपर और नीचे के दाँतों में दबाकर श्वांस को वेग से भीतर तथा बाहर निकालते हुये पाता की उठी हुई पूंछ पर दाहिने हाथ की तर्जनी से तम्बूरे के तार के समान छेड़ते हैं, तबउसमें ध्वनि उत्पन्न होती है । यह एक ताल वाद्य है, इसमें मृदंग तथा तबले के बोल ।ठेके। बजते हैं, किन्तु प्रायः इसमें कहरवा तथा दादरा ताल के ही रूप बजाये जाते हैं । मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने मुख चंग का उल्लेख कई स्थानों पर किया है जिसे देखने से ऐसा मालुम होता है कि यद्यपि यह वाद्य संगीत के ग्रन्थों में बहुचर्चित नहीं है, फिर भी जनसाधारण में इसका प्रचार बहुत हुआ था ।

मृदंग, मुरज तथा मार्दल

सुधाकलश में भगवान शंकर को मृदंग तथा मुरज का आविष्कारक बताया गया है । प्राचीन ग्रन्थों में मृदंग, पणव तथा दर्दुर को पुष्कर वाद्य कहा गया है । इन पुष्कर वाद्यों की जिनमें मृदंग प्रमुख है उत्पत्ति बताते हुये महर्षि भरत ने कहा है :

वर्षा ऋतु में अनध्याय के दिन पानी लेने के लिए स्वाति मुनि पुष्कर के किनारे गये, आकाश मेघाच्छादित था तथा वर्षा हो रही थी, तेज हवा के साथ जो पानी की बूंदें कमल के पत्तों पर पड़ रही थीं उनसे एक विशेष प्रकार की अनुरंजन ध्वनि उत्पन्न हो रही थी जिसे उन्होने अचानक

---

1. चित्र नं०
2. संगीत पारिजात, वाद्याध्यायः, श्लोक सं०-56, 57, 58.

सुना तथा उन्हें बड़ा आश्चर्यजनक लगा, इसलिए उन्होंने इसे फिर ध्यान से सुना । यह देखकर कि उस ध्वनि का नाद ऊँचा-नीचा तथा मध्य स्थानीय होने के साथ-साथ गंभीर मृदु तथा कर्णप्रिय भी था । जब वे अपनी पर्णकुटी में लौटे तो उन्होंने उसी ढंग का ध्वनियों से युक्त विश्वकर्मा की सहायता से मृदंग, पणव और दर्दुर जैसे पुष्कर वाद्यों की रचना की । उसके बाद उन्होंने इन वाद्यों के दोनों मुखों को चमड़े से कस दिये तथा उन्हें तंत्रियों से सका ।

ऐतिहासिक दृष्टि से मृदंग, मुरज आदि का उल्लेख वैदिक साहित्य (वांगमय) में प्राप्त नहीं होता फिर भी जिस प्रकार मृदंग आदि का नाम बालमीकि रामायण में प्रयुक्त होता है, उससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रामायण काल से अनेक वर्षों पूर्व इन वाद्यों का प्रचार हो चुका था । रामायण के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि उस समय अवनद्ध वाद्यों में मृदंग का सर्वाधिक प्रचार था । रामायण में मृदंग तथा मुरज का अलग-अलग वर्णन मिलता है[1] जिससे यह समझना चाहिए कि इन वाद्यों के रूप में कुछ अन्तर अवश्य था । महाभारत में भी मृदंग तथा मुरज के अलग-अलग नाम उपलब्ध होते हैं । कालीदास के साहित्य में मर्दल, मुरज तथा मृदंग इन तीनों का उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है । महर्षि भरत के समय तक मृदंग तथा मुरज का उल्लेख तो प्राप्त होता है, परन्तु मर्दल का कहीं उल्लेख नहीं मिला । सारंगदेव ने मुरज तथा मार्दल को मृदंग का ही पर्याय माना है[2] । अभिनव गुप्ताचार्य ने मुरज को मृदंग का पर्याय बताया है । इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मृदंग मुरज का ही पर्याय है । बालमीकि रामायण में मुरजेषु मृदंगेषु का एक साथ प्रयोग एक ही स्थान पर हुआ है, अन्य स्थानों पर केवल मृदंग शब्द का ही व्यवहार किया गया है । मुरज, मृदंग के पर्याय होने के कारण ही महर्षि भरत ने कहीं-कहीं मृदंग शब्द के लिए मुरज शब्द का प्रयोग किया है । सारंगदेव ने मार्दल को भी मृदंग का पर्याय माना है । महर्षि भरत ने मार्दल का कहीं उल्लेख नहीं किया । कालीदास के साहित्य में मार्दल का उल्लेख कहीं-कहीं प्राप्त होता है । मध्य युग में भाषा का संबंध

---

1. सुन्दर काण्ड, सर्ग-11
2. संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय:

संस्कृत से पुनः जुड़ जाने के कारण मर्दल के स्थान पर मृदंग शब्द की पुनर्प्रतिष्ठा हो गई ।

नाम परिवर्तन से मृदंग का वह रूप जो प्राचीन काल से महर्षि भरत के समय तक रहा, कब लुप्त हो गया, इसका कोई प्रमाण नहीं है । जिस वाद्य को आज हम उत्तर भारतीय मृदंग अथवा पखावज मानते हैं, दक्षिण भारतीय जिसे अपना मृदंगम् कहते हैं, वह भरत कालीन मृदंग का केवल एक भाग है । मृदंग में यह परिवर्तन लगभग सातवीं शताब्दी से होने लगा था जो सारंगदेव के समय तक पूरी तरह बदल गया । यद्यपि सारंगदेव ने मर्दल को मृदंग का पर्याय बताया है किन्तु यह भी कह दिया है कि उस समय भरत कालीन मृदंग का प्रचार नहीं है, इसलिए मैं मर्दल का ही वर्णन करता हूँ[1] । सारंगदेव ने कहा है कि मृदंग को पुष्करत्रय कहते हैं[2] । भरत रचित या नाट्यशास्त्र में ऐसा कई स्थान हैं जहाँ मृदंग को पुष्करत्रय कहकर पुकारा गया है[3] । अतः यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि जैसे आज तबले के दो भाग हैं, ठीक उसी प्रकार भरत के समय में मृदंग के तीन भाग थे । कुछ विद्वान महर्षि भरत द्वारा बताये हुये मृदंग के रूप को देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि उस समय कोई त्रिमुखी ताल वाद्य प्रचार में अवश्य था । कुछ विद्वान यह कहते हैं कि महर्षि भरत पणव, दर्दुर आदि का वर्णन तो किये हैं, परन्तु मृदंग का कोई नाप-जोख नहीं दिया है। जिन महर्षि भरत ने अवनद्ध वाद्यों में मृदंग को सर्वश्रेष्ठ माना है, उसके वादन की विविध रूप से वर्णन भी किया है, यथा- मार्जना विधि, हस्त संचालन आदि । उसके काठ, चर्म आदि के गुण-दोषों पर विचार भी किया है । उसके आकार-प्रकार का भी वर्णन किया है । ऐसा विश्वास नहीं होता, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर यह मालुम होता है कि भरत ने मृदंग के आकार-प्रकार का विधिवत् वर्णन किया है । वास्तव में महर्षि भरत ने मृदंग का जिस प्रकार वर्णन किया है, वह सामान्य रूप से भ्रामक प्रतीत होता है क्योंकि एक ओर तो उन्होंने मृदंग के तीन रूप बताये हैं- हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छा[4] जिसमें यह तीनों मृदंग के ही रूप भेद प्रतीत होते हैं किन्तु उसके बाद ही उन्होंने यह

1. संगीत रत्नाकर- 6/1028
2. संगीत रत्नाकर 6/1027
3. भरत नाट्यशास्त्र- अध्याय-34
4. संगीत रत्नाकर 6/1027

भी कहा है कि आंकिक का हरीतकी के समान, ऊर्ध्वक ऊर्ध्वक का यवा के समान तथा आलिंग्य का गोपुच्छा के समान रूप होता है ।

उक्त वर्णन से ऐसा भ्रम होता है कि मृदंग, आंकिक, ऊर्ध्वक, आलिंग्य आदि भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, किन्तु यह सत्यनहीहै । जिस प्रकार आज तबला शब्द का व्यवहार होता है अर्थात् तबला कहने से उसके दायें तथा बायें इन दोनों भागों का बोध होता है और तबला कहने पर केवल दायां तबला का अर्थ भी समझा जाता है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन काल में उक्त तीनों रूपों को मिलाकर ही मृदंग समझा जाता था। तब उन्हें आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य कहकर पुकारते थे। आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य मृदंग के ही हिस्से थे, इस बात का प्रमाण चौंतीसवें अध्याय में महर्षि भरत के अनेक वचन प्राप्त होते हैं । श्री मनमोहन घोष ने नाट्य शास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ-162 में नोट 11113 में आलिंग्य के नाम का विश्लेषण करते हुये लिखा है :

It seems to be a drum held against the breast of the player who embraced it as it were. Hence came this name 'Alinga' as instrument to be embraced".

उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्री घोष ने आलिंग्य को वादक के शरीर से आलिंगित रहने वाला वाद्य माना है, किन्तु वे भी यह नहीं समझ पाये हैं कि आलिंग्य कोई स्वतंत्र वाद्य नहीं बल्कि यह भी मृदंग का ही एक भाग मात्र है ।

भरत कालीन मृदंग का उपर्युक्त रूप निर्धारित करने के साथ-साथ यहां यह भी बताया गया है कि उक्त मृदंग के यद्यपि तीन हिस्से होते थे, किन्तु उसका वह भाग जो लेटा रहता था, उन खड़े रहने वाले भागों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था । उस काल के कुछ ऐसे बोलों का वर्णन भी भरत नाट्यशास्त्र में आया है जिनका वादन केवल आंकिक के बाम तथा दक्षिण मुखों द्वारा किया जाता था । जिसका स्वयं महर्षि भरत का आंकिक के साथ मृदंग शब्द का कई बार जोड़ देना[1] इस बात की ओर संकेत करता है कि मृदंग का आंकिक भाग ही प्रमुख था । मृदंग का रूप वर्णन करते हुये भी पहले आंकिक का ही वर्णन किया है । नाट्यशास्त्र के अनुसार आंकिक

---

1. ~~अ. ऊर्ध्वमती.~~

का हरीतकी रूप था जिसकी लम्बाई साढ़े तीन बालिश्त तथा मुख 12 अंगुल के व्यास का होता था[1] उर्ध्वक चार बालिश्त लम्बा तथा 14 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[2] ।

मृदंग का आलिंग्य भाग 3 बालिश्त लम्बा तथा 8 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[3] ।

---

1. भरत नाट्य शास्त्र 34/45 पृ0 417
2. भरत नाट्य शास्त्र, अ. 34/257
3. भरत नाट्य शास्त्र 34/258

अवनद्ध वाद्यों का चमड़ा

मृदंग में लगने वाला चमड़ा न तो पुराना हो, न ही कटा-फटा, न कीड़े के द्वारा हत किया हुआ हो, न मोटा हो तथा आग अथवा धूप से खराब न हुआ हो । चमड़े का रंग नवीन पल्लव के समान अथवा हिम तथा कुन्द के समान श्वेत एवं चमकदार हो एवं समस्तदोषों से रहित हो । ऐसे चमड़े को रोम रहित कर, पानी में भिगोकर रखा जाय तथा दूसरे दिन उसे निकाला जाय, पहले उसका खूब मर्दन किया जाय, बाद में मृदंग पर चढ़ाया जाय । इस प्रकार से निर्मित मृदंग आदि वाद्यों की वादन क्रिया का नाट्य शास्त्र में विशद विधान उपलब्ध होता है ।

मृदंग का ढाँचा

मृदंग का ढाँचा खैर या रक्त चन्दन का काठ लेकर कुशल कारीगर सेबनवाया जाता है, इसका मध्य साढ़े इक्कीस अंगुल मोटा और लम्बाई 12 मुठ होनी चाहिए । दाहिना भाग 14 अंगुल मोटा और बाँया 13 अंगुल के करीब, फिर दो लोहे अथवा काठ के कड़े, दोनों मुखों पर चढ़ाइये । इन कड़ों में एक अंगुल के अन्तर से 20-20 छेद होता है, दोनों मुख चाम से मढ़कर उस पात्र को कड़े से लपेट दिया जाता है । कड़े के छेदों में चाम की डोरी डालकर उन्हें खींचकर चाम को कसा जाता है । दाहिनी मुख के चमड़े में छः अंगुल प्रमाण से गोलाकार लौह चूर्ण की स्याही जमाया जाता है । बाँये मुख के चमड़े में, जब बजाना हो तब, गेहूँ की चून की 6 अंगुल पूरी पानी से सानकर लगाया जाता है । इस मृदंग के तीन भेद हैं :

1. मृदंग
2. मुरज
3. पार्दल

इन तीनों को ही मृदंग कहते हैं । इस मृदंग के मध्य में ब्रह्मा का वास है। बाँये मुख में विष्णु का दाहिने मुख में शंकर भगवान का और मृदंग के काठ, कड़ा आदि में 33 कोटि देवता वास करते हैं । इसी से इसका नाम सर्वमंगल भी है ।

मृदंग का पाटाक्षर

दाहिने मुख में :

1- त, 2- धि, 3- थी, 4- ठें, 5- ने, 6- हैं, 7-दे.
यह सात अक्षर होते हैं।

बांये मुख में :

1- ठ, 2- र, 3-त्या, 4-द, 5- थ, 6- ला.
यह छः अक्षर होते हैं, पटह के मकार आदि लेकर
सोलह पाटाक्षर होते हैं।

अकारादि स्वरों के प्रति उदाहरण

1- झक, 2-तक, 3- धिक, 4-नक, 5-तुड, 6-नड 7- किट दे, 8-धेय,
9- किरन्ट, 10-कल, 11-धल, 12-थल, 12-धीहं, 13- किट, 14-किहि
15- गिड, 16-धिमि, 17-इगु इत्यादि।

अकारादि स्वरों के उदाहरण

1- जग, 2-झग, 3- टंकु, 4-थड 5-जड, 6-तत, 7-धां, 8-दंदां,
9- धलां, 10-नग, 11-ननगि, 12- किट, 13- किड, 14- किण, 15-गिथि,
16- दिंदिक्र, 17- दिगि, 18- थिथि, 19- टिट, 20-कुकु, 21-कुन्दरिक,
22-तुतु, 23-क, 24-झे, 25-ये, 26-थों, 27-थों, 28-धे, 29-धेय।

बोलों के निकालने की रीति

त- अंगूठा, कनिष्ठा तथा अनामिका दबाकर बजाने से "त" निकलेगा।

धि- वामुख में हथेली से तथा दक्षिण मुख में टेढ़ी उंगली से ताड़न करने पर "धि" निकलेगा।

थी- अंगूठा छोड़कर दाहिने मुख पर उंगलियों से छूट के साथ ताड़न करने पर "थी" निकलेगा।

न- मृदंग के मुख के किनारे अनामिका के अगले भाग से ताड़न करने पर "न" निकलेगा।

कि- अनामिका तथा मध्यमा को मिलाकर पताका रीति से प्रहार करने पर "कि" उत्पन्न होगा।

ट- अनामिका तथा मध्यमा द्वारा शिखर रीति से बजाने पर "ट" होगा।[1]

---

1. आधुनिक समय तर्जनी द्वारा स्याही के मध्य भाग पर ताड़न करने से "ट" शब्द निकलता माना जाता है।

तबला

सितार की भाँति तबले की व्युत्पत्ति तथा विकास से सम्बन्धित अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं। प्रधान ग्रन्थों में कहीं भी तबला नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यहाँ तक कि संगीत पारिजात तथा वाद्य प्रका जैसे उत्तर-मध्य कालीन ग्रन्थों में भी तबले का उल्लेख नहीं हुआ। तबले के संबं में इस अन्धकारमय स्थिति का लाभ उठाकर मुसलमान वादकों ने तबले का जन्म दाता अमीर खुसरो को बना दिया है। आधुनिक छोटी-छोटी पुस्तकों में तबं की उत्पत्ति संदेहात्मक बताते हुये अमीर खुसरो के द्वारा इसके निर्माण कीव्रबा भी की गई है। कुछ विद्वानों इस बात पर विश्वास नहीं करते कि तबला अमी खुसरो के द्वारा ही ईजाद किया गया है।

तबला शब्द की व्युत्पत्तिपारसी के तबल शब्द सेमानी जाती है, जिसका सामान्य अर्थ है- वह वाद्य जिसका मुख ऊपर की ओर हो तथा जिसका ऊपरी भाग सपाट हो। विद्वानों का मत है कि इसी तबल शब्द से अंग्रेजी का शब्द टेबुल बना है। अरब देशों के दुन्दुभि के समान आकृति वाले वाद्यों को तब कहा जाता था। तबल एक प्रकार का नगाड़ा था जो युद्धरत सैनिकों में जोश उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। यह वाद्य आगे बढ़ती हुई फौज के पीछे-पीछे चलता था। इसी भाव को व्यक्त करते हुये जायसी ने पद्मावत में कहा है :

हौं पंडितन्ह केर पछलगा ।
कहु कहिचला तबल दईङगा ।।

यद्यपि भारत में दुन्दुभि, भेरी, निसान आदि नगाड़ा जाति के व मौजूद थे फिर भी मुसलमानों के द्वारा विजित हो जाने के कारण इन्हीं वाद्यों अथवा इन्हीं वाद्यों से मिलते-जुलते होने के कारण इनके द्वारा प्रयुक्त नामों का जनसाधारण में ज्ञान का अभाव इन नामों के प्रचार में और सहायक हुआ।

तबला की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानों ने भरत कालीन दर्दुर वाद्यों से मानी है। दर्दुर वाद्य चमड़े का मढ़ा हुआ घट था जिसका मुख ऊपर की ओर था किन्तु वह दो भागों में न था। वास्तव में तबले का विकास प्राचीन मृदंग से ही हुआ। मृदंग के वर्णन में यह बताया गया है कि प्राचीन मृदंग तीन भागों होती थी। एक भाग गोद में रहता था तथा दूसरे दोनों भाग सामने ऊर्ध्वमुख रखे जाते थे। यह भी बताया गया है कि मृदंग के तीन भागों में छठीं-सातवीं

शताब्दी में परिवर्तन होने लगा तथा उसके बाद कुछ दिनों तक एक गोद का भाग तथा खड़ा वाला भाग प्रयुक्त होता रहा और अन्त में मृदंग का वह एक ऊर्ध्वमुखी भाग भी हट गया और केवल उसका आंकिक भाग ही मृदंग अथवा मार्दल के नाम से प्रचलित रह गया । इसी काल में मृदंग के दोनों ऊर्ध्वमुखी भागों का अथवा आंकिक भाग का ही दो ऊर्ध्वमुखी के रूप में अलग वादन होता रहा किन्तु शास्त्र सम्मत न होने के कारण तथा उनका विशेष नाम न होने के कारण उसका उल्लेख शास्त्र ग्रन्थों में नहीं किया गया । मृदंग के उक्त दोनों भागों की यह संदिग्ध अवस्था लगभग 17वीं शताब्दी तक रही । उस काल तक इसमें दो सामान्य परिवर्तन हो चुके थे । एक तो इनकी लम्बाई कम कर दी गयी तथा दूसरे मृदंग के दक्षिणी भाग की भांति इसके भी दक्षिण भाग में मिट्टी के लेप के स्थान पर लौह चूर्ण से बने मसाले का प्रयोग होने लगा था । वाम पार्श्व में इस समय भी आटा की पूलिका ही लगाई जाती थी । इस वाद्य का प्रचार उन निम्न स्तरीय लोगों में था जो इसे कमर में बांधकर बेड़िनों । निम्न स्तर की नर्तकियों के नाच के साथ बजाते थे । घराने दार संगीतज्ञों ने इसे नहीं अपनाया था । जनसाधारण के लिएयह सरल एवं भारतीय परम्परायुक्त होने के कारण भजन, कीर्तन आदि में भी प्रयुक्त होने लगा था । फिर भी इसके नाम का स्थिरीकरण नहीं हुआ था । कुछ लोगों की यह भी धारणा थी कि प्राचीन पणव को जिसे मध्य काल में आवज या हुडुक कहते थे, बीच से अलग कर यह वाद्य बना है । संगीत सार जो आज वाद्यों के वर्णन में स्वतंत्र दिखाई पड़ता है, तबला वादकों के इतिहास पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि इसके प्रथम प्रसिद्ध उस्ताद सिद्धार खां थे जो दतिया के प्रसिद्ध मृदंग वादक कुदऊ सिंह के समकालीन थे । यह वह जमाना था जब भारतीय संगीत की महफिलों में तीन पंथ पखावज, ढोलक तथा तबला एक-दूसरे से टक्कर ले रहे थे । मृदंग का स्थान इनमें सर्वश्रेष्ठ था, किन्तु दूसरा स्थान तबले को मिले अथवा ढोलक को, यह निर्णय नहीं हो पा रहा था । मृदंग और ढोलक, मृदंग और तबला, तबला और ढोलक वादकों में अपनी विद्वता के प्रदर्शन तथा वाद्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से नवाबों तथा शौकीन राजाओं की महफिलों में प्रतियोगिताएं होती रहती थीं । इन प्रतियोगिताओं में जो विजयी होता था उसे दरबार की ओर से अपार धनराशि तथा जागीरें प्राप्त होती थीं । तबला मृदंग की भांति खुले हाथों से बजाया जाता था । तबला पर बन्द बोलों का वादन सुधार खां द्वारा शुरुआत की गई।

बन्द बोलों के कारणही प्रारंभिक दिनों में तबले का अपना अलग व्यक्तित्व बना । आगे चलकर इसी बंद बोलों के बाज को दिल्ली बाज के नाम से पु पुकारा जाने लगा । इन्हीं दिनों गायन शैलियों में ख्याल का प्रचार भी बढ़ने लगा साथ ही साथ तंत्र वादन में सितार का भी प्रचार बढ़ा । तबले का प्रारंभिक विकास नर्तन क्रियाओं के कारण हुआ था । सर सुरेन्द्र मोहन टैगोर द्वारा पाश्चात्य विद्वानों के लेखों का एक संग्रह 1875 ई0 में तथा दूसरा संग्रह 1882 ई0 में हिन्दू म्यूजिक के नाम से प्रकाशित हुआ । इनमें उस युग का उन महफिलों का अधिक वर्णन था जिनको लेखक ने आँखों से देखा था । इन महफिलों में नर्तकी खड़ी होकर गाती तथा नाचती थी । उसकी संगति के लिए सारंगी वादक, तबला वादक तथा मंजीरा वादक भी खड़े होकर वादन करते थे । इन नर्तकियों का समाज में कोई स्थान नहीं था । इनके साथ रहने के कारण तबला वादक भी अत्यन्त हेय समझे जाते थे । तबला वादकों की इस दयनीय दशा में परिवर्तन उस समय से प्रारम्भ हुआ जब से ख्याल तथा सितार का प्रचार बढ़ने लगा । के0एन0 विलर्ड ने अपनी पुस्तक "म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान" में तबले का वर्णन करते हुये लिखा है कि तबला-मृदंग तथा ढोलक के बाद का वाद्य है । यह मृदंग की भाँति ही बजाया जाता है किन्तु इसे मृदंग से हल्के दर्जे का माना जाता है ।

तबले की उत्पत्ति चाहे जब हुई हो परन्तु उनका वर्तमान रूप सुधार खाँ के युग का ही है । उसमें प्रयुक्त होने वाले अधिकांश आधुनिक बोल सुधार खाँ के बाद के ही हैं । वास्तव में तबला साहित्य को विस्तार प्रदान करने के लिए तबला वादकों ने कई प्रकार के ताल वाद्यों का नटवरी नृत्य में प्रयुक्त होने वाले बोलों को आत्मसात कर लिया जैसे- ढोलक, नक्कारे आदि से लग्गी तथा किनार के बोल । मृदंग से परन , रेला आदि नटवरी नृत्य से मुखड़ा, परन गति आदि । इस प्रकार वर्तमान समय में तबला साहित्य विश्व के किसी भी ताल वाद्य साहित्य की अपेक्षा विशाल तथा पेचीदा हो गया है । तबले में पंजा से कम तथा उंगलियों से अधिक काम लिया जाता है जिसके कारण उसमें बोलों को जितना द्रुत में बजाया जा सकता है, उतना किसी अन्य ताल वाद्य में संभव नहीं है । आजतबला भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में श्रेष्ठ ताल वाद्य माना जाता है ।

अध्याय २

१. ताल प्रधान वाद्य एवं अवनद्ध वाद्यों के भेद

२. उत्तर तथा दक्षिण भारत में प्रयुक्त होने वाले लय वाद्यों के नाम

३. तबला और पखवत की तुलना

ताल प्रधान वाद्य

अवनद्ध वर्ग के वाद्य को वादक द्वारा किसी विशेष स्वर में मिला लेने के बाद उसे तुरन्त किसी दूसरे सुर में परिवर्तित करना आसान नहीं होगा। घन वाद्य तो अपने निर्माण के समय से ही किसी विशेष स्वर में मिला होता है। प्रायः वादक उस स्वर में स्वयं कोई परिवर्तन नहीं करता। जल तरंग जैसे घन वाद्य में किसी सीमा तक ध्वनि परिवर्तन संभव है, त्वरित स्वर परिवर्तन उसमें भी संभव नहीं होता, अतः अवनद्ध एवं घन वर्ग के वाद्यों में से प्रत्येक का वादन करते समय वादक की इच्छानुसार ध्वनि परिवर्तन कर सकने का गुण न होने के कारण इन वर्गों के वाद्यों में प्रायः गति प्रयोग व काल विभाजन द्वारा ताल की अभिव्यक्ति ही संभव होती है। अतः अवनद्ध और घन वाद्य स्वभावतः ताल प्रधान हैं।

अवनद्ध या घन वर्ग के किसी विशेष वाद्य के समूह में यदि प्रत्येक वाद्य अलग-अलग स्वर में मिला हुआ हो तो उन सबको विशिष्ट क्रम से बजाने पर उनके द्वारा स्वर व राग विस्तार किया जाना संभव हो जाता है। इस अवस्था में वह वाद्य विशेष स्वयं में एकल वाद्य न रहकर समूह वाची वाद्य होकर उनका अन्य नामकरण हो जाता है और उसकी वादन विधि भी बदल जाती है। जैसे- जल तरंग, तबला तरंग, काष्ठ तरंग, नल तरंग आदि। इन वाद्यों में यद्यपि किसी सीमा तक स्वर व राग विस्तार होना आवश्यक है, फिर भी मूल रूप में स्वभावतया ताल व गति प्रधान होने के कारण इन वाद्यों पर प्रस्तुत किये जाने वाले स्वर व राग के विस्तार में गति, छन्द व ताल प्रयोग की अधिकता ही दिखाई देती है।

ठोस होने के कारण घन वाद्यों में ढीला पन दबाव व खिंचाव नहीं होता और इसकी ध्वनि सदैव एक सी रहती है। अतः इनमें हनन करते हुये काल खण्ड को प्रत्यक्ष अभिव्यक्त करना आसान होता है। हाथों की क्रियाओं से भी काल विभाजन को प्रत्यक्ष करके दिखाया जा सकता है, परन्तु घन वाद्यों की ध्वनि जितनी गुंजकार, स्पष्ट, जोरदार व आकर्षक होती है, उतनी हाथों की क्रियाओं की नहीं। अतः घन वाद्यों पर ताल देने से गायक, वादक व नर्तक सभी को अपनी कला प्रस्तुत करते समय ताल का स्पष्ट ज्ञान बना रहता है। इसलिए प्राचीन काल से भारतीय संगीत

घन वाद्यों का मुख्यत: प्रयोग काल मान स्पष्ट करने और ताल सम्बन्धी "प्रमात विवृत्ति"[1] और "बेताला न होने देने के लिए" किया जाता रहा है । मुख्यत: ताल के लिए प्रयोग किये जाने के कारण ही प्रधान घन वाद्य को ताल कहा गया है जो कि कांस्य निर्मित व वर्तुलाकार होता है ।

घन वाद्यों में ध्वनि होते हुये भी पाटों की विविधता नहीं होती । अवनध वाद्यों की वादन क्रिया में हथेली, उंगलियों, पंजा, डंडे आदि के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों तथा मढ़े हुये चर्म पर अलग-अलग जगहों पर प्रहार की विभिन्नता के कारण एक ही स्वर विभिन्न रूपों में ध्वनित होने से विभिन्न पाटाक्षर उत्पन्न होते हैं । अत: जहाँ घन वाद्य केवल ताल या उसकी गति के नियत रूप को प्रकट करते हैं, वहाँ अवनध वाद्य विविध ध्वनियुक्त पाटों के प्रयोग से लय, यति, ग्रह, प्रस्तार आदि के द्वारा ताल से वैचित्र्य सृष्टि करते हुए संगीत का उपरंजन करते हैं । इसके अलावा मध्य युग में उत्तर भारतीय अवनध वाद्यों में ठेका वादन की प्रथा चल पड़ने से उत्तर भारत के अवनध वाद्यों द्वारा संगीत में ताल व लय के सौंदर्य वर्द्धन के साथ-साथ काल मान का भी कार्य किया जाने लगा जिससे हिन्दुस्तानी उच्चांग संगीत में धीरे-धीरे घन वाद्यों का महत्व कम होता गया और वर्तमान काल में उनकी मूल उपयोगिता प्राय: समाप्त हो गई है ।

---

1. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्याय: श्लोक सं0 38.

भारतीय अवनद्ध वाद्यों के भेद

भारतीय अवनद्ध वाद्यों के कई प्रकार हैं । संरचना, आकृति, निर्माण-पदार्थ, मुख विलेपन, ध्वनि मार्जना, न्यास, वादन प्रक्रिया व व्यवहार के आधार पर इनके अनेक भेद व उपभेद किये जा सकते हैं ।

<u>संरचना</u> : भारतीय अवनद्ध वाद्यों की संरचना के मुख्यतः तीन भाग होते हैं । ।1। ढांचा, ।2। चर्मावनद्ध मुख और ।3। मुख चर्म को चारों और खींचकर तानने वाली वस्तु ।

।1। <u>ढांचा</u> : अवनद्ध वाद्यों के ढांचे पकी हुई मिट्टी, काठ या धातु आदि किसी कठोर पदार्थ के बने होते हैं, जिनमें से कुछ तो लम्बाई में ढलवा या समान रूप से सीधे और चौड़ाई में चारों ओर से वृत्ताकार होतेहैं तथा कुछ अवनद्ध वाद्यों के ढांचे अर्द्ध गोलाकार तो कुछ पूर्ण गोलाकार होते हैं । यह सभी ढांचे भीतर से पोल या खोखले होते हैं, जिनमें से कुछ में एक ओर, कुछ में दो ओर खुले वृत्ताकार विवर होते हैं जिन्हें अवनद्ध वाद्यों का मुख कहा जाता है ।

मुख संरचना की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों के ढांचे मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं :-

।1। एक ओर सेखुले तथा शेष सब ओर से पूर्णतः बंद एक मुख वाले,
।2। दो विपरीत छोरों पर खुले किन्तु एक ही ओर चर्मावनद्ध किये जाने वाले,
।3। दो विपरीत छोरों पर बने दो मुख वाले ।

इसके अतिरिक्त "त्रिमुख" या "पंचमुख" इत्यादि अवनद्ध वाद्यों के पूर्ण गोलाकार ढांचों में यद्यपि एक ही ओर तीन या पांच मुख बने होते हैं, तथापि इन वाद्यों का प्रत्यक्ष प्रचलन में व्यवहार न होने के कारण इन्हें अपवाद ही समझना चाहिए ।

मुख के आधार पर भारतीय अवनद्ध वाद्यों के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं :-

।1। एक छोर पर बने एक मुख तथा शेष सब ओर से पूर्णतः बन्द ढांचे वाले "एक मुखी" अवनद्ध वाद्य जैसे- झील, तासा, दुन्दुभि, धौंसा, नक्कारा ।नगाड़ा।, टुक्कड़, धामा व तबला इत्यादि ।

।2। दो परस्पर विपरीत छोरों पर खुले ढाँचे वाले, किन्तु उनमें से एक ही मुख पर चर्म से मढ़े गये एक मुखी अवनद्ध वाद्य जैसे- खंजरी, चंग, ढप इत्यादि । इन वाद्यों के ढाँचे मूलतः "द्विमुखी" होने पर भी उनमें से केवल एक ही मुख को चर्म से मढ़कर बजाये जाने के कारण यह एकमुखी अवनद्ध वाद्य कहलाते हैं ।

।3। दो परस्पर विपरीत दिशाओं पर दोनों चर्मनद्ध मुख व्यवहरित होने वाले द्विमुखी अवनद्ध वाद्य जैसे- डमरू, मृदंग, पखावज, खोल, नाल, हुड़ुक इत्यादि ।

।2। <u>चर्मावनद्ध मुख</u> : अवनद्ध वाद्यों के एक या दो गोल वृत्ताकार मुख को किसी पशु के पतले, लचीले, रोम हीन, चिकने चर्म, खाल या झिल्ली से भलीभाँति मढ़कर उस पर समुचित प्रहार करते हुये बजाया जाता है । इस प्रकार इनके निम्नलिखित भेद कियेजा सकते हैं :-

।1। एकमुखी अवनद्ध वाद्य : इन वाद्यों के एक नग में एक ही मुख को चर्मावनद्ध करके बजाया जाता है जैसे- ढोल, तासा, दुंदुभि, धौंसा, खंजरी, चंग, डफ, नक्कारा।नगाड़ा।, धामा, दुक्कड़,तबला इत्यादि । छोटे नगाड़े-धामा दुक्कड़, तथा तबला इत्यादि अवनद्ध वाद्य जोड़ी के रूप में दो मुखों पर बजाये जाने वाले वाद्य होने पर भी प्रत्येक नग स्वयं में एक मुखी होने के कारण संरचना की दृष्टि से यह वाद्य एक मुखी ही हैं ।

।2। द्विमुखी अवनद्ध वाद्य: इन वाद्यों के एकही नग में "दो मुखों" को चर्मावनद्ध करके बजाया जाता है जैसे- मृदंग, पखावज, ढोलक, नाल, डमरू, हुड़ुक्का आदि ।

।3। बहुमुखी अवनद्ध वाद्य : इन वाद्यों के एक नग में चर्मावृत्ति मुख होते हैं जैसे- त्रिमुख वाद्य, पंचमुख वाद्य आदि ।

अवनद्ध वाद्यों के मुख पर मढ़ने के लिए उसके आकार के अनुसार विशेष प्रक्रिया से शोधित किसी पशु के पतले-लचीले मजबूत रोमहीन चिकने चर्म के टुकड़े को काटकर बनाये गये गोल वृत्त को "पुड़ी" कहा जाता है यह पुड़ी प्रायः तीन प्रकार की होती है, ।1। वाद्य मुख की बाहरी परिधि के किनारे-किनारे चारों ओर समान रूप से चिपकाकर वाद्यमुख को ढँकने

वाले पुड़ी, ।2। पशु चर्म के गोल वृत्त की बाहरी परिधि में थोड़ी-थोड़ी दूर पर बने समानान्तर छिद्रों वाली पुड़ी, ।3। मुखावनद्ध चर्मवृत्त की बाहरी परिधि की ओर से संलग्न वलय या गजरा युक्त पुड़ी ।

अवनद्ध वाद्यों के मुख की बाहरी परिधि पर चारों ओर से चिपकाकर मढ़ी जाने वाली तथा बाहरी परिधि पर बने सूक्ष्म छिद्रों वाली "पुड़िया" ध्वनि एवं विशिष्ट स्वरों में मिलाने की दृष्टि से उत्तम नहीं होतीं, अतः सुव्यवस्थित रूप में एक तार, तनाव, खिंचाव, उत्तम ध्वनि व इच्छानुकूल मार्जना के लिए पुड़ी की बाहरी परिधि के वृत्ताकार कोर को घास, बेंत या धातु से बने वलय के किनारों पर चारों ओर से दबाकर लपेट दिया जाता है, अथवा इससे भी अधिक समुन्नत पुड़ी बनाने के लिए पुड़ी की बाहरी परिधि में वृत्ताकार कोर के साथ पतले चर्म की एक अन्य वृत्ताकार पट्टी ऊपरी सतह पर और भीतर की ओर से लगाकर तीनों को चमड़े की पतली बद्धी से गूंदते हुये वलयाकार रूप में जोड़ दिया जाता है । पुड़ी के किनारे बद्धी से गुथे व चारों ओर से सम्बद्ध इस वलय को गजरा कहते हैं ।

मुखावनद्ध पुड़ी की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों के निम्नलिखित उपभेद होंगे :-

।1। वाद्य मुख के बाहरी परिधि पर चारों ओर से चिपकाई गई पुड़ी वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- खंजरी, चंग, डफ आदि ।

।2। मुख चर्म की बाहरी परिधि पर बने समानान्तर छिद्रों से युक्त पुड़ी वाले अवनद्ध वाद्य जैसे-दुंदुभि, धौंसा, नगाड़ा आदि।

।3। क- वलययुक्त पुड़ी वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- तासा, नाल, ढोलक, तथा बंग प्रदेशीय तबला व बायां आदि ।

ख- गजरायुक्त पुड़ी वाले अवनद्ध वाद्य जैसे-पखावज, तबला, खोल, तथा दक्षिण भारतीय मृदंगम् इत्यादि ।

।3। मुखचर्म को चारों ओर से खींचकर तानने वाली वस्तुः मुखचर्म को बाद्यों के मुख के चारों ओर चिपकाकर मढ़ जाने वाले वाद्यों के अतिरिक्त अन्य अवनद्ध वाद्यों में वाद्य मुख पर मढ़ी हुई पुड़ी के चर्म के समान रूप से तानने के लिए किसी पतली, लचीली, मजबूत एवं लम्बी डोरी या चमड़े की बद्धी को मुखावृत्त चर्म के बाहर किनारे-किनारे अथवा पुड़ी के वलय या गजरे की

बाहरी परिधि पर चारों ओर बने समानान्तर छिद्रों में पिरो कर अवनद्ध वाद्यों के मूल ढाँचे की बाहरी सतह पर चारों ओर अनेक पंक्तियों को विभाजित करते हुये सुसम्बद्ध रूप में कसकर बाँध दिया जाता है जिसे खींचकर देने पर अवनद्ध वाद्य के मुख का मढ़ा हुआ चर्म भलीभाँति तनकर ध्वनि उत्पादक के योग्य हो जाता है।

एक मुखी अवनद्ध वाद्यों में डोरी या बद्धी की पंक्तियों को एक ओर वाद्य मुख पर मढ़ी पुड़ी अथवा उसके वलय या गजरे में बने छिद्रों में से पिरो कर दूसरी ओर बन्द छोर पर स्थित बेंत, चमड़े या धातु के बने लघु वलय के बीच फंसाते हुये खींचकर बाँध दिया जाता है। द्विमुखी अवनद्ध वाद्यों में एक दूसरे से विपरीत दिशाओं पर बने दोनों मुखों पर स्थित पुड़ियों के वलय या गजरे के चतुर्दिक समानान्तर छिद्रों में से पिरोकर उसे अवनद्ध वाद्यों के मूल ढाँचे के बाहरी सतह पर अनेक पंक्तियों में विभाजित करते हुये सुसम्बद्ध रूप से खींचकर बाँध दिया जाता है, जिससे दोनों ओर के मुखों पर स्थित पुड़ियों का चर्म तन जाता है।

कुछ अवनद्ध वाद्यों की संरचना ऐसी होती है कि जिनके मुख चर्म में प्राय: ध्वनि परिवर्तन नहीं किया जा सकता किन्तु कई ऐसी भी होती हैं, जिसमें ध्वनि को यथावसर चढ़ाने-उतारने की व्यवस्था होती है। अवनद्ध वाद्यों के मुख पर मढ़े चर्म को अभीष्ट ध्वनि से मिलाने के लिए तत्सम्बद्ध डोरी या बद्धी में समुचित खिंचाव आवश्यक होता है। अत: इसके लिए कई अवनद्ध वाद्यों के मूल ढाँचे की बाहरी सतह पर चारों ओर डोरी या बद्धी की पंक्तियों में धातु के छल्ले या लकड़ी के गट्टे (लम्बे गोल टुकड़े) फंसा दिया जाता है जिन्हें आवश्यकतानुसार इधर-उधर सरकाने पर मुखावनद्ध चर्म की ध्वनि इच्छानुसार नीची या ऊँची की जा सकती है।

मुख चर्मों को चारों ओर से खींचकर तानने की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं :-

(1) रज्जुहीन अवनद्ध वाद्य : इन वाद्यों में मुख को चर्म से मढ़ने के लिए वाद्य मुख की बाहरी परिधि पर चर्म का वृत्ताकार बाहरी किनारा चारों ओर से चिपका दिया जाता है, जैसे- कंजरी, चंग, डफ आदि। इन वाद्यों में रज्जु तथा छल्ले व गट्टे इत्यादि न होने से ये अपरिवर्तनीयप्राय ध्वनि वाले अवनद्ध वाद्य हैं जिन्हें इच्छानुसार किसी विशिष्ट

स्वर में नहीं मिलाया जा सकता ।

।2। रज्जुयुक्त अवनद्ध वाद्य : इन वाद्यों में मुख पर चढ़ी चर्म पुड़ियों को खींचने व कसकर तानने के लिए उसे डोरी या बद्धी से निबद्ध किया जाता है । इनके चार भेद हैं :-

1- रज्जुयुक्त अपरिवर्तनीयप्राय ध्वनि वाले अवनद्ध वाद्य : यह वाद्य रज्जु से बंधे होने पर भी अपने निर्माण के पश्चात् सदैव एक ही स्वर में मिले होते हैं । जैसे- नगाड़ा, ताशा, ढोल, ढोल इत्यादि ।

2- रज्जुयुक्त किन्तु वादन में यथावसर किंचित ध्वनि परिवर्तनीय अवनद्ध वाद्य: यह प्रायः द्विमुखी अवनद्ध वाद्य होते हैं जिनके ढांचे दोनों मुखों पर अपेक्षाकृत बड़े व चौड़े और मध्य में पतले होते हैं, अतः मध्य भाग के ऊपर की रज्जु पंक्तियों को हाथ से दबाकर कसने व ढीला करने पर वाद्य ध्वनि किंचित ऊंची व नीची होती रहती है जैसे- हुडुक या डमरु इत्यादि ।

3- रज्जु व धातु के छल्लों से युक्त अवनद्ध वाद्य : इन वाद्यों में डोरी की पंक्तियों के बीच धातु के छल्ले फंसे रहते हैं जिन्हें इधर-उधर सरकाने पर इच्छानुकूल स्थूल ध्वनि परिवर्तन कर सकने की व्यवस्था रहती है जैसे- ढोलक, बनारसी जोया, तबला इत्यादि ।

4- रज्जु तथा गट्टों से युक्त अवनद्ध वाद्य : इन वाद्यों में ढांचे के सतह पर चारों ओर डोरी या बद्धी की पंक्तियों के नीचे लकड़ी के गट्टे लगे रहने से उन्हें ठोंककर खिसकाने से सूक्ष्म रूप से निश्चित ध्वनि में मिलाने की उत्तम व्यवस्था रहती है । अतः यह वाद्य इच्छानुकूल स्वर में मिलाने की दृष्टि से समुन्नत व अत्युत्तम होते हैं, जैसे- पखावज, तबला, नाल, तथा दक्षिण भारतीय मृदंगम् इत्यादि ।

आकृति

सभी अवनद्ध वाद्य भीतर से पोले, चर्म से मढ़े वृत्ताकार मुख वाले और स्थूल दृष्टि से आकार में सामान्यतः गोल होने पर भी उनकी विशिष्ट आकृतियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं । अतः आकृति के आधार पर भारतीय अवनद्ध वाद्यों के अनेक भेद किये जा सकते हैं ।

प्राचीन युग में भरत मुनि ने अपने समय के प्रमुख अवनद्ध वाद्यों में मिट्टी से बने मृदंग अर्थात् त्रिपुष्कर के तीन रूपों में आंकिक की आकृति

हरीतकी ऊर्ध्वक की आकृति यवमध्य और आलिंग्य की आकृति गोपुच्छ के समान बताई है[1] ।

"हरीतक्याकृतिस्त्वङ्को यवमध्यस्तथोर्ध्वगः ।
आलिंग्यश्चैव गोपुच्छः आकृत्या सम्प्रकीर्तितः ।।"

वर्तमान समय में व्यवहार किये जाने वाले अनेक अवनद्ध वाद्यों की आकृतियाँ भी इनसे मिलती-जुलती हैं । अतएव इन तीन प्रमुख आकृतियों का संक्षिप्त विवेचन उचित होगा :-

1- <u>हरीतकी</u> : हरीतकी एक सुप्रसिद्ध आयुर्वेदी औषधि का फल है जिसे लोग साधारण भाषा में हर्रें या हड़ कहते हैं । यह बड़ी या छोटी दो प्रकार की होती है । बड़ी हड़ गहरे बादामी रंग की दोनों छोर पर कम चौड़ी और मध्य भाग में अधिक उभरी हुई लम्ब-गोल होती है । छोटे हड़ काले रंग की और आकृति में एक दूसरे छोर तक समान बेलनाकार होती है । संगीत के प्राचीन शास्त्र ग्रन्थों से यह स्पष्ट नहीं होता कि हरीतकी की आकृति से वस्तुतः किस आकृति का तात्पर्य है । प्राचीन प्रस्तर शिल्पों में उत्कीर्ण दोनों आकृतियों के द्विपार्श्वमुखी अवनद्ध वाद्य दिखाई पड़ते हैं और आज भी व्यवहार में हैं अतः अनुमान होता है कि मोटे तौर पर दोनों ही हरीतकी की आकृति वाले द्विपार्श्वमुखी अवनद्ध वाद्य हैं । जैसे- भरत नाट्य शास्त्र में उल्लिखित त्रिपुष्कर का आंकिक भाग अथवा वर्तमान काल में महाराष्ट्र का लोक वाद्य माल, उत्तर भारतीय ढोलक तथा कर्नाटक संगीत में बजने वाला मृदंगम आदि हैं ।

2- <u>यव</u> : यव एक प्रसिद्ध अनाज का नाम है जिसे साधारण भाषा में जौ कहते हैं । जौ के दाने की आकृति साधारणतः लम्बी व चौड़ाई में चतुर्दिक वृत्ताकार होते हुये भी एक किनारे पर पतली व दूसरे किनारे पर अपेक्षाकृत कुछ चौड़ी व बीच में सबसे अधिक उभरी हुई होती है । अतः एक ओर छोटी, दूसरी ओर अपेक्षाकृत थोड़ी चौड़ी और बीच में सबसे अधिक उभरी हुई आकृति वाले अवनद्ध वाद्य यवाकृति होते हैं । जैसे-भरत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित त्रिपुष्कर के ऊर्ध्वक भाग को यवमध्य की आकृति का बताया गया है।

---

1. भरत नाट्य शास्त्र, चतुस्त्रिंशाध्यायः ।

3- गोपुच्छ : गोपुच्छ का तात्पर्य है गाय की पूंछ के केशयुक्त अंतिम भाग से है, जो कि चौड़ाई व गोलाई में ऊपर से नीचे की ओर ऊपर कम बीच में थोड़ा अधिक और फिर कम होते हुये नीचे अन्त में गोल पतला व थोड़ा नुकीला होता है । अतः ऐसी आकृति वाले अवनद्ध वाद्य गोपुच्छाकृति हैं । भरत नाट्यशास्त्र में त्रिपुष्कर के आलिंग भाग को गोपुच्छाकृति बताया गया है । स्व0 डा0 लालमणि मिश्र ने गोपुच्छ को लम्बा गोल व मध्य में उभरी आकृति का मानते हुये उत्तर भारतीय मृदंग अर्थात् पखावज को गोपुच्छाकृति वाद्य माना है[1]। किन्तु पखावज को देखने पर वह हरीतकी से अधिक समानता रखता हुआ वाद्य मालुम पड़ता है । अतः पखावज को हरीतक्याकृति मानना उचित है ।

स्व0डा0 लालमणि मिश्र ने इन आकृतियों की परिकल्पना के आधार पर एक मुखी अवनद्ध वाद्यों के निम्नलिखित तीन उपभेद माने हैं[2]:-

(1) अर्द्ध हरीतकी : इस वर्ग में वाद्यों का मुख बड़ा होता है साथ ही दूसरा छोर जो कि बन्द होता है, वह कुछ गोलाई लिये होता है । तबले का बाँया भाग इसी उपभेद में आता है । वास्तव में पंजाब प्रदेश के जोड़ी नामक अवनद्ध वाद्य का बाँया नग "धामा" जो कि लकड़ी का बना होता है, और जिसके चर्मावनद्ध मुख पर आटा लगाकर बजाया जाता है, उसकी आकृति अर्द्धहरीतकी के समान अधिक होती है ।

(2) अर्द्ध यवाकृति : इस वर्ग के वाद्यों का मुख बड़ा होता है तथा इनका दूसरा छोर बन्द व नुकीला होता है । नक्कारा, नगड़िया आदि इसी उपभेद के हैं ।

(3) अर्द्ध गोपुच्छाकृति : इस प्रकार के वाद्यों का मुख का वृत्त जितना होता है, दूसरे छोर का वृत्त उससे अधिक होता है । इस वर्ग में तबले का दाहिना भाग तथा घट इत्यादि आते हैं ।

इन सबके अतिरिक्त कुछ अन्य आकृतियों में भारतीय अवनद्ध वाद्य भी हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

(1) अर्द्ध अण्डाकृति : यह आधे अण्डे की आकृति वाले अवनद्ध वाद्य होते हैं । जैसे- बाँया तबला ।

---

1. भारतीय संगीत वाद्य पृष्ठ सं0-17
2. भारतीय संगीत वाद्य पृष्ठ सं0-17.

।2। अर्द्ध गोलाकार या अर्द्ध चन्द्राकृति : यह आधे घड़े या आधे चाँद की आकृति वाले प्याले के आकार के अवनद्ध वाद्य होते हैं जैसे- धौंसा, नगाड़ा, तासा इत्यादि ।

।3। पूर्ण गोलाकार : यह गेंद की भाँति चारों ओर गोल तथा एक ओर एक या अधिक चर्मावनद्ध मुख वाले वाद्य होते हैं । जैसे- चर्मावनद्ध घट, त्रिमुख वाद्य तथा पंचमुख वाद्य आदि ।

।4। चक्राकृति : यह चक्र या पूर्ण चन्द्र की आकृति के वृत्ताकार अवनद्ध वाद्य हैं, जैसे- दायरा, या कर चक्र, चंग, डफ, खंजरी आदि ।

।5। डमर्वाकृति : डमरु की आकृति अर्थात् दो शंकुओं के नुकीले भाग को जोड़ने पर बनी हुई आकृति वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- डमरु, हुड़ुक्का, आदि । यह वाद्य प्रायः दोमुखी होते हैं और इनकी आकृति साधारणतः गुणन चिन्ह से मिलती-जुलती है ।

।6। शंक्वाकृति : यह वाद्य उल्टे शंकु की आकृति अर्थात् मुख पर चौड़े और क्रमशः कम चौड़े होते हुये सबसे नीचे अंत में गोल नुकीले आकार के होते हैं जैसे- स्वांग, नौटंकी, लावणी।महाराष्ट्र।, ख्याल।राजस्थान। इत्यादि संगीत प्रधान लोक नाट्य में बजने वाले नगाड़ों की जोड़ी अथवा शहनाई या नफीरी के साथ नौबत में बजाये जाने वाले छोटे नगाड़ों की जोड़ी या दुक्कड़ आदि ।

अवनद्ध वाद्यों को निर्मित करने की वस्तु

अवनद्ध वाद्यों के मूल ढाँचे चर्ममुख और उसे खींच कर तानने वाली बद्धी या डोरी के लिए विभिन्न पदार्थ व्यवहार किये जाते हैं । अतः निर्माण पदार्थ की दृष्टि से भारतीय अवनद्ध वाद्यों के अनेक भेद हो सकते हैं जो निम्न प्रकार से हैं :-

1- <u>मूल ढाँचा</u> : अवनद्ध वाद्यों का मूल ढाँचा प्रायः निम्नलिखित पदार्थों से बना होता है :-

।1। मिट्टी

।2। काष्ठ

।3। धातु

।4। काँच

।1। मिट्टी के ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्य : मिट्टी से बने ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्यों की परम्परा बहुत पुरानी है।वैदिक युग में "भूमिदुन्दुभि" नामक अवनद्ध वाद्य का निर्माण भूमि में गड्ढा खोदकर उसके मुख को बैल के चर्म से आच्छादित करके किया जाता था । धीरे-धीरे मिट्टी से निर्मित होने वाले अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे आग में पकाकर बजाये जाने लगे । इस प्रकार मिट्टी से बने ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्यों में त्रिपुष्कर प्राचीन काल के सर्वप्रमुख अवनद्ध वाद्य थे । मिट्टी से निर्मित होने के कारण मृद् ।मिट्टी। + अंग ।ढाँचा। = ।मृदंग। अर्थात् मिट्टी के ढाँचे वाला वाद्य अथवा "मर्दल" या "मुरज" अर्थात मृदु मिट्टी से बना वाद्य भी कहा जाता है ।

वर्तमान युग में नगाड़ा, दुक्कड़, तासा, ढोल, नक्कारा, डुग्गी या डग्गा ।बाँया तबला।, खोल, मार्दल इत्यादि अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे पकी हुई मिट्टी से बनी हुई होती है ।

।2। काष्ठ के ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्य : कई अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे काष्ठ।काठ। अर्थात् लकड़ी से बनाए जाते हैं।वैदिक साहित्य में वृक्ष की जड़ में गर्त बनाकर उसे पशु चर्म से आच्छादित करके बजाये जाने वाले "वनस्पति" नामक अवनद्ध वाद्य का उल्लेख मिलता है । इससे पता चलता है कि काष्ठ निर्मित अवनद्ध वाद्यों की परम्परा बहुत प्राचीन है ।

अधिक मजबूत न होने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाने और ले जाने में मिट्टी के ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्यों के टूटने-फूटने की बहुत अंक संभावना होती है । जब कि काष्ठ निर्मित अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे अत्यधिक मजबूत होने के कारण इस दृष्टि से अधिक सुविधापूर्ण व उत्तम होते हैं । इसके अतिरिक्त मुख चर्मों को तानने वाली डोरी या बद्धी को काष्ठ के ढाँचे पर अधिक खींचकर अवनद्ध वाद्य की ध्वनि को अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा चढ़ाया जा सकता है । संभवतः इन्हीं गुणों के कारण आगे चलकर इनके अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे काष्ठ से ही बनाये जाने लगे और इतना ही नहीं बल्कि मिट्टी से बनाये जाने वाले अनेक अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे भी धीरे-धीरे काष्ठ से बनाये जाने लगे । जैसे-मृदंग, हुड़ुक्का, डमरु इत्यादि । वैसे तो किसी भी वृक्ष का कठोर काष्ठ अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे बनाने के लिए प्रयोग किये जा सकते हैं, फिर भी परम्परागत रूप में विजयसाल, रक्तचन्दन व खैर इत्यादि वृक्षों के

काष्ठ इसके लिए उत्तम माने गये हैं[1]। आजकल अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे शीशम व नीम इत्यादि वृक्षों के काष्ठ से भी बनाये जाते हैं। वर्तमान अवनद्ध वाद्यों में ढोलक, पखावज, दक्षिण भारतीय मृदंग, धामा, दाहिना तबला, नाल, खंजरी डप, डमरु, हुडुक इत्यादि के ढाँचे काष्ठ से ही बने होते हैं।

[3] धातु के ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्य : कुछ अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे काँसा, ताँबा, पीतल, लोहा इत्यादि कठोर धातुओं से बनाये जाते हैं। प्राचीन संगीत ग्रन्थों से पता चलता है कि उस समय के कुछ विशिष्ठ अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे धातुओं से बनाये जाने लगे थे[2]। जैसे- कुडुवा, डक्का, मंडी, डकुली, दुंदुभि, भेरी, निःसाण, तुम्बकी इत्यादि।

प्रायः यह देखा गया है कि पकी मिट्टी अथवा काठ के ढाँचे को हाथ या किसी कठोर वस्तु से ठोंकने पर उससे स्वयं ही किसी प्रकार की ध्वनि नहीं निकलती, परन्तु धातु से बने ढाँचे को ठोकने पर उससे एक विशिष्ट अनुरणात्मक नाद निकलता है। इसीलिए मिट्टी या काठ के ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्यों को ऊँचे स्वर में बजाने पर वहाँ केवल मुखचर्म से ही ध्वनि निकलती है। वहाँ धातु से बने ढाँचे वाले अवनद्ध वाद्यों में मुख चर्म की ध्वनि के साथ-साथ ढाँचे की धात्विक ध्वनि [ ] भी प्रयुक्त हो जाती है जो कि मुखचर्म से निकलने वाली नाद की एक रूपता में बाधा उत्पन्न करती है। अतः ध्वनि की दृष्टि से ऊँचे स्वरों में बजाये जाने योग्य अवनद्ध वाद्यों के लिए मिट्टी या काठ का ढाँचा, धातु के ढाँचे से उत्तम होता है। संभवतः धातु में होने वाले ध्वनि दोष के कारण ही केवल मंद और गंभीर ध्वनि में बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्यों के ढाँचे धातु से बनाये जाते हैं। जैसे- धौंसा, भेरी, डुग्गी या बायें तबले की डुग्गी या डग्गा इत्यादि।

[4] कुछ मध्य युगीन राज दरबारों में विशेष उत्सवों पर नृत्य आदि के साथ शोभा के लिए रंग-बिरंगे मोटे काँच के ढाँचे वाली पखावजों को खड़े होकर बजाये जाने का प्रचलन भी रहा है। उदाहरण के लिए जयपुर के राजदरबार में पिछली शताब्दी तक सावन मास के झूलोत्सव तथा फागुन के होलिकोत्सव के अवसर पर नृत्य के साथ सफेद, हरे, नीले, लाल इत्यादि अनेक रंगों के काँच के ढाँचे वाली पखावजों को नृत्य के साथ बजाया जाता रहा है। इनमें से अनेक पखावजें अभी भी जयपुर राजपरिवार के निजी संग्रह में हैं।

---

1. संगीत रत्नाकर षष्ठावाद्याध्यायः श्लोक सं0 1019, 1078, 1098, 1132, 1019.
2. अभिनव भारती ना0शा0 34., श्लोक सं0-12.

विज्ञान की दृष्टि से कांस्य-ध्वनि का सुसंवाहक नहीं है । अतः शोभा के लिए के लिए कांच के ढांचे वाले अवनद्ध वाद्य भले ही ठीक हों, परन्तु वे ध्वनि और गुंजन की दृष्टि से उत्तम होंगे, इसमें संदेह है । इसीलिए प्रत्यक्ष व्यवहार में आने वाले अवनद्ध वाद्यों के ढांचे प्राचीन काल से परम्परागत रूप में मिट्टी, काठ व धातु से ही बनाये जाते रहे हैं और अब भी बनाये जाते हैं ।

2. <u>मुख चर्म</u> : 'अवनद्ध वाद्यों के मुख पर मढ़ा हुआ रोम हीन चर्म जो कि हाथ या डण्ड की चोट से बजाया जाता है, अवनद्ध वाद्यों का सबसे महत्वपूर्ण भाग होता है । अवनद्ध वाद्यों के मुख पर मढ़े जाने वाले चर्म के गुण-दोष संगीत रत्नाकर में इस प्रकार बताये गये हैं[1]:-

"षाण्मासिकस्य वत्सस्य चर्म स्यात्पुरबन्धने ॥ ।164 ॥
अन्ये द्विवत्सरस्याहुस्तन्न लक्ष्येषु दृश्यते ।
च्छस्य वृषभस्याह्य चर्मणा बध्रकल्पना ॥ ।165 ॥
कुन्देन्दुहिमसंकाशमाम्रपल्लवसंनिभम् ।
स्नायुमांसविहीनं च चर्म गोसंभवं च यत् ॥ ।166 ॥
शीतोदके निशामेकां वासयित्वा समुद्धृतम्।
वाद्यावनद्धनार्थं तद्ग्राह्यं शीशाङ्किणोदितम् ॥ ।167 ॥
मेमोदुष्टं जराक्रान्तं क्लिन्नं काकमुखाहतम् ।
अग्निधूमहतं जीर्णं न वाद्ये चर्म कर्मकृत् ॥ ।168 ॥

अर्थात् अवनद्ध वाद्यों के मुख पर मढ़ने के लिए छः महीने के बछड़े की खाल व्यवहार करने के लिए बताते हैं, किन्तु ऐसा प्रचार में नहीं है । स्नायु, मांस, रोम विहीन चर्म जो कि हिम या कुन्द जैसा सफेद और नवीन आम्र पल्लव जैसा चमकदार हो उसे ठंडे पानी में रात भर भिगोकर दूसरे दिन खूब मसलने के बाद अवनद्ध वाद्य के मुख पर मढ़ना चाहिए और बैल के चमड़े की बद्धी से पिरोकर बांधना व कसना चाहिए । चर्बी वाले, बूढ़े व बीमार जानवर के चर्म या कटे-फटे कव्वे के चोंच से आहत आग व धुंए से खराब पुराने सड़े-गले चर्म को अवनद्ध वाद्य के मुख पर नहीं मढ़ना चाहिए ।

---

1. संगीत रत्नाकर षष्ठोदायाध्यायः

ध्वनि की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों के मुख पर मढ़ जाने वाले चर्म दो प्रकार के होते हैं :

।1। मंद गंभीर नाद उत्पन्न करने योग्य मोटा चर्म

।2। मध्य या तार ध्वनि उत्पन्न करने वाला पतला चर्म

।1। मंद, गंभीर व बड़ा नाद उत्पन्न करने वाले बड़े आकार के

अवनद्ध वाद्यों के मुख पर समुचित मोटा चर्म मढ़ने के लिए गाय, बैल, भैंस या ऊंट इत्यादि बड़े जानवरों की विशेष प्रक्रिया से कमाई हुई रोम हीन चिकनी खाल व्यवहार की जाती है जिसे किसी कठोर डण्ड से पीटते हुये बजाया जाता है । मोटे चर्म से बनाये जाने वाले अवनद्ध वाद्यों में दुंदुभि, भेरी, धौंसा, बड़ा नगाड़ा आदि आते हैं ।

।2। मध्य व तार ध्वनि उत्पन्न करने वाले मध्य या छोटे आकार

के अवनद्ध वाद्यों के मुख पर समुचित पतला चर्म या झिल्ली मढ़ने के लिए विशेष प्रक्रिया से कमाई हुई बकरी या बकरे के रोम रहित चिकनी खाल व्यवहार की जाती है जिसे प्रायः हाथों, छोटे डल्लों या पतली डंडियों से बजाया जाता है । पतले चर्म या झिल्ली से मढ़ जाने वाले अवनद्ध वाद्यों में ढोलक, नाल, पखावज, कर्नाटक मृदंगम्, खोल, तबला, तासा, डुक्कड़, ढील, डफ, छोटे नगाड़े इत्यादि हैं । प्राकृतिक रूप से नारी जातीय जीवों की खाल अधिक पतली, चिकनी तथा मधुर स्वर उत्पन्न करने वाली होती है । अतः हाथों व उंगलियों से बजाये जाने वाले कलात्मक व उन्नत अवनद्ध वाद्यों के मुख पर मढ़ने के लिए बकरी की खाल, सर्वोत्तम मानी गयी है । ऐसे वाद्यों में ढोलक, नाल, पखावज, खोल व तबला इत्यादि हैं ।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांवों में ऐसा प्रवाद प्रचलित है कि बकरी की खाल से मढ़े अवनद्ध वाद्य के सामने यदि भेड़िये के खाल से मढ़ा कोई अवनद्ध वाद्य बजाया जाय तो प्राकृतिक रूप से जातिगत भय के कारण पहले वाले अवनद्ध वाद्य से मढ़ी बकरी की खाल फट जायगी । इससे ज्ञात होता है कि संभवतः अवनद्ध वाद्यों में कभी भेड़िये की खाल उपयोग करने का प्रयत्न किया गया होगा । परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में कभी ऐसा दिखाई न देने से प्रवाद की यह धारणा संदेहास्पद प्रतीत होती है ।

।3। मुख चर्म को कसने वाली बद्धी- मुख चर्म को चारों ओर से तानकर समान ध्वनि में बजाये जाने लायक रखने के लिए डोरी, तांत या जानवर की मोटी खाल से बनी पतली लम्बी पद्धी इस्तेमाल की जाती है जिसे अवनद्ध वाद्य के मुख चर्म की बाहरी परिधि पर पिरोकर खींच दिया जाता है। बद्धी की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों के मुख्यतः तीन भेद हो सकते हैं :-

।1। सूत की डोरी इस्तेमाल किये जाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- ढोलक, नाल व बनारसी बांया तबला इत्यादि।

।2। तांत इस्तेमाल किये जाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- झील, तासा, व छोटे नगाड़े इत्यादि।

।3। बड़े जानवरों की खाल इस्तेमाल किये जाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- पखावज, मृदंग, तबला, खोल इत्यादि।

इसके अतिरिक्त तबला, धामा जैसे एक मुखी वाद्यों में बद्धी को बांधकर कसने के लिए आधार के रूप में चमड़े की बनी गुड़री का प्रयोग किया जाता है। बद्धी में अधिक खिंचाव व कसाव के लिए प्रायः सूत की डोरीवाले अवनद्ध वाद्यों में धातु के छल्ले और चमड़े की बद्धी वाले वाद्यों में लकड़ी के गट्टे इस्तेमाल किये जाते हैं।

मुख विलेपन

प्राचीन काल से ही उन्नत अवनद्ध वाद्यों में ध्वनि को गूंजदार और इच्छित स्वर की दृष्टि से अच्छा बनाने के लिए उनके मुख चर्म के बीच तालाब के किनारे की गीली मिट्टी, गेहूँ या जौ का गीला आटा विशेष विधि से बनाये जाने वाले रंग के मशाले का विलेपन किया जाता है। मुख विलेपन भारतीय अवनद्ध वाद्यों की अन्यतम विशेषता है जो कि विश्व के अन्य देशों के अवनद्ध वाद्यों में नहीं मिलते। मुख विलेपन की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों के दो भेद होते हैं :-

।1। बिना मुख विलेपन वाले

।2। मुख विलेपन वाले

आधुनिक अवनद्ध वाद्यों में धंग, तासा, डफ, ढोल, खंजरी, हुडुक, डमरू इत्यादि बिना मुख विलेपन वाले अवनद्ध वाद्य हैं। मुख विलेपन

किये जाने वाले अवनद्ध वाद्यों में से कुछ के एक मुख चर्म पर और कुछ के दोनों मुख चर्मों पर विलेपन किया जाता है जैसे- नगाड़ा, दुक्कड़, ढोलक, इत्यादि एक मुख पर विलेपन किये जाने वाले और मृदंग, कर्नाटक मृदंगम्, तबला, खोल इत्यादि दोनों मुखों पर विलेपन किये जाने वाले अवनद्ध वाद्य हैं ।

मुख विलेपन किये जाने वाले पदार्थ की दृष्टि से भारतीय अवनद्ध वाद्य के निम्नलिखित तीन भेद हो सकते हैं :-

।1। मिट्टी विलेपन किये जाने वाले अवनद्ध वाद्य

भरत नाट्य शास्त्र में कंकड़ रहित बालू व तृण रहित तथा जो चिकनी, श्वेत खारी, कड़वी, काली, पीली, खट्टी व तीखी न हो, ऐसी अवगुणों से रहित नदी किनारे की मधुर-श्याम रंग वाली मिट्टी को पानी से गूंदकर वामक ।आलिंग्यक। और ऊर्ध्वक के मुख चर्म पर लेप करने को कहा गया है[1]। त्रिपुष्कर वाद्य में केवल वामक ।आलिंग्यक। और ऊर्ध्वक इन दो भागों में ही मृत्तिकालेपन किये जाने के कारण इस प्रक्रिया को द्विलेपन कहा गया है[2]। आज भी कुछ आदिवासी जनजातियों के विशेष अवनद्ध लोक वाद्यों में मिट्टी का विलेप किया जाता है ।

।2। गेहूं या जौ का आटा विलेपन किये जाने वाले अवनद्ध वाद्य

यद्यपि शास्त्रों में गेहूं, जौ या दोनों के मिश्रित गीले आटे का प्रयोग मुख विलेपन के लिए अधिक श्रेष्ठ नहीं बताया गया है[3], फिर भी वर्तमान पखावज के बायें मुख पर और लकड़ी के बनाये गये बायें तबले ।धामा। के मुख चर्म के बीच गेहूं का गीला आटा लगाने की प्रथा और ध्वनि में व वादन की दृष्टि से यह पूर्णतः संतोषप्रद होता है । यह प्रथा आज भी प्रचलित है ।

।3। स्याही विलेपन किये जाने वाले अवनद्ध वाद्य

अवनद्ध वाद्यों में मुख विलेपन के लिए लकड़ी की राख, चावल का माड़ और गुड़ के मिश्रण से बने मसाले के प्रयोग का उल्लेख लगभग ।5वीं शताब्दी से मिलता है । बाद में इसी मसाले में लौह चूर्ण की जली हुई राख

1. भरत नाट्य शास्त्र चतुस्त्रिंशोऽध्यायः
2. भरत नाट्य शास्त्र चतुस्त्रिंशोऽध्यायः श्लोक सं0 40.
3. भरत नाट्य शास्त्र चतुस्त्रिंशोऽध्यायः श्लोक सं0 131.

का प्रयोग भी किया जाने लगा । काला रंग होने के कारण इस मसाले को प्रचलित भाषा में स्याही कहा जाता है । मुख विलेपन में स्याही के प्रयोग से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि संगीत कार्यक्रम के बीच अवनद्ध वाद्यों में मिट्टी या आटे का विलेपन थोड़ी-थोड़ी देर में सूखकर कड़ा पड़ जाने पर उसे बदलना पड़ता था, अतः स्याही के प्रयोग से यह असुविधा दूर हो गई ।

कुछ अवनद्ध वाद्यों में गीली या मुलायम और कुछ में सूखकर कड़ी पड़ जाने वाली स्याही का व्यवहार किया जाता है । मुलायम स्याही मुख चर्म की भीतरी सतह में और कड़ी स्याही मुख चर्म की बाहरी सतह पर लगाई जाती है । नगाड़ा, ढोलक, आदि वाद्यों के मुख चर्म की भीतरी सतह में मुलायम स्याही और तबला, पखावज, खोल, माल, कर्नाटक मृदंगम् इत्यादि वाद्यों में मुख चर्म की बाहरी सतह पर कड़ी स्याही लगाई जाती है। इनमें से तबले के दोनों भागों में तथा पखावज के एक ही मुख पर "स्याही" का प्रयोग किया जाता है ।

ध्वनि मार्जना

अवनद्ध वाद्य के मुख चर्म को किसी उपयुक्त ध्वनि में बजाये जाने योग्य करना ही ध्वनि मार्जना है । ध्वनि मार्जना की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों के तीन भेद हो सकते हैं :-

।1। ध्वनि मार्जना न किये जा सकने वाले अवनद्ध वाद्य : इस प्रकार के अवनद्ध वाद्य में ध्वनि मार्जना किया जाना संभव नहीं होता । अतः वे प्रायः एक ही ध्वनि में मिले रहते हैं जैसे- डफ, डमरू, नगाड़ा, ढोल, तासा, खंजरी आदि ।

।2। अर्ध ध्वनि मार्जना वाले वाद्य : इस प्रकार के अवनद्ध वाद्य में यद्यपि किसी सीमा तक ध्वनि मार्जना द्वारा मुख चर्म की ध्वनि को ऊँचा या नीचा किया जा सकता है, फिर भी उसे इच्छानुसार किसी निश्चित स्वर में नहीं मिलाया जा सकता जैसे- हुड़क, ढोलक, छोटा नगाड़ा इत्यादि ।

।3। इच्छित ध्वनि मार्जना किये जा सकने वाले अवनद्ध वाद्य : इस प्रकार के वाद्यों को इच्छानुसार निश्चित स्वर में मिलाया जा सकता है जैसे- पखावज, माल, कर्नाटक मृदंगम तथा तबला ।दाहिना। इत्यादि इच्छित मार्जना किये जा

सकने वाले अवनद्ध वाद्य हैं ।

न्यास

न्यास का अर्थ है स्थिति । अवनद्ध वाद्यों के रखाव और वाद्य की दिशा की दृष्टि से दो स्थिति भेद हो सकते हैं :-

1- अवनद्ध वाद्य रखने की दृष्टि से :- इसके मुख्यतः पाँच उपभेद हो सकते हैं:

(क) गोद में रखकर बजाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- छोटा नगाड़ा, बाँया तबला इत्यादि ।

(ख) भूमि पर रखकर बजाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- पखावज, कर्नाटक मृदंगम, तबला इत्यादि ।

(ग) हाथ से पकड़कर अधर में बजाने वाले अवनद्ध वाद्य-जैसे-डमरू, डफ, खँजरी इत्यादि ।

(घ) बगल में दबाकर बजाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- हुडुक इत्यादि ।

(ङ.) गले में डोरी या पट्टी के सहारे लटकाकर बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- ढोलक, तासा, ढोल इत्यादि ।

(च) कमर में पट्टी/से बाँधकर बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य- जैसे तबला ।

2- वाद्य मुख की/दिशा की दृष्टि से :- इसके भी तीन उप भेद हो सकते हैं :

(क) ऊर्ध्वमुखी :वाद्य मुख को ऊपर की ओर रखकर बजाये जाने वाले वाद्य जैसे-तबला, नगाड़ा, दुक्कड़ इत्यादि ।

(ख) पार्श्वमुखी: वाद्य मुख को अगल-बगल की ओर रखकर बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य। यह दो प्रकार के होते हैं:

1-दक्षिण पार्श्वमुखी- इन वाद्यों के मुख को दाहिने ओर करके बजाया जाता है जैसे-डफ तथा खँजरी इत्यादि ।

2-द्विपार्श्वमुखी: बजाते समय इन वाद्यों के दोनों मुख वादक के दाहिनी तथा बाँयी ओर रहते हैं जैसे- पखावज, ढोल, कर्नाटक मृदंगम, नाल, ढोलक इत्यादि ।

(ग) संमुखी : वाद्य मुख को सामने की ओर करके बजाने वाले वाद्य तासा या छोटा नगाड़ा आदि ।

वादन प्रक्रिया

अवनद्ध वाद्यों को चोब, डंडियों और हाथों से बजाया जाता है, अतः वादन प्रक्रिया की दृष्टि से भारतीय अवनद्ध वाद्यों के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं :-

११। चोब, डंड, खपच्चियों या घुंडियों से बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य : इस प्रकार के वाद्यों में दुंदुभि, धौंसा या बड़ा नगाड़ा चोब से, बड़े आकार का ढोल-डंडियों से तथा तासा-पतली खपच्चियों से बजाया जाता है ।

१२। हाथ से बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य : इस प्रकार के वाद्य हाथों की उंगलियों या हथेली से बजाये जाते हैं, इनके दो उपभेद हैं :

१अ। एक हाथ से बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- खंजरी, चंग, डफ, हुडुक इत्यादि ।

१ब। दोनों हाथों से बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य-तबला, पखावज, कर्नाटक मृदंगम्, नाल, खोल, ढोलक, दुक्कड़ आदि ।

१३। डंड व हाथ के सम्मिलित प्रयोग से बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य-कुछ द्विमुखी अवनद्ध वाद्यों में दाहिने मुख चर्म को पतली डंडी और बायें मुख चर्म को बायें हाथ से बजाया जाता है जैसे- मध्यम आकार का ढोलक ।

१४। पतली डोरी में कड़ी-घुंडी लगाकर बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य जैसे- डमरु ।

व्यवहार

मूलतः सभी अवनद्ध वाद्यों का व्यवहार लय व ताल संगति के लिए होता है, अतः विभिन्न प्रकार की संगीत और उनकी वादन के साथ व्यवहार किये जाने की दृष्टि से अवनद्धवाद्यों के निम्नलिखित प्रमुख तीन भेद किये जा सकते हैं :-

1. <u>शास्त्रीय, उप शास्त्रीय व उससे सम्बद्ध अन्य परम्परागत संगीत के साथ बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य</u>

भारतीय संगीत के उत्तरी या हिन्दुस्तानी और दक्षिणी या कर्नाटकी, यह दो भेद प्रमुख हैं । इनके अतिरिक्त पूर्वीभारत के बंगाल से

मणिपुर के तक के क्षेत्र में कीर्तन व मणिपुरी नृत्य, गान की परम्परागत शैलियाँ प्रचलित हैं । अतः क्षेत्रीय दृष्टि से इस वर्ग के अवनद्ध वाद्यों के निम्नलिखित तीन प्रमुख उपभेद किये जा सकते हैं :-

॥1॥ हिन्दुस्तानी संगीत की परम्परागत विधाओं में व्यवहृत वाद्य:

इनमें पखावज व तबला प्रमुख अवनद्ध वाद्य हैं । हिन्दुस्तानी संगीत की विभिन्न शैलियों के साथ प्रयोग की दृष्टि से इनके तीन प्रमुख उपभेद निम्नवत् हो सकते हैं :

॥क॥ ध्रुपद शैली के साथ बजाया जाने वाला अवनद्ध वाद्य : इस शैली में गाये जाने वाले ध्रुपद धमार, दादरा इत्यादि गीतों तथा इसी शैली में बजाये जाने वाले वीणा, सुर शृंगार आदि तत वाद्यों के साथ पखावज बजाया जाता है । कभी-कभी पखावज के अभाव में ध्रुपद शैली के गायन-वादन के साथ तबला भी बजा लिया जाता है, परन्तु उसे अपवाद ही समझा जाना चाहिए ।

॥ख॥ अन्य शास्त्रीय व उपशास्त्रीय शैलियों के साथ बजाया जाने वाला ख्याल, टप्पा, तराना, चतुरंग इत्यादि शास्त्रीय और ठुमरी, दादरा आदि उपशास्त्रीय गायन विधाओं सितार-सरोद आदि तत वाद्यों के वादन तथा कथक नृत्य के साथ तबला बजाने की प्रथा है ।

॥ग॥ अन्य परम्परागत संगीत शैलियों के साथ बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य: परम्परागत भक्ति संगीत की गायन विधाओं में भजन व कीर्तन के साथ समय-समय पर पखावज, ढोल, ढोलक या तबला तथा नात व कव्वाली के साथ ढोलक या तबला बजाये जाने की परम्परा रही है। आज इन विधाओं के साथ प्रायः तबला बजाये जाने की ही अधिक प्रथा है ।

॥2॥ कर्नाटक संगीत में व्यवहृत होने वाला अवनद्ध वाद्य :

कर्नाटक शास्त्रीय संगीत में मुख्य रूप से मृदंगम और साथ में प्रायः घटम तथा खंजीरा ॥खंजरी॥ भी बजाये जाने का प्रचलन है । इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में संगीत की विभिन्न विधाओं के साथ डिमडिमा ॥तबुल॥, तविल, त्रिमुख व पंचमुख वाद्यम् इत्यादि अवनद्ध वाद्य बजाये जाने की प्रथा है ।

।3। बंगाल प्रदेश के परम्परागत वैष्णव कीर्तन व मणिपुर की मणिपुरी नृत्य व गान के साथ बजाये जाने वाले अवनद्ध वाद्य :

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचलित वैष्णव कीर्तन की परम्परा में "खोल" नामक मृदंग विशेष रूप से बजाये जाने की परम्परा है । इसी प्रकार मणिपुरी नृत्य व गायन के साथ खोल जैसे ही "पुंग" नामक मृदंग बजाये जाने की प्रथा है ।

2. लोक संगीत के अवनद्ध वाद्य :

विभिन्न प्रदेशों के लोक संगीत में अनेक प्रकार के अवनद्ध वाद्यों का व्यवहार किया जाता है । उत्तर भारत के लोक संगीत में व्यवहृत होने वाले अवनद्ध वाद्यों में हुडुक, ढोल, खंजरी, धौंसा, नगाड़ा, डफ, ढोलक, तासा, झील, मादल, घट व नाल प्रमुख हैं ।

3. सुगम संगीत में व्यवहार होने वाले अवनद्ध वाद्य

वास्तव में सुगम संगीत विभिन्न प्रकार के संगीत का मिला-जुला रूप होता है । अतः उसमें आवश्यकतानुसार शास्त्रीय या लोक संगीत का कोई भी अवनद्ध वाद्य प्रयोग किया जा सकता है । इतना ही नहीं सुगम संगीत की प्रकृति और वातावरण के अनुसार उसके साथ अन्य देशों के विभिन्न अवनद्ध वाद्य । । का व्यवहार भी आजकल किया जाने लगा। जैसे यूरोप के टैम्बूरिन । ।, केटल ड्रम ।
तथा अफ्रीका के कांगो । ।, बांगो । । इत्यादि ।

दाहिने और बाये दो भागों की जोड़ी को समदृष्टिगत रूप में हाथों से बजाया जाने वाला अवनद्ध वाद्य "तबला" आज के भारतीय संगीत में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । वादन की विविधताओं के कारण यह वाद्यशास्त्रीय लोक संगीत, सुगम संगीत आदि सभी प्रकार के गायन, वादन और नृत्य विधाओं की संगति तथा स्वतंत्र वादन के लिए व्यवहार किया जाता है । इसलिए भारतीय संगीत के अवनद्ध वाद्यों में इस वाद्य का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है ।

=====

दक्षिण भारत में प्रयुक्त विभिन्न लय वाद्यों के नाम[1]

अराव चट्टी, अष्टादश वाद्य, बाबाँ, ब्रह्म-तालम्, बृहत्तालम्, बुदबुदुक्कइ, चक्कई, चन्द्र पिरै-चन्द्रपिरै, चेंडा, चिनताल, चिबड़ा, शंख, डक्का, डक्की, डकोर वाद्यम्, डमारम, डमरु, डम्मु, दारु तालम्, दतरी-तप्पट्टै, टबन्टई, डेब धनका, धनकी, ढोलक, ढोलकी, गेज्जे, गेज्जम्, गेत्तु वाद्यम्, घटम्, कांच-ढोलक, गुम्मटि, हिन्दुस्तान टकोरा वाद्यम्, इडैयुरुंगु परै, इडक्क, इलात्तालम्, बबिक, जालरा, जमिडिका, जयभेरि, जयघंट, केचिलम्बु, के तप्पट्टै, कनक तप्पट्टै, खंजीरा, खंजरी, करताल, किनकिणि, किरिकट्टि वाद्यम्, कोडंगी, कोम्बु, कोत्तुमणि, कुडमज्झा, कुण्डलम्, कुक्षिमणि, कुक्षि तालम्, मोरसिंग, मृदंगम्, संगीतिक प्रस्तर स्तम्भ, मुट्टु नगारा, नरगज वाद्यम्, नट्टुवंग तालम्, पम्बे, पंचमुख वाद्यम्, पंढरपुर चिबड़ा, पाद कट्टै, पेरियउदल, पिरै कोम्बु, पुल्लुवन कुडम, राजवाद्यम्, रमढोलु, रमजा, शलगै, सन्न उडल, सेगण्डि, सेमक्कलम्, शिलम्बु, शिलम्बु कट्टै, शोभंगलम्, शुद्ध मादलम्, सूर्य पिरै, तबला, टकोर वाद्यम्, तालम्, ताल यंत्र, तम्बट्टम्, तमुक्कु, तन्तिपाने, तप्पुपलगे, ताषावर्या, तातप्पलगै, तबिल, तिमिला, बुडि, तुनतिना, त्यागराज-वाद्यम्, उडल, उडुक्कै, उरुमि, विल्लडि-वाद्यम्, विल्लु कोट्टु, वीर मादलम्, वीर मल्हारी, वीर वण्डि, इन्द्र या प्रमुडु वाद्यम् ।

उत्तरी तथा दक्षिण भारत के

प्रमुख लय वाद्य

1- गेत्तु वाद्यम् : यह वाद्य तानपूरे के आकार का एक तन्तु वाद्य है। इसकी लम्बाई तानपूरे से कम होती है । इसमें चार तार होते हैं जिन्हें उचित स्वरों में मिलाया जाता है । तारों को हाथ से छेड़ने के बजाय दो बारीक डंडियों से आघात देकर आनन्ददायक लय-स्वरावलियों का प्रदर्शन संभव होता है । इसे बजाते समय तुम्बे का भाग वादक की दाईं ओर रहता है और बाईं ओर डाण्डी के नीचे सहारा देकर डाण्डी को भूमि के समानांतर रखते हैं । आघात सभी तारों पर एक साथ देते हैं । प्रो0 साम्बमूर्ति ने मैसूर प्रदेश के "हेलअलुर" की शिल्पकला में गेत्तुवाद्यम् का उल्लेख किया है।[2]

1- म0बा0पृष्ठ 89-90। केटलाग आफ म्यूजिकल इन्स्ट्रुमेंट, शासकीय संग्रहालय, मद्रास, अंतिम पृष्ठ ।

2. तुनतिना : यह वाद्य एकतारा के समरूप है जिसका प्रयोग गायन वादन में निश्चित स्वर या श्रुति में रखा के अतिरिक्त लय वाद्य के समान भी होता है । दक्षिण भारत में गायक तुनतिना के तार को लयसाम्य से छेड़ते हैं । परिणामस्वरूप स्वर और लय दोनों का निर्वाह एक की ध्वनि से हो जाता है ।

3. मोरसिंग : इस वाद्य में लोहे के एक गोलाकार कड़े में इस्पात का एक लचीला टुकड़ा फंसा देते हैं और उसे मुंह में दबाकर लयसाम्य के अनुसार अंगुलियों से छेड़ते हैं । इस वाद्य को बायें हाथ से मुंह का सहारा देकर पकड़ते हैं एवं दाहिने हाथ की अंगुलियों से छेड़ते हैं । मुख-गह्वर की रिक्तता के कारण ध्वनि-वृद्धि होती है और मृदंग की संगति में इसकी ध्वनि अत्यन्त मनोरंजक होती है । बहुधा वृन्दवादन में प्रमुख वादक के स्वर से मिलाकर मोरसिंग का प्रयोग होता है। आवश्यकतानुसार इस्पात-खण्ड में मोम लगाकर श्रुतियों में सूक्ष्म परिवर्तन संभव होता है ।

4. घटम् : घटम् घड़े के आकार का ही मिट्टी से बना हुआ एक बहुत प्राचीन लयवाद्य है । रामायण एवं उपनिषदों में भी इस वाद्य का उल्लेख है । इसकी मिट्टी की तह बहुत मोटी होती है और साधारण घड़ों से यह अधिक मजबूत होता है । सीमेंट से घड़े के आकार की जो अचार आदि रखने के लिए बर्नियां बनाई जाती हैं उनसे इसकी पर्याप्त समानता है । साधारण घड़े से घटम् का मुख छोटा होता है । दक्षिण भारत में इस वाद्य का अधिक प्रचार था, किन्तु आजकल अखिल भारतीय सुगम संगीत में इसका प्रयोग हो रहा है । इस वाद्य को दोनों हाथों की कलाइयों, दसों उंगलियों, नाखून आदि के सहयोग से बजाते हैं । कभी-कभी वादक अपने पेट पर घटम् का मुख रखकर उसमें विभिन्न वायुचापों का निर्माण करता है, कभी मुख को आकाश की ओर अथवा अपने प्रतिकूल रख घटम् के विभिन्न स्थानों में कलाई, हथेली, उंगलियों अथवा नख के आघात से लयात्मक विभिन्न मनोरंजक ध्वनियों का संचार करता है । पेट से मुख के दब जाने के कारण ध्वनि में बड़ी गहराई आ जाती है । दक्षिण भारत में घटम के उत्कृष्टतम् वादक विद्यमान हैं, जिन्होंने केवल दक्षिण भारत ही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त किया है। घटम् के स्कन्ध, मध्यभाग, तल भाग अथवा अन्यान्य भागों से आघात की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न सांगीतिक नाद उत्पन्न होते हैं । दूसरे आघात से बजने वाले वाद्यों के समान इसे एक ही ढंग से रखकर नहीं बजाया जाता । वादक अपनी कुशलता एवं योग्यता के अनुसार इस वाद्य को इधर-उधर घुमाते रहते हैं ।

5. जालरा : यह लय वाद्य मंजीरे के समान पीतल या धातुओं के मिश्रण से बना हुआ होता है । आकार गोल रहता है और केन्द्र में छिद्र होता है जिसमें धागा या तांत फिरोकर दोनों हाथों के सहारे इसे बजाते हैं । दक्षिण में इस लय वाद्य का प्रयोग मुख्यत: हरि-कथा कलाक्षेपन अथवा भजन-मंडलियों में होता है । साधु लोग अपने गीतों में इसका प्रयोग लयसाम्य की रक्षा के लिए करते हैं । कुशल वादक जालरा से लय-प्रकारों का बड़ी योग्यता के साथ प्रदर्शन करते हैं । पंढरपुर का जालरा अपनी मधुर ध्वनि के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध है ।

6. कुझि तालम् : इस वाद्य का आकार जालरा सदृश ही होता है, अन्तर केवल उसके मध्य स्थान की गहराई में हैं । इस वाद्य का मध्यस्थल जालरा से अधिक गहरा होता है । दक्षिण भारत के भक्ति संगीत, जिसे "तेवरम्" एवं तिरुप्पुगज कहते हैं में इसका प्रयोग होता है । इसे कुझिमणि भी कहते हैं ।

7. चिपड़ा : यह लय वाद्य दो काष्ट खण्डों से बनता है जिसकी लम्बाई प्राय: छ: इंच होती है । इन खंडों का एक भाग सपाट और दूसरा गोल बनाया जाता है, इनमें बीच-बीच में रिक्त स्थान रखे जाते हैं । जिनमें छोटे-छोटे धातु के टुकड़े लगाये जाते हैं । कभी-कभी चिपड़े के ऊपरी सिरे में छोटी-छोटी घुंघरुनुमा घंटियां लगाई जाती हैं । ऊपरी गोल भाग में उंगलियां फंसाने के लिए पीतल के छल्ले लगाये जाते हैं जिनके सहारे उन्हें लयकारी के अनुसार बजाया जाता है । धातु खंडों और छोटी घंटियों की सम्मिलित लय ध्वनि भक्ति रस प्रधान संगीत में मधुरता का सृजन करती है । कभी-कभी चिपड़े को सुन्दर बनाने के लिए मत्स्य, वाराह, आदि अवतारों का आकार दिया जाता है । प्रो० साम्बमूर्ति के मतानुसार चिपड़ा का प्राचीन संगीत में प्रयोग नहीं था[1]।

8. शंख : इसका प्रयोग नागस्वरम्-वादन में एक उपताल वाद्य के रूप में होता है[2]। प्रमुख लय वाद्य सदृश इसका प्रयोग नहीं होता, केवल यदा कदा लयसाम्य हेतु दक्षिण भारतीय संगीत में इसका प्रयोग होता है । शंख का प्रयोग मंदिरों में घंटियों के साथ भी लयसाम्य की रक्षा हेतु होता है । शंख और घंटा की सम्मिलित सुमधुर ध्वनि भक्त रसिकों के हृदय में आरती या पूजा-काल में सम्मोहक लयसाम्य की सृष्टि करती है ।

- - - - - - - - - - - - - - -

1- ल०वा० पृष्ठ 23

2- प्रो० साम्बमूर्ति कृत ल०वा० पृष्ठ-23

९. चिनताल : दक्षिण में चिनताल अथवा हरिबोल नामक दो धातु के दीर्घ खंडों का प्रयोग होता है जिनका आकार तलवार के समान और लम्बाई तीन फिट होती है । इन धातु खंडों में भी पीतल के मधुर ध्वनि उत्पादक छोटे-छोटे टुकड़े लगाये जाते हैं । भक्त मंडलियों में विशेषकर इसका प्रयोग होता है । कभी-कभी दक्षिण के मंदिरों में वादकों का समूह इसे बजाकर अच्छी भाव मुद्रा से भक्ति रसपूर्ण सुन्दर वातावरण का निर्माण करते हैं और लयसाम्य की सुमधुर ध्वनि में श्रोतागण आत्म-विस्मृत हो जाते हैं ।

10. सातप्पलगई : इसका आकार खंजीरा के समान ही होता है, अन्तर केवल यह है कि चमड़े के स्थान पर लकड़ी का ही पतला गोलाकार टुकड़ा कीलों से जड़दिया जाता है । इस वाद्य का प्रयोग अधिकतर लोक-नृत्यों में होता है ।

11. कनकतप्पट्टे : इसमें बांस को गोलाकार बनाकर उस पर चमड़ा मढ़ दिया जाता है । व्यास लगभग एक फुट होता है । इस वाद्य का प्रयोग मंदिरों में त्यागराज की कृतियों के नृत्य में होता है । लभग 15 इंच या उससे अधिक व्यास वाले समस्त वाद्यों को दक्षिण भारत में वलन्तलयं तट्टु कहा जाता है जिनका प्रयोग लंका के विभिन्न स्थानों में नागस्वरम् में ताल संगति हेतु किया जाता है ।

12. ढोलक: यह वाद्य अखिल भारतीय स्तर पर प्रयुक्त लयवाद्य अन्तःपुर से लेकर दरबारों तक अपना महत्वपूर्ण स्थान लिये हुये हैं । इसका आवरण लकड़ी का होता है जिसे ध्वनि हेतु भीतर से खोखला करते हैं । इसके विभिन्न आकर प्रचलित हैं । साधारणतः बधी में रस्सी का प्रयोग करते हैं जिसे मध्यस्थित लोहे के छल्लों से कसते हैं । दोनों ओर समान रूप से चमड़ा लगा रहता है । इसे अधिकांशतः हाथ से बजाते हैं । कमचियों से भी इसे बजाया जाता है ।

13. तविल : इस ताल वाद्य का प्रयोग दक्षिण भार के "नागस्वरम्" वृन्द वादन में विशेष रूप से होता है । इस वाद्य की ध्वनि में तीव्रता होती है । अतएव घरेलू कार्यक्रमों में यह अनुपयुक्त माना जाता है । समगोलाकृति लकड़ी को खोखला कर चर्म का ही आच्छादन व बधी लगाते हैं। मध्य भाग में चमड़े की कड़ी बट्टी का प्रयोग ऐच्छिक ध्वनि के लिए करते हैं । इस वाद्य के काष्ठ आवरण की मोटाई 1/8 या 1/10 इंच से अधिक नहीं होती ।

पंचमुख वाद्य :

14. मंदिरों में प्रयुक्त यह एक विशालकाय अवनद्ध वाद्य है जिसके पंचमुख होते होते हैं। इस वाद्य को एक स्थान पर ही स्थित रखते हैं या स्थानान्तरण हेतु चार चक्कों की गाड़ी का प्रयोग करते हैं। पंचानन शिव के ही मुखनाम इन मुखों को दिये गये हैं यथा-सद्योजातम्, ईशानम्, तत्पुरुषम्, अघोरम्, वामदेवम्। साधारणतः इन मुखों की ऊँचाई समान होती है, पर मध्य स्थित मुख किंचित अधिक उच्च व अन्य मुखों से बड़ा होता है। तबलातरंग सदृश इसकी ध्वनि होती है और इसे दोनों हाथों से बजाते हैं।

15. नगारा : यह विशालकाय अवनद्ध वाद्य गोलार्द्ध की आकृति का होता है। मुख का व्यास अढ़ाई-तीन फिट का होता है। इसका आवरण तांबा, पीतल, लोहा आदि धातु से बनते हैं। इसे वादक सहित दो चक्कों की गाड़ी पर रख कर विग्रह (मूर्ति) के पीछे बजाते व खींचते हुये ले जाते हैं। कभी-कभी इसे हाथी पर स्थापित कर बजाते हुये जुलूस के आगे-आगे चलते हैं। रणभूमि हेतु प्रयुक्त भेरी, दुन्दुभि आदि इसी श्रेणी के वाद्य हैं और शत्रुदल द्वारा विपक्ष के इन लयवाद्यों को हस्तगत कर लेने का तात्पर्य "विजय" माना जाता था।

16. दमारम् : यह भी धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त लयवाद्य है। यह दो कोणयुक्त काष्ठ निर्मित अवनद्ध वाद्य है जिसे बैल पर स्थापित कर धार्मिक जुलूसों में बजाते हैं। बजाने की छड़ियों में एक सीधा और एक वक्र होता है।

17. उद्दुक्कई : इस लयवाद्य को आकृति के कारण "तुडि" या "इदतुरंगुपरइ" भी कहते हैं। इसमें वाद्य के दोनों मुखों पर पतले चमड़े का आच्छादन मोटे धागे के तनाव सहित देते हैं। मध्यस्थल पर धागों के ऊपर एक पट्टा होता है जिसे दबार लयध्वनि की उच्चता-नीचता का नियंत्रण संभव होता है। वाद्य को वाम हस्त से पकड़कर दक्षिण हस्त की उंगलियों से बजाते हैं। विशेषकर दक्षिण भारतीय ग्रामीण मंदिरों में इस वाद्य का प्रयोग अधिक होता है।

18. देवन्दइ : यह बड़े आकार का उड्डुक्कई है। आवरण काष्ट का होता है और आच्छादन का चमड़ा भी किंचित् मोटा होता है।

19. पम्बई : लगभग एक फुट लम्बे दो चर्मवाद्यों को पम्बई कहते हैं। आवरण फूल व बेल-बूटों से सुन्दर रूप से चित्रित किये जाते हैं। छड़ी से बजाते हैं और कसने के लिए ढोलक सदृश धातु के छल्लों का प्रयोग किया जाता है।

20. सूर्यपिरइ व चन्द्रपिरई : सूर्य व चन्द्र की आकृति के इन दोनों लयवाद्यों का दक्षिण भारत के मारियम्मन व अन्य मंदिरों में कौतुकपूर्ण प्रयोग विद्यमान है। आच्छादन का चमड़ा पतला होता है।

वाद्य में लगे हुये हैण्डल के द्वारा इसे कमाल पर बांधकर कमधियों से बजाते हैं। इसे सूर्यमंडलम् चन्द्रमंडलम् भी कहा गया है ।

21. तिमिला : यह दो मुख का अवनद्ध वाद्य है जिसे कमर के साथ झुलाकर एक तरफ हाथ से बजाते हैं । मलाबार मंदिर के वादक इस वाद्य पर विभिन्न लयात्मक कौशल प्रदर्शित करते हैं ।

22. इडक्क : दक्षिण भारत का यह एक अभिनव लयवाद्य है । विशेषता यह है कि इसके दोनों मुखों पर चमड़ा कसा हुआ नहीं रहता बल्कि पृथक गोलाकार फ्रेम में चमड़े को कसकर उसे वाद्यमुख पर सटाकर तार द्वारा उन्हें तनाव से बांधते हैं । तारों को मुट्ठी द्वारा पृथक बल देकर केवल लय ही नहीं बल्कि एक सप्तक से अधिक स्वरों का सृजन भी संभव हो जाता है । इसे कमची से बजाते हैं और कुशल वादक इस वाद्य में अद्भुत संगीत-निर्माण कर लेते हैं ।

23 दासरितप्पतइ : इस वाद्य में धातु के एक गोलाकार फ्रेम में चमड़ा लगाते हैं और बायें हाथ से पेट के किनारे लगाकर दाहिने हाथ की उंगलियों से बजाते हैं । साथ ही बायें हाथ से सेमक्कालम् बजाते हैं ।

24. सेमक्कालम : यह धातु निर्मित घनवाद्य है, जिसे दासरी साधु लोग प्रयोग में लाते हैं । यह चन्द्राकार होता है और मंदिरों में भी इसका प्रयोग होता है। बजाने के लिए गोलाकार मोटी लकड़ी के टुकड़े का प्रयोग होता है । दक्षिण भारत में इसका प्रयोग कर [illegible] लय निर्वाह करते हुये भीख मांगते हैं ।

25. ब्रह्मतालम् : मंदिरों में प्रयुक्त होने वाले बड़े आकार के घनवाद्य को ब्रह्मतालम् कहते हैं ।

26. तालम् : यह भी एक विशिष्ट छोटी आकृति का कटोरानुमा घनवाद्य है इसका प्रयोग मृदु आनन्दवर्द्धक लय-ध्वनियों के लिए, विशेषतया से हरि कथा या भजन में होता है ।

27. सिलम्बु : यह चांदी का गोलाकार कड़ानुमा होता है जिसका भीतरी भाग पोला रहता है । उसमें धातु के छोटे-छोटे टुकड़े डाल दिये जाते हैं । इसे पैरों में पहनते हैं और नृत्य में लय का निर्वाह करते हैं ।

28. सालंगई : यह भी पैंजन के समान दक्षिण भारत का पैरों में पहनने का एक गहना है जिससे मधुर लयात्मक ध्वनि निकलती है । उत्तर भारत में इसे घुंघरू या घुंघरा कहते हैं । क्वात की डोरी में इसे पिरोकर पैरों में बांधते हैं । नर्तक या नर्तकियां इसे बहुत पवित्र मानते हैं ।

29. बुजारी केचिलम्बु : यह भी धातु निर्मित गोलाकार कड़ा होता है और लगभग 1 इंच मोटा और पोला होता है जिसमें धातु के छोटे-छोटे टुकड़े डाल दिये जाते हैं। इसे दोनों हाथों में उंगलियों के सहारे अलग-अलग पकड़कर कई तरह के लय स्वरूपों का सृजन किया जाता है। ग्रामीण मंदिरों में उनका विशेष प्रयोग होता है।

30. बल्लिोड़ि बाधम् : यह सात या आठ फिट लम्बा धनुषाकृति का होता है जिसमें मोटे चमड़े का डोरा लगा रहता है। कई स्थानों में छोटी-छोटी घंटियां लगाई जाती हैं और उसके मध्य भाग में एक हण्डी लगा देते हैं। इसकी लयात्मक ध्वनि के साथ आदिम जाति के लोग धार्मिक गीत गाते हैं।

31. तन्ति पानई : यह ग्रामीणों का एक कौतिकपूर्ण लयवाद्य है जिसमें एक मिट्टी की हण्डी के भीतर से तार लगाया जाता है। पहले तार के स्थान पर तांत का प्रयोग करते थे और नरम्बुपानई कहते थे। इन्हें नरकुन्द और तन्तीकुन्द भी कहते हैं। हण्डी के मुख पर चमड़ा लगाया जाता है और उसके केन्द्र से धातु निर्मित छल्ले के सहारे आर पार लगाया जाता है। जब इस वाद्य को बजाते हैं तो छल्ले के कारण लय ध्वनि में मधुर स्पन्दन होता है। इस वाद्य के द्वारा कुशल वादक अनेक लय गतियों का प्रदर्शन करते हैं। तार की स्थूलता को बदलकर स्वर स्थानों में परिवर्तन भी संभव होता है।

32. गुम्मटी : यह अवनद्ध वाद्य आन्ध्र प्रदेश के कुछ जिलों में प्रचलित है जिसका उपयोग ग्रामीण लोग विशेषकर "बालनागम्" कथा के लिए करते हैं। इसका आकार सुराही के समान होता है और उसकी पेंदी पर दो इंच व्यास का चमड़ा लगाया जाता है। आवरण पर 10 छोटे-छोटे छेद होते हैं जिनसे व्यास की डोरियां पिरोकर एक गोलाकार छल्ले में बांध देते हैं। वाद्य को खड़ा रख कर बजाते हैं।

33. पुल्लुवन कुदम् : यह भी मिट्टी का घड़ानुमा लयवाद्य है जिसके मुंह पर चमड़ा लगा देते हैं और उसके केन्द्र से मोटा धागा घड़े के भीतर से लगाते हैं जो तनकर एक धातु निर्मित कटोरे में फंसा रहता है। इसे लयात्मक घात देकर बजाते हैं। मालाबार की सांप पूजने वाली पल्लुवन आदिम जाति का यह लयवाद्य है।

34. बिल्लुकोतु : यह भी धनुषाकृति का एक लोक लयवाद्य है जिसमें पारियल आदि वृक्षों की मोटी छाल को धनुषाकार मोड़कर एक बांस को डोर के स्थान पर लगा देते हैं व लय के अनुसार एक छड़ी से घात देते हैं।

35. तम्बत्तम : एक गोलाकार फ्रेम पर चमड़ा लगाकर चमड़े के धागे से ही सिलकर बजाते हैं। यह उड़ीसा के कोता नामक आदिम जाति

तबला और पखावज की तुलना

उत्तर भारत के शास्त्रीय ताल वाद्यों में तबला और पखावज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । तबले का पूर्वज वाद्य पखावज है। मुगल राज्य काल में भारतीय संगीत में अनेकों परिवर्तन हुये । पखावज के स्थान पर तबले का जन्म और उसका प्रचार एक उल्लेखनीय परिवर्तन है । दोनों वाद्यों का तुलनात्मक विवरण निम्नवत है :-

	पखावज	तबला
1.	यह भारत का अत्यन्त प्राचीन वाद्य है और इसका जन्म संभवतः ईसा से 500 वर्ष पूर्व हो चुका था । इसका पूर्व नाम मृदंग है ।	यह आधुनिक युग का अत्यन्त लोकप्रिय वाद्य है, इसके प्रचार का क्रमिक इतिहास 300 वर्षों से अधिक का उपलब्ध नहीं है
2.	कुछ विद्वानों के अनुसार मृदंग का प्राचीन नाम पुष्कर था और इसके तीन मुह हुआ करते थे, मृदंग का शरीर पहले मिट्टी का बनाया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे मृदंग को पखावज कहा जाने लगा और इसका शरीर लकड़ी का बनाया जाने लगा ।	कुछ विद्वानों का कहना है कि तबले का जन्म प्राचीन वाद्य दुर्दुर के आधार पर हुआ है। यह दो भागों में विभाजित होता है, एक को दाहिना और दूसरे को बाँया या डग्गा कहते हैं, दाहिना तो सदैव लकड़ी का ही बनता है, परन्तु बाँया- मिट्टी, लकड़ी, लोहे या पीतल का भी होता है ।
3.	पखावज के दाहिने का मुंह 6 से 8 इंचों के बीच हुआ करता है, अतः ये नीचे स्वर में ही मिलाया जाता है।	तबले का मुह पखावज के मुह की अपेक्षा छोटा होता है।अतः बहुत ऊँचे स्वर में भी चढ़ाया जा सकता है ।
4.	पखावज के बाये पर ताजा गुंथा हुआ जौ या गेहूं का आटा लगाया जाता है, इसका व्यास अधिक होता है ।	तबले के बायें मुख के एक किनारे दाहिने के समान स्याही लगा रहता है ।
5.	पखावज के बोल जोरदार और गंभीर होते हैं, इसके वादन में पूरी हथेली का प्रयोग किया जाता है।	तबले के बोल कोमल और मधुर होते हैं। इसमें अंगुलियों को अधिक प्रयोग किया जाता है ।
6.	पखावज का प्रयोग प्राचीनकाल के	तबले का प्रयोग आधुनिक युग के ख्याल,

	ध्रुपद-धमार अंग की गायकी के साथ और कभी-कभी नृत्य के साथ भी किया जाता है।	अंग की गायकी के साथ किया जाता है। इसका प्रयोग नृत्य के साथ भीखूब होता है।
7.	इसके मुख्य ताल धमार, चारताल, गजझम्पा, रुद्र, ब्रह्म, तेवरा तथा सूलताल आदि हैं।	इसकी मुख्य तालें-तीन ताल, झपताल, एक ताल, आड़ा चार ताल, रूपक, झूमरा, तिलवाड़ा तथा पंचम सवारी आदि हैं
8.	पखावज की मुख्यरचनाएँ-परनृ, टुकड़ा, पड़ाल तथा रेले आदि हैं।	तबले की मुख्य रचनाएँ-पेशकारा, कायदा रेला और गत आदि हैं।
9.	इसके कुछ बोल इस प्रकार के होते हैं-धुमकिट, गदिगन, कड़ान धा, गददी घिड़नग।	तबले के बोल-तेरे, तिरकिट, धाति आदि हैं।

=====

अध्याय ३

१. दक्षिण एवं उत्तर भारत के प्रमुख अवनद्ध वाद्य

२. प्राचीन एवं अर्वाचीन अवनद्ध वाद्य

दक्षिण एवं उत्तर भारत के प्रमुख अवनद्ध वाद्य

संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य के साथ ताल देने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। ऐसा कहा जाता है कि शिव जी के ताण्डव के "ता" और पार्वती के लास्य से "ल" लेकर ताल शब्द की उत्पत्ति हुई और डमरु से ताल की सृष्टि हुई है।

ताल अथवा ताल वाद्यों सम्बन्धी अनेक उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाये गये हैं। जिस समय वृत्तासुर राक्षस को मारकर शिव जी ने आनन्द मग्न होकर ताण्डव नृत्य आरम्भ किया उस समय उनके पुत्र गणेश जी ने पृथ्वी में गड्ढा खोदकर उस पर वृत्तासुर राक्षस की खाल मढ़कर ताण्डव नृत्य के साथ संगत की। दुर्गा देवी का "ताल नाद क्रियाश्च मृदंग ध्वनित्यर्य" कहा गया है। महिषासुर से युद्ध करते समय मृदंग की ताल वद्य ध्वनि चालू थी जिसके नाद में देवी युद्ध कर रही थीं। वैकुण्ठों की महफिलों में गायन, कीर्तन आदि के साथ मृदंग के प्रयोग के बारे में भी अनेक उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाये गये हैं।

संगीत के इतिहास में मध्यकाल 8वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के काल को एक महत्वपूर्ण समय कहा गया है। इसी काल में भारतीय संगीत की सबसे अच्छी उन्नति हुई। रियासतों में संगीत को आश्रय और संरक्षण मिला, जिससे संगीत का प्रचार और विकास हुआ। 11वीं शताब्दी से मुसलमानों का आगमन भारत वर्ष में प्रारम्भ हुआ और लगभग 12वीं शताब्दी तक वे भारत के शासक बन बैठे।

मृदंग

सुधाकलश में भगवान शंकर को मृदंग तथा मुरज का आविष्कारक बताया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में मृदंग, पणव तथा दर्दुर को पुष्कर वाद्य कहा गया है इन पुष्कर वाद्यों की जिनमें मृदंग प्रमुख है, उत्पत्ति बताते हुये महर्षि भरत ने कहा है :

वर्षा ऋतु में अनध्याय के दिन पानी लेने के लिए स्वाति मुनि पुष्कर के किनारे गये, आकाश मेघाच्छादित था तथा वर्षा हो रही थी, तेज हवा के साथ जो पानी की बूंदें कमल के पत्तों पर पड़ रही थीं उनसे एक विशेष प्रकार की अनुरंजक ध्वनि उत्पन्न हो रही थी, जिसे उन्होंने अचानक

सुना तथा उन्हें बड़ा आश्चर्यजनक लगा, इसलिए उन्होंने इसे फिर ध्यान से सुना । यह देखकर कि उस ध्वनि का नाद ऊँचा-नीचा तथा मध्य स्थानीय होने के साथ-साथ गंभीर मृदु तथा कर्णप्रिय भी था । जब वे अपनी पर्णकुटी में लौटे तो उन्होंने उसी ढंग का ध्वनियों से युक्त विश्वकर्मा की सहायता से मृदंग, पणव और दर्दुर जैसे पुष्कर वाद्यों की रचना की । उसके बाद उन्होंने इन वाद्यों के दोनों मुखों को चमड़े से कस दिये तथा उन्हें डोरियों से सका ।

ऐतिहासिक दृष्टि से मृदंग, मुरज आदि का उल्लेख वैदिक साहित्य (वाङ्गमय) में प्राप्त नहीं होता फिर भी जिस प्रकार मृदंग आदि का नाम बालमीकि रामायण में प्रयुक्त होता है, उससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रामायण काल से अनेक वर्षों पूर्व इन वाद्यों का प्रचार हो चुका था । रामायण के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि उस समय अवनद्ध वाद्यों में मृदंग का सर्वाधिक प्रचार था । रामायण में मृदंग तथा मुरज का अलग-अलग वर्णन मिलता है[1] जिससे यह समझना चाहिए कि इन वाद्यों के रूप में कुछ अन्तर अवश्य था । महाभारत में भी मृदंग तथा मुरज के अलग-अलग नाम उपलब्ध होते हैं । कालीदास के साहित्य में मर्दल, मुरज तथा मृदंग इन तीनों का उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है । महर्षि भरत के समय तक मृदंग तथा मुरज का उल्लेख तो प्राप्त होता है, परन्तु मर्दल का कहीं उल्लेख नहीं मिला । सारंगदेव ने मुरज तथा मार्दल को मृदंग का ही पर्याय माना है[2] । अभिनव गुप्ताचार्य ने मुरज को मृदंग का पर्याय बताया है । इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मृदंग मुरज का ही पर्याय है । बालमीकि रामायण में मुरजेषु मृदंगेषु का एक साथ प्रयोग एक ही स्थान पर हुआ है, अन्य स्थानों पर केवल मृदंग शब्द का ही व्यवहार किया गया है । मुरज, मृदंग के पर्याय होने के कारण ही महर्षि भरत ने कहीं-कहीं मृदंग शब्द के लिए मुरज शब्द का प्रयोग किया है । सारंगदेव ने मार्दल को भी मृदंग का पर्याय माना है । महर्षि भरत ने मार्दल का कहीं उल्लेख नहीं किया । कालीदास के साहित्य में मार्दल का उल्लेख कहीं-कहीं प्राप्त होता है । मध्य युग में भाषा का संबंध

---

1. सुन्दर काण्ड, सर्ग-11
2. संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय:

संस्कृत से पुनः कुछ आवेश के कारण मर्दल के स्थान पर मृदंग शब्द की पुनर्प्रतिष्ठा हो गई।

नाम परिवर्तन से मृदंग का वह रूप जो प्राचीन काल से महर्षि भरत के समय तक रहा, कब लुप्त हो गया, इसका कोई प्रमाण नहीं है। जिस वाद्य को आज हम उत्तर भारतीय मृदंग अथवा पखावज मानते हैं, दक्षिण भारतीयजिसे अपना मृदंगम् कहते हैं, वह भरत कालीन मृदंग का केवल एक भाग है। मृदंग में यह परिवर्तन लगभग सातवीं शताब्दी से होने लगा था जो सारंगदेव के समय तक पूरी तरह बदल गया। यद्यपि सारंगदेव ने मर्दल को मृदंग का पर्याय बताया है किन्तु यह भी कह दिया है कि उस समय भरत कालीन मृदंग का प्रचार नहीं है, इसलिए मैं मर्दल का ही वर्णन करता हूँ[1]। सारंगदेव ने कहा है कि मृदंग को पुष्करत्रय कहते हैं[2]। भरत रचित नाट्यशास्त्र में ऐसा कई स्थान हैं जहाँ मृदंग को पुष्करत्रय कहकर पुकारा गया है[3]। अतः यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि जैसे आज तबले के दो भाग हैं, ठीक उसी प्रकार भरत के समय में मृदंग के तीन भाग थे। कुछ विद्वान महर्षि भरत द्वारा बताये हुये मृदंग के रूप को देखकर यह अनुमान लगातेहैं कि उस समय कोई त्रिमुखी ताल वाद्य प्रचार में अवश्य था। कुछ विद्वान यह कहते हैं कि महर्षि भरत पणव, दर्दुर आदि का वर्णन तो किये हैं, परन्तु मृदंग का कोई नाप-जोख नहीं दिया है। जिन महर्षि भरत ने अवनद्ध वाद्यों में मृदंग को सर्वश्रेष्ठ माना है, उसके वादन की विविध रूप से वर्णन भी किया है, यथा- मार्जना विधि, हस्त संचालन आदि। उसके काठ, चर्म आदि के गुण-दोषों पर विचार भी किया है। उसके आकार-प्रकार का भी वर्णन किया है। ऐसा विश्वास नहीं होता, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर यह मालूम होता है कि भरत ने मृदंग के आकार-प्रकार का विधिवत् वर्णन किया है। वास्तव में महर्षि भरत ने मृदंग का जिस प्रकार वर्णन किया है, वह सामान्य रूप से भ्रामक प्रतीत होता है क्योंकि एक ओर तो उन्होंने मृदंग के तीन रूप बताये हैं- हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छा[4] जिसमें यह तीनों मृदंग के ही रूप भेद प्रतीत होते हैं किन्तु उसके बाद ही उन्होंने यह

---

1. संगीत रत्नाकर- 6/1028
2. संगीत रत्नाकर 6/1027
3. भरत नाट्यशास्त्र- अध्याय-34
4. संगीत रत्नाकर 6/1027

भी कहा है कि आंकिक का हरीतकी के समान, ऊर्ध्वक का यवा के समान तथा आलिंग्य का गोपुच्छा के समान रूप होता है ।

उक्त वर्णन से ऐसा भ्रम होता है कि मृदंग, आंकिक, ऊर्ध्वक, आलिंग्य आदि भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, किन्तु यह सत्यनहींहै । जिस प्रकार आज तबला शब्द का व्यवहार होता है अर्थात् तबला कहने से उसके दायें तथा बायें इन दोनों भागों का बोध होता है और तबला कहने पर केवल दायां तबला का अर्थ भी समझा जाता है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन काल में उक्त तीनों रूपों को मिलाकर ही मृदंग समझा जाता था। तब उन्हें आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य कहकर पुकारते थे। आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य मृदंग के ही हिस्से थे, इस बात का प्रमाण चौंतीसवें अध्याय में महर्षि भरत के अनेक वचन प्राप्त होते हैं । श्री मनमोहन घोष ने नाट्य शास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ-162 में नोट ।।।।3 में आलिंग्य के नाम का विश्लेषण करते हुये लिखा है :

"It seems tobea drum held against the breast of the player who embraced it as it were. Hence came this name. (Alingya an instrument to be embraced)"

उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्री घोष ने आलिंग्य को वादक के शरीर से आलिंगित करने वाला वाद्य माना है, किन्तु वे भी यह नहीं समझ पाये हैं कि आलिंग्य कोई स्वतंत्र वाद्य नहीं बल्कि यह भी मृदंग का ही एक भाग मात्र है ।

भरत कालीन मृदंग का उपर्युक्त रूप निर्धारित करने के साथ-साथ यहां यह भी बताया गया है कि उक्त मृदंग के यद्यपि तीन हिस्से होते थे, किन्तु उसका वह भाग जो लेटा रहता था, उन खड़े रहने वाले भागों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था । उस काल के कुछ ऐसे बोलों का वर्णन भी भरत नाट्यशास्त्र में आया है जिनका वादन केवल आंकिक के वाम तथा दक्षिण मुखों द्वारा किया जाता था । जिनका स्वयं महर्षि भरत का आंकिक के साथ मृदंग शब्द का कई बार जोड़ देना[1] इस बात की ओर संकेत करता है कि मृदंग का आंकिक भाग ही प्रमुख था । मृदंग का रूप वर्णन करते हुये भी पहले आंकिक का ही वर्णन किया है । नाट्यशास्त्र के अनुसार आंकिक

---

1. अ. ऊर्ध्वगामी.

का हरीतकी रूप था जिसकी लम्बाई साढ़े तीन बालिस्त तथा मुख 12 अंगुल के व्यास का होता था।[1] ऊर्ध्वक चार बालिस्त लम्बा तथा 14 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[2] ।

मृदंग का आलिंग्य भाग 3 बालिस्त लम्बा तथा 8 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[3] ।

---

1. भरत नाट्य शास्त्र 34/45 पृ0 417
2. भरत नाट्य शास्त्र, अ. 34/257
3. भरत नाट्य शास्त्र 34/258

अवनद्ध वाद्यों का चमड़ा

मृदंग में लगने वाला चमड़ा न तो पुराना हो, न ही फटा-फटा, न कीट के द्वारा क्षत किया हुआ हो, न मोटा हो तथा आग अथवा धूम्र से खराब न हुआ हो। चमड़े का रंग नवीन पल्लव के समान अथवा शिव तथा कुन्द के समान श्वेत एवं चमकदार हो एवं समस्तदोषों से रहित हो। ऐसे चमड़े को रोम रहित कर, पानी में भिगोकर रखा जाय तथा दूसरे दिन उसे निकाला जाय, पहले उसका खूब मर्दन किया जाय, बाद में मृदंग पर चढ़ाया जाय। इस प्रकार से निर्मित मृदंग आदि वाद्यों की वादन क्रिया का नाट्य शास्त्र में विशद विधान उपलब्ध होता है।

मृदंग का ढांचा

मृदंग का ढांचा खैर या रक्त चन्दन का काठ लेकर कुशल कारीगर से बनवाया जाता है, इसका मध्य साढ़े इक्कीस अंगुल मोटा और लम्बाई 12 मुठ होनी चाहिए। दाहिना भाग 14 अंगुल मोटा और बांया 13 अंगुल के करीब, फिर दो लोहे अथवा काठ के कड़े, दोनों मुखों पर चढ़ाइये। इन कड़ों में एक अंगुल के अन्तर से 20-20 छेद होता है, दोनों मुख चाम से मढ़कर उस पात्र को कड़े से लपेट दिया जाता है। कड़े के छेदों में चाम की डोरी डालकर उन्हें खींचकर चाम को कसा जाता है। दाहिनी मुख के चमड़े में छः अंगुल प्रमाण से गोलाकार लौह चूर्ण की स्याही जमाया जाता है। बायें मुख के चमड़े में, जब बजाना हो तब, गेहूं की चून की 6 अंगुल पूरी पानी से सानकर लगाया जाता है। इस मृदंग के तीन भेद हैं :

(1) मृदंग

(2) मुरज

(3) मार्दल

इन तीनों को ही मृदंग कहते हैं। इस मृदंग के मध्य में ब्रह्मा का वास है। बायें मुख में विष्णु का दाहिने मुख में शंकर भगवान का और मृदंग के काठ, कड़ा आदि में 33 कोटि देवता वास करते हैं। इसी से इसका नाम सर्वमंगल भी है।

मृदंग का पाटाक्षर

दाहिने मुख में :

1- त, 2- थि, 3- थी, 4- ठं, 5- ने, 6- हँ, 7- दे.
यह सात अक्षर होते हैं ।

बाँये मुख में : 1- ठ, 2- र, 3- त्या, 4- द, 5- थ, 6- मा.
यह छः अक्षर होते हैं, पटह के मकार आदि लेकर सोलह पाटाक्षर होते हैं ।

अकारादि स्वरों के प्रति उदाहरण

1- झक, 2-तक, 3- थिक, 4- नक, 5- कुड, 6- ड 7- किट दे, 8- थेय, 9- किरन्ट, 10- क्ल, 11- घल, 12- घल, 12- थींहं, 13- किट, 14- किड़ि 15- गिड़, 16- धिमि, 17- झुं इत्यादि ।

अकारादि स्वरों के उदाहरण

1- जग, 2- ह्रग, 3- टंकु, 4- थक 5- ड, 6- तत, 7- थां, 8- दंदां, 9- थलां, 10- नग, 11- ननगि, 12- किट, 13- किड, 14- किण, 15- गिड़ि, 16- टिंटिं, 17- दिगि, 18- थिधि, 19- टिट, 20- कुटु, 21- कुन्दरिक, 22- तुतु, 23- क, 24- झे, 25- ये, 26- थों, 27- थों, थे, 28- ये, 29- येय ।

बोलों के निकालने की रीति

त- अंगूठा, कनिष्ठा तथा अनामिका दबाकर बजाने से "त" निकलेगा।

थि- वाममुख में हथेली से तथा दक्षिण मुख में ठेढ़ी उँगली से ताड़न करने पर "थि" निकलेगा ।

थी- अंगूठा छोड़कर दाहिने मुख पर उँगलियों से छूट के साथ ताड़न करने पर "थी" निकलेगा ।

न- मृदंग के मुख के किनारे अनामिका के अग्र भाग से ताड़न करने पर "न" निकलेगा ।

कि- अनामिका तथा मध्यमा को मिलाकर पताका रीति से प्रहार करने पर "कि" उत्पन्न होगा ।

ट- अनामिका तथा मध्यमा द्वारा शिखर रीति से बजाने पर "ट" होगा।

---

1. आधुनिक समय तर्जनी द्वारा स्याही के मध्य भाग पर ताड़न करने से "ट" शब्द निकलता माना जाता है ।

तबला

सितार की भाँति तबले की व्युत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्धित अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं । प्रधान ग्रन्थों में कहीं भी तबला नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता । यहाँ तक कि संगीत पारिजात तथा वाद्य प्रकाश जैसे उत्तर-मध्य कालीन ग्रन्थों में भी तबले का उल्लेख नहीं हुआ । तबले के संबंध में इस अन्धकारमय स्थिति का लाभ उठाकर मुसलमान वादकों ने तबले का जन्मदाता अमीर खुसरो को बना दिया है । आधुनिक छोटी-छोटी पुस्तकों में तबले की उत्पत्ति संदेहात्मक बताते हुये अमीर खुसरो के द्वारा इसके निर्माण की बात भी की गई है । कुछ विद्वान् इस बात पर विश्वास नहीं करते कि तबला अमीर खुसरो के द्वारा ही ईजाद किया गया है ।

तबला शब्द की व्युत्पत्ति फारसी के तब्ल शब्द से मानी जाती है, जिसका सामान्य अर्थ है- वह वाद्य जिसका मुख ऊपर की ओर हो तथा जिसका ऊपरी भाग सपाट हो । विद्वानों का मत है कि इसी तब्ल शब्द से अंग्रेजी का शब्द टेबुल बना है। अरब देशों के दुन्दुभि के समान आकृति वाले वाद्यों को तब्ल कहा जाता था । तब्ल एक प्रकार का नगाड़ा था जो युद्धरत सैनिकों में जोश उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था । यह वाद्य आगे बढ़ती हुई फौज के पीछे-पीछे चलता था । इसी भाव को व्यक्त करते हुये जायसी ने पद्मावत में कहा है :

हौं पंडितन्ह केर पछलगा ।
कहु कहिचला तब्ल दईङगा ।।

यद्यपि भारत में दुन्दुभि, भेरी, निसान आदि नगाड़ा जाति के वाद्य मौजूद थे फिर भी मुसलमानों के द्वारा विजित हो जाने के कारण इन्हीं वाद्यों अथवा इन्हीं वाद्यों से मिलते-जुलते होने के कारण इनके द्वारा प्रयुक्त नामों का जनसाधारण में ज्ञान का अभाव इन नामों के प्रचार में और सहायक हुआ ।

तबला की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानों ने भरत कालीन दर्दुर वाद्यों से मानी है। दर्दुर वाद्य चमड़े का मढ़ा हुआ घट था जिसका मुख ऊपर की ओर था किन्तु वह दो भागों में न था । वास्तव में तबले का विकास प्राचीन मृदंग से ही हुआ । मृदंग के वर्णन में यह बताया गया है कि प्राचीन मृदंग तीन भागों में होती थी । एक भाग गोद में रहता था तथा दूसरे दोनों भाग सामने ऊर्ध्वमुखी रखे जाते थे । यह भी बताया गया है कि मृदंग के तीन भागों में छठीं-सातवीं

शताब्दी में परिवर्तन होने लगा तथा उसके बाद कुछ दिनों तक एक गोद का भाग तथा खड़ा वाला भाग प्रयुक्त होता रहा और अन्त में मृदंग का यह एक ऊर्ध्वमुखी भाग भी हट गया और केवल उसका आंकिक भाग ही मृदंग अथवा मार्दल के नाम से प्रचलित रह गया । इसी काल में मृदंग के दोनों ऊर्ध्वमुखी भागों का अथवा आंकिक भाग का ही दो ऊर्ध्वमुखी के रूप में अलग वादन होता रहा किन्तु शास्त्र सम्मत न होने के कारण तथा उनका विशेष नाम न होने के कारण उसका उल्लेख शास्त्र ग्रन्थों में नहीं किया गया । मृदंग के उक्त दोनों भागों की यह संदिग्ध अवस्था लगभग 17वीं शताब्दी तक रही । उस काल तक इसमें दो सामान्य परिवर्तन हो चुके थे । एक तो इनकी लम्बाई कम कर दी गयी तथा दूसरे मृदंग के दक्षिणी भाग की भांति इसके भी दक्षिण भाग में मिट्टी के लेप के स्थान पर लौह चूर्ण से बने मसाले का प्रयोग होने लगा था । वाम पार्श्व में इस समय भी आटा की पूलिका ही लगाई जाती थी । इस वाद्य का प्रचार उन निम्न स्तरीय लोगों में था जो इसे कमर में बांधकर बेड़िनों । निम्न स्तर की नर्तकियों।के नाच के साथ बजाते थे । घराने दार संगीतज्ञों ने इसे नहीं अपनाया था । जनसाधारण के लिएयह सरल एवं भारतीय परम्परायुक्त होने के कारण भजन, कीर्तन आदि में भी प्रयुक्त होने लगा था । फिर भी इसके नाम का स्थिरीकरण नहीं हुआ था । कुछ लोगों की यह भी धारणा की कि प्राचीन पणव को जिसे मध्य काल में आवज या हुडुक कहते थे, बीच से अलग कर यह वाद्य बना है । संगीत सार जो आज वाद्यों के वर्णन में स्वतंत्र दिखाई पड़ता है, तबला वादकों के इतिहास पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि इसके प्रथम प्रसिद्ध उस्ताद सिद्धार खां थे जो दतिया के प्रसिद्ध मृदंग वादक कुदऊ सिंह के समकालीन थे । यह वह जमाना था जब भारतीय संगीत की महफिलों में तीन वाद्य पखावज, ढोलक तथा तबला एक-दूसरे से टक्कर ले रहे थे । मृदंग का स्थान इनमें सर्वश्रेष्ठ था, किन्तु दूसरा स्थान तबले को मिले अथवा ढोलक को, यह निर्णय नहीं हो पा रहा था । मृदंग और ढोलक, मृदंग और तबला, तबला और ढोलक वादकों में अपनी विद्वता के प्रदर्शन तथा वाद्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से नवाबों तथा शौकीन राजाओं की महफिलों में प्रतियोगिताएं होती रहती थीं । इन प्रतियोगिताओं में जो विजयी होता था उसे दरबार की ओर से अपार धनराशि तथा जागीरें प्राप्त होती थीं । तबला मृदंग की भांति खुले हाथों से बजाया जाता था । तबला पर बन्द बोलों का वादन सुधार खां द्वारा शुरुआत की गई।

बन्द बोलों के कारणही प्रारंभिक दिनों में तबले का अपना अलग व्यक्तित्व बना । आगे चलकर इसी बंद बोलों के बाज को दिल्ली बाज के नाम से पुकारा जाने लगा । इन्हीं दिनों गायन शैलियों में ख्याल का प्रचार भी बढ़ने लगा साथ ही साथ तंत्र वादन में सितार का भी प्रचार बढ़ा । तबले का प्रारंभिक विकास नर्तन क्रियाओं के कारण हुआ था । सर सुरेन्द्र मोहन टैगोर द्वारा पाश्चात्य विद्वानों के लेखों का एक संग्रह 1875 ई0 में तथा दूसरा संग्रह 1882 ई0 में हिन्दू म्यूजिक के नाम से प्रकाशित हुआ । इनमें उस युग का उन महफिलों का अधिक वर्णन था जिनको लेखक ने आँखों से देखा था । इन महफिलों में नर्तकी खड़ी होकर गाती अथवा नाचती थी । उसकी संगति के लिए सारंगी वादक, तबला वादक तथा मंजीरा वादक भी खड़े होकर वादन करते थे । इन नर्तकियों का समाज में कोई स्थान नहीं था । इनके साथ रहने के कारण तबला वादक भी अत्यन्त हेय समझे जाते थे । तबला वादकों की इस दयनीय दशा में परिवर्तन उस समय से प्रारम्भ हुआ जब से ख्याल तथा सितार का प्रचार बढ़ने लगा । के0एन0 विलर्ड ने अपनी पुस्तक "म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान" में तबले का वर्णन करते हुये लिखा है कि तबला-मृदंग तथा ढोलक के बाद का वाद्य है । यह मृदंग की भाँति ही बजाया जाता है किन्तु इसे मृदंग से हल्के दर्जे का माना जाता है ।

तबले की उत्पत्ति चाहे जब हुई हो परन्तु उसका वर्तमान रूप सुधार खाँ के युग का ही है । उसमें प्रयुक्त होने वाले अधिकांश आधुनिक बोल सुधार खाँ के बाद के ही हैं । वास्तव में तबला साहित्य को विस्तार प्रदान करने के लिए तबला वादकों ने कई प्रकार के ताल वाद्यों का नटवरी नृत्य में प्रयुक्त होने वाले बोलों को आत्मसात कर लिया जैसे- ढोलक, नक्कारे आदि से लग्गी तथा किनार के बोल । मृदंग से परन , रेला आदि नटवरी नृत्य से मुखड़ा, परन गति आदि । इस प्रकार वर्तमान समय में तबला साहित्य विश्व के किसी भी ताल वाद्य साहित्य की अपेक्षा विशाल तथा पेचीदा हो गया है । तबले में पंजा से कम तथा उंगलियों से अधिक काम लिया जाता है जिसके कारण उसमें बोलों को जितना द्रुत में बजाया जा सकता है, उतना किसी अन्य ताल वाद्य में संभव नहीं है । आजकल भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में श्रेष्ठ ताल वाद्य माना जाता है ।

प्राचीन एवं अर्वाचीन अवनद्ध वाद्य

प्राचीन अवनद्ध वाद्य

जो वाद्य अन्दर से पोले तथा चमड़े से मढ़े होते हैं तथा हाथ या किसी प्रकार की चीज से प्रहार करने से आवाज, स्वर अथवा बोल उत्पन्न करते हैं उसे अवनद्ध वाद्य कहते हैं । इस प्रकार के वाद्यों को अवनद्ध और वितत वाद्य भी कहा जाता है । महर्षि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अवनद्धों के अन्तर्गत मुख्य रूप से पुष्कर वाद्यों का वर्णन किया है । भरत के अनुसार अवनद्ध वाद्यों की संख्या 100 है ।

मानसोल्लास में मृदंग, पटह, हुडुक, हुडुक्का, मर्दल, ढक्का, सेल्लुका, कुडुवा, डमरु, करटा, डक्कली, घटम, भेरी, दुन्दुभी, निःसाण, तम्बकी, घड़स तथा त्रिवली को अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत माना गया है ।

संगीत रत्नाकर में मर्दल, करटा, ढवस, घट, पटह, घड़स, ढक्का, कुडुक्का, कुडुवा, रुंज, डमरु, डक्का, मण्डिडक्का, डक्कुली, सेल्लुका, झल्लरी, भाण, त्रिवली, दुन्दुभी, भेरी, निःसाण, तुम्बकी नामक वाद्यों की गणना अवनद्ध वाद्यों में माना है । "संगीत पारिजात" में अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, दुन्दुभि, भेरी, रुंज, डमरु, पटह, एकवाद्य और हुडुक्का को मुख्य माना गया है ।

इस प्रकार संगीत ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के नामों से अनेक प्रकार के अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख किया गया है । अहोबल ने लिखा है कि समय के अनुसार अनेक वाद्य हैं । उनमें से कुछ मुख्य रूप से हैं :- मृदंग, पटह, मर्दल, हुडुक, हुडुक्का, ढक्का, डमरु, डक्कली, घटम, भेरी, दुन्दुभी, तम्बकी, घड़स और त्रिवली । इनमें से कुछ वाद्यों में दोनों तरफ चमड़ा मढ़ा होता है और कुछ वाद्यों में केवल एक ही तरफ चमड़ा मढ़ा होता है । प्राचीन तथा मध्य कालीन अवनद्ध वाद्यों के रूप तथा उनकी वादन विधि जो विभिन्न संगीत ग्रन्थों में मिलती है, वह प्रायः इस प्रकार है :-

आयुज अथवा हुडुक

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने आयुज के सम्बन्ध में कहा है-आयुज शब्द आतोद्य से बना है । अमरकोष में वाद्य, वादित्र, आतोद्य को पर्याय माना है । ।अमरकोष 1-6-4-5। नाट्य शास्त्र में भी आतोद्य शब्द से सब वाद्यों का ग्रहण किया है।।33/1-20।संगीत रत्नाकर। में लिखा है कि वाद्यों के

स्थानीय नाम जानने वाले कुछ लोग आवाज ।जो आउज का ही रूप है। को हुडुक्का का पर्याय मानते हैं ।

आइने-अकबरी को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय भी आवज हुडुक्का का ही पर्याय माना जाता था । अपट छाप में हुडुक का कहीं उल्लेख नहीं है, लगता है उस समय हुडुक की अपेक्षा आवज का ही अधिक प्रचार रहा होगा । जिस प्रकार आजकल मृदंग के लिए पखावज का प्रयोग होता है ।

संगीत दामोदर में अलाम्बुज का वर्णन किया है और लिखा है :

"अलाबजं वाद्यं मोक्षावाद्यं

वामर्मुखं त्रयोदश अंगुलम्

दक्षिणमुखम् द्वादशांगुलम्"

"आइने अकबरी" में आवज का वर्णन करते हुये कहा गया है कि आवज देखने से लगता है मानों दो नगाड़े पीछे से जोड़ दिये गये हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दो नगाड़े को जोड़कर उनका मुख चमड़े से ढक कर तथा रस्सी से कस देने से जो रूप होगा वही रूप हुडुक्का से बनता है।

संगीत रत्नाकर में लिखा है कि हुडुक्का की लम्बाई एक हाथ तथा गोलाई अठारह अंगुल होती है । उसके खोल की मोटाई एक अंगुल तथा मुख का व्यास सात अंगुल होता है । उसमें एक ही रस्सी होती है और मुख का मंडल दस अंगुल का होता है उसमें दोनों उठे हुये मुखों की मोटाई आधा अंगुल का होता है। यह मोटाई उस चमड़े की होती है, जो खोल के मुख को ढकता है[1]।

"संगीत पारिजात ।2-116-119। के अनुसार यह दो मुखी वाद्य सोलह अंगुल लम्बा तथा बीच में पतला होता है । इसके मुख का व्यास 8-8 अंगुल होता है जो चमड़े की डोरियों से कसे रहते हैं । इनमें छेद होते हैं तथा [illegible] दों कुंडे लगे रहते हैं, एक अलग डोरी लगी होती है जिसको पकड़कर यह वाद्य बजाया जाता है ।

भरत नाट्यशास्त्र में इस वाद्य का नाम पणव दिया गया है तथा इसे अवनद्ध वाद्य में प्रमुख स्थान प्राप्त था । हुडुक्का और पणव का महत्व सारंगदेव से पूर्व भी बहुत था । सारंगदेव के समय तक तथा उसके पश्चात् मृदंग तथा ढोलक ।पटह। का महत्व बहुत अधिक बढ़ने लगा तथा हुडुक्का का प्रयोग कम हो गया।

---

1. यहाँ मुख का अभिप्राय गजरा, कड़ा अथवा घेरा से है। इसी गजरे में पुड़ी की खाल को लपेटा जाता है तथा इसी गजरे में छेद करके सुतली डालकर बाँधने से पुड़ी के चमड़े में कसाव आ जाता है ।

इसी काल में इसका आवज नाम भी प्रचलित हो गया जैसा कि "संगीतोपनिषद्सारोद्धार" से पता चलता है । आवज का थोड़ा प्रचलन उस समय तक था जब तक कि तबला का विकास नहीं हुआ । तबले का विकास होते ही आवज तथा पटह दोनों महत्वपूर्ण वाद्य लोक संगीत के वाद्य बनकर रह गये । उत्तर भारत में केवल कहार जाति के लोग ही हुडुक्का का प्रयोग करते देखे जाते हैं ।

उपंग

मध्यकाल से ही उपंग नामक वाद्य का काफी प्रचार होने का प्रमाण मिलते हैं[1] । कृष्णभक्त कवियों ने तो स्थान स्थान पर इसका उल्लेख किया है, पर प्रयत्न करने के उपरान्त अभी तक संगीत के किसी संस्कृत ग्रन्थ में इसका कोई उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ । आज भी समस्त भारत में उपंग का प्रयोग तरह-तरह से देखा जाता है ।

इसका स्वरूप छोटी ढोलक के काठ को बीच से काटकर दो टुकड़े में करके फिर उसके खुले हुये दोनों मुखों में से बड़े वाले मुख को खंजरी की तरह चमड़े से मढ़ दिया जाता है तथा इस चमड़े के बीच में तार अथवा तांत प्रवेश होने योग्य एक छेद होता है, उसके भीतर तांत अथवा तार को डालकर बाहर निकाल दिया जाता है। बाहर निकले हुये तार में एक बटन फंसा दिया जाता है जिससे तार को खींचने पर ही वह उससे अलग नहीं होता है । बटन और मढ़ी हुई खाल के मध्य एक चांदी के रुपये के आकार की मोटी खाल और लगा दिया जाता है ताकि तार खींचने से बटन पर जोर पड़ने से मढ़ा हुआ चमड़ा कट नहीं पाता है । इस प्रकार का खोखले काठ का एक और ढांचा तैयार करके उसे भी खाले में मढ़ दिया जाता है । यह ढांचा इतना छोटा होता है कि हाथ की मुट्ठी में वह आसानी से और मजबूती से पकड़ा जा सके । अब तार का दूसरा छोर उस छोटे से ढांचे के खाले में इसी प्रकार फंसाया जाता है जैसे कि पहले वाले ढांचे में फंसाया गया है । वाद्य को बजाते समय बड़े ढांचे को बाईं कांख में दबाया जाता है और छोटे ढांचे को दाईं हाथ की मुट्ठी से पकड़ा जाता है । दाहिने हाथ में सरोद का जवा अथवा मिजराब पहन कर तार पर प्रहार किया जाता है । इस वाद्य

1. चंग उपंग नागसुर तूरा
   महु बरि बाज वांसि भल पूरा । - जायसी पदमावत, 527-5.
   गन गगन गगन बाजे उपंग-कृष्णदास, मुरली मुरज श्याम उपंग-सूरदास ।

इस वाद्यमें दादरा और कहरवा के विभिन्न बोल निकाले जाते हैं । इन बोलों को निकालते समय मुट्ठी से पकड़े हुये दांचे को ढीला तथा ढीला किया जाता है । इस प्रकार स्वर ऊंचा तथा नीचा होता है । इस वाद्य में करीब हुडुक का जैसा आवाज निकलता है लेकिन स्वर की ऊंचाई-निचाई हुडुक से अधिक उपंग में होती है । इस आधुनिक युग में उदयशंकर जैसे नृत्याचार्य ने उपंग का प्रयोग करते रहे । कुछ फिल्मों में भी इस वाद्य का प्रयोग पाया जाता है।

इस प्रकार उपंग वाद्य नृत्यादि में किसी भाव विशेष के लिए प्रयुक्त किया जाताहै । उपंग को बनाने का सिद्धान्त तो एक ही है लेकिन स्थान विशेष के कारण सामग्री में अन्तर होता है फिर भी मुख्य दांचे की रचना, खाल से मढ़ना, तार या तांत को लगाना आदि बातें सभी जगह एक सीहोती हैं । उपंग को बंगाल में बंगम या आनन्दलहरी कहा जाता है । राजस्थान में इस वाद्य को उपंग कहते हैं ।

डा0अरुण कुमार सेन ने इसे "नस-तरंग" माना है । नस-तरंग उपंग से भिन्न वाद्य है । नस तरंग से गुनगुनाहट से स्वर निकलते हैं लेकिन उपंग में तार को छेड़ने से सन्नाटे का स्वर निकलता है । कृष्णदास ने एक पद में लिखा है :- " गन गगन मगन बाजे उपंग"

म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान में 119 पृष्ठ पर श्रुति उपंग नामक एक वाद्य का उल्लेख किया गया है । इसको देखने से प्रतीत होता है कि या तो यह उपंग है या उसी जाति का कोई अन्य वाद्य है ।

करटा.

संगीत शास्त्रों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि यह मध्यकालीन ताल वाद्य है । इसका उल्लेख संगीत रत्नाकर, संगीत मकरन्द, संगीत समयसार आदि ग्रन्थों से उपलब्ध हुआ है । कई विद्वानों के मतानुसार करटा ढोल का ही एक प्रकार है । यह विजय सार की लकड़ी से बनाया जाता है जो चौबीस या इक्कीस अंगुल चौड़ा होता है । इसकी परिधि 80 अंगुल होती है, दोनों मुखों पर चढ़ाव की रीति से 3-3 तांत के तार बांधे जाते हैं तथा दोनों मुखों पर काठ या लोहे के कड़े लगाकर उन्हें कोमल चमड़े से लपेट दिया जाता है । उन कड़ों में 14-14 छेद करके फिर करटा का दोनों मुख ढोल की भांति मढ़ दिये जाते हैं । उन चौदह छेदों में बीच-बीच के छेदों को छोड़कर उसे कसने के

लिए चमड़े की बद्दी लगाई जाती है । उसके खाली छिद्रों में फिर पतले चमड़े की बद्दी पहले की ही भाँति लगाई जाती है जिससे बद्दियाँ चढ़ाव-उतार युक्त हो जाती हैं । इसके दोनों कड़ों के पास से एक तीन अंगुल चौड़ी चमड़े की पट्टी बाँधी जाती है । इस ताल वाद्य को बेंत की डण्डी से बजाया जाता है ।

करचक्र

चक्रवाद्य अथवा करचक्र का उल्लेख संगीतसार में प्राप्त होता है । यह वाद्य दस अंगुल मोटा, चार अंगुल लम्बा, एक गोल चक्राकार आकार जिसका बीच आर-पार से पोला होता है । एक अंगुल का दल होता है । एक मुख को चमड़े से मढ़ा जाता है । बजाते समय चमड़े को पानी से भिगोकर बाँये हाथ से उसका किनारा दबाकर दाहिने हाथ से बजाया जाता है । इस वाद्य में "डक्क" इसका पाठाक्षर होता है । संगीतसार भाग-2, पृष्ठ संख्या-74 में इस वाद्य के बारे में लिखा गया है । इसवाद्य को "दायरा" अथवा खंजरी कहा गया है ।

कुडुक्का

कुडुक्का का उल्लेख "संगीत सुधा" "वाद्य प्रकाश" आदि ग्रन्थों में मिलता है । संगीत रत्नाकर में इस वाद्य के सम्बन्ध में बहुत संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है । यह हुडुक्का का ही एक रूप है । इससे अधिक इस वाद्यके सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है ।

कुडुवा

इस वाद्य का उल्लेख "मानसोल्लास" "संगीत रत्नाकर" "संगीतसुधा" "संगीतसार" आदि में पाया जाता है। इन ग्रन्थों के अनुसार इस वाद्य का स्वरूप और वादन विधि इस प्रकार है-

विजयसार का काठ इक्कीस अंगुल लम्बा हो जिसमें सात-सात अंगुल चौड़े दो मुख हों, यह काठ ऊँचा-नीचा नहीं होता । लकड़ी इसकी बराबर होती है । इसके दोनों मुख पर केवल दो कड़े होते हैं जो चमड़े से मढ़े होते हैं । दोनों कड़ों में सात-सात छेद होते हैं जिनमें बद्दी डालकर उन्हें कसकर बाँधा जाता है । इन दोनों मुखों से डंडे से बजाया जाता है ।

उल्लेख संगीत रत्नाकर, संगीत सार, मानसोल्लास आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है किन्तु इसका विशेष महत्व कभी नहीं रहा और इसीलिए अब इसका प्रयोग बिलकुल समाप्त हो गया है ।

चंग

उत्तर प्रदेश में लोक गीत के स्तर का ख्याल गाने वालों का यह प्रसिद्ध वाद्य गोलाकार पतले चमड़े से मढ़ा हुआ होता है । इसका व्यास 18 से 22 अंगुल का होता है । घेरा चार अंगुल चौड़ी लकड़ी से बनाया जाता है जिसमें एक ओर खाल मढ़ी होती है । खंजरी से इसका घेरा दुगुने से तिगुना बड़ा होता है । फलतः इसमें मढ़ी हुई खाल चाहे जितनी भी कसी हो कुछ समय के बाद ढीली पड़ने लगती है । वर्षा के मौसम में अधिक ढीला होता है । इसीलिए आजकल इसका घेरा पीतल का बनने लगा है जिसमें खाल को कसने के लिए चाभियां लगी रहती हैं । इस प्रकार इसमें चमड़ा को कसने के लिए ढंग पाश्चात्य म्यूजिक ड्रम की तरह होता है । इस प्रकार वादक अपनी इच्छानुसार कस सकता है और ढीला कर सकता है ।

पं० अहोबल ने चार अंगुल घेरा तथा दस अंगुल व्यास का एक वाद्य का जिक्र किया है जिसको करङ्क बताया है । यह वाद्य आधुनिक खंजरी तथा चंग वाद्य के मध्य का माना जाता है । चंग को डफली भी कहते हैं । जैसा कि कहावत है- "अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग" इससे यह प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग गायक लोग इसे बजाकर गाने के लिए करते थे ।

डफली और चंग के बजाने की विधि तथा बोलों में कई प्रकार के भेद पाये जाते हैं । कुछ लोग दायें हाथ की तर्जनी में कांसे का एक छल्ला पहन कर घेरे पर मात्रा बताने के लिए प्रहार करते हैं, कुछ लोग हाथ में बांस की खपच्ची लेकर प्रहार करते हैं । कुछ लोग डफ को कंधे में लटकाकर उस पर बांस की डण्डी से प्रहार करके वादन किया करते हैं ।

झल्लरी

महर्षि भरत ने अपने युग में प्रचलित अवनद्ध वाद्यों की संख्या 100 बताई है जिन्हें अंग प्रत्यंग के रूप में वर्गीकृत किया गया है । इन अवनद्ध वाद्यों के विभाजन का आधार स्वर था । जिन अवनद्ध वाद्यों में स्वर मिलाने की कोई व्यवस्था नहीं थी, उन्हें महर्षि भरत ने प्रत्यंग वाद्य माना है । प्रत्यंग

खंजरी

यह वाद्य डफ, दायरा तथा करचक के आकार का होता है किन्तु नाप में उससे छोटा होता है। खंजरी में तीन या चार जोड़ी छोटी झांझें उसकी लकड़ी के घेरे को काटकर लगाई जाती है। ये झांझे उसकी लकड़ी के घेरे को काटकर लगाई जाती है। यह झांझें खंजरी बजाते समय स्वयं हिलती हैं तथा खंजरी के आवाज के साथ मिलकर बहुत सुन्दर ध्वनि प्रस्फुटित होती है। इसका घेरा लकड़ी का बनाया जाता है। जिसमें एक ओर पतली खाल मढ़ी रहती है। यह खाल इतनी खिंची रहती है कि इसको बजाते समय गीले कपड़े से पोंछते रहना पड़ता है। इसमें कहरवा, दादरा के बोल बड़े अच्छे ढंग से बजते हैं। दाहिने हाथों से ढोलक के समान बोल निकाले जाते हैं। बायें हाथ से उसे पकड़ते हैं। पकड़ते समय भी मध्यमा और अनामिका उंगली के पोरों से उसके किनारे की खाल को कभी कभी दबाते हैं जिससे उसकी आवाज में गुमक उत्पन्न होती है। इस सामान्य खंजरी से कुछ आकार में बड़ी खंजरी भी होती है। इसका घेरा पीतल की चादर का बनाया जाता है, झांझें इसमें भी लगी रहती है। इस प्रकार की खंजरी का नृत्य के साथ भी प्रयोग किया जाता है।

दक्षिण भारत में अहोबल के बताये हुये चक्रवाद्य के समान एक वाद्य और होता है जिसका नाम मंजीरा है जो आज भी प्रयोग में लाया जाता है। उत्तर भारत में खंजरी, चंग आदि वाद्य का प्रयोग भजनों, ख्यालों तथा लोक-गीतों के साथ प्रयुक्त होता है।

हुडुक

इसको लोक प्रचलित शब्दावली में डिमडिमा भी कहते हैं। इसमें दो तबले होते हैं जिनमें पेंदे में एक-एक छेद होता है। दाहिने हाथ के तबले को महीन चमड़े की झिल्ली से मढ़ा जाता है। बांये तबले को मोटे चमड़े से कुछ ढीला मढ़ा जाता है। चमड़े किनारे से डोरे बांध कर उसके नीचे पेंदी के छेद से निकालकर बायें हाथ के उंगली से बांया तबला बजाते समय अंगूठे से डोरी को खींचने पर उसमें से "गोंकार" की ध्वनि निकलती है। इसका प्रचलित नाम गुटक है। यह दाहिने हाथ की मध्य उंगली और अंगूठे की रगड़ से इस भा[illegible] में "गोंकार" शब्द निकलता है। इसको दण्डक कहा जाता है। हुडुक वाद्य का

वाद्यों में झल्लरी, पटह, भरी, झंझा, दुन्दुभि, डिंडिम आदि को माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि झल्लरी ही ऐसा वाद्य है जिसे स्वर में नहीं मिलाया जाता था। झल्लरी का जो वर्णन संगीत रत्नाकर में पाया जाता है उसके अनुसार यह वाद्य आधुनिक चंग या खंजरी की तरह है।

संगीत रत्नाकर के काल में झल्लरी के साथ-साथ उसका एक छोटा रूप भी प्रचलित था जिसे "भाण" कहा गया है[1]। इसी भाण तथा झल्लरी को संगीत पारिजात में चक्रवाद्य या करचक्र के नाम से सम्बोधित किया है। आधुनिक युग में इसे खंजरी के नाम से सम्बोधित किया जाता है। दायरा तथा चंग भी इसी तरह के वाद्य हैं। संगीत रत्नाकर का कहना है कि यह चमड़े से मढ़ा अवनद्ध वाद्य है। बायें हाथ के अंगूठे में लटकाकर दाहिने हाथ के अंकुश द्वारा इसको बजाया जाता है। काफी ग्रन्थों में घन वाद्य के रूप में ही माना है।

पं0 अहोबल के मतानुसार यह अठारह अंगुल व्यास की अठारह पल भारी मध्य से दो अंगुल गहरी, डोरी से युक्त होती है तथा ढीले हाथ से बजाईजाती है। यहाँ इसके चमड़े से मढ़े जाने का संकेत नहीं है। अतः यह अवनद्ध वाद्य न होकर घन वाद्य का रूप ले लेती है। व्रज में झल्लरी बारह अंगुल से सोलह अंगुल व्यास व्यास की कांसे की चादर से बनी हुई प्रायः एक सूत मोटी होती है। यह झालरि लकड़ी की डण्डी से बजाई जाती है। इसे घड़ियाल भी कहते हैं। संगीत रत्नाकर आदि में इसे"जय घंटा" कहा गया है। अतएव जिस प्रकार"भेरी" अवनद्ध तथा सुषिर रूप में दो भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, उसी प्रकार "झालर" अवनद्ध तथा घन वाद्य के रूप में है।

टक्का

ढक्का का वर्णन संगीत रत्नाकर, संगीत मकरन्द, संगीत सार, मानसोल्लास आदि में प्राप्त है। सभी ग्रन्थों के वर्णन में यद्यपि संक्षिप्त अन्तर पाया जाता है, परन्तु मूलरूप में यह वाद्य एक सा ही है। उक्त सभी ग्रन्थों के आधार पर उसका रूप इसप्रकार माना जाता है- जिस प्रकार डमरू की रचना होती है उसी प्रकार ढक्का की भी रचना की जाती है। लेकिन ढक्का के दोनों मुख 13-13 अंगुल चौड़े रखे जाते हैं। इनको बाँई बगल में दबाकर दाहिने

1.

हाथ से डण्डी द्वारा बजाया जाता है । कुछ लोग इसे धौंसा कहते हैं । इस वाद्य का पाटाक्षर ढे ढे है[1]।

डमरु या डोरु

श्रीकृष्ण की बंशी, सरस्वती की वीणा तथा शंकर के डमरु को हिन्दू धर्म ग्रन्थों में आध्यात्मिक महत्व प्रदान किया गया है। कहते हैं कि ताडव नृत्य के समय शिवजी डमरु बजाते हैं । नन्दिकेश्वर कारिका के अनुसार भगवान शंकर के डमरु से व्याकरण के चौदह सूत्र उत्पन्न हुये हैं :

नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।।

-नन्दकिशोर कारिका, प्रथम श्लोक, चौखंबा प्रकाशन, काशी।

यह महेश्वर सूत्र समस्त वाङ्‌मय तथा इनमें प्रदर्शित स्वर-वर्ण, संगीत-स्वरों के आधार हैं । स्वर वर्णों का सांगीतिक रूप भी है । अ, इ, उ को क्रमशः षड्ज, रिषभ, गन्धार भी कहा गया है[2] ।

संगीतसार में डमरु का लक्षण इस प्रकार कहा है । एक वितस्ति लम्बा काठ लेके आठ-आठ अंगुल चौड़े दो मुख और बीच में पतला करिए । इनको दोनों मुखों पर चमड़ा मढ़िये । चमड़े को तानने वाले डोरों को बीच में बांध दीजिये । फिर बीच में पकड़कर डोरन को दाबकर दाहिने हाथ से गोलों से बजाइये । दोनों मुखों में, सो डमरु जानिये । इनमें "ड" पाटाक्षर है । कोई आचार्यों के मत से क, र, ख, ट- ये चार वर्ण कहे हैं[3] । उपर्युक्त वर्णन "संगीत रत्नाकर के आधार पर किया गया है जो निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट होता है :

वितस्तिमात्रदैर्घ्यः स्यादष्टांगुलमुखद्वयः

भो भस्य मंडलीयुक्तो मुख बद्धे च चर्मणी ।।

त्रिवली वन्धामध्यो निबद्धः सूत्रदोरकैः ।

मध्ये च गाढ़्‌ानीता बन्धन्यो वादनाय च ।

भवतो प्रान्तसंलग्नसमुन्नदनगोलकैः ।

असौ डमरु को मध्ये धृत्वा हस्तद्वयेन च ।

डवर्णो वादनीयः प्रोक्तो निःशंक सूरिणा ।

अन्यैः कखरटा वर्णा प्रोक्ता डमरुकेऽपि ताः ।।

संगीत रत्नाकर, वाद्याध्यायः।

1.
2.
3.

सूरदास ने अपने पदों में शिव के रूप में बाल कृष्ण का वर्णन करते हुये तथा शंकर के आगमन की सूचना देते हुये डमरू का निम्न रूप में वर्णन किया है :

(1) "सखी री नन्दनंदन देखु ।
धूर धूसरि जटा जूटित हरि किये हर वेणु ।"
"सुन सुनाकर हंसत मोहन नाचत डौरु बजाय ।"

(2) "आगे है अवधूत जोगी कन्हैया दिखावो है डी माय "
हाथ त्रिशूल दूजे कर डमरु सिंगी नाद बजावै ।"

जिस प्रकार संगीत रत्नाकर एवं संगीत सार में विवेचित है, डमरु करीब दो मुट्ठी लम्बा तथा बीच में एकदम पतला होता है । इसके मुख का व्यास लगभग एक मुट्ठी होता है जो पतले चमड़े से ढंका रहता है। इसे रस्सी के मध्य में जहां वाद्य पतला होता है, रस्सी के ऊपर एक कड़े के समान रस्सी कसी रहती है और उसके दोनों छोर लटकते रहते हैं । इन्हीं दोनों सिरों पर एक-एक घुण्डी बनी होती है । इसे सीधे हाथ से मध्य स्थान पर पकड़कर हाथ घुमाया जाता है जिससे घुण्डियां मुखों पर प्रहार कर शब्द उत्पन्न करती है ।

वर्तमान समय में जोगी लोग डमरु के दोनों ओर की घुण्डियों को बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से बेंत के एक टेढ़े टुकड़े से बजाते हैं ।आजकल शिव मंदिरों में बड़े आकार का प्रयोग आरती के समय दोनों हाथों से मध्य स्थान को पकड़कर किया जाता है । इस बड़े आकार के डमरु का रूप प्रायः वर्तमान हुडुक जैसा ही है, वादन क्रिया में अन्तर के कारण इसे डमरु ही कहते हैं । दक्षिण भारत में बड़े डमरु को हुडुक्का कहते हैं । उत्तर भारत में डमरु का विशेष प्रयोग भालू, बन्दर आदि का नाच दिखाने में प्रयोग करते हैं ।

डिमडिमी[1]

डिमडिमी को बच्चों के खेलने वाला डमरु कहना चाहिए ।डिमडिमी डमरु से छोटे आकार में होती है । इसका ढांचा मिट्टी का होता है जिसके दोनों मुखों पर झिल्ली मढ़ी होती है । झिल्ली को किसी डोरे से न कसकर सरेस से चिपका देते हैं । डमरु की भांति इसमें भी बीच में डोरा लपेट कर उसके दोनों छोरों पर छोटी कड़ी गांठें झिल्ली से टकरा कर आवाज पैदा करती है।

1.

कभी-कभी इसमें चमड़े के झिल्ली के स्थान पर बाँस का कागज भी चिपकाते हैं तथा उसे विभिन्न रंगों से रंग देते हैं।

डफ[1]

डफ का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थानोंपर भिन्न भिन्न रूपों में होता है लेकिन राजस्थान और ब्रज में डफ होली का प्रतीक माना जाता है। डफ की ध्वनि सुनाई पड़ते ही फाग की याद आने लगती है। इन स्थानों में डफ बजाते हुये रात रात भर फाग गाये जाते हैं। जहाँ कहीं भी होली के वाद्यों का प्रकरण आया है वहाँ डफ का वर्णन अवश्य रहता है। यह एक हाथ से दो हाथ तक के व्यास का होता है। पतली लकड़ी के घेरे पर जो लगभग 6 अंगुल का होता है, पतले चमड़े का मढ़ा होता है। चंग की तरह बजाया जाता है। ब्रज में नगाड़ों को भी जो चौपाइयों के साथ बजाते हुये होली पर निकाला जाता है,डफ कहते हैं। इसे दो-तीन व्यक्ति लकड़ियों से पीटते हैं। इससे डमडम का शब्द निकलता है। दक्षिण में इसे बड़ा नगाड़ा कहते हैं। वास्तव में डफ - ढफ, ढपला, चंग आदि एक ही जाति के वाद्य हैं जो अपने सामान्य रूप तथा वादन विधि के अन्तर से देश के सभी भागों में प्रचलित हैं। कहरवा तथा दादरा ताल के विभिन्न रूपों में यह सभी वाद्य अपना आकर्षण पैदा करते हैं। नृत्य के साथ प्रायः इसका प्रयोग दो बाँस की खपच्चियों से किया जाता है।

ढक्का

ढक्का अथवा ढंका हुडुक्का जाति का एक वाद्य है। इसका उल्लेख संगीत रत्नाकर, संगीत पारिजात तथा संगीत सार में किया गया है।

एक वालिस्त का लम्बा पोला लकड़ी का ढाँचा जिसका मध्य भाग पतला हो, जिसके दोनों मुखों का वृत्त आठ अंगुल का हो तथा पिण्ड आधा अंगुल मोटा हो[2] इसके दोनों मुखों पर चार-चार ताँबे की कीलें रखी जाती हैं जिसमें दो ऊर्ध्वमुखी तथा दो अधोमुखी होंगी। इन कीलों में दो-दो तातें बाँधी जाती हैं। इनके दोनों मुख हुडुक्का की भाँति चमड़े से मढ़े जाते हैं जिसे बारह अंगुल की शलाका लेकर दाहिने हाथ से बजाया जाता है। बायें हाथमें हाथी दाँत का टुकड़ा जो जवा की भाँति हो लेकर तातों को बजाया जाता है। इसमें हुडुक्का के ही पाटाक्षर होते हैं। संगीत पारिजात में ढक्का के तत अवनद्ध जाति

1-
2- संगीत रत्नाकर, वाद्य अध्याय, ।। 1113 ।।

का दो मुख वाला वाद्य बताया है जो एक हाथ लम्बा होता है । मुख का व्यास बारह अंगुल तथा अन्य स्थानों पर आठ अंगुल होता है । इसका मुख एक चमड़े से मढ़ा होता है । इस चमड़े के मध्य से तांत की एक तंत्री को एक सिरे पर गांठ देकर निकाल ली जाती है । यह तंत्र बायें हाथ से नीचे धारण किया जाता है तथा उसी हाथ से उसकी तंत्री को खींच कर दाहिने हाथ सेबजाया जाता है।

ढक्कली

ढक्कली अथवा ढक्कली केक नाम का उल्लेख बहुत कम ग्रन्थों में हुआ है जिससे यह लक्षित होता है कि इस वाद्यका कभी विशेष प्रचार नहीं था । इसका जो वर्णन संगीत रत्नाकर तथा संगीत सार में उपलब्ध है, उसके अनुसार इसका रूप इसप्रकार होता है[1] ।

बैल की सींग, हाथी के दांत अथवा कांसे का नौ अंगुल का खोखला ढांचा तैयार करके जिसके दोनों मुख 4-5 अंगुल वृत्त के बनाये जाते हैं । इन मुखों को चमड़े से मढ़कर इनमें तांबे अथवा लोहे का कड़ा पहनाया जाता है । इन कड़ों में 5 छेदकर उनमें बद्धी अथवा डोरी पहनाये जाते हैं जो बहुत कसी और न बहुत ढीली हो, बीच में कमरबन्द की भांति डोरा बांधे जाते हैं, बीच के डोरे पर अनामिका रखकर मध्यमा तथा तर्जनी नीचे मुख के कड़े पर रखे अंगूठा ऊपर की ओर रखें । इस प्रकार उसे पकड़कर चमड़े में लगे छल्ले को खींचकर दाहिनी हाथ से वादन करें । इसके पाटाक्षर "र, ट, तं, तं" होते हैं ।

ढमस

यह विजयसार काठ से बनता है । इसकी लम्बाई एक हाथ तथा परिधि 39 अंगुल की होती है । इसके दोनों मुख 12-12 अंगुल के होते हैं । दोनों मुखों को कड़ चमड़े से लपेटा जाता है तथा उसमें 7-7 छेदकर चमड़े से मढ़ दिया जाता है, उन छेदों में मोटा डोरा लगाया जाता है । बांया मुख बायें हाथ से और दाहिने मुख को बांस की कमच्ची से बजाया जाता है । इसमें ढम ढम पाटाक्षर होते हैं ।

---

1. संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय, श्लोक सं० 1126-1131 तथा संगीत सार-भाग-2.

तम्बकी

तम्बकी निसान का ही एक भेद है जो निसान से प्रमाण और ध्वनि से बहुत कम है। इसके अन्य लक्षण निसान जैसे ही हैं। तम्बकी का उल्लेख कुछ ग्रन्थों में उपलब्ध होता है और सभी स्थानों पर निसान का ही एक छोटा रूप माना जाता है।

त्रिवली

त्रिवली का वर्णन मानसोल्लास, संगीत रत्नाकर, संगीत सुधा संगीत सार, वाद्य प्रकाश आदि में पाया जाता है। मानसोल्लास, संगीत रत्नाकर तथा संगीत सार में इसके रूप का लगभग एक सा ही वर्णन किया गया है।

एक हाथ की लम्बाई वाले काठ को जो बीच में थोड़ा पतला हो तथा भीतर से खोखला हो, जिसके दोनों मुख सात-सात अंगुल के हों, उसे त्रिवली कहते हैं। दोनों मुख चमड़े से मढ़े रहते हैं। इसके लिए उन दोनों मुखों में लोहे के कड़े पहनाये जाते हैं तथा उनमें 7-7 छेद किये जाते हैं। इन छेदों में सुतली तथा चमड़े की बद्धी डालकर उसे कसते हैं। इन कसे हुये डोरों के बीच में दबाकर दूसरे डोरों से उसको बाँध देते हैं। उसी में एक पट्टी बाँधकर उसे कंधों से लटकाकर दोनों हाथों से वादन किया करते हैं। " त दों दों दें" आदि बोल निकलते हैं।

दर्दर या दर्दुर

महर्षि भरत ने दर्दुर को अवनद्ध वाद्यों में अंग वाद्य मानकर इसे पर्याप्त महत्व प्रदान किया है, पर इस अवनद्ध वाद्य का महत्व उनके बाद के आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। भरत के अनुसार यह घंट के आकार का होता है। इसका मुख 9 अंगुल का होता था जिसके ऊपर चमड़े की पुड़ी का विस्तार 12 अंगुल का होता है। यह चमड़े की पुड़ी सुतलियों से पणव के समान ही कसी रहती थी। इस वाद्य में बोलों को निकालने के लिए दोनों हाथों का प्रयोग किया जाता था। दाहिने हाथ का प्रयोग युक्त, अयुक्त तथा बन्द ध्वनियों के वादन के लिए होता था। बायें हाथ का प्रयोग दाहिने हाथ के सहायक के रूप में होता था। संगीत

रत्नाकर में घट का वर्णन भरत के समान विस्तृत नहीं है तथा उसकी वादन क्रिया भी मर्दल के समान ही मानी गयी है ।

घड़ा (घट)

जिसका पेट बड़ा हो, कण्ठ लम्बा हो और मुख संकुचित हो उसे घड़ा कहा गया है । घट के दोनों रूपों का प्रचार एक सा है । चमड़े से मढ़े जाने वाले घट का विकास त्रिमुखी तथा पंचमुखी के रूप में भी हुआ जिसमें घट के एक मुख के स्थान पर तीन मुख अथवा पाँच मुख बनाये गये थे जिसके बीच का एक मुख बड़ा तथा शेष सभी उससे कुछ छोटे आकार में होते थे । इस प्रकार का एक पंचमुखी घट आज भी मद्रास म्यूजियम तथा पूना के केलकर संग्रहालय में विराजमान है । दूसरे प्रकार का घट जो चमड़े से मढ़ा नहीं होता है आजकल अधिक प्रयुक्त होता दिखाई पड़ता है । चमड़ा रहित घट का वादन क्रिया दो प्रकार से होता है । घट को अपनी गोद में सीधा रखकर अर्थात् उसका मुख ऊपर हो, ऐसा रखकर बायें हाथ की हथेली से उसका मुख बंद करते तथा खोलते हैं जिससे घट के भीतर का व्याप्त वायु पर दबाव डालता है और उसमें से गंभीर ध्वनि उत्पन्न होती है। यह ध्वनि तबले के डुग्गी, ढोलक के वाम मुख की तरह होता है । दाहिनी हाथ की उंगलियों में से अथवा धातु के किसी कठोर वस्तु को उंगलियों से पकड़कर घट पर प्रहार करते हैं जिससे ताल वाद्यों के दाहिने मुख से ध्वनि निकलती है। दक्षिण संगीत की गोष्ठियों में कभी-कभी खास वाद्य गोष्ठियों का भी आयोजन होता है जिसे ताल कचहरी कहते हैं जिसमें मृदंग, मंजीरा तथा घटम् तीनों के वादक क्रमशः एक दूसरे के साथ वादन करते हैं तथा कठिन और द्रुतगति के बोलों का चमत्कार दिखाते हैं । दक्षिण शास्त्रीय कंठ संगीत के साथ ही प्रायः घट का प्रयोग होता दिखाई पड़ता है । इस प्रकार भरत कालीन दर्दुर वादन की परम्परा अपने सामान्य परिवर्तन के साथ आज भी देश में प्रचलित है ।

दुन्दुभि

जिस प्रकार वैदिक साहित्य में वीणा का काफी वर्णन मिलता है उसी प्रकार अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि का उल्लेख भी मिलता है । ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा अन्य प्राचीन उपनिषदों में दुन्दुभि का वर्णन आया है । कुछ

और ग्रन्थों में भूमि दुन्दुभि का भी वर्णन आया है । भूमि दुन्दुभि गड्ढा खोदकर उसको चमड़े से मढ़कर बनाई जाती है और आपत्ति के समय बजाई जाती है । कुछ विद्वानों के अनुसार दुन्दुभि में एक ही नग होता था और वह बड़ा होता था । प्राचीन दुन्दुभि और भूमि दुन्दुभि एक ही नग का बड़ा नगाड़ा जैसा होता था, परन्तु जब से उसका सम्बन्ध शहनाई आदि के साथ हुआ तब से उसमें भी भीषण तथा जोरदार ध्वनि उत्पादन के अतिरिक्त मृदंग ऐसे पाटाक्षर निकालने की भी आवश्यकता हुई । इसीलिए उस बड़े आकार के साथ एक छोटे आकार की ढोल का भी समावेश हो गया । इसके कारण दुन्दुभि में मृदंग आदि के पाटाक्षर आसानी से निकलने लगे । वास्तव में दुन्दुभि, नगाड़ा, नक्कारा, धौंसा, निसान, तम्की, दमामा आदि एक ही जाति के वाद्य हैं । इसको बजाते समय आग के आँच या सूरज की गर्मी से तपाकर बजाया जाता है । हिन्दी शब्द सागर में दुन्दुभि का अर्थ नगाड़ा और धौंसा के समान लिखा है। जिस प्रकार तबले में दो नग होते हैं एक बाँया और दूसरा दाँया और दोनों को मिलाकर तबला कहा जाता है, उसी प्रकार दुन्दुभि में भी दो नग होते हैं एक बड़ा नगाड़ा जिसका शब्द गंभीर होता है तथा एक छोटा नगाड़ा जिसका शब्द छोटा तथा ऊँचा होता है। इस प्रकार यह दो स्वर वाला दो नग का वाद्य दुन्दुभि कहलाता है ।

निसान[1]

संगीत रत्नाकर के अनुसार निसान काँसे, ताँबे अथवा लोहे का बना हुआ वाद्य है जो क्रमशः उत्तम, मध्यम अथवा अधम माना जाता है[2]. इसके पेंदे में काँसा भरा होता है तथा मुख भैंस के चमड़े से मढ़ा होता है[3]. इसका मुख बड़ा तथा पेंदा छोटा होता है । बीच में दोनों का आधा होता है । यह चमड़े द्वारा जिसमें कड़े पड़े होते हैं, से कसा जाता है । इन कड़ों को जोर से कसकर उसे बजाते हैं । इसका दृढ़ शब्द भीरुओं को दहलाने वाला तथा वीरों को रोमांचित करने वाला होता है ।

संगीत सार में निसान को दुन्दुभि जाति का वाद्य माना है । इसी निसान से मिलता जुलता वाद्य दमामा था, जिसका मध्य युग में नक्कार-

1. "झालर बाजे लागे बाजन दुन्दुभि धौंसा गौंजे ।परमानन्द दास।
2. चित्र-170 आ.
3. देखें चित्र संख्या-150.

जाने में प्रयोग होता था । मध्य कालीन कृष्ण भक्त कवियों ने होली के अवसर पर अन्य वाद्यों के साथ निसान का भी उल्लेख किया है[1]. निसान का प्रयोग मुख्य रूप से युद्धस्थल पर ही होता था ।[2]

पणव

मृदंग के समान पणव भी भारत का अति प्राचीन अवनद्ध वाद्य है । कुछ ऐसे तथ्यप्राप्त होते हैं जिनके आधार पर पणव तथा पटह वैदिक कालीन वाद्य समझे जा सकते हैं । महर्षि भरत ने मृदंग के बाद अवनद्ध वाद्यों में पणव को ही सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है । प्राचीन सांस्कृतिक साहित्य में पणव का उल्लेख काफी मात्रा में हुआ दिखाई पड़ता है जैसे- बालमीकि रामायण के कुछ स्थान पर :

पणवेन सहा निन्यासुप्ता मदकृतप्रभा- सुन्दर काण्ड, 11-43

ततो भेरी मृदंगानां पणवानां च घनोपमः ।

शंखनेमिस्वनी न्मिश्रः सम्बभूव घनोपमः।। युद्धकाण्ड, 44-12

इसी प्रकार महाभारत में भी निम्नवत् श्लोक मिलता है :-

भेरी पणवशंखानां मृदमानां च निस्वनः - आरण्य पर्व- 132/19

भेरी मृदंग पणवैः शंखवेणु च निस्वनैः- उद्योग पर्व, 78/16

महर्षि भरत ने मृदंग के साथ-साथ पणव तथा दर्दुर को भी स्वाति मुनि के द्वारा विश्वकर्मा की सहायता से बनाया हुआ माना है :

ध्यात्वा सृष्टिं मृदंगानां पुष्करानसृजत् ततः ।

पणवं दर्दुरं चैव सहितो विश्वकर्मणा ।। भ०ना० 34-9

सोलह अंगुल लम्बा मध्य भाग भीतर की ओर दबा जिसका विस्तार आठ अंगुल तथा जिसके दोनों मुख पाँच अंगुल के हों[3] और भीतर का खोखला भाग चार अंगुल के व्यास का होता है ।

पणव के दोनों मुख कोमल चमड़े से मढ़े जाते थे जिन्हें सुतली से कस दिया जाता था । सुतलियों का यह कसाव कुछ ढीला रखा जाता था जिसे वादन के समय बायें हाथ से मध्य भाग को दबाकर तथा ढीला कर आवश्यकतानुसार ऊँची नीची ध्वनि निकाली जाती थी । बायें हाथ से पणव की सुतलियों को कसते हुये तथा ढीला करते हुये दाहिनी हाथ की कनिष्ठा

---

1. कांस्यजस्ताग्रजो लौहो वोत्तमो मध्यमोधमः।एकमक्त्री महान्वक्त्रे स्वल्पोधो धैर्यवाकृतिः ।। ।।32 ।। सं. र. वाद्याध्यायः।
2. बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के ।भूषण।
3. अभिनव गुप्ताचार्य भ०ना०शास्त्र. पृ०-457.

तथा अनामिका के द्वारा विभिन्न करणों का वादन किया जाता है। अन्य बोलों को निकालने के लिए अन्य उंगलियों का भी प्रयोग होता था। कसे हुये पणव में मुख्य रूप से " ख ख न न" आदि बोल निकलते थे तथा तुतलियों का कसाव कम कर देने पर "ल था" आदि बोल निकलते थे।

समस्त वादन क्रिया को देखने से पता चलता है कि पणव की तुतलियों को ढीला करना तथा कसने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था तथा वादन क्रिया में कनिष्ठा और अनामिका का अधिक प्रयोग होता था।

पटह

हिन्दी शब्द सागर में पटह का अर्थ नगाड़ा और दुन्दुभि दिया है, परन्तु पटह न तो नगाड़ा है और न ही दुन्दुभि। संगीत पारिजात के मतानुसार पटह का अर्थ ढोलक है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि पटह "ढोल इति भाषाया" और फिर स्पष्ट व्याख्या की है कि पटह भेरी जाति का वाद्य है जो डेढ़ हाथ लम्बा होता है। किसी-किसी के मत से यह स्थूल चमड़े से मढ़ा होता है। कुछ लोग इसे पतले चमड़े से मढ़ते हैं। यह लकड़ी अथवा हाथ किसी से भी बजाया जा सकता है। संगीत सार के अनुसार मध्यकालीन ढोलक को ही प्राचीन युग में पटह कहा जाता था। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पटह भारत के प्राचीनतम अवनद्ध वाद्यों में प्रतीत होता है। पटह का जैसा वर्णन धर्म ग्रन्थों तथा संगीत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उससे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही मृदंग के बाद सर्वाधिक प्रचार पटह का ही रहा है। किसी किसी ग्रन्थकार ने मृदंग और मर्दल आदि से भी पटह का अधिक वर्णन किया है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि पटह शास्त्रीय तथा लोक संगीत दोनों के लिए उपयुक्त माना गया है, जब कि मृदंग, मार्दल आदि का प्रयोग शास्त्रीय संगीत के लिए श्रेयस्कर कहा गया है। बाल्मीकि रामायण में पटह सम्बन्धी उल्लेख निम्नलिखित श्लोक से प्राप्त होता है:

पटहं चारुसर्वांगी न्यस्य शेते शुभस्तनी। 39।

(सुन्दर काण्ड, सर्ग - 10, गीता प्रेस सं.)

बालमीकि रामायण के पश्चात् प्राय: सभी पौराणिक ग्रन्थों में जिसमें महाभारत भी है तथा संस्कृत नाटकों आदि में पटह का नाम उल्लेख प्राप्त होता है। संगीत के प्राप्त ग्रन्थों में "मानसोल्लास", "नान्यदेव" का "भरतभाष्य",

संगीत रत्नाकर, संगीतोपनिषत्सारोद्धार आदि ग्रन्थों में पटह का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है जिसके अनुसार पटह का स्वरूप तथा वादन विधि इस प्रकार है । पटह दो प्रकार के होते हैं :

(1) देशी पटह

(2) मार्गी पटह

देशी पटह का रूप

इसकी लम्बाई डेढ़ हाथ की होती है तथा इसका दाहिना और वाम मुख क्रमशः सात तथा साढ़े छः अंगुल व्यास के होते हैं। शेष बातें मार्गी पटह की ही भांति होती है । पटह के लिए खैर की लकड़ी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है । देशी पटह के आकार में सामान्य अन्तर भी हो सकता है ।

मार्गी पटह का रूप

इसकी लम्बाई डेढ़ हाथ से ढाई हाथ की होती है तथा बीच में का भाग कुछ उठा हुआ होता है । इसके दाहिने मुख का व्यास साढ़े ग्यारह अंगुल तथा बाम मुख साढ़े दस अंगुल का होता है । काठ, भीतर से खोखला होता है तथा उसके दोनों मुख गोल होते हैं । दाहिने तथा बायें मुख पर लोहे अथवा काठ की हंसुली पहनाकर उन्हें चमड़े से लपेट दिया जाता है । दाहिने मुख पर पतला चमड़ा तथा बाम मुख पर मोटा चमड़ा मढ़ा जाता है । इन हंसुलियों में सात-सात छेद कर रेशम की डोरी पिरो दी जाती है जिसमें सोना, पीतल अथवा लोहे के छल्ले डाल दिये जाते हैं जिन्हें आवश्यकतानुसार खींच कर स्वर में मिलाया जाता है ।

पटह के बोल

पटह में निम्नलिखित 16 वर्ण प्रयुक्त होते हैं :-

क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, र और ह । इन्हीं अक्षरों के संयोग से अनेक बोलों की रचना की जाती है । उदाहरण के लिए किण, कण, जिण, थण, ठण, तण, धण, दण, हण आदि । इसी प्रकार अन्य अक्षरों के संयोग से भी भिन्न-भिन्न बोलों की रचना की जाती है । पटह को लगभग एक हाथ की मुड़ी हुई डण्डी से भी बजाया जाता है । सामान्यरूप से प्र

पद्मासन पर बैठकर दोनों जंघोंपर पटह रखकर बजाया जाता है।

मानसोल्लास, संगीत रत्नाकर, संगीत सार आदि ग्रन्थों में पटह के निरन्जिन वर्णों का तथा उनके वादन क्रिया का जो वर्णन किया गया है वह पटह के साथ-साथ मृदंग, मार्दल, हुडुक्का आदि से भी संबंधित है। प्राचीन काल में अवनद्ध वाद्य में बजने वाले बोलों को पाट कहा जाता था। अतः जहाँ-जहाँ पाठ अथवा पाटाक्षर का प्रयोग हो वहाँ उस वाद्य के बोल समझना चाहिए।

भेरी[1]

हिन्दी शब्द सागर में वर्णित भेरी, दुन्दुभि नहीं है। इसी प्रकार हिन्दी शब्द सागर में भेरी का अर्थ ढोलक, नगाड़ा तथा ढक्का बताया गया है, परन्तु भेरी न नगाड़ा है और न ढोल न ढक्का। भेरी मृदंग जाति की दो हाथ लम्बी धातु से बनी हुई दो मुखों वाली वाद्य होती है जिसका एक मुख एक हाथ लम्बे व्यास का मढ़ा होता है। यह मुख चमड़े से मढ़े और डोरियों से कसे हुये होते हैं जिनमें कांसे के कड़े पड़े होते हैं। संगीत रत्नाकर में लिखा है कि यह तांबे की बालिश्त लम्बी होती है। उसे दाहिनी ओर लकड़ी से तथा बाँई ओर हाथ से बजाया जाता है। संगीत सार में भेरी का लक्षण संगीत रत्नाकर के अनुसार ही है[2] उसके बजाने की विधि से इसके तथा इसकी जाति के अन्य वाद्यों में अन्तर आ जाता है। वर्तमान में अवनद्ध वाद्यों की सूची में भेरी और रण भेरी नाम के दो पृथक वाद्यों का वर्णन आया है किन्तु अशोक ने लिखा है कि यह वाद्य मित्रों को आनन्द देने वाला तथा शत्रुओं का हृदय विदीर्ण करने वाला वाद्य है।

उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में विवाहोत्सव के समय एक लम्बी तुरही जिसका आकार ध्वनि विस्तारक यंत्र की भाँति होता है, जो लगभग पाँच हाथ लम्बी तथा मुख से फूंकने पर एक ही स्वर देने वाली होती है, भेरी कहलाती है। इसको बजाने वाला जाति का कोल होता था, जो "भोठिया" कहलाता था। विवाह के प्रत्येक अवसर पर पहले भेरी नाद होता था, तत्पश्चात् कार्य प्रारम्भ होता था, अतएव यह माना जा सकता

1. भेरी मृदंग डफ झालरि बाजत कर करताल। गोविन्द स्वामी।
2. संगीत सार, भाग-2 पृ0 77-78

है कि भेरा का आनद्ध तथा सुषिर रूप प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। भेरी का नामोल्लेख अति प्राचीन काल से प्राप्त होता है जिसका संक्षिप्त वर्णन तेरहवें खंड में दिया गया है।

मण्डिडक्का

मंडिडक्का का उल्लेख संगीत रत्नाकर तथा संगीत सार में उपलब्ध होता है। वर्णन से यह डक्का अथवा डंका के समान मालूम होता है। इसके काठ की लम्बाई 16 अंगुल की होती है तथा इसके दोनों मुख 8-8 अंगुल के होते हैं। काठ का पोला ढांचा ढक्का की ही भांति बीच में पतला होता है। तांबे की कील तथा तांत डक्का की ही भांति लगाई जाती है। इसके दोनों मुख चमड़े से मढ़े होते हैं। इसकी तांत में दो-दो छल्ले पिरोये जाते हैं जिन्हें बायें हाथ से पकड़कर तथा बाये मुख का चमड़ा दबाकर दाहिनी हाथ से अथवा डण्डी से वादन किया जाता है। इसका वादन चर्यागान तथा देवीपूजा के समय किया जाता है[1]।

मंदिलरा

कुछ लोगों की धारणा है कि संगीत रत्नाकर में वर्णित मार्दल से ही मादल और मंदिलरा शब्द बने हैं। कृष्णदास ने एक पद में कहा है:

"गिड़गिड़तां धितां धितां मंदिलरा बाजे"

इन बोलों को देखकर किसी को यह स्वीकार करने में आपत्ति न होगी कि मंदिलरा मृदंग या मार्दल का ही कोई दूसरा रूप है, परन्तु श्री चुन्नी बाल "वेष" ने इसे ब्रज के एक लोक वाद्य के रूप में माना है। उनका कहना है कि यह मृदंग नहीं अपितु जन्मोत्सव के समय बजाया जाने वाला एक विशेष वाद्य है। मिट्टी के एक घड़े को लेकर उस पर उल्टी थाली रखकर बांस की कमच्चियों से थाली को बजाते हैं जिससे बड़ी सुन्दर ध्वनि निकलती है। यह वाद्य मंदिलरा कहलाता है तथा इसे ब्रज का ही एक लोक वाद्य कह सकते हैं।

मुख चंग[2]

संगीत ग्रन्थ में मुख चंग को चंगू कहा गया है। चूंकि इसकी ध्वनि कुछ चंग के समान ही होती है तथा इसका प्रयोग भी ताल वादन के निमित्त

---

1. संगीत रत्नाकर वाद्याध्याय:
2. आउश बर मुंह चंग मन तल्लीम, री रंग मीभी ग्वा ।भिनि- सूर.

निर्मित होता है, इसीलिए इसे चंगू नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, किन्तु चंग से इसकी अलग पहचान रखने के कारण तथा चूंकि इसका वादन मुख के योग से होता है, अतः इसे मुख चंग कहा जाने लगा । संगीत पारिजात के अनुसार चंगका आकार "त्रिशूलवत्" होती है[1] जिसके पाँच भागों की लम्बाई 4 अंगुल तथा मध्य भाग की पाँच अंगुल होती है। बाहर की ओर लम्बाई अधिक होती है । वादक मोम लगाकर इसके स्वर को ऊँचा तथा नीचा करते हैं तथा बीच के भाग को दाँतों से दबाकर बजाते हैं[2] ।

मुख चंग बाँस अथवा लोह आदि धातुओं से बनाया जाता है । इसका आकार त्रिशूल का काँटा जैसा होता है । दो पुष्ट शंकुओं के मध्य बिच्छू के डंक के समान ऊपर को पूंछ उठाये हुये एक पाता होता है । दोनों पुष्ट शंकुओं को ऊपर और नीचे के दाँतों में दबाकर स्वांस को वेग से भीतर तथा बाहर निकालते हुये पाता की उठी हुई पूंछ पर दाहिने हाथ की तर्जनी से तम्बूरे के तार के समान छेड़ते हैं, तबउसमें ध्वनि उत्पन्न होती है । यह एक ताल वाद्य है, इसमें मृदंग तथा तबले के बोल ।ठेके। बजते हैं, किन्तु प्रायः इसमें कहरवा तथा दादरा ताल के ही रूप बजाये जाते हैं । मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने मुख चंग का उल्लेख कई स्थानों पर किया है जिसे देखने से ऐसा मालुम होता है कि यद्यपि यह वाद्य संगीत के ग्रन्थों में बहुचर्चित नहीं है, फिर भी जनसाधारण में इसका प्रचार बहुत हुआ था ।

मृदंग, मुरज तथा मार्दल

सुधाकलश में भगवान शंकर को मृदंग तथा मुरज का आविष्कारक बताया गया है । प्राचीन ग्रन्थों में मृदंग, पणव तथा दर्दुर को पुष्कर वाद्य कहा गया है । इन पुष्कर वाद्यों की जिनमें मृदंग प्रमुख है उत्पत्ति बताते हुये महर्षि भरत ने कहा है :

वर्षा ऋतु में अनध्याय के दिन पानी लेने के लिए स्वाति मुनि पुष्कर के किनारे गये, आकाश मेघाच्छादित था तथा वर्षा हो रही थी, तेज हवा के साथ जो पानी की बूंदें कमल के पत्तों पर पड़ रही थीं उनसे एक विशेष प्रकार की अनुरंजन ध्वनि उत्पन्न हो रही थी जिसे उन्होने अचानक

1. चित्र नं०
2. संगीत पारिजात, वाद्याध्यायः, श्लोक सं०-56, 57, 58.

सुना तथा उन्हें बड़ा आश्चर्यजनक लगा, इसलिए उन्होंने इसे फिर ध्यान से सुना । यह देखकर कि उस ध्वनि का नाद ऊँचा-नीचा तथा मध्य स्थानीय होने के साथ-साथ गंभीर मृदु तथा कर्णप्रिय भी था । जब वे अपनी पर्णकुटी में लौटे तो उन्होंने उसी ढंग का ध्वनियों से युक्त विश्वकर्मा की सहायता से मृदंग, पणव और दर्दुर जैसे पुष्कर वाद्यों की रचना की । उसके बाद उन्होंने इन वाद्यों के दोनों मुखों को चमड़े से कस दिये तथा उन्हें तंत्रियों से सका ।

ऐतिहासिक दृष्टि से मृदंग, मुरज आदि का उल्लेख वैदिक साहित्य (वाङ्मय) में प्राप्त नहीं होता फिर भी जिस प्रकार मृदंग आदि का नाम बालमीकि रामायण में प्रयुक्त होता है, उससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रामायण काल से अनेक वर्षों पूर्व इन वाद्यों का प्रचार हो चुका था । रामायण के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि उस समय अवनद्ध वाद्यों में मृदंग का सर्वाधिक प्रचार था । रामायण में मृदंग तथा मुरज का अलग-अलग वर्णन मिलता है[1] जिससे यह समझना चाहिए कि इन वाद्यों के रूप में कुछ अन्तर अवश्य था । महाभारत में भी मृदंग तथा मुरज के अलग-अलग नाम उपलब्ध होते हैं। कालीदास के साहित्य में मर्दल, मुरज तथा मृदंग इन तीनों का उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है । महर्षि भरत के समय तक मृदंग तथा मुरज का उल्लेख तो प्राप्त होता है, परन्तु मर्दल का कहीं उल्लेख नहीं मिला । सारंगदेव ने मुरज तथा मार्दल को मृदंग का ही पर्याय माना है[2] । अभिनव गुप्ताचार्य ने मुरज को मृदंग का पर्याय बताया है । इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मृदंग मुरज का ही पर्याय है । बालमीकि रामायण में मुरजेषु मृदंगेषु का एक साथ प्रयोग एक ही स्थान पर हुआ है, अन्य स्थानों पर केवल मृदंग शब्द का ही व्यवहार किया गया है । मुरज, मृदंग के पर्याय होने के कारण ही महर्षि भरत ने कहीं-कहीं मृदंग शब्द के लिए मुरज शब्द का प्रयोग किया है । सारंगदेव ने मार्दल को भी मृदंग का पर्याय माना है । महर्षि भरत ने मार्दल का कहीं उल्लेख नहीं किया । कालीदास के साहित्य में मार्दल का उल्लेख कहीं-कहीं प्राप्त होता है । मध्य युग में भाषा का संबंध

---

1. सुन्दर काण्ड, सर्ग-11
2. संगीत रत्नाकर, वाद्याध्यायः

संस्कृत से पुनः जुड़ जाने के कारण मर्दल के स्थान पर मृदंग शब्द की पुनर्प्रतिष्ठा हो गई।

नाम परिवर्तन से मृदंग का वह रूप जो प्राचीन काल से महर्षि भरत के समय तक रहा, कब लुप्त हो गया, इसका कोई प्रमाण नहीं है। जिस वाद्य को आज हम उत्तर भारतीय मृदंग अथवा पखावज मानते हैं, दक्षिण भारतीय जिसे अपना मृदंगम् कहते हैं, वह भरत कालीन मृदंग का केवल एक भाग है। मृदंग में यह परिवर्तन लगभग सातवीं शताब्दी से होने लगा था जो सारंगदेव के समय तक पूरी तरह बदल गया। यद्यपि सारंगदेव ने मर्दल को मृदंग का पर्याय बताया है किन्तु यह भी कह दिया है कि उस समय भरत कालीन मृदंग का प्रचार नहीं है, इसलिए मैं मर्दल का ही वर्णन करता हूँ[1]। सारंगदेव ने कहा है कि मृदंग को पुष्करत्रय कहते हैं[2]। भरत रचित नाट्यशास्त्र में ऐसा कई स्थान हैं जहाँ मृदंग को पुष्करत्रय कहकर पुकारा गया है[3]। अतः यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि जैसे आज तबले के दो भाग हैं, ठीक उसी प्रकार भरत के समय में मृदंग के तीन भाग थे। कुछ विद्वान महर्षि भरत द्वारा बताये हुये मृदंग के रूप को देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि उस समय कोई त्रिमुखी ताल वाद्य प्रचार में अवश्य था। कुछ विद्वान यह कहते हैं कि महर्षि भरत पणव, दर्दुर आदि का वर्णन तो किये हैं, परन्तु मृदंग का कोई नाप-जोख नहीं दिया है। जिन महर्षि भरत ने अवनद्ध वाद्यों में मृदंग को सर्वश्रेष्ठ माना है, उसके वादन की विधिवत रूप से वर्णन भी किया है, यथा- मार्जना विधि, हस्त संचालन आदि। उसके काठ, चर्म आदि के गुण-दोषों पर विचार भी किया है। उसके आकार-प्रकार का भी वर्णन किया है। ऐसा विश्वास नहीं होता, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर यह मालुम होता है कि भरत ने मृदंग के आकार-प्रकार का विधिवत् वर्णन किया है। वास्तव में महर्षि भरत ने मृदंग का जिस प्रकार वर्णन किया है, वह सामान्य रूप से भ्रामक प्रतीत होता है क्योंकि एक ओर तो उन्होंने मृदंग के तीन प्रकार बताये हैं- हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छा[4] जिसमें यह तीनों मृदंग के ही रूप भेद प्रतीत होते हैं किन्तु उसके बाद ही उन्होंने यह

---

1. संगीत रत्नाकर- 6/1028
2. संगीत रत्नाकर 6/1027
3. भरत नाट्यशास्त्र- अध्याय-34
4. संगीत रत्नाकर 6/1027

भी कहा है कि आंकिक का हरीतकी के समान, ऊर्ध्वक ऊर्ध्वक का यवा के समान तथा आलिंग्य का गोपुच्छा के समान रूप होता है ।

उक्त वर्णन से ऐसा भ्रम होता है कि मृदंग, आंकिक, ऊर्ध्वक, आलिंग्य आदि भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, किन्तु यह सत्यनहीं है । जिस प्रकार आज तबला शब्द का व्यवहार होता है अर्थात् तबला कहने से उसके दायें तथा बायें इन दोनों भागों का बोध होता-है और तबला कहने पर केवल दायां तबला का अर्थ भी समझा जाता है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन काल में उक्त तीनों रूपों को मिलाकर ही मृदंग समझा जाता था। तब उन्हें आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य कहकर पुकारते थे। आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य मृदंग के ही हिस्से थे, इस बात का प्रमाण चौंतीसवें अध्याय में महर्षि भरत के अनेक वचन प्राप्त होते हैं । श्री मनमोहन घोष ने नाट्य शास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ-162 में नोट ।।।13 में आलिंग्य के नाम का विश्लेषण करते हुये लिखा है :

उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्री घोष ने आलिंग्य को वादक के शरीर से आलिंगित रहने वाला वाद्य माना है, किन्तु वे भी यह नहीं समझ पाये हैं कि आलिंग्य कोई स्वतंत्र वाद्य नहीं बल्कि यह भी मृदंग का ही एक भाग मात्र है ।

भरत कालीन मृदंग का उपर्युक्त रूप निर्धारित करने के साथ-साथ यहां यह भी बताया गया है कि उक्त मृदंग के यद्यपि तीन हिस्से होते हैं, किन्तु उसका वह भाग जो लेटा रहता था, उन खड़े रहने वाले भागों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था । उस काल के कुछ ऐसे बोलों का वर्णन भी भरत नाट्यशास्त्र में आया है जिसका वादन केवल आंकिक के वाम तथा दक्षिण मुखों द्वारा किया जाता था । जिसका स्वयं महर्षि भरत का आंकिक के साथ मृदंग शब्द का कई बार जोड़ देना[1] इस बात की ओर संकेत करता है कि मृदंग का आंकिक भाग ही प्रमुख था । मृदंग का रूप वर्णन करते हुये भी पहले आंकिक का ही वर्णन किया है । नाट्यशास्त्र के अनुसार आंकिक

1. भ. ऊर्ध्वगती.

का हरीतकी रूप था जिसकी लम्बाई साढ़े तीन बालिस्त तथा मुख 12 अंगुल के व्यास का होता था[1] उर्ध्वक चार बालिस्त लम्बा तथा 14 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[2] ।

मृदंग का आलिंग्य भाग 3 बालिस्त लम्बा तथा 8 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[3] ।

---

1. भरत नाट्य शास्त्र 34/45 पृ0 417
2. भरत नाट्य शास्त्र, अ. 34/257
3. भरत नाट्य शास्त्र 34/258

अवनद्ध वाद्यों का चमड़ा

मृदंग में लगने वाला चमड़ा न तो पुराना हो, न ही फटा-फटा, न कीड़े के द्वारा नष्ट किया हुआ हो, न मोटा हो तथा आग अथवा धूप से खराब न हुआ हो । चमड़े का रंग नवीन पल्लव के समान अथवा हिम तथा कुन्द के समान श्वेत एवं चमकदार हो एवं समस्तदोषों से रहित हो । ऐसे चमड़े को रोम रहित कर, पानी में भिगोकर रखा जाय तथा दूसरे दिन उसे निकाला जाय, पहले उसका खूब मर्दन किया जाय, बाद में मृदंग पर चढ़ाया जाय । इस प्रकार से निर्मित मृदंग आदि वाद्यों की वादन क्रिया का नाट्य शास्त्र में विशद विधान उपलब्ध होता है ।

मृदंग का ढाँचा

मृदंग का ढाँचा बेर या रक्त चन्दन का काठ लेकर कुशल कारीगर से बनवाया जाता है, इसका मध्य साढ़े इक्कीस अंगुल मोटा और लम्बाई 12 मुठ होनी चाहिए । दाहिना भाग 14 अंगुल मोटा और बाँया 13 अंगुल के करीब, फिर दो लोहे अथवा काठ के कड़े, दोनों मुखों पर चढ़ाइये । इन कड़ों में एक अंगुल के अन्तर से 20-20 छेद होता है, दोनों मुख चाम से मढ़कर उस पात्र को कड़े से लपेट दिया जाता है । कड़े के छेदों में चाम की डोरी डालकर उन्हें खींचकर चाम को कसा जाता है । दाहिनी मुख के चमड़े में छ अंगुल प्रमाण से गोलाकार लोह चूर्ण की स्याही जमाया जाता है । बाँये मुख के चमड़े में, जब बजाना हो तब, गेहूं की चून की 6 अंगुल पूरी पानी से सानकर लगाया जाता है । इस मृदंग के तीन भेद हैं :

(1) मृदंग
(2) मुरज
(3) मार्दल

इन तीनों को ही मृदंग कहते हैं । इस मृदंग के मध्य में ब्रह्मा का वास है। बाँये मुख में विष्णु का दाहिने मुख में शंकर भगवान का और मृ के काठ, कड़ा आदि में 33 कोटि देवता वास करते हैं । इसी से इसका नाम सर्वमंगल भी है ।

मृदंग का पाटाक्षर

दाहिने मुख में :

1- त, 2- थि, 3- थी, 4- टें, 5- ने, 6- हैं, 7- टे.
यह सात अक्षर होते हैं ।

बांये मुख में :

1- ठ, 2- र, 3- त्या, 4- द, 5- थ, 6- ला.
यह छः अक्षर होते हैं, पटह के मकार आदि लेकर
सोलह पाटाक्षर होते हैं ।

अकारादि स्वरों के प्रति उदाहरण

1- क्षक, 2- तक, 3- धिक, 4- नक, 5- कुड, 6- न्ड 7- किट दे, 8- थेय, 9- किरन्ट, 10- का, 11- धल, 12- धम, 12- धीहं, 13- किट, 14- किडि 15- गिड, 16- धिमि, 17- ड्गु इत्यादि ।

अकारादि स्वरों के उदाहरण

1- जग, 2- हग, 3- टंकु, 4- धड़ड 5- जड, 6- तत, 7- धा, 8- दंदां, 9- धलां, 10- नग, 11- ननगि, 12- किट, 13- किड, 14- किण, 15- गिणि, 16- टिंटिक, 17- दिगि, 18- धिधि, 19- टिट, 20- कुकु, 21- कुन्दरिक, 22- तुतु, 23- क, 24- दे, 25- धे, 26- थों, 27- थों, थे, 28- धे, 29- थेय ।

बोलों के निकालने की रीति

त- अंगूठा, कनिष्ठा तथा अनामिका दबाकर बजाने से "त" निकलेगा।

थि- वामसुख में हथेली से तथा दक्षिण मुख में टेढ़ी उंगली से ताड़न करने पर "थि" निकलेगा ।

थीं- अंगूठा छोड़कर दाहिने मुख पर उंगलियों से छूट के साथ ताड़न करने पर "थों" निकलेगा ।

न- मृदंग के मुख के किनारे अनामिका के अगले भाग से ताड़न करने पर "न" निकलेगा ।

कि- अनामिका तथा मध्यमा को मिलाकर पताका रीति से प्रहार करने पर "कि" उत्पन्न होगा ।

ट- अनामिका तथा मध्यमा द्वारा शिखर रीति से बजाने पर "ट" होगा।[1]

1. आधुनिक समय तर्जनी द्वारा स्याही के मध्य भाग पर ताड़न करने से "ट" शब्द निकलता माना जाता है ।

अर्वाचीन अवनद्ध वाद्य

तबला

सितार की भाँति तबले की व्युत्पत्ति तथा विकास से सम्बन्धित अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं। प्रधान ग्रन्थों में कहीं भी तबला नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यहाँ तक कि संगीत पारिजात तथा वाद्य प्रकाश जैसे उत्तर-मध्य कालीन ग्रन्थों में भी तबले का उल्लेख नहीं हुआ। तबले के संबंध में इस अन्धकारमय स्थिति का लाभ उठाकर मुसलमान वादकों ने तबले का जन्मदाता अमीर खुसरो को बना दिया है। आधुनिक छोटी-छोटी पुस्तकों में तबले की उत्पत्ति संदेहात्मक बताते हुये अमीर खुसरो के द्वारा इसके निर्माण की बात भी की गई है। कुछ विद्वान् इस बात पर विश्वास नहीं करते कि तबला अमीर खुसरो के द्वारा ही ईजाद किया गया है।

तबला शब्द की व्युत्पत्ति पारसी के तबल शब्द से मानी जाती है, जिसका सामान्य अर्थ है- वह वाद्य जिसका मुख ऊपर की ओर हो तथा जिसका ऊपरी भाग सपाट हो। विद्वानों का मत है कि इसी तबल शब्द से अंग्रेजी का शब्द टेबुल बना है। अरब देशों के दुन्दुभि के समान आकृति वाले वाद्यों को तबल कहा जाता था। तबल एक प्रकार का नगाड़ा था जो युद्धरत सैनिकों में जोश उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। यह वाद्य आगे बढ़ती हुई फौज के पीछे-पीछे चलता था। इसी भाव को व्यक्त करते हुये जायसी ने पद्मावत में कहा है :

> हौं पंडितन्ह केर पछलगा।
> कछु कहि चला तबल दई डगा।।

यद्यपि भारत में दुन्दुभि, भेरी, निसान आदि नगाड़ा जाति के वाद्य मौजूद थे फिर भी मुसलमानों के द्वारा विजित हो जाने के कारण इन्हीं वाद्यों अथवा इन्हीं वाद्यों से मिलते-जुलते होने के कारण इनके द्वारा प्रयुक्त नामों का जनसाधारण में ज्ञान का अभाव इन नामों के प्रचार में और सहायक हुआ।

तबला की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानों ने भरत कालीन दर्दुर वाद्यों से मानी है। दर्दुर वाद्य चमड़े का मढ़ा हुआ घट था जिसका मुख ऊपर की ओर था किन्तु वह दो भागों में न था। वास्तव में तबले का विकास प्राचीन मृदंग से ही हुआ। मृदंग के वर्णन में यह बताया गया है कि प्राचीन मृदंग तीन भागों में होती थी। एक भाग गोद में रहता था तथा दूसरे दोनों भाग सामने ऊर्ध्वमुखी रखे जाते थे। यह भी बताया गया है कि मृदंग के तीन भागों में छठीं-सातवीं

शताब्दी में परिवर्तन होने लगा तथा उसके बाद कुछ दिनों तक एक गोद का भाग तथा खड़ा वाला भाग प्रयुक्त होता रहा और अन्त में मृदंग का वह एक ऊर्ध्वमुखी भाग भी हट गया और केवल उसका आंकिक भाग ही मृदंग अथवा मार्दल के नाम से प्रचलित रह गया । इसी काल में मृदंग के दोनों ऊर्ध्वमुखी भागों का अथवा आंकिक भाग का ही दो ऊर्ध्वमुखी के रूप में अलग वादन होता रहा किन्तु शास्त्र सम्मत न होने के कारण तथा उनका विशेष नाम न होने के कारण उसका उल्लेख शास्त्र ग्रन्थों में नहीं किया गया । मृदंग के उक्त दोनों भागों की यह संदिग्ध अवस्था लगभग 17वीं शताब्दी तक रही । उस काल तक इसमें दो सामान्य परिवर्तन हो चुके थे । एक तो इनकी लम्बाई कम कर दी गयी तथा दूसरे मृदंग के दाहिनी भाग की भाँति इसके भी दाहिने भाग में मिट्टी के लेप के स्थान पर लौह चूर्ण से बने मसाले का प्रयोग होने लगा था । वाम पार्श्व में इस समय भी आटा की पूलिका ही लगाई जाती थी । इस वाद्य का प्रचार उन निम्न स्तरीय लोगों में था जो इसे कमर में बाँधकर बेड़िनों। निम्न स्तर की नर्तकियों। के नाच के साथ बजाते थे । घराने दार संगीतज्ञों ने इसे नहीं अपनाया था । जनसाधारण के लिए यह सरल एवं भारतीय परम्परायुक्त होने के कारण भजन, कीर्तन आदि में भी प्रयुक्त होने लगा था । फिर भी इसके नाम का स्थिरीकरण नहीं हुआ था । कुछ लोगों की यह भी धारणा थी कि प्राचीन पणव को जिसे मध्य काल में आवज या हुडुक कहते थे, बीच से अलग कर यह वाद्य बना है । संगीत सार जो आज वाद्यों के वर्णन में स्वाभ्र दिखाई पड़ता है, तबला वादकों के इतिहास पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि इसके प्रथम प्रसिद्ध उस्ताद सिद्धार खाँ थे जो दतिया के प्रसिद्ध मृदंग वादक कुदऊ सिंह के समकालीन थे । यह वह जमाना था जब भारतीय संगीत की महफिलों में तीन पंथ पखावज, ढोलक तथा तबला एक-दूसरे से टक्कर ले रहे थे । मृदंग का स्थान इनमें सर्वश्रेष्ठ था, किन्तु दूसरा स्थान तबले को मिले अथवा ढोलक को, यह निर्णय नहीं हो पा रहा था । मृदंग और ढोलक, मृदंग और तबला, तबला और ढोलक वादकों में अपनी विद्वता के प्रदर्शन तथा वाद्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से नवाबों तथा शौकीन राजाओं की महफिलों में प्रतियोगिताएं होती रहती थीं । इन प्रतियोगिताओं में जो विजयी होता था उसे दरबार की ओर से अपार धनराशि तथा जागीरें प्राप्त होती थीं । तबला मृदंग की भाँति खुले हाथों से बजाया जाता था । तबला पर बन्द बोलों का वादन सुधार खाँ द्वारा शुरुआत की गई

बन्द बोलों के कारण ही प्रारंभिक दिनों में तबले का अपना अलग व्यक्तित्व बना । आगे चलकर इसी बंद बोलों के बाज को दिल्ली बाज के नाम से पुकारा जाने लगा । इन्हीं दिनों गायन शैलियों में ख्याल का प्रचार भी बढ़ने लगा साथ ही साथ तंत्र वादन में सितार का भी प्रचार बढ़ा । तबले का प्रारंभिक विकास नर्तन क्रियाओं के कारण हुआ था । सर सुरेन्द्र मोहन टैगोर द्वारा पाश्चात्य विद्वानों के लेखों का एक संग्रह 1875 ई० में तथा दूसरा संग्रह 1882 ई० में हिन्दू म्यूजिक के नाम से प्रकाशित हुआ । इनमें उस युग का उन महफिलों का अधिक वर्णन था जिनको लेखक ने आँखों से देखा था । इन महफिलों में नर्तकी खड़ी होकर गाती तथा नाचती थी । उसकी संगति के लिए सारंगी वादक, तबला वादक तथा मंजीरा वादक भी खड़े होकर वादन करते थे । इन नर्तकियों का समाज में कोई स्थान नहीं था । इनके साथ रहने के कारण तबला वादक भी अत्यन्त हेय समझे जाते थे । तबला वादकों की इस दयनीय दशा में परिवर्तन उस समय से प्रारम्भ हुआ जब से ख्याल तथा सितार का प्रचार बढ़ने लगा । के०एन०विलर्ड ने अपनी पुस्तक "म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान" में तबले का वर्णन करते हुये लिखा है कि तबला-मृदंग तथा ढोलक के बाद का वाद्य है । यह मृदंग की भाँति ही बजाया जाता है किन्तु इसे मृदंग से हल्के दर्जे का माना जाता है ।

तबले की उत्पत्ति चाहे जब हुई हो परन्तु उनका वर्तमान रूप सुधार खाँ के युग का ही है । उसमें प्रयुक्त होने वाले अधिकांश आधुनिक बोल सुधार खाँ के बाद के ही हैं । वास्तव में तबला साहित्य को विस्तार प्रदान करने के लिए तबला वादकों ने कई प्रकार के ताल वाद्यों का नटवरी नृत्य में प्रयुक्त होने वाले बोलों को आत्मसात कर लिया जैसे- ढोलक, नक्कारे आदि से लग्गी तथा धिकिनार के बोल । मृदंग से परन, रेला आदि नटवरी नृत्य से मुखड़ा, परन गति आदि । इस प्रकार वर्तमान समय में तबला साहित्य विश्व के किसी भी ताल वाद्य साहित्य की अपेक्षा विशाल तथा पेचीदा हो गया है । तबले में पंजा से कम तथा उँगलियों से अधिक काम लिया जाता है जिसके कारण उसमें बोलों को जितना द्रुत में बजाया जा सकता है, उतना किसी अन्य ताल वाद्य में संभव नहीं है । आज तबला भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में श्रेष्ठ ताल वाद्य माना जाता है ।

अध्याय ४

१. भारतीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख अवनद्ध वाद्य

२. मृदंग की उत्पत्ति, विकास एवं घराने

३. तबले के घरानों की उत्पत्ति एवं विकास

४. अवनद्ध वाद्यों के घरानों के मुख्य कलाकार

भारतीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख अवनद्ध वाद्य

भारतीय ताल वाद्यों का विस्तारपूर्वक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि भारतीय संगीत में हजारों वाद्यों का प्रयोग होता है जैसे कुछ लोक वाद्य ऐसे है जो अलग अलग प्रान्तों में प्रयोग किए जाते हैं । मुझे किसी भी लोक वाद्य का शास्त्रीय आधार नहीं प्राप्त हो सका । दक्षिण भारत के शास्त्रीय संगीत के साथ प्रयुक्त होने वाले तालवाद्यों में प्रमुख तो मृदंगय, परवावय, मुरज अथवा मादल के साथ साथ घटम का भी प्रयोग अधिक होता है । ठीक उसी प्रकार उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के साथ संगत के रूप में प्रयोग करने के लिए तबला ही मुख्य वाद्य है जो मध्य कालीन युग से प्रचलित है । तबला धीरे धीरे बहुत ही लोकप्रिय वाद्य हो गया है । उत्तर भारतीय लोकसंगीत में प्रयोग किए जाने वाले प्रमुख तालवाद्य ढोलक है । जहाँ संगीत बिना तबले के संगत से अधूरा लगता है उसी प्रकार जहाँ लोक संगीत का चर्चा होता है तो तुरन्त ढोलक की बात आती है । यह भी बहुत प्राचीन वाद्यो में गिने जाते है ।

ढोलक

उत्तरभारताय लोकसंगीत का चर्चा होते ही सर्वप्रथम ताल देने के लिए ढोलक का नाम जबान पर आता हे । यह वाद्य भी प्राचीन वाद्यों में आता है । इसका आकार 18 से 20 इंच लम्बा तथा अंदर से पोला दाहिने तरफ इसका मुह का चौड़ाइ 10 से 12 अंगुल तथा बाए तरफ की चौड़ाई चार अंगुल ज्यादा । इस वाद्य को कसने कें लिए रस्सी का तथा छलेला का प्रयोग किया जाता है । उत्तर भारतीय लोग संगित का यह एक मात्र तालवाद्य है ।[1]

मृदंग, पखावज, मुरूज तथा मार्दल

सुधाकलश में भगवान शंकर को मृदंग तथा मुरज का आविष्कारक बताया गया है । प्राचीन ग्रन्थों में मृदंग, पणव तथा दर्दुर को पुष्कर वाद्य कहा गया है । इन पुष्कर वाद्यों की जिनमें मृदंग प्रमुख है उत्पत्ति बताते हुये महर्षि भरत ने कहा है:[2]

वर्षा ऋतु में अनध्याय के दिन पानी लेने के लिए स्वाति मुनि पुष्कर के किनारे गये, आकाश मेघाच्छादित था तथा वर्षा हो रही थी, तेज हवा के साथ जो पानी की बूंदे कमल के पत्तों पर पड़ रही थीं उनसे एक विशेष प्रकार की अनुरंजन ध्वनि उत्पन्न हो रहीं थीं जिसे उन्होंने अचानक

---

1. चित्र नं.
2. गीत पारिजात, वाद्याध्यायः, श्लोक सं.-56, 57, 58

सुना तथा उन्हें बड़ा आश्चर्यजनक लगा, इसलिए उन्होंने इसे फिर ध्यान से सुना । यह देखकर कि उस ध्वनि का नाद ऊँचा-नीचा तथा मध्य स्थानीय होने के साथ-साथ गंभीर मृदु तथा कर्णप्रिय भी था । जब वे अपनी पर्णकुटी में लौटे तो उन्होंने उसी ढंग का ध्वनियों से युक्त 'विश्वकर्मा' की सहायता से मृदंग, पणव और दर्दुर जैसे पुष्कर वाद्यों की रचना की । उसके बाद उन्होंने इन वाद्यों के दोनों मुखों को चमड़े से कस दिये तथा उन्हें तंत्रियों से कसा ।

ऐतिहासिक दृष्टि से मृदंग, मुरज आदि का उल्लेख वैदिक साहित्य (वांगमय) में प्राप्त नहीं होता फिर भी जिस प्रकार मृदंग आदि का नाम बालमीकि रामायण में प्रयुक्त होता है, उससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रामायण काल से अनेक वर्षों पूर्व इन वाद्यों का प्रचार हो चुका था । रामायण के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि उस समय अवनद्ध वाद्यों में मृदंग का सर्वाधिक प्रचार था । रामायण में मृदंग तथा मुरज का अलग-अलग वर्णन मिलता है।[1] जिससे यह समझना चाहिए कि इन वाद्यों के रूप में कुछ अन्तर अवश्य था । महाभारत में भी मृदंग तथा मुरज के अलग-अलग नाम उपलब्ध होते हैं। कालीदास के साहित्य में मर्दल, मुरज तथा मृदंग इन तीनों का उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है । महर्षि भरत के समय तक मृदंग तथा मुरज का उल्लेख तो प्राप्त होता है, परन्तु मर्दल का कहीं उल्लेख नहीं मिला । शारंगदेव ने मुरज तथा मार्दल को मृदंग का ही पर्याय माना है[2] । अभिनव गुप्ताचार्य ने मुरज को मृदंग का पर्याय बताया है । इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मृदंग मुरज का ही पर्याय है । बालमीकि रामायण में मुरजेषु मृदंगेषु का एक साथ प्रयोग एक ही स्थान पर हुआ है, अन्य स्थानों पर केवल मृदंग शब्द का ही व्यवहार किया गया है । मुरज, मृदंग के पर्याय होने के कारण ही महर्षि भरत ने कहीं-कहीं मृदंग शब्द के लिए मुरज शब्द का प्रयोग किया है । शारंगदेव ने मार्दल को भी मृदंग का पर्याय माना है । महर्षि भरत ने मार्दल का कहीं उल्लेख नहीं किया । कालीदास के साहित्य में मार्दल का उल्लेख कहीं-कहीं प्राप्त होता है । मध्य युग में भारत का संबंध

---

1. सुन्दर काण्ड, सर्ग-11
2. संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय:

संस्कृत से पुनः जुड़ जाने के कारण मर्दल के स्थान पर मृदंग शब्द की पुनर्प्रतिष्ठा हो गई।

नाम परिवर्तन से मृदंग का वह रूप जो प्राचीन काल से महर्षि भरत के समय तक रहा, कब लुप्त हो गया, इसका कोई प्रमाण नहीं है। जिस वाद्य को आज हम उत्तर भारतीय मृदंग अथवा पखावज मानते हैं, दक्षिण भारतीय जिसे अपना मृदंगम् कहते हैं, वह भरत कालीन मृदंग का केवल एक भाग है। मृदंग में यह परिवर्तन लगभग सातवीं शताब्दी से होने लगा था जो सारंगदेव के समय तक पूरी तरह बदल गया। यद्यपि सारंगदेव ने मर्दल को मृदंग का पर्याय बताया है किन्तु यह भी कह दिया है कि उस समय भरत कालीन मृदंग का प्रचार नहीं है, इसलिए मैं मर्दल का ही वर्णन करता हूँ[1]। सारंगदेव ने कहा है कि मृदंग को पुष्करत्रय कहते हैं[2]। भरत रचित नाट्यशास्त्र में ऐसा कई स्थान हैं जहाँ मृदंग को पुष्करत्रय कहकर पुकारा गया है[3]। अतः यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि जैसे आज तबले के दो भाग हैं, ठीक उसी प्रकार भरत के समय में मृदंग के तीन भाग थे। कुछ विद्वान महर्षि भरत द्वारा बताये हुये मृदंग के रूप को देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि उस समय कोई त्रिमुखी ताल वाद्य प्रचार में अवश्य था। कुछ विद्वान यह कहते हैं कि महर्षि भरत पणव, दर्दुर आदि का वर्णन तो किये हैं, परन्तु मृदंग का कोई नाप-जोख नहीं दिया है। जिन महर्षि भरत ने अवनद्ध वाद्यों में मृदंग को सर्वश्रेष्ठ माना है, उसके वादन की विधिवत रूप से वर्णन भी किया है, यथा- मार्जना विधि, हस्त संचालन आदि। उसके काठ, चर्म आदि के गुण-दोषों पर विचार भी किया है। उसके आकार-प्रकार का भी वर्णन किया है। ऐसा विश्वास नहीं होता, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर यह मालूम होता है कि भरत ने मृदंग के आकार-प्रकार का विधिवत् वर्णन किया है। वास्तव में महर्षि भरत ने मृदंग का जिस प्रकार वर्णन किया है, वह सामान्य रूप से भ्रामक प्रतीत होता है क्योंकि एक ओर तो उन्होंने मृदंग के तीन रूप बताये हैं- हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छा[4] जिसमें यह तीनों मृदंग के ही रूप भेद प्रतीत होते हैं किन्तु उसके बाद ही उन्होंने यह

1. संगीत रत्नाकर- 6/1028
2. संगीत रत्नाकर 6/1027
3. भरत नाट्यशास्त्र- अध्याय-34
4. संगीत रत्नाकर 6/1027

भी कहा है कि आंकिक का हरीतकी के समान, ऊर्ध्वक ऊर्ध्वक का यवा के समान तथा आलिंग्य का गोपुच्छा के समान रूप होता है ।

उक्त वर्णन से ऐसा भ्रम होता है कि मृदंग, आंकिक, ऊर्ध्वक, आलिंग्य आदि भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, किन्तु यह सत्यनहीहै । जिस प्रकार आज तबला शब्द का व्यवहार होता है अर्थात् तबला कहने से उसके दायें तथा बायें इन दोनों भागों का बोध होता है और तबला कहने पर केवल दायां तबला का अर्थ भी समझा जाता है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन काल में उक्त तीनों रूपों को मिलाकर ही मृदंग समझा जाता था। तब उन्हें आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य कहकर पुकारते थे। आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य मृदंग के ही हिस्से थे, इस बात का प्रमाण चौंतीसवें अध्याय में महर्षि भरत के अनेक वचन प्राप्त होते हैं । श्री मनमोहन घोष ने नाट्य शास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ-162 में नोट 8।113 में आलिंग्य के नाम का विश्लेषण करते हुये लिखा है :

उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्री घोष ने आलिंग्य को वादक के शरीर से आलिंगित कहने वाला वाद्य माना है, किन्तु वे भी यह नहीं समझ पाये हैं कि आलिंग्य कोई स्वतंत्र वाद्य नहीं बल्कि यह भी मृदंग का ही एक भाग मात्र है ।

भरत कालीन मृदंग का उपर्युक्त रूप निर्धारित करने के साथ-साथ यहां यह भी बताया गया है कि उक्त मृदंग के यद्यपि तीन हिस्से होते थे, किन्तु उसका वह भाग जो लेटा रहता था, उन खड़े रहने वाले भागों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था । उस काल के कुछ ऐसे बोलों का वर्णन भी भरत नाट्यशास्त्र में आया है जिनका वादन केवल आंकिक के वाम तथा दक्षिण मुखों द्वारा किया जाता था । जिसका स्वयं महर्षि भरत का आंकिक के साथ मृदंग शब्द का कई बार जोड़ देना[1] इस बात की ओर संकेत करता है कि मृदंग का आंकिक भाग ही प्रमुख था । मृदंग का रूप वर्णन करते हुये भी पहले आंकिक का ही वर्णन किया है । नाट्यशास्त्र के अनुसार आंकिक

1. भ. ऊर्ध्वगती.

का हरीतकी रूप था जिसकी लम्बाई साढ़े तीन बालिस्त तथा मुख 12 अंगुल के व्यास का होता था[1] ऊर्ध्वक चार बालिस्त लम्बा तथा 14 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[2] ।

मृदंग का आलिंग्य भाग 3 बालिस्त लम्बा तथा 8 अंगुल व्यास के मुख वाला होता था[3] ।

---

1. भरत नाट्य शास्त्र 34/45 पृ0 417
2. भरत नाट्य शास्त्र, अ. 34/257
3. भरत नाट्य शास्त्र 34/258

अवनद्ध वाद्यों का चमड़ा

मृदंग में लगने वाला चमड़ा न तो पुराना हो, न ही कटा-फटा, न कीट के द्वारा हत किया हुआ हो, न मोटा हो तथा आग अथवा धूप से खराब न हुआ हो। चमड़े का रंग नवीन पल्लव के समान अथवा हिम तथा कुन्द के समान श्वेत एवं चमकदार हो एवं समस्तदोषों से रहित हो। ऐसे चमड़े को रोम रहित कर, पानी में भिगोकर रखा जाय तथा दूसरे दिन उसे निकाला जाय, पहले उसका खूब मर्दन किया जाय, बाद में मृदंग पर चढ़ाया जाय। इस प्रकार से निर्मित मृदंग आदि वाद्यों की वादन क्रिया का नाट्य शास्त्र में विशद विधान उपलब्ध होता है।

मृदंग का ढांचा

मृदंग का ढांचा खैर या रक्त चन्दन का काठ लेकर कुशल कारीगर सेबनवाया जाता है, इसका मध्य साढ़े इक्कीस अंगुल मोटा और लम्बाई 12 मुठ होनी चाहिए। दाहिना भाग 14 अंगुल मोटा और बांया 13 अंगुल के करीब, फिर दो लोहे अथवा काठ के कड़े, दोनों मुखों पर चढ़ाइये। इन कड़ों में एक अंगुल के अन्तर से 20-20 छेद होता है, दोनों मुख चाम से मढ़कर उस पात्र को कड़े से लपेट दिया जाता है। कड़े के छेदों में चाम की डोरी डालकर उन्हें खींचकर चाम को कसा जाता है। दाहिनी मुखके चमड़े में छः अंगुल प्रमाण से गोलाकार लौह चूर्ण की स्याही जमाया जाता है। बाये मुख के चमड़े में, जब बजाना हो तब, गेहूं की चून की 6 अंगुल पूरी पानी से सानकर लगाया जाता है। इस मृदंग के तीन भेद हैं :

1) मृदंग
2) मुरज
3) मार्दल

इन तीनों को ही मृदंग कहते हैं। इस मृदंग के मध्य में ब्रह्मा का वास है। बाये मुख में विष्णु का दाहिने मुख में शंकर भगवान का और मृदंग के काठ, कड़ा आदि में 33 कोटि देवता वास करते हैं। इसी से इसका नाम सर्वमंगल भी है।

मृदंग का पाटाक्षर

दाहिने मुख में :

1- त, 2- थि, 3- थी, 4- टं, 5- ने, 6- हं, 7- टे.
यह सात अक्षर होते हैं ।

बांये मुख में : 1- ठ, 2- र, 3- स्था, 4- द, 5- धं, 6- ला.
यह छः अक्षर होते हैं, पटह के प्रकार आदि लेकर सोलह पाटाक्षर होते हैं ।

अकारादि स्वरों के प्रति उदाहरण

1- झक, 2- तक, 3- थिक, 4- नक, 5- कुक, 6- न्ड 7- किट दे, 8- धेय, 9- किरन्ट, 10- कल, 11- धल, 12- धल, 12- धीहं, 13- किट, 14- किड़ि 15- गिड, 16- धिमि, 17- झगु इत्यादि ।

अकारादि स्वरों के उदाहरण

1- जग, 2- झग, 3- टंकु, 4- धक्ड 5- जड, 6- तत, 7- धां, 8- दंदां, 9- धलां, 10- नग, 11- ननगि, 12- किट, 13- किड, 14- किष, 15- गिगि, 16- टिंटिंक, 17- दिगि, 18- थिथि, 19- टिट, 20- कुकु, 21- कुन्दरिक, 22- तुतु, 23- क, 24- झे, 25- थे, 26- थों, 27- थों, झे, 28- थे 29- धेय ।

बोलों के निकालने की रीति

त- अंगूठा, कनिष्ठा तथा अनामिका दबाकर बजाने से "त" निकलेगा।

थि- वाममुख में हथेली से तथा दक्षिण मुख में छोटी उंगली से ताड़न करने पर "थि" निकलेगा ।

थी- अंगूठा छोड़कर दाहिने मुख पर उंगलियों से छूट के साथ ताड़न करने पर "थी" निकलेगा ।

न- मृदंग के मुख के किनारे अनामिका के अगले भाग से ताड़न करने पर "न" निकलेगा ।

कि- अनामिका तथा मध्यमा को मिलाकर पताका रीति से प्रहार करने पर "कि" उत्पन्न होगा ।

ट- अनामिका तथा मध्यमा द्वारा शिखर रीति से बजाने पर "ट" होगा।[1]

---

1. आधुनिक समय तर्जनी द्वारा स्याही के मध्य भाग पर ताड़न करने से "ट" शब्द निकलता माना जाता है ।

तबला

सितार की भाँति तबले की व्युत्पत्ति तथा विकास से सम्बन्धित अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं । प्रधान ग्रन्थों में कहीं भी तबला नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता । यहाँ तक कि संगीत पारिजात तथा वाद्य प्रकाश जैसे उत्तर-मध्य कालीन ग्रन्थों में भी तबले का उल्लेख नहीं हुआ । तबले के संबंध में इस अन्धकारमय स्थिति का लाभ उठाकर मुसलमान वादकों ने तबले का जन्मदाता अमीर खुसरो को बना दिया है । आधुनिक छोटी-छोटी पुस्तकों में तबले की उत्पत्ति संदेहात्मक बताते हुये अमीर खुसरो के द्वारा इसके निर्माण की बात भी की गई है । कुछ विद्वानों इस बात पर विश्वास नहीं करते कि तबला अमीर खुसरो के द्वारा ही ईजाद किया गया है ।

तबला शब्द की व्युत्पत्ति फारसी के तबल शब्द से मानी जाती है, जिसका सामान्य अर्थ है- वह वाद्य जिसका मुख ऊपर की ओर हो तथा जिसका ऊपरी भाग सपाट हो । विद्वानों का मत है कि इसी तबल शब्द से अंग्रेजी का शब्द टेबुल बना है। अरब देशों के दुन्दुभि के समान आकृति वाले वाद्यों को तबल कहा जाता था । तबल एक प्रकार का नगाड़ा था जो युद्धरत सैनिकों में जोश उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था । यह वाद्य आगे बढ़ती हुई फौज के पीछे-पीछे चलता था । इसी भाव को व्यक्त करते हुये जायसी ने पदमावत में कहा है :

हौं पंडितन्ह केर पछलगा ।
कहु कहिचला तबल देइगा ।।

यद्यपि भारत में दुन्दुभि, भेरी, निसान आदि नगाड़ा जाति के वाद्य मौजूद थे फिर भी मुसलमानों के द्वारा विजित हो जाने के कारण इन्हीं वाद्यों अथवा इन्हीं वाद्यों से मिलते-जुलते होने के कारण इनके द्वारा प्रयुक्त नामों का जनसाधारण में ज्ञान का अभाव इन नामों के प्रचार में और सहायक हुआ ।

तबला की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानों ने भरत कालीन दर्दुर वाद्यों से मानी है। दर्दुर वाद्य चमड़े का मढ़ा हुआ घट था जिसका मुख ऊपर की ओर था किन्तु वह दो भागों में न था । वास्तव में तबले का विकास प्राचीन मृदंग से ही हुआ । मृदंग के वर्णन में यह बताया गया है कि प्राचीन मृदंग तीन भागों में होती थी । एक भाग गोद में रहता था तथा दूसरे दोनों भाग सामने ऊर्ध्वमुखी रखे जाते थे । यह भी बताया गया है कि मृदंग के तीन भागों में छठीं-सातवीं

शताब्दी में परिवर्तन होने लगा तथा उसके बाद कुछ दिनों तक एक गोद का भाग तथा खड़ा वाला भाग प्रयुक्त होता रहा और अन्त में मृदंग का वह एक ऊर्ध्वमुखी भाग भी हट गया और केवल उसका आंकिक भाग ही मृदंग अथवा मार्दल के नाम से प्रचलित रह गया । इसी काल में मृदंग के दोनों ऊर्ध्वमुखी भागों का अथवा आंकिक भाग का ही दो ऊर्ध्वमुखी के रूप में अलग वादन होता रहा किन्तु शास्त्र सम्मत न होने के कारण तथा उनका विशेष नाम न होने के कारण उसका उल्लेख शास्त्र ग्रन्थों में नहीं किया गया । मृदंग के उक्त दोनों भागों की यह संदिग्ध अवस्था लगभग 17वीं शताब्दी तक रही । उस काल तक इसमें दो सामान्य परिवर्तन हो चुके थे । एक तो इनकी लम्बाई कम कर दी गयी तथा दूसरे मृदंग के दक्षिणी भाग की भांति इसके भी दक्षिण भाग में मिट्टी के लेप के स्थान पर लौह चूर्ण से बने मसाले का प्रयोग होने लगा था । वाम पार्श्व में इस समय भी आटा की पूलिका ही लगाई जाती थी । इस वाद्य का प्रचार उन निम्न स्तरीय लोगों में था जो इसे कमर में बांधकर बेड़िनों । निम्न स्तर की नर्तकियों। के नाच के साथ बजाते थे । घराने दार संगीतज्ञों ने इसे नहीं अपनाया था । जनसाधारण के लिएयह सरल एवं भारतीय परम्परायुक्त होने के कारण भजन, कीर्तन आदि में भी प्रयुक्त होने लगा था । फिर भी इसके नाम का स्थिरीकरण नहीं हुआ था । कुछ लोगों की यह भी धारणा थी कि प्राचीन पणव को जिसे मध्य काल में आवज या हुडुक कहते थे, बीच से अलग कर यह वाद्य बना है । संगीत सार जो आज वाद्यों के वर्णन में स्वतंत्र दिखाई पड़ता है, तबला वादकों के इतिहास पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि इसके प्रथम प्रसिद्ध उस्ताद सिद्धार खां थे जो दतिया के प्रसिद्ध मृदंग वादक कुदऊ सिंह के समकालीन थे । यह वह जमाना था जब भारतीय संगीत की महफिलों में तीन पंथ पखावज, ढोलक तथा तबला एक-दूसरे से टक्कर ले रहे थे । मृदंग का स्थान इनमें सर्वश्रेष्ठ था, किन्तु दूसरा स्थान तबले को मिले अथवा ढोलक को, यह निर्णय नहीं हो पा रहा था । मृदंग और ढोलक, मृदंग और तबला, तबला और ढोलक वादकों में अपनी विद्वता के प्रदर्शन तथा वाद्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से नवाबों तथा शौकीन राजाओं की महफिलों में प्रतियोगिताएं होती रहती थीं । इन प्रतियोगिताओं में जो विजयी होता था उसे दरबार की ओर से अपार धनराशि तथा जागीरें प्राप्त होती थीं । तबला मृदंग की भांति खुले हाथों से बजाया जाता था । तबला पर बन्द बोलों का वादन सुधार खां द्वारा शुरुआत की गई।

बन्द बोलों के कारणही प्रारंभिक दिनों में तबले का अपना अलग व्यक्तित्व बना । आगे चलकर इसी बंद बोलों के बाज को दिल्ली बाज के नाम से पुकारा जाने लगा । इन्हीं दिनों गायन शैलियों में ख्याल का प्रचार भी बढ़ने लगा साथ ही साथ तंत्र वादन में सितार का भी प्रचार बढ़ा । तबले का प्रारंभिक विकास नर्तन क्रियाओं के कारण हुआ था । सर सुरेन्द्र मोहन टैगोर द्वारा पाश्चात्य विद्वानों के लेखों का एक संग्रह 1875 ई0 में तथा दूसरा संग्रह 1882 ई0 में हिन्दू म्यूजिक के नाम से प्रकाशित हुआ । इनमें उस युग का उन महफिलों का अधिक वर्णन था जिनको लेखक ने आँखों से देखा था । इन महफिलों में नर्तकी खड़ी होकर गाती तथा नाचती थी । उसकी संगति के लिए सारंगी वादक, तबला वादक तथा मंजीरा वादक भी खड़े होकर वादन करते थे । इन नर्तकियों का समाज में कोई स्थान नहीं था । इनके साथ रहने के कारण तबला वादक भी अत्यन्त हेय समझे जाते थे । तबला वादकों की इस दयनीय दशा में परिवर्तन उस समय से प्रारम्भ हुआ जब से ख्याल तथा सितार का प्रचार बढ़ने लगा । के0एन0 विलर्ड ने अपनी पुस्तक "म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान" में तबले का वर्णन करते हुये लिखा है कि तबला-मृदंग तथा ढोलक के बाद का वाद्य है । यह मृदंग की भाँति ही बजाया जाता है किन्तु इसे मृदंग से हल्के दर्जे का माना जाता है ।

तबले की उत्पत्ति चाहे जब हुई हो परन्तु उनका वर्तमान रूप सुधार खाँ के युग का ही है । उसमें प्रयुक्त होने वाले अधिकांश आधुनिक बोल सुधार खाँ के बाद के ही हैं । वास्तव में तबला साहित्य को विस्तार प्रदान करने के लिए तबला वादकों ने कई प्रकार के ताल वाद्यों का नटवरी नृत्य में प्रयुक्त होने वाले बोलों को आत्मसात कर लिया जैसे- ढोलक, नक्कारे आदि से लग्गी तथा किनार के बोल । मृदंग से परन , रेला आदि नटवरी नृत्य से मुखड़ा, परन गति आदि । इस प्रकार वर्तमान समय में तबला साहित्य विश्व के किसी भी ताल वाद्य साहित्य की अपेक्षा विशाल तथा पेचीदा हो गया है । तबले में पूंजा से कम तथा उंगलियों से अधिक काम लिया जाता है जिसके कारण उसमें बोलों को जितना द्रुत में बजाया जा सकता है, उतना किसी अन्य ताल वाद्य में संभव नहीं है । आजकल भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में श्रेष्ठ ताल वाद्य माना जाता है ।

मृदंग की उत्पत्ति, विकास एवं घराने

अधिकतर विद्वानों के मतानुसार मृदंग भारतीय संगीत का आदि ताल वाद्य है जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा हुई । भगवान शंकर ने जब त्रिपुरासुर नामक राक्षस का वध किया तो आनन्द विभोर होकर उन्होंने तांडव नृत्य करना शुरु कर दिया, परन्तु वह नृत्य लय विहीन था, अतः इससे पृथ्वी डांवा डोल होने लगी । जगत्स्रष्टा ने जब देखा कि जब देखा की पृथ्वी रसातल में जा रही है तो वे भयभीत हुये और प्रलय निवारण हेतु उन्होंने तुरन्त त्रिपुरासुर के शरीर के अवशेष से मृदंग की रचना करके शिवजी के तांडव के साथ ताल देने के लिए उनके पुत्र श्री गणेश जी को प्रेरित किया । गणेश जी के मृदंग वादन से प्रभावित होकर भगवान शंकर भी ताल में नृत्य करने लगे और इस तरह मृदंग का उद्‌भव हुआ, साथ-साथ ताल का भी प्रादुर्भाव हुआ और पृथ्वी रसातल में जाने से बच गई ।[1]

पुष्कर वाद्यों के लिए नाट्य शास्त्र में भी एक उल्लेख है :

"स्वाति और नारद संगीत वाद्यों के आदि कर्ता हैं । एक बार स्वाति एक सरोवर में पानी भरने गयीं, अचानक वर्षा होने लगी, वायु वेग से सरोवर में पानी की बड़ी-बड़ी बूँदों के कारण पद्म की छोटी-बड़ी और मझोली पंखुड़ियों पर वर्षा बिन्दुओं के आघात से विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगीं । उनकी अव्यक्त मधुरता को सुनकर आश्चर्य चकित स्वाति ने ध्वनियों को अपने मन में धारण कर लिया और आश्रम में पहुँचते ही विश्वकर्मा को इसी तरह के शब्द उत्पन्न करने के लिए एक वाद्य बनाने का आदेश दिया । फलतः 3 मुखों से युक्त "मृद्" (मिट्टी) से पुष्कर नाम के वाद्य की सृष्टि हुई । बाद में उसका पिण्ड लकड़ी या लोहे से बनाया गया, तब से मृदंग चमड़े से मढ़े हुये वाद्यों की सृष्टि हुई ।[2]

भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में हमें सर्व प्रथम मृदंग के आकार-प्रकार तथा शैली का विषद् वर्णन मिलता है, जो हमारी कला, संस्कृति का मूल ग्रन्थ माना जाता है । भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में पुष्कर वाद्यों के रूप में मृदंग, पणव और दुर्दुर की चर्चा की है और मृदंग को त्रिपुष्कर कहकर उसके तीनों अंगों का विस्तृत विवेचन किया है ।[3]

---

1. ताल अंक पृष्ठ संख्या-49, संगीत कार्यालय, हाथरस.
2. संगीत शास्त्र, श्री वासुदेव शास्त्री, अवनद्ध वाद्य अध्याय पृ०सं०-273.
3. भरत नाट्य शास्त्र (बड़ौदा प्रकाशन) 34/9.

हमारी भारतीय संस्कृति का ज्ञान समृद्धि वेदों में संकलित है। वैदिक काल में संगीत अपने चर्मोत्कर्ष पर था । सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों में इसका प्रयोग अनिवार्य समझा जाता था । स्त्रियों में भी उसका काफी प्रचार था और साधारण जनता में संगीत के प्रति सम्मान की भावना व्याप्त थी। वैदिक साहित्य में दुन्दुभि, भू-दुन्दुभि जैसे अवनद्ध वाद्यों का तो उल्लेख उपलब्ध है, परन्तु कहीं भी मृदंग शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । इससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में मृदंग का आविष्कार नहीं हुआ था ।[1]

पौराणिक काल में वीणा, दुन्दुभि, दुर्दुर, मृदंग, पणव, पुष्कर जैसे वाद्यों का प्रचार था, ऐसा उल्लेख मारकण्डेय पुराण में मिलता है ।

रामायण काल में संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था । रावण स्वयं उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे । अतः उनके राज्य में संगीत और संगीतज्ञों का बहुत आदर होता था । जीवन निर्वाह की चिन्ता न होने के कारण मनुष्य अपना अधिक समय संगीत साधना में देता था ।[2]

रामायण तथा महाभारत काल में वीणा और मृदंग का प्रचार था । तत्कालीन समाज के धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों का जो वर्णन मिलता है, उसमें मृदंग तथा मुरज वादन का निर्देश हमें बार-बार मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों मृदंग काफी प्रचलित था ।[3] अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक काल के बाद और रामायण काल से बहुत पूर्व, मृदंग का प्रचार हो गया था ।

रामायण, महाभारत में मृदंग के साथ-साथ मुरज का वर्णन भी मिलता है । संगीत रत्नाकर में आचार्य शारंगदेव ने मुरज तथा मर्दल को मृदंग का ही पर्याय बताते हुये कहा है :

"निगदन्ति मृदंगं तं मर्दलं मुरजं तथा ।
प्रोक्तं मृदंगशब्देन मुनिना पुष्करत्रयम् ॥ 1027 ॥[4]

---

1. भारतीय संगीत वाद्य: डा०लालमणि मिश्र, पृष्ठ-88
2. (अ) भारतीय संगीत का इतिहास-भगवत शरण वर्मा पृष्ठ 21-23
   (ब) भारतीय संगीत का इतिहास-उमेश जोशी, पृष्ठ-105.
   (स) संगीत का संक्षिप्त इतिहास- श्री कोकहुनी ।
3. (अ) बाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, सर्ग-11
   (ब) भारतीय संगीत वाद्य-डा०लाल मणि मिश्र, पृष्ठ-89.
4. संगीत रत्नाकर : पं०शारंगदेव:अनुवाद पं०एस०सुब्रह्मण्यम् शास्त्री, वाद्याध्याय: श्लोक 1027.

भरत मुनि ने भी मुरज को मृदंग का ही पर्याय माना है तथा उसे अवनध वाद्यों में सर्वश्रेष्ठ बताया है। उन्होंने जिस प्रकार मृदंग का त्रिपुष्कर के रूप में वर्णन किया है, उससे प्रमाणित होता है कि उन दिनों मृदंग के तीन भाग थे। अर्थात् तीनों भागों को मिलाकर ही मृदंग वाद्य समझा जाता था। उन तीन भागों के नाम आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य थे।

यद्यपि कुछ विद्वानों की यह भ्रामक मान्यता है कि आंकिक, उर्ध्वक और आलिंग्य तीन पृथक वाद्य थे, तथापि भरत के नाट्य शास्त्र के आधार पर त्रिपुष्कर के तीन भग थे, जिन्हें भरत मुनि ने क्रमशः हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छ भी कहा हैं।[1]

हरीतकी त्वयाकृतिस्त्वंको यवमध्यस्तथोर्ध्वगः ।

आलिंग्यश्चैव गोपुच्छ:आकृत्या सम्प्रकीर्तितः ।।[2]

त्रिपुष्कर के तीन भागों में से दो खड़े होते थे जिन्हें उर्ध्वक, और आलिंग्य कहा जाता था और लेटे हुये भाग को आंकिक कहा जाता था, जो अंक में रखकर बजाया जाता था। सातवीं सदी के बाद जैसे-जैसे त्रिपुष्कर की इस आकृति में परिवर्तन होता गया और बारहवीं शताब्दी तक अर्थात् शारंगदेव के समय तक वह पूरी तरह परिवर्तित हो गया। उसमें ऊर्ध्वक और आलिंग्य हिस्से हट गये और आंकिक जो कि अंक में रखकर बजाया जाता था, वहीं भाग बच गया जो आगे चलकर मृदंग या मुरज के नाम से प्रचलित हुआ। अर्थात आजकल हम जिस वाद्य को उत्तर भारत में मृदंग या पखावज तथा दक्षिण भारत में मृदंगम के नाम से सम्बोधित करते हैं, वह भरत कालीन मृदंग का केवल एक भाग ही है।[3] ऐसा अनुमान है कि भरत से लेकर शारंगदेव तक जो जाति और प्रबंध गायन किसी न किसी रूप में प्रचलित था, उसमें मृदंग के एक ही रूप का प्रयोग होता होगा। आगे चलकर मध्य युग में प्रबंध गायकी तथा ध्रुपद गायकी के साथ भी वह प्रयोग प्रचलित रहा होगा। बाद में मध्य कालीन मृदंग कालक्रम से अल्प परिवर्तन के साथ पखावज में परिष्कृत हुआ होगा। अतः यह सत्य है कि प्राचीन एवं मध्य कालीन संगीत पद्धति का प्रमुख ताल वाद्य मृदंग ही था।

---

1. भारतीय संगीत वाद्य : डा0लालमणि मिश्र-पृष्ठ, 89
2. भरत नाट्य शास्त्र : 34 वां अध्याय : श्लोक सं0 255
3. भारतीय संगीत वाद्य : डा0लाल मणि मिश्र, पृष्ठ-17.

भारत के आधुनिक ताल वाद्यों की उत्पत्ति तथा विकास में भी हमें भरत कालीन त्रिपुष्कर के तीनों हिस्सों का प्रभुत्व देखने को मिलता है जैसे- ढोलक, पखावज, खोल आदि के विकास में आंकिक का महत्व देखने को मिलता है और तबले [दायें] पर ऊर्ध्वक और आलिंग्य का प्रभाव । आधुनिक तबले [बायें] का आविष्कार इन प्राचीन त्रिपुष्कर के खड़े भागों पर हो, यह भी संभावित हो सकता है ।

मृदंग का नामकरण

संस्कृत भाषा का शब्द मृदंग दो शब्दों की संधि से बना है मृत + अंग। मृत अर्थात मिट्टी और अंग शब्द के दो अर्थ निकलते हैं- [1] शरीर [2] अंश अथवा भाग । अतः मृदंग शब्द के दो अर्थ निकाले जा सकते हैं :-

[1] ऐसा वाद्य जिसका शरीर और अंग मिट्टी का बना हो,

[2] ऐसा वाद्य जिसका शरीर और अंश मिट्टी का बना हो ।

प्राचीन काल से हमारे भारतीय ताल वाद्यों पर स्वर की उत्पत्ति अर्थात् चमड़े पर स्वर का निर्माण महत्वपूर्ण बात समझी जाती थी । यद्यपि पाश्चात्य संगीत में "हारमोनिक नोट्स" का अत्याधिक महत्व है फिर भी वहाँ के किसी भी अवनद्ध वाद्य पर स्वर की उत्पत्ति नहीं होती । हमारे यहाँ के अवनद्ध वाद्यों पर स्वर के मिलाने का चलन रहा है । भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में अवनद्ध वाद्यों में स्वर की उत्पत्ति के लिए मिट्टी के लेप [स्याही] की विस्तृत चर्चा की है । नदी किनारे की श्यामा मिट्टी से किस प्रकार लेप तैयार किया जाता था, इस विषय में विशद वर्णन उन्होंने नाट्य शास्त्र में किया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि भरत मुनि के पूर्व भी यहाँ मृदंग को स्वर में मिलाया जाता रहा होगा । त्रिपुष्कर के तीनों मुखों पर स्वर निर्माण की चर्चा भरत मुनि ने की है ।

हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने तथा संगीतज्ञों ने क्रियात्मक रूप से देख लिया होगा तथा इस बात का परीक्षण करने के बाद यह अनुभव किया होगा कि मिट्टी के लेप से चमड़े पर स्वर की उत्पत्ति हो सकती है । ताल वाद्य पर स्वर की उत्पत्ति संसार को भारत की ही देन है। स्वर निर्मिति की भारत की इस प्रक्रिया को प्राचीन काल से ही इतना महत्वपूर्ण समझा गया होगा कि वह लेप जो कि उन दिनों श्यामा मिट्टी का हुआ करता था और जो इस ताल वाद्य का एक महत्वपूर्ण अंश था, इसके ऊपर से इस वाद्य का नाम ही मृदंग

पड़ गया होगा । अतः इसी कारण इस वाद्य का नाम मृदंग पड़ गया होगा । अतः मृदंग नाम मिट्टी के अंग वाले वाद्य से ही नहीं बल्कि विशेषपूर्ण कलेवर का एक अंग अर्थात् जिसकी स्याही यथाभा मिट्टी के लेप से बनाई जाती थी और जिसके कारण स्वर का निर्माण संभावित हो सका हो, उसी लेप के ऊपर इस वाद्य का नाम मृदंग पड़ा होगा, ऐसा प्रतीत होता है ।

<u>मृदंग तथा पखावज में अन्तर</u>

प्राचीन तथा मध्य कालीन संगीत का मुख्य ताल वाद्य मृदंग था । मध्यकालीन ध्रुपद गायन शैली में मृदंग का ही महत्व सर्वसम्मत था, परन्तु मृदंग के स्थान पर पखावज शब्द का प्रयोग मध्य युग से प्रारम्भ हुआ । यह परिवर्तन मुगलकाल के बाद से प्रतीत होता है । 15 वीं शताब्दी तक किसी भी पुस्तक में पखावज शब्द का उल्लेख नहीं मिलता । केवल यह अनुमान ही लगाया जाता है कि मध्य युग में ध्रुपद-धमार गायकी की संगत के लिए भरत कालीन मृदंग की आकृति और आवाज में कुछ परिवर्तन हुआ होगा जिसके फलस्वरूप वह पखावज कहलाने लगा होगा । यह परिवर्तन ध्रुपद-धमार गायकी के अनुरूप संगत की क्रियात्मक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर गाम्भीर्य एवं रसोत्पत्ति हेतु हुआ होगा । वैसे देखा जाय तो पखावज भरतकालीन मृदंगम का ही परिष्कृत रूप है ।

मध्य युग में उत्तर भारत में मृदंग का क्रियात्मक नाम पखावज हो चुका था । मृदंग के पुरातन रूप में अधिक परिवर्तन न होने के कारण मृदंग और पखावज एक ही वाद्य के नाम प्रतीत होते थे, कभी मृदंग कहा जाता था, कभी पखावज । अकबर युगीन कलाकारों तथा वाद्यों का वर्णन करते हुये आचार्य बृहस्पति ने संगीत चिन्तामणि में उक्त विचार व्यक्त किया है ।[1] मध्यकालीन अष्टछाप काव्य रचनाओं तथा भक्त कवि सूरदास के पदों में भी हमें मृदंग एवं पखावज दोनों शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है । भक्त कवि सूरदास के अनुसार :

> " अतीत अनागत संगीत बिच तान मिलाई ।
> सुरतालउरु नृत्य ध्याइ पुनि मृदंग बजाई ॥ [2]

---

1. संगीत चिन्तामणि - आचार्य बृहस्पति, पृष्ठ- 328.
2. बृहद् सूर सागर, दशम स्कन्ध पद-1069, पृष्ठ-487.

उपर्युक्त के साथ ही दूसरी ओर यह भी कहते हैं :-

" बाजत ताल, पखावज, झालरि, गुन गावत ज्यों हरषत ।
नाचत नटी सुलभ गत उमगन, सुर सुमन सुर बरषत ।।[1]

होली के कुछ पदों में भी सूरदास ने मृदंग और पखावज दोनों शब्दों का प्रयोग किया है ।

॥1॥ ताल, मृदंग, उपंग, चंग, बीना, डफ बाजे । तथा

॥2॥ बाजत ताल पखावज, आवज ढोलक बीना झाँझ ।

मध्यकालीन ग्रन्थकार पं0 अहोबल ने संगीत पारिजात में मार्दल को ही मृदंग कहा है जिसका वर्णन पखावज से मिलता-जुलता है । साधारण रूप में यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि मृदंग और पखावज में क्या अन्तर है ? क्या यह दोनों एक ही वाद्य के नाम हैं?

भारतीय संगीत कोष में विमला कान्त राय चौधरी कहते हैं कि पखावज फारसी शब्द "पख आवज" से बना है । पख आवज का अर्थ है- जिसमें मन्द ध्वनि निकलती हो । आजकल मृदंग के साथ पखावज का आकृतिगत पार्थक्य है । पखावज को भी मृदंग कहा जाता है ।[2] साधारणतया विद्वानों में यह मत प्रचलित है कि मिट्टी के अंग वाला वाद्य मृदंग है और लकड़ी के अंग वाला वाद्य पखावज । पं0राम कृष्ण राय कवि कृत-"भरत कोष" में श्री सोमेश्वर का श्लोक संख्या-504 है जिसमें मृदंग की रचना बीज वृक्ष की लकड़ी से हुआ बताया गया है ।

यद्यपि मृदंग शब्द का अर्थ यही माना जाता है कि जिसका अंग मिट्टी का हो, तथापि उसकी रचना में लकड़ी का प्रयोग होता था । इस तथ्य का प्रमाण सोमेश्वर के एक श्लोक से मिलता है । अतः यह धारणा उचित नहीं बनती है । मिट्टी के अंग वाला वाद्य मृदंग और लकड़ी के अंग वाला-पखावज । कुछ विद्वान मृदंग तथा पखावज एक ही वाद्य के दो नाम मानते हैं, जब कि कुछ लोगों के मतानुसार पखावज आकृति में बड़ा होता है, और मृदंग छोटा । मुगल युग में आम जनता की बोल-चाल की भाषा हिन्दी में शब्द पखावज अथवा पख आवज मृदंग के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा होगा । वैसे मृदंग शब्द, पखावज शब्द में रूपांतरण उसके क्रियात्मक रूप पर आधारित है ।

---

1. बृहद् सूर सागर, पद-1044, पृष्ठ-480 भक्त कवि सूरदास ।
2. भारतीय संगीत कोष-पं0विमलाकान्त राय चौधरी, हिन्दी अनुवाद-मदन लाल व्यास, पृष्ठ-128.

पख + आवज से पखावज और पक्षवाद्य से पखावज शब्द बना है। दोनों का अर्थ एक ही है और दोनों शब्द आजकल व्यवहार में प्रयुक्त दिखाई देते हैं। ऐसा अनुमान है कि ध्रुपद गायन शैली के परिष्कृत रूप को उसके क्रियात्मक प्रयोग के अनुसार पक्षवाद कहना प्रारम्भ किया गया होगा, बाद में वह पखावज बन गया होगा।

श्री बी0चैतन्य देव अपनी पुस्तक में लिखते हैं :-

आज उत्तर भारतीय संगीत परम्परा में मृदंग और पखावज दो पृथक वाद्य नहीं रह गये हैं। भरत कालीन मृदंग की ध्वनि एवं आकार से परिष्कृत सुसंस्कृत रूप जो मध्य युग के बाद पखावज कहलाई है, वही आज मृदंग शब्द का पर्याय बन गया है। अतः जिस वाद्य को हम आज पखावज कहते हैं, वह भरत कालीन मृदंग का ही परिष्कृत रूप है। प्राचीन काल से ही मृदंग शब्द की प्रतिष्ठा इतनी सुदृढ़ रही है कि इस शब्द के संस्कार को छोड़ने की असमर्थता के कारण ही आज भी पखावज को ही मृदंग कहते चले आ रहे हैं।

उत्तर भारत के मृदंग तथा दक्षिण भारत के मृदंगम् के आकार, ध्वनि, वादन शैली आदि सभी बातों में काफी अन्तर सुस्पष्ट होता है। उत्तर भारतीय मृदंग का आकार मृदंगम से बड़ा है तथा उसका नाद मृदंगम की अपेक्षा अधिक गूंजयुक्त और गंभीर है। मृदंगम का चमड़ा भी मृदंग से मुलायम होता है। उत्तर भारतीय मृदंग में जिस प्रकार जोरदार थाप लगाई जाती है, दक्षिण के मृदंगम में नहीं देखने को मिलती। इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसी जोरदार थाप वहाँ की कृति के लिए आवश्यक नहीं है। ध्रुपद में जो

शक्ति, गहनता, गाम्भीर्य एवं ओज है, वह दक्षिण की कृति में नहीं है। अतः वहाँ का मृदंगम्, मृदंग की अपेक्षा मुलायम तथा मृदु है । हो सकता है भरत कालीन मृदंग का प्रागैतिहासिक रूप दक्षिण के मृदंगम में ही सुरक्षित रहा हो । यह सिद्ध हो चुका है कि आचार्य शारंगदेव के समय तक सम्पूर्ण देश में एक ही संगीत प्रणाली थी । तेरहवीं शताब्दी के बाद उत्तर भारत के संगीत पर यवन संगीत और संस्कृति का प्रभाव पड़ना शुरु हुआ, किन्तु दक्षिण भारत उससे अछूता रहा । अतः बहुत से विद्वानों की यह मान्यता है कि आज भी दक्षिण की संगीत परम्परा प्राचीन काल का प्रतिनिधित्व करती है चली आ रही है । अतः वहाँ का मृदंगम जो कि हमारे मृदंग से ध्वनि, आकृति और शैली में भिन्न है, भरत कालीन मृदंग का सच्चा स्वरूप है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मृदंग, पखावज एवं मृदंगम का भरत मुनि के मृदंग तथा शारंगदेव के मार्दल के साथ परम्परागत सम्बन्ध हैं ।

मध्य युग में पखावज की वादन शैली का विकास

मृदंग अतिप्राचीन वाद्य है, किन्तु आधुनिकयुग में पखावज की जिस वादन शैली से हम परिचित हैं, उसका इतिहास बहुत पुराना नहीं है । मध्य युग में ध्रुपद के साथ पखावज का भी प्रचार एवं प्रसार संभवतः मानसिंह तोमर के समय से हुआ । मध्यकालीन ध्रुपद धमार गायन शैली पखावज के विकास का मुख्य कारण है । यद्यपि पखावज की आधुनिक वादन शैली तथा घरानों का विकास 18वीं शताब्दी के पश्चात् ही हुआ दिखाई देता है, तथापि पखावज का प्रचलन मध्यकाल के प्रथम चरण से ही व्यापक था । ध्रुपद धमार शैली धीर गंभीर गायकी के साथ पखावज जैसे गंभीर और गूंजयुक्त ताल वाद्य की संगति ही उपयुक्त है । संगीत सम्राट तानसेन जैसे कलावंत और स्वामी हरिदास जैसे संत गायक ध्रुपद ही गाते थे और उनके साथ पखावज पर ही संगत की जाती थी।

"आनन्द भरि मृदंग मिलि गायन गाये धमार ।"[1]

उन दिनों वीणा, रबाब जैसे तंतु वाद्यों के साथ पखावज की संगत ही होती थी, परन्तु मृदंग पर किस प्रकार के बोल या बंदिशें बजती थीं, इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता । इसका अर्थ यह नहीं कि उन दिनों मृदंग पर ताल, परनों के बोल विद्यमान थे ही नहीं, वह तो परम्परागत चले आ रहे हैं, बल्कि मृदंग का आधुनिक बोल और साहित्य प्राचीन तथा मध्य

1. भरत का संगीत सिद्धान्त-बृहस्पति जी, पृष्ठ-303.

कालीन बंदिशों पर ही आधारित है, ऐसा ही कहा जाता है । हमारे गुणी गायकों ने अपनी आजीवन साधना के द्वारा इसे अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुंचा दिया था और इसे अत्यन्त सम्माननीय स्थान दिलाया था जो विभिन्न घरानों के रूप में सारे देश में सुप्रसिद्ध है ।

मृदंग की कला धर्माश्रय एवं राजाश्रय में सर्वेव विकसित होती रही । धर्म के संदर्भ में भारत के गांव और शहरों के मंदिरों में कीर्तन-भजन के साथ पखावज का प्रचार होता रहा । वैष्णव सम्प्रदाय के महाराजों, महाराष्ट्र के गुरव परिवारों एवं विभिन्न मंदिरों के सेवकों ने पखावज की कला को सीखा और संभाला ।

गत सदी में मृदंग के कुछ उत्कृष्ट कलाकारों को राज दरबारों में दरबारी कलाकार के रूप में भी आश्रय मिला था । ऐसे कलाकारों ने राजे-रजवाणों में रहकर कला की साधना की और प्रचार भी किया तथा शिष्यों को विद्या दान दिया ।

पिछली दो शदियों में भारत में पखावज वादन के क्षेत्र में ऐसे निपुण कला रत्न पैदा हुये हैं जिन्होंने अपनी दीर्घ साधना तथा अप्रतिम कौशल के द्वारा इस क्षेत्र में क्रान्ति का सृजन किया है । लाला भवानी सिंह, कोदऊ सिं, बाबू जोध सिंह, नाना पानसे इत्यादि प्रतिभाशाली कलाकारों ने अपने वादन में अभिनव दृष्टि और विशिष्ट कला सृष्टि का निर्माण किया है, जिसके फलस्वरूप मृदंग के विविध घराने अस्तित्व में आये । यद्यपि आज तबले के बहुमुखी विकास ने पखावज की परम्परा को भारी क्षति पहुंचाई है, तथापि मृदंग की प्राचीन परम्परा का जो आभास हमें कहीं-कहीं, किसी-किसी कलाकार के हाथ में आज भी देखने को मिलता है, वह कलास्वामी, प्रवर्तकों तथा उनके वंशज या शिष्य परम्परा का ही योगदान है, जिन्होंने इसे सीखा, संभाला और समृद्ध किया है ।

पखावज के घराने एवं परम्पराएं

पुष्कर वाद्यों की महिमा का गुणगान भरत मुनि, नान्यदेव, शारंगदेव जैसे अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपनी रचनाओं में दर्शाया है । मृदंग का महत्व भी प्राचीन काल से चला आ रहा है । भारतीय ताल वाद्यों में उसका प्रभुत्व स्वीकृत है। हमारा आधुनिक पखावज भरत कालीन पुष्कर वाद्य का परिमार्जित रूप है । अतएव पिछले ढाई हजार से भी अधिक वर्षों से उसकी परम्परा बराबर

चली आ रही है । इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से हर प्रकार के भारतीय शास्त्रीय संगीत गायन शैलियों के साथ ताल संगति के लिए एक मात्र ताल वाद्य मृदंग का ही प्रयोग होता रहा होगा । भरत के काल से 15वीं शताब्दी पर्यन्त ध्रुवगान, जातिगान तथा प्रबन्ध गान जैसी विविध गायन शैलियाँ भारतीय संगीत का प्रतिनिधित्व करती रहीं । अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन सभी प्रकार की गायन शैलियों के साथ मृदंग का ही प्रयोग होता रहा होगा ।

भारतीय संगीत में पखावज के घराने और उनके वादकों का क्रमशः इतिहास 18वीं शताब्दी से प्राप्त होता है । आइने-अकबरी में अकबर युग के कलाकारों का वर्णन है, परन्तु उसमें किसी मृदंग वादक का कोई उल्लेख नहीं है । वाजिद अली शाह के युग में लिखी गयी हकीम मोहम्मद करम इमाम की पुस्तक "मअदन उल मूसिकी" में मुगल युग के बाद के कलाकारों का प्रमाणित परिचय मिलता है । इस पुस्तक के उपरान्त फकीर उल्ला की "राग दर्पण" में भी कुछ पखावज वादकों का उल्लेख मिलता है । राग दर्पण के 10वें अध्याय में फकीरुल्ला ने एक विख्यात पखावजी भगवान दास की चर्चा की है जिन्हें तानसेन की संगति करने का अवसर मिला था । इसका उदाहरण आचार्य बृहस्पति जी ने "खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार" पुस्तक में दिया है । इससे यह पता चलता है कि प्रख्यात पखावजी तानसेन के समकालीन थे । वैसे भी तानसेन, बैजू बावरा आदि कलाकार ध्रुपद गाते ही थे । अतः उनके गायन के साथ संगति करने वाला पखावजी होना स्वाभाविक है। एम0एस0म्यूजिक कालेज, बड़ौदा के प्राध्यापक श्री भरत जी व्यास तानसेन के समकालीन एवं संगतकार भगवानदास पखावजी को अपने समय का श्रेष्ठ कलाकार बताते हुये उनके मृदंग परम्परा के इतिहास को जावली घराने के नाम से सम्बोधित किया है । जगमत कथा में जगपति नामक एक पखावजी को भी तानसेन का समकालीन एवं अकबर युग का उत्तम कलाकार बताया गया है । राजा मानसिंह के दरबार में विजय जंगम नाम के एक पखावजी थे, ऐसा भी उल्लेख मिलता है । मोहम्मद करम इमाम ने मअदन उल मूसिकी में सुधीर सेन, हयात, किरपा आदि पखावज वादकों के नाम गिनाते हैं जिनमें सुप्रसिद्ध पखावजी किरपा "मृदंगराय" की उपाधि से विभूषित थे फकीरुल्ला ने भी रागदर्पण में फिरोज ढाढी तथा किरपा की चर्चा की है ।[2]

1. भारतीय संगीत का इतिहास-भागवत शरण वर्मा
2. खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार-सुलोचना तथा बृहस्पति जी, पृ0-213.

आचार्य बृहस्पति जी लिखते हैं कि खुशहाल खाँ को "गुण समन्दर खाँ" तथा किरपा को "मृदंगराय" की उपाधि औरंगजेब ने दी थी ।[1] इनके उपरान्त घासी राम पखावजी, लाला भवानी दास तथा हुसेन खाँ पखावजी का भी उल्लेख मिलताहै । भारतीय संगीत के कुछ विद्वान संगीत शास्त्री एवं संगीतज्ञ अकबर युग के भगवान दास पखावजी को पखावज के आधुनिक सभी परम्पराओं के आदि पुरुष मानते हैं ।

---

1. मुसलमान और भारतीय संगीत- आचार्य बृहस्पति.

जावली घराना

अकबर के काल में लाला भगवान दास एक सुप्रसिद्ध मृदंग वादक हुये। वे तानसेन के समकालीन थे अकबर के आग्रह पर दिल्ली में स्थायी रूप से रहने लगे थे। नाथद्वारा (राजस्थान) के मृदंग वादक पं० मूलचन्द्र जी के अनुसार बृज के श्याम जी मृदंग वादक के शिष्य थे जिन्हें दास जी भी कहा जाता था। प्राचीन काल के अनेक विद्वान एवं गुणी मृदंग वादक भगवान दास जी को बृज परम्परा से सम्बन्धित बताते हैं, परन्तु इस कथन में संदेह है, क्योंकि बृज की हस्तलिपि "पोथी" जिसे पं० छेदाराम मृदंग वादक ने लिखा था, उसमें कहीं भी श्याम जी मृदंग वादक का उल्लेख नहीं मिलता। भारत के सभी मृदंग घरानों एवं परम्पराओं का उद्गम स्थल बृज भूमि है, इस बात का प्रमाण मिलता है, परन्तु भगवान दास जी के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। कहा जाता है कि लाला भगवान दास के दो पुत्र थे। अकबर बादशाह ने प्रसन्न होकर उनको "सिंह" की उपाधि प्रदान की थी तभी से उनके वंश के प्रत्येक कलाकार के नाम के आगे सिंह की उपाधि लगाने की प्रथा चल पड़ी। लाला भगवान दास जी को सम्राट अकबर ने जावली ग्राम को उपहार के रूप में दिया था। इस प्रकार उनकी परम्परा जावली घराना के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। लाला भगवान दास जी के प्रशिष्यों में कृपाल राम का नाम आता है। कृपालराम को औरंगजेब ने मृदंगराय की उपाधि से सम्मानित किया था। कृपाल राम के शिष्यों में घासी राम तथा लाला भवानीदीन अथवा भवानी सिंह का नाम आता है। हो सकता है कि लाला भवानीदीन, भगवानदास जी के वंशज में से ही हों। आधुनिक संगीत शास्त्रियों ने लाला भवानीदीन के मृदंग को आधुनिक समस्त परम्पराओं का मूल आधार माना है। आज से दो सदी पूर्व लाला भगवान दास जी की वंश परम्परा में पहाड़ सिंह नामक एक उच्च कोटि के कलाकार हुये। पहाड़ सिंह जोधपुर के दरबारी कलाकारों में थे। वे कुछ वर्षों तक नाथद्वारा के मंदिर में श्रीनाथ जी की सेवा में रत थे। श्री घनश्याम मृदंग वादक द्वारा रचित "मृदंग सागर" में उनके विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। पहाड़ सिंह के पुत्र जौहर सिंह भी कुशल मृदंग वादक थे, जो अपने पिता के साथ जोधपुर दरबार में नियुक्त थे। लाला भवानीदीन के उत्तर भारत में अनेक प्रतिभा सम्पन्न एवं प्रसिद्ध शिष्य

हुये जिनमें ताज खाँ डेरेदार, कादिर बख्श (प्रथम) तथा हद्दू खाँ लाहौर वाले, अमीर अली आदि पंजाबी शिष्य कोदऊ सिंह महाराज जैसे समर्थ मृदंग वादक और बाबू जोध सिंह जैसे विद्वानों का समावेश होता है।

भवानी दीन जी के पश्चात् कोदऊ सिंह ने अपनी नवीन वादन शैली एवं एक नवीन परम्परा का आविष्कार किया जो उनके शिष्य-प्रशिष्यों में फैलकर कोदऊ सिंह घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई। ताज खाँ तथा कुछ अन्य पंजाबी शिष्यों से पंजाब की परम्परा फैली। जोध सिंह के शिष्य नाना पानसे ने एक नवीन घराने की नींव डाली जो नाना पानसे घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाबू जोध सिंह जी के लिए कुछ विद्वानों का कहना है कि वे लाला भवानी दीन के शिष्य नहीं थे। अकबर के शासनकाल में लाला भवानी दास मृदंग वादक द्वारा आरम्भ हुई जावली घराने की परम्परा उनके पश्चात् उनके विद्वान, प्रतापी एवं प्रतिभाशाली शिष्यों द्वारा विविध घरानों में प्रसारित हुआ। आचार्य बृहस्पति जी ने कहा है "भगवान पखावजी अकबरी दरबार के पखावजी थे और उन्होंने तानसेन की संगति भी की थी, वे शतायु हुये।"[1]

हकीम मोहम्मद करम इमाम की पुस्तक "मअदन उल मूसिकी" (सन् 1855) के आधार पर भगवत शरण शर्मा ने लिखा- "तानसेन के साथ पखावज बजाने वाले भगवान दास पखावजी थे।"[2]

श्री पहाड़ सिंह की वादन कला तथा जीवन चरित्र के विषय में घनश्याम दास मृदंग वादक रचित "मृदंग सागर" में बहुत सी जानकारी प्राप्त होती है, किन्तु उसमें जावली घराने के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

दिल्ली-अहमदाबाद मार्ग पर राजस्थान के मारवाड़ और फालना के बीच में जावली नाम का एक छोटा सा ग्राम आज भी है, जो दिल्ली से 620 कि0मी0 की दूरी पर है।[3] किन्तु यही जावली गाँव सम्राट अकबर ने भगवान दास मृदंग वादक को उपहार स्वरूप दिया था, इस विषय में कोई प्रमाणिक उल्लेख नहीं प्राप्त होता। भगवान दास के वंशज पहाड़ सिंह तथा जौहर सिंह वर्षों तक जोधपुर के दरबार में रहे, अतः यह भी संभव है कि वे जावली गाँव के मूल निवासी रहे हों और वहीं से जोधपुर दरबार पहुँचे हों।

---

1. खुसरो, तानसेन और अन्य कलाकार पृष्ठ-236.
2. भारतीय संगीत का इतिहास-भगवत शरण वर्मा.
3. वेस्टर्न रेलवे टाइम टेबुल-टेबुल नं0-19 (अहमदाबाद-अजमेर-बांदी कुई-दिल्ली, नारदर्न मीटर गेज रेलवे)

ब्रज की मृदंग परम्परा

=:=:=:=:=:=

ब्रज के वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा

प्राचीन काल से ही ब्रज की पवित्र भूमि अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध रही है । यह वह भूमि है, जहां स्वामी हरिदास जी के स्वर गूंजे थे तथा बैजू और तानसेन जैसे संगीतज्ञों के संगीत से सम्पूर्ण भूमि तृप्त हुई थी । यहां की मृदंग परंपरा के अन्तर्गत कई सम्प्रदायों का उद्‌गम हुआ ।

।1। पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय

पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय की हवेलियों।मंदिरों।में पिछले 500 वर्षों से ध्रुपद-धमार एवं मृदंग की परम्परा सुरक्षित चली आ रही है । श्री महाप्रभु गोस्वामी वल्लभाचार्य जी द्वारा आरम्भ की गई "हवेली" संगीत की परम्परा श्री विट्ठल नाथ जी गोसाईं के समय से अधिक लोकप्रिय हुई । उनके शिष्यों और अष्टछाप के कवियों के द्वारा सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गयी । भक्त सूरदास, परमानन्ददास, गोविन्द स्वामी आदि अष्टछाप के कविगण उच्च कोटि के संगीतज्ञ भी थे । वल्लभ कुल के गोस्वामी द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय के भक्त जन सदैव संगीत के उपासक रहे हैं । यहां ध्रुपद-धमार गायन शैली में कृष्ण लीलाओं का वर्णन तथा भक्ति प्रधान गायकी में भजनों के साथ मृदंग की संगति भी कई पीढ़ी से चली आ रही है । आचार्य वल्लभाचार्य जी तथा गोसाईं विट्ठल दास जी द्वारा स्थापित संगीत की यह पद्धति अब भी अपनी प्राचीन गायकी और मृदंग परम्परा के लिए सुविख्यात है ।

वैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त ब्रज में अनेक सम्प्रदायों का उद्भव एवं विकास हुआ जैसे- हरिदासीय सम्प्रदाय, राधा वल्लभ सम्प्रदाय इत्यादि । ब्रज के मंदिरों में इन विविध सम्प्रदायों द्वारा संचालित समाज संगीत के अतिरिक्त नाम संकीर्तन की धुनें भी सुनने को मिलता है जिसके साथ संगत के लिए मृदंग वादन की परम्परा चली आ रही है ।

।2। मथुरा का कोरिया घराना

मथुरा के श्री छेदीराम कृत "पोथी" के अनुसार इस घराने का इतिहास लगभग 500 वर्ष पुराना है । सतयुग में एक वेन नामक राजा हुये जो

ऋषि मुनियों को अत्यधिक कष्ट देते थे । इस अधर्मी राजा को दण्ड देने के लिए देवताओं ने उसके प्राण हर लिये, परन्तु राजा के बिना कौन रक्षक होगा, इस बात को ध्यान में रखकर देवताओं ने बेन राजा के दाहिने जाँघ को मथा, मथने पर 4 बालक प्रकट हुये- ।1। कौल ।2। क्रान्ति ।3। हूंश ।4। भील । यह चारों पैदा होते ही जंगल में चले गये । उसके पश्चात् राजा बेन की दूसरी जाँघ को मथा गया जिससे भृगु राजा पैदा हुये और उन्हें संसार का भार सौंपा गया । जगंल में चले गये कोल के बंश में श्री बालमीकि पैदा हुये जिन्होंने रामायण की रचना की ।

करीब 500 वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् 1535 में वैष्णव सम्प्रदाय के प्रणेता महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य का जन्म हुआ । बड़े होने पर उन्होंने ब्रज की लीला प्रारम्भ की । भगवान की लीला के गुणगान के लिए उन्होंने विविध साजों को कलाकारों में बांट दिया, परन्तु मृदंग को अपने पास रखा । उन्होंने यह सोचा कि यह साज ।मृदंग। मेरे चारों युग के भक्त बालमीकि को देना चाहिए, परन्तु उनके भक्त बालमीकि गोबर्द्धन में गिरिराज की तलहटी में कोढ़ रोग से ग्रसित पड़े थे । अतः उन्होंने वहाँ जाकर उसे कोढ़िया को रोग मुक्त किया तथा उन्हें मृदंग सौंपते हुये आशीर्वाद दिया कि तू श्रीनाथ जी की सेवा में मृदंग बजा, तेरे बंश में ऐसे कलाकार जन्म लेंगे जिनकी कला बेजोड़ होगी । तब से उस कोढ़िये की बंश एवं शिष्य परम्परा में मृदंग की विधा चल रही है । उनके मतानुसार भारत के समस्त मृदंग घरानों एवं परम्पराओं का सम्बन्ध इस कोढ़िया वंश से "पोथी" के अनुसार ब्रज मृदंग का उद्गम स्थल है । ब्रज-मथुरा में कोढ़िया परम्परा को आज भी कोढ़िया घराने के नाम से जाना जाता है ।

पोथी में इस कोढ़ियों के नाम का उल्लेख नहीं है, परन्तु उनके दोनों पुत्र केवल किशन और जटाधर के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है । केवल किशन ने देश-विदेश का भ्रमण किया था तथा रीवां नरेश के यहाँ कुछ दिन तक नौकरी भी कीथी । केवल किशन के पुत्र हीरा लाल तथा उनके पौत्र दास और भवानी दास उच्च कोटि के मृदंग वादक थे । दास अपने पुत्र टीकाराम के जन्म के समय ही स्वर्ग सिधार गये थे और भवानी दास दतिया दरबार में नौकरी करने चले गये । दतिया जाकर भवानी दास से टीकाराम ने शिक्षा लेनी प्रारंभ की । टीकाराम को बाल्यकाल में गुरु से शिक्षा मिली । टीकाराम के पुत्र बाबू जोत सिंह तथा शिष्य जानकी दास हुये, यह दोनों ही श्रेष्ठ कलाकार हुये ।

पोथी के अनुसार कान्यकुब्ज ब्राहमण कोदऊ सिंह छोटी से उम्र में ही गुरु केवल किशन महराज से मृदंग सीखने गये और उनसे गंडा बंधवाकर शिष्य बने, किन्तु वृद्धावस्था के कारण केवल किशन के पौत्र भवानी दास से कोदऊ सिंह की शिक्षा पूर्ण हुई । कोदऊ सिंह बड़े प्रतिभावान शिष्य हुये, उनके चौमुखी प्रतिभा ने एक नवीन घराने को जन्म दिया और कुछ समय पश्चात् कोदऊ सिंह घराने के नाम से प्रसिद्ध हुआ । कोदऊ सिंह के समय में जानकी दास भी एक प्रसिद्ध मृदंग वादक थे । दतिया दरबार में इन दोनों के बीच प्रतियोगिता हुई । जानकी दास ने पंजाब के ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ मृदंग वादक को दीर्घ काल तक शिक्षा दी । जानकी दास की मृत्यु के उपरांत नासिर खाँ बड़ौदा गये और वहाँ के दरबार में उनकी नियुक्ति हुई । आज भी उनके अनेकों शिष्य एवं वंशज बड़ौदा में रह रहे हैं । लाला भवानी दास की मृत्यु के उपरान्त दतिया दरबार में कोदऊ सिंह की नियुक्ति हुई । टीकाराम के पुत्र कोदऊ सिंह उन दिनों दतिया गये थे और कोदऊ सिंह तथा जोध सिंह के बीच चार दिन तक प्रतियोगिता होती रही । निर्णय होना कठिन था, क्योंकि बाबू जोध सिंह भी अपनी विद्या में अत्यन्त निपुण थे । बाबू जोध सिंह के अनेक शिष्य थे, परन्तु केवल 3 के विषय में ही जानकारी प्राप्त होती है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- नाना पानसे, कुन्दन लाल और सूरदास ।

<u>नाना पानसे</u>- जिनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व एवं सृजन शक्ति ने एक नवीन घराने को जन्म दिया । आधुनिक युग में मृदंग के केवल 2 घराने भारत में प्रसिद्ध हैं, उनमें नाना पानसे घराने का नाम सम्मानुपूर्वक लिया जाता है ।

<u>कुन्दन लाल</u>- यह मथुरा के निवासी थे और केवल किशन जी के भाई जटाराम की वंश परम्परा से सम्बन्धित थे । कुन्दन लाल नवाब कल्बे अली के समय में रामपुर दरबार में नियुक्त थे । उनके पुत्र गंगाराम तथा प्रशिष्य मक्खन लाल (मथुरा), मन्नू जी (काशी) तथा दूसरे अनेकों शिष्यों ने इस क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की ।

<u>सूरदास</u>- बाबू जोध सिंह के तीसरे शिष्य विन्ध्य प्रदेश के चरखेर नामक स्टेट के एक सूरदास थे, परन्तु उनके विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

कोदऊ सिंह एवं नाना पानसे घरानों के उपरान्त पंजाब एवं बंगाल के मृदंग घराने भी ब्रज से ही आगे बढ़े । बंगाल की परम्परा तो केवल, केवल

किशन जी से ही प्रारम्भ हुई । केवल किशन जी काफी समय तक बंगाल में रहे। उनके शिष्य निमाई, निताई तथा राम चन्द्र चक्रवर्ती भाइयों ने मृदंग सीखकर बंगाल में उसका प्रचार किया । पंजाब में भी दुक्कड़बाज का प्रचार तथा पखावज वादन की परम्परा मथुरा घराने की ही देन है । केवल किशन के भाई जटाधर की यह परम्परा मुख्य रूप से मथुरा में रही । आज भी इस परम्परा के कुछ कलाकार ब्रज भूमि मथुरा तथा दिल्ली में हैं । केवल किशन जी के समान उनके भाई जटाधर भी अपने विद्वान पिता के योग्य पुत्र थे । उनके पुत्र छज्जू राम आज भी ब्रज के कला जगत में विख्यात हैं । छज्जूराम के पुत्र हरीराम थे । हरीराम के दो पुत्र घासी राम और सुलसी राम हुये । दोनों ही मृदंग वादन में निपुण थे । घासीराम के तीन पुत्र थे- भोजराज, कुन्दन लाल और लक्ष्मण । भोजराज अपने परिवार में सबसे ज्येष्ठ थे, अतः उन्होंने अपने दोनों भाइयों के साथ ही अपने ताऊ के पुत्र मोहन, श्याम, सीता राम, घुड़ियाराम को मृदंग की शिक्षा दी । भोजराज के पुत्र कुन्नीराम, पौत्र टीकाराम(दूसरे)उत्कृष्ट कलाकार थे । टीकाराम के दोनों पुत्र छेदाराम और सोनीराम तथा शिष्य पुन्ना ब्रजवासी, गंगाधर ब्रजवासी, भजन लाल, बदलू तथा प्रीतम दास ने काफी यश प्राप्त किया था । इन सब में छेदाराम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने पिता टीकाराम की सूचनानुसार गर्ग संहिता के आधार पर ब्रज के गोस्वामी श्री 108 श्री गोपाल दास जी की आज्ञा से मृदंग का इतिहास तैयार किया था जो आज भी उनके भतीजे/शिष्य गोबिन्द राम के पास सुरक्षित है । छेदाराम के पुत्र कन्हैया लाल, पौत्र विष्णु, प्रपौत्र दीपक तथा प्रमुख शिष्यों में भतीजे पं0 गोबिन्द राम, लाल जी, गोपाल जी भोला राम आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं । सोहन लाल के पुत्र गोबिन्द दास, पौत्र प्रभु दयाल, प्रपौत्र नरेन्द्र तथा शिष्य लल्लो भी इसी मार्ग पर अग्रसर हैं ।

घासी राम के द्वितीय पुत्र कुन्दन लाल बाबू जोध सिंह के शिष्यों में थे तथा नवाब कल्बे अली के समय से रामपुर दरबार में नियुक्त थे । गंगा राम अपने समय के उच्चकोटि के मृदंग वादक थे । ऐसा कहा जाता है कि गंगा राम एक साथ चार-चार मृदंग बजा लेते थे । गंगाराम के कोई पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने अपने शिष्य मक्खन लाल को बड़े स्नेह से शिक्षा दी थी । उनके अन्य शिष्य बलिया वाले मुन्शी जी, मन्नू जी(वाराणसी), नन्नू, छेदा लाल, किशोर राम तथा मंगल राम विख्यात हैं । गंगाराम के भाई बिहारी लाल, छबुआ इ

स्टेट में नौकर थे, उनकी 18 संतानों में एक भी जीवित नहीं रही । उनके वंश बंध शिष्यों में गोबिन्दराम, लाल जी, गोपाल जी तथा कन्हैया लाल थे । घासीराम के तीसरे पुत्र को दतिया नरेश ने एक गांव देकर पुरस्कृत किया था । ये मूंड़ई गांव वाले बूची राम को बिहारी लाल की मंडली में रहते थे । उनके पुत्र मथुरा लाल ने भी उनसे सीखा था ।

इस परम्परा के उत्तराधिकारी श्री गोबिन्दराम अत्यन्त विद्वान कलाकार थे । उनके प्रमुख शिष्यों में उनके पुत्र प्रभु दयाल तथा लक्ष्मण जी, हरी गोपाल, लच्छो, फकीरचन्द्र, सोनपाल तथा अशोक जौहरी के नाम उल्लेखनीय हैं । यह जटाधर (जट्टा दादा) के प्रपौत्र काशीराम के वंश एवं शिष्य परम्परा में से थे ।

तुलसीराम के 4 पुत्र हुये- मोहन जी, सीधाराम, श्याम लाल तथा चुइयाराम । इन चारों की संगीत शिक्षा उनके चचेरे भाई भोजराज से हुई । मोहन जी के दो पुत्र हुये- (1) हेमा, (2) दुल्ली । दुल्ली का एक पुत्र लोचन जो उनके चाचा चिरंजी लाल द्वारा गोद लिया गया था । सीधाराम के पुत्र बुद्धाराम और पौत्र चचेरा ने भी मृदंग की शिक्षा प्राप्त की । श्याम लाल के पुत्र चिरंजी लाल के कोई पुत्र नहीं थे । उन्होंने दुल्ली के पुत्र लोचन को गोद लिया था । लोचन का भी स्वर्गवास कम उम्र में ही गया । उसके भाई चुइयाराम के पौत्र गोलाराम को बाद में गोद लिया था । चुइया राम के दो बेटे नाथाराम तथा मुक्काराम हुये । नाथाराम के ही बेटे गोलाराम को ही चिरंजी लाल ने गोद लिया था । गोला राम के पुत्र प्रेम बल्लभ उर्फ़ कुन कुन ने आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र में वर्षों तक कार्य किया । उनके पुत्र का नाम भगवान दास है । मथुरा के इस प्राचीन परम्परा के वंशज एवं शिष्यों में आजकल पखावज की अपेक्षा तबले के प्रति अधिक रुझान देखने को मिलता है और मथुरा में पखावज की परम्परा गत विद्या का भविष्य अंधकारमय दिखता है ।

पंजाब घराना

पंजाब में मृदंग वादन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है तथा भारत और पाकिस्तान दोनों में व्याप्त है। भारत की ही भाँति पाकिस्तान में भी मृदंग वादकों का इतिहास उपलब्ध नहीं है । लाला भवानीदीन जिन्हें पंजाब घराने के कलाकार भवानीदास के नाम से सम्बोधित करते हैं। पंजाब की परंपरा के आदि प्रवर्तक थे । पोथी में भी पंजाब के मृदंग की परम्परा को आदि पुरुष के नाम से भवानी दास को बताया गया है । मुख्य रूप से मृदंग के जिन प्राचीन कलाकारों का नामोल्लेख हकीम मोहम्मद इमाम की पुस्तक "मअदन उल मूसिकी" में मिलता है जिसमें किरपा मृदंग वादक तथा घासी राम मृदंग वादक के नाम प्रमुख हैं और जिन्हें औरंगजेब एवं मोहम्मद शाह रंगीले के युग से संबंधित बताया गया है । आचार्य बृहस्पति जी की पुस्तक "मुसलमान और भारतीय संगीत" में भी इनका उल्लेख मिलता है । मध्य युग से ही पंजाब के अनेक हिन्दू एवं मुस्लिम मृदंग वादक अपनी वादन निपुणता के कारण देश भर में प्रसिद्ध हो गये हैं । पंजाब के प्रमुख प्रतिनिधि कलाकारों की मान्यतानुसार वर्तमान समय का पंजाब घराना लाला भवानीदास से सम्बन्धित है तथा यह सिद्ध हो चुका है कि कोदऊ सिंह इन दोनों परम्पराओं के मूल प्रवर्तक लाला भवानीदीन ही थे । कुछ लोगों की यह धारणा है कि इन दोनों घरानों के प्रवर्तक दो पृथक व्यक्ति रहे होंगे । पंजाब घराने के प्रतिनिधि कलाकार उस्ताद अल्ला रक्खा भवानीदीन को भवानीदास कहते हैं । उनके अनुसार भी यह दो व्यक्ति हो सकते हैं । वैसे भी दो व्यक्तियों का एक ही नाम होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है । किन्तु विविध पुस्तकों में पर्याप्त प्रमाण मिल जाने के कारण यह शंका निर्मूल हो जाती है । हकीम मोहम्मद करम इमाम तथा फकीर उल्ला भवानी दास को ताज खाँ डेरेदार तथा कोदऊ सिंह दोनों के गुरु बताते हैं ।

20वीं शदी के पूर्वार्द्ध में मथुरा के प्रसिद्ध पखावजी पं० छेदा राम लिखित हस्तलिपि पुस्तक में जिसे पोथी के नाम से सम्बोधित किया गया है, पखावज की परम्परा का पूर्व इतिहास उपलब्ध है । उन्होंने लिखा है कि लाला केवल किशन जी के पौत्र भवानी दास ने सब्बे हुसेन ढोलकिया को प्रतियोगिता में परास्त करके उनके पुत्र अमीर अली को अपना शिष्य बनाया । बाद में अमीर अली ने पंजाब में भवानीदास द्वारा आविष्कार किया हुआ दुक्कड़बाज का

प्रचार किया और अनेक शिष्य तैयार किये । पोथी के अनुसार ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ पखावजी को भवानीदास के प्रशिष्य जानकीदास ने शिक्षा दी थी ।जानकीदास भवानीदास के भतीजे टीकाराम के शिष्य थे। बाद में नासिर खाँ बड़ौदा दरबार में नियुक्त हुये ।

श्री राबर्ट गाडस्मिथ की पुस्तक "द मेजर ट्रेडीशन्स आफ नार्थ इंडियन ड्रमिंग" में लेखक ने पंजाब घराने के उद्भव एवं विकास में भवानीदास का नाम आदि प्रवर्तक के रूप में लिखा है ।

उस्ताद अल्ला रखा खाँ पंजाब घराने के प्रतिनिधि कलाकार हैं । वे लाला भवानीदास को अपनी परम्परा का आदि प्रवर्तक मानते हैं, वे उन्हें भवानीदीन नहीं वरन् भवानीदास कहते हैं । उनका कहना है कि भवानीदास जी के बारे में उन्होंने अपने गुरु से सुना था । श्री बाबू लाल गोस्वामी के अनुसार लाला भवानीदीन ने दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद शाह रंगीले को लक्ष्य परनें सुनकार प्रसन्न किया था । आचार्य बृहस्पति ने भी रंगीले के दरबारी कलाकार के रूप में भवानीदास का उल्लेख किया है । बादशाह मोहम्मद शाह का शासनकाल सन् 1719 ई0 से सन् 1748 ई0 तक रहा । अतःलाला भवानी दीन का समय 18वीं शताब्दी के मध्य काल से शुरु हुआ । उस घराने में पहले केवल पखावज की शिक्षा दी जाती थी, परन्तु पिछले सौ वर्षों अर्थात् उस्ताद फकीर बख्श के समय से वहाँ तबला और पखावज दोनों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ और इसी समय से वहाँ तबले को भी महत्व मिलने लगा । आज तो यह स्थिति आ गई है कि इस घराने में पखावज नाम मात्र को रह गयाहै और यहाँ के कलाकार तबला वादक के रूप में विश्व में यश अर्जित कर रहे हैं ।

पंजाब घराने का विकास लाला भवानीदास अथवा भवानीदीन के शिष्य प्रशिष्यों के योगदान से हुआ । सर्व श्री ताज खाँ डेरेदार, हद्दू खाँ लाहौर वाले, कादिर बख्श।प्रथम। तथा अमीर अली आदि भवानीदास के प्रमुख शिष्यों में हुये जिनसे पंजाब की परम्परा चली । अमीर अली ने टुकड़ा [illegible] का विशेष प्रयास किया था । ऐसा उल्लेख ब्रज की हस्तलिपि पोथी में प्राप्त होता है । उस्ताद ताज खाँ डेरेदार के पुत्र नासिर खाँ पखावजी अपने समय के प्रसिद्ध कलाकार थे, उन्होंने अपने पिता के उपरान्त मथुरा के पं0 जानकी दास से जो कोदऊ सिंह के गुरुभाई थे, शिक्षा ली थी ।

पखावज की पंजाब परम्परा में लाला भवानी दास के पाँच प्रमुख शिष्य हुये। उस्ताद कादिर बख्श प्रथम जिनके पुत्र मियाँ हुसैन बख्श, पौत्र मियाँ फकीर बख्श तथा प्रपौत्र मियाँ कादिर बख्श थे। दूसरे उस्ताद ताज खाँ डेरेदार जिनके पुत्र नासिर खाँ उच्चकोटि के कलाकार थे, वे मथुरा के पं० जानकीदास के शिष्य थे। उस्ताद नासिर खाँ दीर्घ काल तक सियाजीराव गायकवाड़ के राज्यकाल में बड़ौदा दरबार में रहे तथा बड़ौदा के कलावन्त कारखाने में रहकर उनके शिष्य तैयार किये जिनमें पं० कान्ता प्रसाद मुख्य थे। उनकी वंश परम्परा में उनके पुत्र नासिर हुसैन, पौत्र नजीर हुसैन खाँ आदि अच्छे कलाकार हुये हैं। तीसरे शिष्य एक अज्ञात हिन्दू व्यक्ति थे, जिनके शिष्य व भवानी प्रसाद से ब्रज के मक्खन लाल ने कुछ शिक्षा ग्रहण की थी। चौथे शिष्य उस्ताद हद्दू खाँ लाहौर वाले थे, जिनसे बनारस के पं० बल्देव सहाय ने सीखा था। ऐसा पंजाब घराने के कलाकारों का दावा है और बनारस घराने के प्रतिनिधि कलाकार इस दावे का जोरदार खंडन करते हैं। पाँचवें शिष्य अमीर अली थे जो बब्बे हुसैन ढोलकिया के पुत्र थे। भवानीदास ने बब्बे हुसैन को हराकर उनके पुत्र को अपना शिष्य बनाया था। अमीर अली ने पंजाब के दुक्कड़बाज का प्रचार किया, ऐसा उल्लेख पोथी में है।

इन पाँच शिष्यों के अतिरिक्त भी पंजाब की परम्परा में लाला भवानीदीन के अनेक शिष्य हुये, परन्तु उनके विषय में कोई विशिष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है। पंजाब घराना हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान दोनों देशों में फैला है। लाला भवानीदीन जी के प्रशिष्य उस्ताद हुसैन बख्श पुत्र उस्ताद फकीर बख्श के सिद्धहस्त शिष्य थे। उनके प्रमुख शिष्यों में उनके पुत्र कादिर बख्श, मियाँ करम इलाही, बाबा मलंग खाँ, उस्ताद फिरोज खाँ, उस्ताद कल्लन खाँ, उस्ताद मीर बख्श खिलवालिया, उस्ताद महबूब बख्श आदि के नाम गिनाये जाते हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि उस्ताद फकीर बख्श के बाद सभी उस्तादों ने अपने शिष्यों को पखावज की शिक्षा की जगह तबले की शिक्षा देकर निपुण किया।

कोदऊ सिंह घराना

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हमारा देश अंग्रेजों की पकड़ में जकड़ गया, हम गुलाम हुये विदेशी शासनकाल में हमारी संस्कृति को अनेक प्रहार झेलने पड़े । विदेशी प्रभुत्व एवं राजकीय अस्थिरता के कारण संगीत राजाश्रय खो चुका था तथा छोटी-छोटी रियासतों में पलने लगा था ।

ऐसे प्रतिकूल दिनों में यदि हमारे कलाकारों को उन देशी रियासतों के महाराजों, नवाबों तथा ठाकुरों का संरक्षण नहीं मिला होता तथा इन कला पोषक नरेशों के द्वारा उन कलाकारों की कला का गौरव नहीं बढ़ाया गया होता तो निःसंदेह हमने संगीत के क्षेत्र में बहुत कुछ खो दिया होता । भारत की सांस्कृतिक परम्परा उन गुणग्राही सामन्तों की सदा ऋणी रहेगी ।

एक कला पारखी नरेश के दरबार में भारत के महान मृदंग वादक कोदऊ सिंह महराज विद्यमान थे, वे मध्य प्रदेश में स्थित दतिया रियासत के राजा भवानी सिंह के दरबार में अनन्य कला रत्न थे । अपने दीर्घ जीवनकाल में उन्होंने अनेक राजा-महाराजाओं की महफिलों को सजाया था, किन्तु दतिया नरेश की उदारता, प्यार एवं कला प्रेम पर वे इस कदर मुग्ध हो गये कि एक बार दतिया जाकर बस जाने के पश्चात् जीवन के अंतिम क्षण तक वहीं रहे । अपनी बहुमुखी प्रतिभा एवं सिद्धि के बल पर इस कला स्वामी ने पखावज को अत्यन्त गौरवान्वित किया । भारतीय संगीत समाज और ताल मर्मज्ञ आज भी श्री कोदऊ सिंह महराज का नाम बड़े सम्मान एवं श्रद्धा से लिया करते हैं । महराज कोदऊ सिंह का घराना पखावज वादन के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । वे उन महान तेजस्वी लाला भवानी दीन (भवानीदास अथवा भवान दीन) के प्रतिभावान शिष्य थे, जिनका योगदान पखावज के क्षेत्र में सर्वाधिक है लाला भवानीदीन के सम्बन्ध में संगीत जगत में काफी मतभेद है । एक मत के अनुसार अकबर युग के लाला भवानीदास पखावजी के वंश एवं शिष्य परम्परा से थे, ऐसा कहा जाता है कि उनके परदादा लाला भवानीदास ब्रज के श्याम पखावजी के चार प्रतिभावान शिष्यों में से एक थे जिन्हें अकबर के दिल्ली दरबार में तानसेन की संगति में संगीत वादन का अवसर मिला था ।

दूसरे मतानुसार लाला भवानीदास जावली घराने के प्रेरणा थे । बादशाह अकबर ने उनकी वादन कला से प्रसन्न होकर उनको जावली नामक ग

भेंट में दिया था । अतः उनकी परम्परा आवली परउने के नाम से प्रसिद्ध हुई । शहंशाह अकबर ने भगवान दास के पुत्रों को सिंह की उपाधि भी दी थी, तब से उनके वंश में सभी कलाकार अपने नाम के साथ सिंह लगाने लगे । कोदऊ सिंह के गुरु भवानीदीन इसी भवानीदास की परम्परा के शिष्य अथवा वंशज थे ।

तीसरे मतानुसार भगवान दास जी मथुरा निवासी थे तथा उन्हें संत शिरोमणि स्वामी हरिदास जी का शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त था। इसके पश्चात् उनको अकबर के दरबार में दरबारी कलाकार होने का सौभाग्य प्राप्त था तथा संगीत सम्राट तानसेन की संगति करने का भी श्रेय प्राप्त हुआ । लाला भवानीदीन श्री भवानीदास के ही पौत्र थे ।

उपरोक्त तीनों प्रकार के मतभेदों का किसी प्रकार का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु राग दर्पण, मअदन उल मूसिकी, बुमरौ-तानसेन आदि पुस्तकों के उल्लेखानुसार इतना अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि अकबर काल में भगवान दास नामक एक पखावजी थे जो तानसेन की संगति किया करते थे । भवानीदीन उन भवानीदास के तीसरी पीढ़ी में आते हैं, जो कि अठारवीं शताब्दी के आरम्भ का काल माना जाता है । इन तीनों मतों के अतिरिक्त एक और मत मथुरा में व्याप्त है, जो उपर्युक्त चारों से अधिक प्रामाणिक लगता है ।

मथुरा के पखावजी छेदाराम जी की पोथी में जो कि 20वीं शदी के पूर्व में लिखी गयी थी, कोदऊ सिंह के गुरु भवानीदीन को भवानीदास के नाम से सम्बोधित किया है । उस पुस्तक के अनुसार भवानीदास आज की कोटिया परम्परा के कलाकार थे । वे केवल किशन जी के पौत्र थे । दतिया दरबार में नौकर थे तथा अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध कलाकार माने जाते थे।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि पखावज की अनेक परम्पराओं के साथ भवानीदास का सम्बन्ध रहा तथा इस क्षेत्र में उनका भारी योगदान रहा । हकीम मोहम्मद करम इमाम, फकीर मक्क तथा छेदा राम ने अपनी-अपनी पुस्तकों में भवानीदीन अथवा भवानीदास के शिष्यों में कोदऊ सिंह, ताज खां डेरेदार, टीका राम तथा अब्दे हुसेन ढोलकिया के पुत्र अमीर अली का उल्लेख किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पंजाब तथा कुदऊ सिंह दोनों घरानों की परम्परा के आदि प्रवर्तक लाला भवानीदीन या भवानीदास ही थे ।

सम्भव है कि जावली घराने की परम्परानुसार उनका नाम भवानी सिंह हो, परन्तु साधु वृत्ति धारण करने के कारण दीन भावना के द्योतक भवानीदीन अथवा भवानीदास के नाम से पहचाने गये हों। लेकिन निश्चित रूप से वे कोदऊ सिंह के गुरु थे। कोदऊ सिंह के छोटे भाई राम सिंह की वंश परम्परा के राम जी लाल शर्मा के अनुसार कोदऊ सिंह के पिता श्री सगुण सिंह जी तथा दादा श्री सुख लाल सिंह जी काशी दरबार के राज पुरोहित थे। नौ वर्ष की अल्पायु में माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण घर छोड़कर निकल पड़े तथा पखावज सीखने की उत्साह ने उन्हें गुरु भवानीदीन तक पहुँचा दिया। गुरु का सहारा और स्नेह उनके जैसे अनाथ बालक के लिए ईश्वर की असीम कृपा ही सिद्ध हुई। कोदऊ सिंह ने अपनी पुत्री की शादी में 1400 परनें अपने दामाद श्री काशी प्रसाद को दी थीं। इन परनों को पुत्री का धन समझ कर कोदऊ सिंह महराज ने आजीवन नहीं बजाया। सन् 1853 में वे झांसी के नरेश राजा गंगाधर राव के दरबार में गये थे। महाराजा गंगाधर राव और कोदऊ सिंह के बीच अच्छे सम्बन्ध थे। महाराज की मृत्यु के पश्चात् महारानी लक्ष्मीबाई ने भी उनका यथेष्ट आदर सम्मान किया करती थीं। सन् 1857 ई0 के विप्लव में जब अंग्रेजों ने जब झांसी पर अधिकार कर लिया तो कोदऊ सिंह को भी बन्दी बना लिया था। दतिया के महाराजा भवानी सिंह ने कैद से उन्हें मुक्त कराया और अपने दरबार में सम्मानपूर्वक रखा। इस प्रसंग की स्मृति में कोदऊ सिंह अपने दाहिने पैर में एक जंजीर पहने रहते थे, पूछने पर बताते थे कि भाई मैं स्वतंत्र कहाँ हूँ मैं तो दतिया नरेश का आजीवन कैदी हूँ। इन राज दरबारों के अतिरिक्त अयोध्या धौलपुर, सम्थर, ग्वालियर आदि अनेक दरबारों में उन्होंने आदर सम्मान प्राप्त किया था।[1]

कोदऊ सिंह की विशाल शिष्य परम्परा सम्पूर्ण भारत में फैली है। उनके प्रमुख शिष्यों में पं0 मदन मोहन उपाध्याय, अयोध्या के बाबा रामकुमार दास, दरभंगा के पं0 भैया लाल, उनके अपने भाई राम सिंह, राजस्थान के श्री जगन्नाथ पारिख, बंगाल के श्री दिलीप चन्द्र भट्टाचार्य, पीलीभीत के शम्भू दयाल, बनारस के बड़े पर्वत सिंह, टीकमगढ़ के लाला कल्ली, दतिया के किल्ली नागर्थ, पंजाब के ज्ञानी हरनाम सिंह तथा रागी फुकन सिंह, महाराष्ट्र के बलवन्त राव साने, मथुरा के चिरन्जी लाल, सिन्ध-हैदराबाद के चेतन गिरि, पं0 मदन मोहन सोरो वाले, बदलू तथा कन्तारा (दोनों भाई), भतीजे जानकी

---

1. कोदऊ सिंह (ले0) उमेश माथुर तथा बाबू लाल रस्तोगी।

प्रसाद इत्यादि । उनके दो बेटियाँ थीं । उनके दामाद काशी प्रसाद ने भी उनसे सीखा था । इस प्रकार उनकी वंश परम्परा तथा शिष्य परम्परा काफी विशाल है ।

कोदऊ सिंह के छोटे भाई पं0 राम सिंह की परम्परा में भी उनकी विद्या फैली । राम सिंह स्वयं उच्चकोटि के पखावजी थे । उनके पुत्र जानकी प्रसाद को कोदऊ सिंह जी ने स्वयं शिक्षा दी थी । जानकी प्रसाद दतिया दरबार के कलाकार थे । उनके पुत्र गया प्रसाद जी उच्च कोटि के कलाकार थे । वह भी दतिया दरबार में रहे हैं । गया प्रसाद जी के पुत्र श्री आयोध्या प्रसाद पखावजी का अभी कुछ वर्ष पूर्व देहान्त हो गया । वे अपनी परम्परा के उच्च कोटि के कलाकार थे तथा राष्ट्रीय सम्मान पद्मश्री से विभूषित थे । उनके चार में से सबसे छोटे पुत्र श्री राम जी लाल शर्मा आजकल रामपुर में हैं ।

कोदऊ सिंह घराने की वादन विशेषता

कोदऊ सिंह जी सिद्ध पुरुष थे वे शक्ति के परम उपासक थे, अतः उनके बाज में गाम्भीर्य, ओज प्रबलता एवं भक्ति भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है । गुरु द्वारा प्राप्त विद्या के उपरान्त उन्होंने स्वयं अनेक परनों की रचना की । उनके अनेक बाजों में परनों की क्लिष्टता, लम्बाई एवं प्रकारों का वैचित्र्य प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है । मृदंग का बाज पार्वपाणि बाज है । कोदऊ सिंह परम्परा में इस बाज का प्राधान्य है । हाथ की शुद्धता तथा ध्वनि एवं बोलों की स्पष्टता, सफाई को इस घराने में सबसे अधिक महत्व दिया गया है । लम्बे-लम्बे बोलों को सफाई और स्पष्टता से बजाकर छड़ी से लगा देना जिसे सुनकर गुणीजन चकित रह जाते थे, xxउनके बाज की मुख्य विशेषता है । पाँच, सात, दस, बीस, चौबीस आवृत्तियों की परनें, उनके बाज में साधारण थीं । उनके शेष करन, घटाटोप परन, इन्द्र धनुषी परन, बूंद परन आदि प्रमुख होते हैं । कोदऊ सिंह का बाज नाना पानसे के बाज से कड़ा बाज है । उसमें धुमकिट, धड़ाम्न, तड़म्न, दें, धिनांग, धुमकिट, कृधित, धेत्ता, दधेत्ता, तक्का, धुंगा, भुंगा इत्यादि जोरदार बोलों का प्रयोग देखने को मिलता है । अनुमान है कि शक्ति स्वरूपा माँ जगदम्बा के परम भक्त होने के कारण उन्हें ऐसा ओजपूर्ण एवं गम्भीर बाज प्रिय रहा होगा ।

नाना पानसे घराना

कोदऊ सिंह महाराज ने अपनी साधना, वादन वैशिष्ट्य, प्रभावशाली व्यक्तित्व और विशाल परम्परा के द्वारा पखावज के क्षेत्र में ऐसा प्रभुत्व जमा लिया था कि दूसरे सौ साल पर्यन्त पखावज के क्षेत्र में किसी दूसरे घराने की उत्पत्ति की कल्पना भी असंभव सी प्रतीत होती थी, परन्तु उनके जीवनकाल में ही एक अलौकिक प्रतिभा का कला के क्षितिज पर उदय हो चुका था जिसके चौमुखी व्यक्तित्व ने आगे चलकर कला संसार को परम उज्ज्वलित किया तथा एक नवीन घराने की भेंट से उसे नवीन ज्योति दी । उस कला पुंज का नाम था "नाना पानसे" ।

तत्कालीन विद्वानों के मतानुसार दक्षिण तक नाना पानसे जैसा ताल मर्मज्ञ, मधुर वादक एवं ताल गणितज्ञ कोई दूसरा नहीं था । नाना पानसे को ताल शास्त्र का नायक कहा जाता था । कोदऊ सिंह जी के कारण उत्तर भारत में तो पखावज की प्रसिद्धि विपुल मात्रा में थी ही, परन्तु महाराष्ट्र मध्य प्रदेश तथा दक्षिण भारत में कुछ प्रदेशों में पखावज के प्रचार एवं प्रसार का मुख्य श्रेय नाना पानसे को ही है ।

कोदऊ सिंह महराज के समकालीन बाबू जोध सिंह नामक एक उत्कृष्ट एवं संत प्रकृति के मृदंगाचार्य हुये हैं । वे ही नाना पानसे के गुरु थे । नाना जैसा प्रतिभाशाली शिष्य उत्पन्न करके उन्होंने संगीत जगत को जो देन दी है, वह सचमुच अद्वितीय है ।

बाबू जोध सिंह के गुरु के विषयमें दो मत प्रचलित हैं । एक मत के अनुसार वे लाला भवानीदीन के शिष्य एवं कोदऊ सिंह के गुरुभाई थे । दूसरे मत के अनुसार उनका सम्बन्ध लाला केवल किशन की परम्परा से है । पं० छेदा राम कृत "पोथी" में बाबू जोध सिंह को भवानीदास का पौत्र और टीकाराम का पुत्र बतलाया गया है । जो भी हो किन्तु बाबू जोध सिंह एक उत्कृष्ट पखावजी थे तथा लाला भवानीदीन अथवा भवानीदास की परम्परा ही से सम्बन्धित थे । दोनों मतों के लोगों ने उनका सम्बन्ध भवानीदीन या भवानी दास से जोड़ा है ।

दक्षिण (महाराष्ट्र) के उत्साही और होनहार बालक नाना पानसे में बचपन से ही शुद्ध संगीत के संस्कार विद्यमान थे । नाना का जन्म महाराष्ट्र

में वाई के पास ववधन में हुआ था । बाल्यावस्था में ही पिता से पखावज सीखा । वे मंदिरों में भजन-कीर्तन की संगति किया करते थे । पिता के उपरांत नाना पानसे को पुणे की दरबारी कलाकार मन्याबा जी कोड़ीतकर से भी सीखने का मौका मिला । पानसे जी के बाज में जो सारणी परनें (धारा परन) सुनने को मिलती है, वह कोड़ीतकर घराने का ही प्रभाव है । तत्पश्चात् उन्हें वाई के चौण्डे बुवा तथा मार्तण्ड बुवा से भी शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला।

सौभाग्य से किशोरावस्था में नाना पानसे को अपने पिता के साथ काशी जाने का अवसर मिला । काशी के मंदिरों में भजन-कीर्तन के साथ उनकी मृदंग संगति सुनकर वहाँ के लोग मुग्ध हो गये थे । उन दिनों काशी नगरी में बाबू जोध सिंह रहा करते थे । लोगों के मुख से उन महान संत की अपार विद्या का वर्णन सुनकर नाना अपने को रोक न सके और एक दिन उनसे मिलने उनके घर पहुँच गये । उस समय नित्य नियमानुसार बाबू जी लय में लीन होकर माँ भगवती के चरणों में अपनी साधना का अर्घ्य अर्पण कर रहे थे । इस भक्त कलाविद् का अनोखा वादन सुनकर नाना दंग रह गये । वे आत्म विभोर होकर विद्या प्राप्ति की आकांक्षा से उनके चरणों पर गिर पड़े । गुरु ने शिष्य की भक्ति और प्रतिभा को पहचान लिया और इस प्रकार नाना की परम्परागत शिक्षा आरम्भ हुई । गुरु चरणों में 12 वर्षों तक शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् तथा पखावज वादन में पूर्ण दक्षता प्राप्त करके नाना पानसे काशी से इन्दौर आये ।

श्री गोविन्दराव बुरहानपुरकर ने एक स्थान पर नाना पानसे के गुरुओं में प्रयाग (उत्तर प्रदेश) के माधव स्वामी का भी उल्लेख इस प्रकार किया है :-

"वाई में पलने के बाद तथा पिता से शिक्षा प्राप्त करने के बाद नाना पानसे ने पुणे के मान्याबा कोड़ीतकर तथा चौण्डे बुवा व मार्तण्ड बुवा से भी शिक्षा ग्रहण की । बाद में वे बाबू जोध सिंह के पास काशी चले गये, वहाँ बारह साल तक अभ्यास करने के बाद बाबू जोध सिंह जी ने उनको प्रयाग के परम संत योगिराज माधव स्वामी के पास भेज दिया था । योगिराज माधव स्वामी उच्च कोटि के मृदंगाचार्य थे । उनसे नाना जी ने 12 वर्ष तक शिक्षा ग्रहण किया तथा शिक्षा ग्रहण करने के बाद उन्हें इन्दौर के राज दरबार में आश्रय प्राप्त हुआ । इन्दौर में राजाश्रय प्राप्त होने के बाद नाना पानसे जी ने अपनी प्रज्ञा, प्रतिभा एवं मौलिक सृजन शक्ति के अनुसार बहुमुखी शिक्षा में अनेक परिवर्तन किये । उन्होंने ग्रन्थों का अध्ययन किया जिससे उनको नवीन दृष्टि मिली । इस अध्ययन के

आधार पर उन्होंने गणित शास्त्र की दृष्टि से परनों का नवीनीकरण किया, नवीन ठेकों का आविष्कार किया, अनेकों तालों में नवीन बंदिशों की रचनाएं कीं तथा शिक्षा को सरल बनाने हेतु मात्राक्षर पद्धति का निर्माण करके उंगलियों पर गिनने की रीति को उन्होंने शास्त्राधार किया । भारतीय ताल विद्या में उनका यह अत्यन्त महत्वपूर्ण दिन था ।

नाना पानसे जी की शिष्य परम्परा

पानसे जी की शिष्य परम्परा बहुत विशाल है, परन्तु उनके शिष्यों में उनके पुत्र बलवन्त राव पानसे, नाती शंकर भैया पानसे [पुणे], पं० सखाराम बुवा आगले [इन्दौर], पं० वामनराव चन्दउडकर [हैदराबाद], पं० बलवन्त राव वैद्य [जमखण्डी], पं० शंकरराव अल्कूटकर [बम्बई], महाराजा भाऊ साहब [सतारा] पं०गोविन्द राव राजवैद्य [इन्दौर], पं० बलवन्त राव बाडवे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । उनके प्रशिष्यों में पं० अम्बादत्त पंत आगले [इन्दौर], पं०गोविंद राव बुरहानपुरकर [बुरहानपुर], पं० गुरुदेव पटवर्धन, पं० बाबू राव गोखले [बंबई], राजवैद्य बन्धु चन्द्रकान्त, वीरेन्द्र कुमार, केशव राम तथा शिव नारायण [इन्दौर], पं० सखाराम मृदंगाचार्य [लखनऊ], पं० बली राम पन्त पाण्डेय [नागपुर], श्री नारायण राव कोली [बम्बई], श्री शंकर भैया तथा चुन्नी लाल पवांर [इन्दौर रंग नाथ राव रंगलूरकर [महाराष्ट्र], मातंग बुवा [हैदराबाद] तथा आधुनिक पीढ़ी में श्रीकृष्णदास बनातवाला [बुरहानपुर], कौलवाजी चिमालधर [नागपुर], अर्जुन सेजवाल [बम्बई], विनायक राव छांगेरकर [पेन], गोस्वामी कल्याणराम गाकुलोत्सा तथा देवकी नन्दन [महाराष्ट्र] इत्यादि कलाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

पखावज के साथ-साथ नाना पानसे कोई तबला वादन और कथक नृत्य कला का भी अच्छा ज्ञान था । पखावज के आकार पर तबले की अनेक बंदिशों व रचना करके उन्होंने एक नवीन बाज का आविष्कार किया जो नाना पानसे के तबला बजाने के नाम से आज भी महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है । नाना पानसे साहब ने तबला और नृत्य में भी अनेक शिष्यों को शिक्षा देकर तैयार किया ।

पानसे घराने की वादन विशेषता

नाना पानसे जी विनम्र एवं कोमल हृदय के व्यक्ति थे । वे छोटे-बड़े सभी कलाकारों का हृदय से आदर किया करते थे । कलाकारों के सम्मान की

रक्षा हेतु उन्होंने "सुदर्शन" नामक एक नवीन ठेके का निर्माण किया था। किसी कलाकार की क्लिष्ट गायकी में तबलिये को यदि सम या ताल समझ में न आये तो अपमान से बचने के लिए सुदर्शन ठेका तबलिये के लिए अत्यन्त उपयोगी होता था।

उनका बाज सरल एवं मुलायम था। लम्बी-लंब्बी परनें, कठिन बोलों का प्रयोग उनके बाज में नहीं होता था। कोदऊ सिंह घराने के धड़ान्त, तड़ान्त, धिलांग आदि क्लिष्ट शब्दों के स्थान पर धुमकिट, किटतक, धड़नग, तगन, गदिगन, धिर धिर किट तक, तक तक तिरकिट तक आदि सरल शब्दों के प्रयोग उनकी शैली में देखने को मिलते हैं, किन्तु दौड़ने वाले शब्दों को उनकी शैली में विशेष महत्व दिया जाता है। उनके रेले सरल होते हुये भी मधुरता की दृष्टि से बहुत खूबसूरत हैं और बिना किसी कष्ट के द्रुत लय में भागते हैं। कोदऊ सिंह का बाज गंभीर, ओजपूर्ण और जोशीला बाज था, जब कि पानसे जी का बाज मुलायम, मधुर एवं सरल बाज था।

पानसे घराने की विशेषता "ताल का बन्ध" माना जाता है। बोलों को प्रथम हाथ से ताल देकर साधा जाता है, जब तक बोल, लय में न बैठे शिष्य साज को छू नहीं सकता। गणित शास्त्र का स्थान उनकी परनों में अग्रगण्य है, उनके बाज में हिसाब की बातें, ऐसी सुन्दर रीति से सजी रहती हैं कि वादक की विद्वता से लोग मुग्ध हो जाते हैं। उनकी बंदिशों में 3-3 मात्राओं के हिसाब या 3-3 शब्दों के खण्ड विशेष रूप से देखने को मिलते हैं। आजकल देश में जो गिने-चुने पखावजी हैं, उनकी वादन शैली में कोदऊ सिंह और नाना पानसे का योगदान अधिकांश दिखाई देता है। नाना पानसे की एक खास विशेषता यह थी कि जितना तो वे अच्छे पखावजी थे, उतना ही अच्छे तबले के कलाकार भी थे और तबला वादक तथा नृत्यकार भी थे।

वैष्णव अथवा नाथद्वारा (मेवाड़) का घराना एवं प्रमुख परम्पराएँ

वैष्णव सम्प्रदाय में संगीत को बहुत महत्व दिया गया है । अतः नाथद्वारा के भगवान श्रीनाथ जी के धाम के तीन-चार सेवक परिवारों में एवं गद्दीनशीन पुजारी तथा महन्तों की परम्पराओं में पखावज की विद्या पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है । उन परम्पराओं का क्रमशः अवलोकन करते हुये सर्व प्रथम हम पं0 रूप राम जी की परम्परा को देखेंगे, जो मूलतः जयपुर से सम्बन्धित थे ।

नाथद्वारा के पं0रूप राम जी का घराना

जयपुर की पखावज परम्परा का इतिहास सदियों पुराना है । उसके कलाकारों की पीढ़ियों का विस्तार कम से कम ढाई तीन सौ वर्ष की लम्बी अवधि को पार करता हुआ दिखाई देता है । नाथद्वारा के पं0घन श्याम दास कृत "मृदंग सागर" में इस परम्परा का जो इतिहास उपलब्ध है, उससे यह ज्ञात होता है कि दादा जी तुलसीदास इसके आद्य पुरुष थे । राजस्थान के प्राचीन नगर आमेर में यह परम्परा शुरु हुई, जयपुर में विकसित हुई तथा पिछली दो सदियों से नाथद्वारा के श्रीनाथ जी के मंदिर में विस्तृत एवं बहुचर्चित हुई । यही कारण है कि जयपुर परम्परा आज नाथद्वारा की परम्परा के नाम से ही प्रसिद्ध है ।

लगभग पौने तीनसौ वर्ष पूर्व आमेर में पं0 तुलसीदास जी द्वारा इस जयपुर परम्परा की नींव पड़ी, जो उनके पौत्र हालु जी के समय में विशेष रूप से विकसित हुई । वे अपने समय के अच्छे पखावज वादक थे । उनके नाम से आमेर तथा जयपुर में हालुका की पोल नामक मोहल्ले थे, जो आमेर में तो खंडहर हो चुका है, किन्तु जयपुर नगर में हालुका मोहल्ला आज भी इन कलाकारों की प्रसिद्धि एवं महत्व को सिद्ध करता हुआ स्थित है । उनकी इस जागीर में उनके वंशज आज भी रह रहे हैं । गाने-बजाने वाले कलाकारों के मोहल्ले के नाम से यह हालुका मोहल्ला आज भी जयपुर में प्रसिद्ध है ।

पं0तुलसीदास जी के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्रों में सर्व श्री हर भगत, छबील दास, फकीरदास, हालुजी, छाजुजी, पोखारदास, देवादास, विष्णुदास, चिम्ना जी, भान जी आदि एक से बढ़कर एक कलाकार हुये, किन्तु उनकी पाँचवीं पीढ़ी के

प्रपौत्रों पं० रूपराम जी से इस परम्परा में एक नवीन मोड़ आ गया । उनके पश्चात् यह परम्परा जयपुर परम्परा के उपरान्त नाथद्वारा की पखावज परंपरा के नाम से भी विशेष प्रचलित हुई ।

रूप राम जी के पूर्वजों का विस्तृत इतिहास हमें उपलब्ध नहीं हो रहा, केवल उनके नाम ही लिखे मिलते हैं जो इस परम्परा के वयोवृद्ध वंशज पं०पुरुषोत्तम दास जी के पास संचित हैं । रूप राम जी के बाद का क्रमानुसार वर्णन "मृदंग सागर" में मिलता है, जो घनश्याम दास जी की कृति है ।

आमेर निवासी रूपराम जी (जन्म संवत् 1791 अर्थात् सन् 1735 ई०) जयपुर से जोधपुर आ गये और वहाँ के दरबार में नियुक्त हो गये । कहते हैं कि ताँडव नृत्य एवं रास लीला की सैकड़ों परनें उन्हें कंठस्थ थीं, जिन्हें वे बड़ी खूबी के साथ बजाते थे । संवत् 1859 में (संभवतः सन् 1803 ई०) वयोवृद्ध रूप राम जी तथा उनके युवा पुत्र वल्लभदास जी नाथद्वारा के श्री 108 बड़े गिरधारी जी महराज की आज्ञा से नाथद्वारा आकर ठाकुर जी की सेवा में लग गये । तब से आज तक उनके घराने की परम्परा नाथद्वारा की मृदंग परम्परा के नाम से ही देशभर में प्रसिद्ध है ।।

उन दिनों जोधपुर दरबार में अकबर युगीन लाला भगवानदास की परम्परा के उत्तराधिकारी उत्कृष्ट पखावज वादक पहाड़ सिंह जी भी दरबारी कलाकार के पद पर विद्यमान थे । यद्यपि रूपराम जी तथा पहाड़ सिंह जी समकक्ष थे, तथापि रूपराम जी अपने कलाकार मित्र पहाड़ सिंह जी की कला के बड़े प्रशंसक थे तथा उनका बड़ा आदर सम्मान किया करते थे । यही कारण है कि रूपराम जी के पुत्र वल्लभदास जी की शिक्षा-दीक्षा विशेष रूप से पहाड़ सिंह जी के पास सम्पन्न हुई ।

वल्लभदास जी के तीन पुत्र हुये । सर्व श्री चतुर्भुज, शंकर लाल तथा खेम लाल । चतुर्भुज जी उदयपुर में रहते थे । शंकर लाल तथा खेम लाल जी का जन्म क्रमशः संवत् 1986 और 1889 में नाथद्वारा में हुआ था । वे दोनों भाई मृदंग वादन में अत्यन्त प्रवीण थे तथा मात्राओं के भेद तथा तालों के विषय में गहरी जानकारी रखते थे । संवत् 1806 में वल्लभ दास जी का देहान्त हो गया । तब तक उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को जी खोल कर यह विद्या सिखा दी थी । खेम लाल ने अपने बड़े भाई शंकर लाल से भी बहुत कुछ सीखा था । खेमलाल जी को बड़ी-बड़ी तालों का संग्रह करने का बहुत शौक था । तालों में

मात्रा भेद के गणित का अभ्यास करने में वे सदैव लगे रहते थे ।

संवत् 1911 में जामनगर के गोस्वामी ब्रजनाथ जी महराज गोस्वामी श्री द्वारिकेश नाथ जी महराज तथा सौराष्ट्र के सुप्रसिद्ध पखावजी पं0आदित्य राम जी नाथद्वारा आये ।

पुरुषोत्तम दास जी इस परम्परा के अंतिम वयोवृद्ध वंशज हैं । वे देश के उच्च कोटि के पखावज वादकों में से एक माने जाते हैं । पाँच वर्ष की अल्प आयु में हाथ से ताल देकर बोलों को पढ़ने से उनकी शिक्षा उनके पिता घनश्याम दास जी द्वारा प्रारम्भ हुई । पिता जी जब मंदिर जाते थे तो छोटे से पुरुषोत्तम दास जी को अपने साथ ले जाते थे । पुरुषोत्तम दास जी जब 9 वर्ष के थे तभी दुर्भाग्य से उनके पिता का देहान्त हो गया । उस छोटे से बालक के कमजोर कन्धों पर अपनी परम्परा को निभाने की गंभीर जिम्मेदारी आ पड़ी । इस छोटे से बालक ने इस कठोर जिम्मेदारी को निभाया तथा अपनी कला साधना में लीन रहे । श्री पुरुषोत्तम दास जी का नाम आज भारत के उत्कृष्ट पखावजियों में गिना जाता है । अपने पूर्वजों के कदम पर चलकर अपने पिता के स्थान पर नाथद्वारा के मंदिर में वे वर्षों तक सेवारत रहे । इसके उपरान्त दिल्ली के भारतीय कला केन्द्र में आ गये । बाद में दिल्ली के ही कथक केन्द्र में गुरु के पद पर प्रतिष्ठित होकर अपना शेष जीवन व्यतीत कर रहे हैं । इनके कोई पुत्र नहीं है, उनके प्रमुख शिष्यों में उनके नाती प्रकाश चन्द्र, दोनों भान्जे-राम कृष्ण एवं श्याम लाल(नाथद्वारा), तेज प्रकाश, तुलसी, दुर्गा लाल कथक, महराज छत्रपति सिंह(बिजना), राम लखन यादव, भगवत् उप्रेती, हरी कृष्ण बहेरा, तोता राम शर्मा, मुरलीधर कुरब, गौरांग चौधरी, भीमसेन, मदन लाल आदि कलाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

<u>नाथद्वारा के पं0खेमराम घराने की वादन विशेषता</u>

(1) इस घराने की वादन शैली नाना पानसे घराने की शैली से पृथक है, किन्तु कोदऊ सिंह घराने की शैली से कुछ मिलती-जुलती है ।

(2) इस वादन शैली में विशेषतः "तिट" से अधिक "किट" अथवा "किति" का प्रयोग होता है । धा किट तक ता किटी तक, धिन तिरकिट तकता, किटतक धुं धुं, कृधतक टित धा, त किट धाँधिता आदि बोल समूहों का प्रयोग बराबर होता रहता है ।

(3) बायें पर ता और दायें पर का बजाने की प्रथा भी यहाँ देखने को

मिलती है, जो परम्परागत शैली के विपरीत जान पड़ती है ।

।5। ता दि थुं ना किट तक गदि गन धा- इस प्रकार मुख्य अक्षरों द्वारा प्रारंभिक अभ्यास के लिए एक छोटी सी परन प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है :-

ताल - त्रिताल

ताता ताता दिंदिं दिंदिं | थुंथुं थुंथुं नाना नाना
x 2

किटकता गदिगन धा कितकता | गदिगन धा किटकता गदिगन | धा
x

=====

बंगाल का पखावज घराना तथा कुछ परम्परायें

काफी समय पहले उत्तर भारत, मध्य भारत एवं पंजाब की तरह बंगाल में भी पखावज का बोल बाला था । मंदिरों में कीर्तन के साथ बोल बजाने का प्रचार था एवं पखावज वादन के काफी उच्च कोटि के कलाकार थे । धीरे-धीरे सब लुप्त सा हो गया । पूरे बंगाल में थोड़े-बहुत पखावजी रह गये । भारत के विभाजन के पूर्व बंगाल के संगीत समाज में पखावज के घराने को मुख्य तीन परम्पराओं में बांटा गया था :-

॥1॥ ब्रज-मथुरा के लाला केवल किशन द्वारा स्थापित परम्परा

॥2॥ विष्णुपुर घराने की परम्परा

॥3॥ ढाका की परम्परा

इन तीनों परम्पराओं का पीढ़ी दर पीढ़ी इतिहास प्राप्त होता है । इनके इतिहास भी वृहद् बंगाल में कुछ ऐसे कलाकारों तथा उनके दो-चार पीढ़ियों के वंशजों का मिलता है जिनका वर्णन निम्नवत् है :-

लाला केवल किशन की पखावज परम्परा

श्री राम चन्द्र बोराल के अनुसार बंगाल में पखावज की मुख्य परंपरा लाला केवल किशन जी द्वारा स्थापित हुई । बंगाल सहित देश के अनेक विद्वान इस मत के पोषक हैं । ब्रज-मथुरा के निवासी केवल किशन जी "कोड़िया" घराने के प्रमुख कलाकार थे । वे देश भर में घूमते रहे और लखनऊ तथा बंगाल में लम्बी अवधि तक रहे । कुछ लोग उन्हें लाला भवानी दीन का भाई बताते हैं, किन्तु ब्रज की हस्तलिखित "पोथी" में कोड़िया परम्परा के प्रतिनिधि कलाकार छेदाराम जी ने केवल किशन जी को लाला भवानीदीन का दादा तथा गुरु माना है । बंगाल में उनसे सीखकर जो परम्परा फैली वह बंगाल के पखावज घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

लाला केवल किशन जी से तीन प्रतिभाशाली शिष्यों-श्री निमाई, राम चन्द्र तथा निताई ने पखावज की शिक्षा प्राप्त की । इन तीन भाइयों के दीर्घ परिश्रम के कारण ही बंगाल में पखावज की परम्परागत कला का प्रचार हुआ । उनके पश्चात् उनके घराने में बड़े समर्थ एवं उत्कृष्ट पखावजी पैदा हुये जिन्होंने इस परम्परा को और भी समृद्ध एवं विस्तृत किया ।

श्री मुरारी मोहन गुप्त अपने समय के नामी पखावजी हो गये हैं ।

उन्होंने सर्व श्री राम चन्द्र चक्रवर्ती एवं निमाई चक्रवर्ती से शिक्षा प्राप्त की। श्री गुप्त ने न केवल एक कलाकार के रूप में ख्याति अर्जित की वरन् अनेक शिष्य तैयार करके बंगाल में इस कला का यथेष्ठ प्रचार भी किया। श्री मुरारी मोहन के प्रमुख शिष्यों में सर्व श्री दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य।दुली बाबू-आपने कुदऊ सिंह से भी सीखा था।, केशव चन्द्र मित्र।आपने श्री राम चन्द्र चक्रवर्ती से भी सीखा था। केशव चन्द्र मुकर्जी, प्रमथ गुप्त, देवेन्द्र नाथ दे।सुबोध बाबू।, जगदिन्द्र नाथ राय, ।महाराजा नाटौर।, नरेन्द्र नाथ दत्त।स्वामी विवेकानन्द।,वीरेन्द्र किशोर राय चौधरी।नाटौर राज के वंशज।,सत्य शरण गुप्ता, सतीश चन्द्र दत्त, लाल चन्द्र बोराल आदि प्रमुख माने जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि पं०दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य ने एक बार घर पर संगीत समारोह का आयोजन किया, उसमें पखावज बजाते समय ही उनके प्राण निकल गये थे।

इस घराने के शिष्य-प्रशिष्यों में श्री केशव चन्द्र मित्र के शिष्य श्री दीनानाथ हजारा तथा पं०दुर्लभ चन्द्र भट्टाचार्य के शिष्य श्री प्रताप चन्द्र मित्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।तदुपरान्त सर्व श्री नगेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय अरुण प्रकाश अधिकारी।केवल बाबू।, राजीव लोचन दे, भूपेन्द्र कृष्ण दे, रतन लाल भट्ट, शम्भू मुकर्जी तथा शिवदास अधिकारी भी इस घराने के योग्य उत्तराधिकारी के रूप में प्रसिद्ध हुये।

।।। बंगाल की पखाज परम्परा और सब्बे हुसेन ढोलकिया

बंगाल की पखावज परम्परा पर सब्बे हुसेन ढोलकिया का काफी प्रभाव रहा, ऐसा कुछ लोगों का कहना है तथा इसका प्रमाण पोथी में भी है। पोथी के अनुसार लाला भवानीदास ने एक संगीत प्रतियोगिता में सब्बे हुसेन को पराजित किया था तथा शर्त के अनुसार सब्बे हुसेन की उँगलियाँ काट दी गयी थीं। सब्बे हुसेन अपमानित होकर बंगाल चले गये और उन्होंने पखावज के स्थान पर ढोलक को अपना लिया। सब्बे हुसेन ने इस वाद्य पर एक नवीन वादन शैली का निर्माण किया और ऐसा ढोलक वादन आरम्भ किया कि संगीत जगत में सब्बे हुसेन ढोलकिया के नाम से प्रसिद्ध हो गये। कहा जाता है कि लाला भवानीदीन स्वयं उनका हृदय से आदर करते थे और गुणीजनों के समक्ष उनकी प्रशंसा किया करते थे। बंगाल में ढोलक और खोल के प्रचार में भी सब्बे हुसेन का उल्लेखनीय योगदान रहा लेकिन उनकी बंगाल के शिष्यों की परम्परा कहीं लिखित इतिहास में उपलब्ध नहीं है। उनके पुत्र अमीर अली भवानीदास के शिष्य हुये। उनकी वंश एवं शिष्य

परम्परा का इतिहास प्राप्त नहीं है ।

(2) विष्णुपुर की पखावज परम्परा

बंगाल में विष्णुपुर एक ऐसा स्थान है, जहाँ स्वर और लय का नशा सदियों से छाया हुआ है । संगीत के हर पहलू के साथ विष्णुपुर का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । चाहे ध्रुपद हो या ख्याल गायकी, पखावज हो या तबला वादन, विष्णुपुर की अपनी एक शैली है एवं प्राचीन परम्परा है जो अभी तक चली आ रही है । यद्यपि आज की परिस्थिति में ध्रुपद गायकी एवं पखावज वादन की परम्परा विलुप्त होती जा रही है और उसका स्थान ख्याल गायकी और तबला वादन लेता जा रहा है ।

विष्णुपुर घराने में पखावज की परम्परा की दो मुख्य शाखायें देखने को मिलती हैं । एक केचाराम चट्टोपाध्याय द्वारा तथा दूसरी राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय द्वारा स्थापित परम्परा । दोनों परम्पराओं का प्रारम्भ पखावज से हुआ है और आगे चल कर उनका रूपान्तर तबले में हो गया ।

पहली परम्परा डेढ़ सौ वर्ष पूर्व श्री केचाराम चट्टोपाध्याय नामक एक उत्कृष्ट पखावज एवं तबला वादक विष्णुपुर में हुये । विष्णुपुर घराने का जो तबला एवं पखावज का इतिहास उपलब्ध है, उसका प्रारम्भ केचाराम चट्टोपाध्याय से ही प्राप्त होता है, उनके पूर्व विष्णुपुर में पखावज का प्रचार नहीं था, ऐसा कहना अनुचित होगा । वहाँ की ध्रुपद एवं पखावज की परम्परा तो बहुत पुरानी है, स्वयं केचाराम जी के उसी परम्परा में पखावज की शिक्षा ली। श्री सुबोध नन्दी कृत "तबला कथा" में विष्णुपुर घराने की चर्चा में यह उल्लेख मिलता है कि केचाराम चट्टोपाध्याय तबला वादन में फर्रुखाबाद घराने के प्रवर्तक उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ के शिष्य थे और उन्हीं के प्रयास से विष्णुपुर में तबले का प्रचार हुआ । इसके पूर्व वहाँ तबला नहीं था, केवल पखावज वादन ही होता था ।

श्री केचाराम चट्टोपाध्याय की परम्परा में तबला तथा पखावज दोनों का ही प्रचार हुआ । उनके मुख्य शिष्यों में उनके भतीजे गिरीश चन्द्र चट्टोपाध्याय का नाम प्रमुख है । गिरीश चन्द्र के पुत्र नारायण चट्टोपाध्याय तथा उनके शिष्यों में भैरव चक्रवर्ती, ईश्वर चन्द्र सरकार, मिताई, तम्तु बाई, नगेन्द्र नाथ राय, हरीपद कर्मकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । श्री ईश्वर चन्द्र सरकार अपने समय के बहुत प्रसिद्ध कलाकार थे । श्री केचाराम चट्टोपाध्याय

के प्रशिष्यों में श्री विजन चन्द्र हजारे और श्री स्थितिराम पांजा मुख्य हैं। विष्णुपुर की इस पीढ़ी के बाद कोई इतिहास प्राप्त नहीं है।

दूसरी परम्परा विष्णुपुर घराने के पखावज, तबला की श्री राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय द्वारा फैली। उनको दोनों वाद्यों पर समान अधिकार प्राप्त था। श्री बन्दोपाध्याय ने पखावज की तालीम विष्णुपुर घराने के किसी कलाकार से एवं तबले की शिक्षा लखनऊ घराने के उस्ताद मम्मन खाँ से ली थी।[1] श्री राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय के शिष्यों की संख्या काफी बड़ी थी उसमें सर्वश्री बुदी राम दत्त, विजन चन्द्र हजारे, नकुल चन्द्र नन्दी, नित्यानन्द गोस्वामी, पशुपति नाथ तथा बुल लाल मांझी प्रमुख हैं। इनके प्रशिष्यों में सर्व श्री अजीज हजारे, मनोज दे, बांके बिहारी दत्त, सुबोध नन्दी, शिव प्रसाद गोस्वामी, बिपिन बिहारी दास, (बिपिन बाबू), सत्तार अली, कालीपद चक्रवर्ती, कालचन्द्र परमाणिक, विश्वनाथ कर्मकार तथा सुप्रसिद्ध श्री ज्ञान प्रकाश घोष (बिपिन बाबू से पखावज की शिक्षा प्राप्त की थी) आदि मुख्य हैं।

ढाका की परम्परा

ढाका में तबला तथा पखावज का प्रचार मुख्यतः विष्णुपुर के कलाकारों द्वारा हुआ, अतः वहाँ की परम्परा पर विष्णुपुर परम्परा का काफी प्रभाव है। ढाका में पखावज के प्रचार एवं उसकी परम्परा की स्थापना में स्थानीय बासक परिवार का विशेष योगदान रहा है। श्री राम कुमार बासक ढाका की पखावज परम्परा के आदि पुरुष थे। उनके पुत्र उपेन्द्र कुमार बासक तथा परिवार के सदस्य गौड़ मोहन बासक इस परम्परा के अग्रणी कलाकार थे। पखावज वादन में गौड़ मोहन बासक का तो विशेष स्थान था। वे उच्च कोटि के कलाकार एवं योग्य गुरु थे। उनके शिष्यों में उनके वंशज शशीमोहन बासक तथा आनन्द मोहन बासक ने काफी ख्याति प्राप्त की। शशि मोहन बासक पखावज के साथ-साथ तबले के भी अच्छे कलाकार थे और ढाका के सुप्पन खाँ के शिष्य थे। ढाका के अग्रणी कलाकार श्री प्रसन्न कुमार साहा या शिष्य गौर मोहन बासक के ही शिष्य थे। बासक परिवार के सदस्यों में श्री पार्थिन्द्र कुमार बासक तथा श्री सतीश चन्द्र बासक व शिष्यों में सर्व श्री गगन चौधरी, भगवत साहा तथा गौड़ा के नाम प्रसिद्ध हैं।

---

1. तबला कथा- बंगला, सुबोध नन्दी, विष्णुपुर घराना।

बंगाल की अन्य परम्परायें

बंगाल की उपर्युक्त तीन परम्पराओं के उपरान्त कुछ अन्य परम्पराओं का इतिहास भी प्राप्त होता है जिसमें से दो वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। लाला केवल सिंह की तरह बृन्दावन में दूसरी दो वैष्णवपरम्परायें भी बंगाल में फैलीं जिनमें से एक श्री केशव देव तथा उनके पुत्र श्री नवदीप चन्द्र ब्रजवासी के द्वारा बंगाल में फैली। दूसरी मुर्शिदाबाद के श्री वैष्णव चरन दत्त के द्वारा फैली।

॥1॥ बंगाल की वैष्णव परम्परा

श्री केशव देव जी की शिक्षा केशव किशन जी या जयराम जी दोनों ब्रज परम्परा के कलाकारों में से किससे शिक्षा ली, यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि केशव देव एक अच्छे पखावजी के साथ वैष्णव परम्परा के अनुयायी थे। बृन्दावन में बंगाली वर्ष 1889 में उनके घर एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ, जो बाद में श्री नवदीप चन्द्र ब्रजवासी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वे अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट खोल वादक, कीर्तनकार एवं पखावज वादक थे। कहा जाता है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी॥जन्म सन् 1836 और मृत्यु 1886 ई0॥उनके कीर्तन एवं वादन पर मुग्ध थे। उनके मुख्य शिष्यों में राय बहादुर श्री जीतेन्द्र नाथ मिश्र, अपर्णा देवी, दिलीप कुमार राय तथा श्री परेश कुमार मजूमदार॥गोबिन्दु बाबू॥ आदि प्रमुख थे। श्री ज्ञान प्रकाश घोष ने भी अल्पावस्था में खोल वादन तथा पखावज की कुछ शिक्षा नवदीप चन्द्र से प्राप्त की थी। ब्रजर बाल दास उनके प्रमुख शिष्य थे।

॥2॥ बंगाल की वैष्णव परम्परा

वैष्णव सम्प्रदाय की दूसरी परम्परा मुर्शिदाबाद के निवासी श्री वैष्णव चरन दत्त द्वारा फैली जो ब्रज एवं वैष्णव परम्परा से सम्बन्धित होते हुये भी मुख्यतः विष्णुपुर में फैली। श्री वैष्णव चन्द्र दत्त के गुरु का नाम अज्ञात है, परन्तु उन्होंने पखावज वादन की अपनी शैली का काफी प्रचार किया। उनके पुत्र, पौत्र एवं वंश परिवार में भी उनकी कला का विस्तार और विकास हुआ। उनके पुत्र हरिपद दत्त, गोबिन्द प्रसाद दत्त तथा शशिभूषण दत्त पखावज वादन में प्रवीण थे। उनके पौत्रराम रंजनकुन्दु ने भी अपनी कला में काफी ख्याति अर्जित की थी। उन्होंने अपने दादा श्री वैष्णव चरन दत्त के उपरान्त श्री अवधूत बनर्जी से भी शिक्षा प्राप्त की। श्री वैष्णव चरन दत्त के शिष्यों में बीर दास मोहन्ती, पशुपति

वैरागी, भगवान दास, शरद चन्द्र मांडल, नरेन्द्र चन्द्र अधिकारी, चिन्तामणि दास, काली दास बैरागी आदि प्रमुख हैं । श्री रामरंजन कुन्दु के शिष्यों में उनके पुत्र रुद्र नारायण कुन्दु के उपरान्त मुरलीधर तालाली, मुरारी मोहन दास, जमुना दास तथा कृष्ण राखाल दास आदि प्रमुख हैं ।

बंगाल के कुछ मुसलमान कलाकार

बंगाल के पखावजियों में कुछ मुसलमान कलाकारों के भी नाम मिलते हैं जिनमें कादु खाँ पखावजी, उनके शिष्य छोटे खाँ के पुत्र कादिम हुसैन खाँ प्रमुख हैं । तदुपरांत नानू मियाँ नाम के एक पखावजी का नाम भी प्रसिद्ध था। परन्तु उनके गुरु का नाम अज्ञात है । नानू मियाँ ढोलक वादन में भी प्रवीण थे । संभव है इन बंगाली-मुस्लिम कलाकारों का सब्बे हुसैन ढोलकिया के साथ कुछ परम्परागत सम्बन्ध रहा हो, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है । इन मुसलमान कलाकारों के उपरान्त सर्व श्री शशि भूषण चन्द्र सेन, बिरेन्दु सिन्हा तथा ललित मोहन के नाम भी पखावज के क्षेत्र में प्रसिद्ध है । ललित मोहन सेन स्वयं जमींदार और कलाकारों के पोषक थे । वे अमीर खाँ बीनकार के साथ संगत किया करते थे । आज बंगाल में सर्व श्री विट्ठल दास गुजराती, जीवन लाल मुखिया, राजीव लोचन डे आदि कलाकारों के नाम प्रसिद्ध हैं ।

ढाका घराना
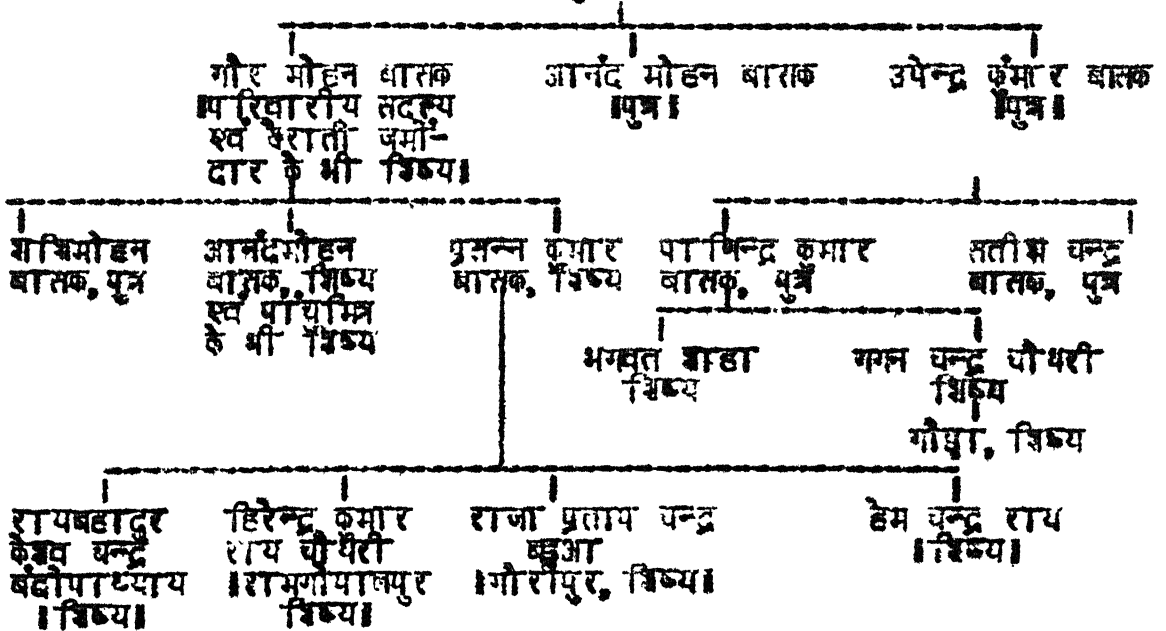
महाराष्ट्र की गुरु परम्परा एवं मंगल वेदेकर घराना

भारतीय संगीत के प्रति महाराष्ट्र का योगदान सदैव अमूल्य रहा है । काव्य, नाट्य और संगीत जैसे कला के क्षेत्रों में महाराष्ट्र के कलाकारों का अपना विशेष स्थान आदि काल से चला आ रहा है ।

देवाश्रय तथा राजाश्रय में संगीत का विकास

भारतीय संगीत के इतिहास में ग्यारहवीं शताब्दी का अपना महत्वपूर्ण स्थान है । यादव वंश के राजाओं ने संगीत को सदैव प्रोत्साहन दिया, जिसके फलस्वरूप संगीत रत्नाकर जैसे अमूल्य ग्रन्थ की रचना शारंगदेव ने की, जो कश्मीरी ब्राहमण थे एवं देवगिरि ।दौलताबाद। के निवासी थे ।

भरत के नाट्य शास्त्र के बाद संगीत रत्नाकर को ही संगीत का आधार ग्रन्थ माना गया । भरत का संगीत सिद्धान्त के पृष्ठ-303 पर आचार्य बृहस्पति ने लिखा है कि "सिंह भूपाल ।चौदहवीं शती। का कथन है कि आचार्य शारंगदेव से पूर्व समस्त संगीत पद्धति बिखर गयी थी जिसे स्पष्ट रूप से शारंगदेव ने संजो दिया । आचार्य शारंगदेव ने अनेक मतों का मंथन करके अपनी अमरकृति "संगीत रत्नाकर" का प्रणयन किया जो उपलब्ध संगीत ग्रन्थों का मुकुट है ।" मुस्लिम युग के बाद मुगल युग में महाराष्ट्र के लोक जीवन पर संतों का प्रभाव बराबर बना रहा । महाराष्ट्र के संतों ने सदैव संगीत के माध्यम को अपनाया । संत रामदास, संत नामदेव, संत एकनाथ, संत दासोपन्त, संत गणेशनाथ, संत तुकाराम इत्यादि भक्तों ने तथा वारकरी सम्प्रदाय जैसे सम्प्रदायों ने संगीत के द्वारा प्रभु को रिझाने का प्रयत्न किया था । संत नामदेव कहते हैं :

"ज्ञान से भक्ति का मार्ग अधिक सरल है और संगीत के बिना भक्ति संभव नहीं है । मेरे प्रभु को गाना-बजाना पसन्द है, अतः मैं उन्हें संगीत से रिझाना चाहता हूं ।"

इससे जनता में भक्तिपूर्ण संगीत के प्रति आदर भावना उत्पन्न हो सकी थी । संगीत में मनुष्य को ऊपर उठाने की क्षमता है तथा यह मोक्ष प्राप्ति का सरलतम साधन है । इस महत्वपूर्ण तथ्य से जनता को परिचित कराकर महाराष्ट्र के संतों ने उचित पथ प्रदर्शन किया । इससे जनसाधारण से संगीत को आदर-सम्मान को मिला ही समाज में स्फूर्ति, चैतन्य और भक्ति का वातावरण

भी फैल गया । फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना, एकता की भावना, आत्मशुद्धि की भावना पनप उठी । महाराष्ट्र का भक्ति संगीत भी शास्त्रीय संगीत पर ही आधारित रहा । यहाँ के कलाकारों ने संगीत को व्यवसाय के रूप में कम और कला के रूप में अधिक महत्व दिया जिसके कारण यहाँ के समाज में संगीतज्ञों का स्थान बहुत उच्च था । फलस्वरूप जीवन और संगीत के बीच में किसी प्रकार का फासला नहीं था । महाराष्ट्र के लोगों ने संगीत को विद्या और संस्कृति का आवश्यक माध्यम भी समझा था, पेशा नहीं ।

मुगल तथा मराठा काल में महाराष्ट्र में राग-रागिनियों की साधना अधिकतर हुआ करती थी । ठुमरी, कव्वाली और गजल का प्रभाव बहुत कम था। सार्वजनिक उत्सवों में सितार के स्थान पर वीणा और तबले के स्थान पर मृदंग का प्रयोग ही अधिक देखने को मिलता था ।

सत्रहवीं शताब्दी में शिवाजी महाराज के राज्याभिषेक के उत्सव में गायन, वादन तथा नृत्य का कार्यक्रम एक सप्ताह तक चलता रहा, ऐसा उल्लेख कई स्थानों पर उपलब्ध है ।पेशवाओं के दरबार में भी संगीत तथा संगीतकारों का आदर था ।

<u>गुरव परम्परा</u>

गुरव परम्परा में बहुत से गुणी एवं विद्वान कलाकार थे । श्रीमन्त नाना साहब पेशवाई के दरबार में मृदंग वादक श्री धर्मा गुरव का उल्लेख मिलता है, जो अत्यन्त गुणी तथा कला जगत में सुप्रसिद्ध थे ।[1] बाजीराव पेशवा [illegible] के दरबार में श्री नागु गुरव तथा श्री देवी दास बहीर जी का आदरणीय स्थान था ।पुणे का मान्यवा कोड़ीकर, जिनसे सुप्रसिद्ध मृदंग केशरी नाना पानसे ने अपनी किशोरावस्था में विद्या प्राप्त की थी, वे गुरव परिवार के कलाकार थे ।[2] वाई के मार्तंड बुवा और चौंड़े बुवा भी गुरव परिवार से संबंधित थे । कहा जाता है कि नाना पानसे ने अपने बाल्यकाल में चौंड़े बुवा तथा मार्तंड बुवा से भी सीखा था ।[3]

- -

1. संगीत शास्त्रकार व कलावंत यांचा इतिहास (मराठी) लक्ष्मण दत्तात्रय जोशी (पुणे) पृष्ठ-167.
2. म्यूजिक इन महाराष्ट्र पृष्ठ-28.
3. संगीत शास्त्रकार (उपर) पृष्ठ-176.

इन्दौर के सुप्रसिद्ध मृदंगाचार्य पं0 सखाराम पन्त आगले तथा उनके सुपुत्र पं0 अम्बादत्त पंत आगले जाति के गुरव थे । पं0सखाराम पन्त ने पखावज की शिक्षा का आरम्भ अपने पिता जी से ही किया था । बाद में उन्होंने इन्दौर के नाना पानसे जी से सीखा ।

पुणे के पार्वती देवस्थान के नौकर ज्ञानबा राजूरीकर का नाम भी गुरव सम्प्रदाय में श्रद्धा से लिया जाता है ।

कुरुन्दवाद के निवासी तथा मिरज के अत्यन्त प्रसिद्ध राम भाऊ गुरव की रसमय संगत को आज भी लोग याद करते हैं ।

पुणे के मृदंगाचार्य शंकर भैया घोरपड़कर जाति के गुरव थे । वे नेरगांव के विट्ठल मंदिर तथा पुणे के प्रसिद्ध बेलगांव के भगवान श्री विष्णु लक्ष्मी मंदिर के आजीवन सेवक रहे,उनके सुपुत्र पं0संतराव घोरपड़कर आज भी पुणे के बागेश्वरी मंदिर के सेवक हैं ।

पंढरपुर के सुप्रसिद्ध मंगल वेढेकर घराने केके आदि पुरुष पं0विट्ठलाचार्य जोशी मंगल वेढेकर जी मंगल वेढ़ागांव में एक मंदिर के पुजारी थे । यह मंगल वेढ़ेकर घराने की विशेषता है कि उनकी वंश परम्परा का प्रत्येक कला निपुण व्यक्ति पखावज के साथ-साथ वैदिक परम्परा में भी अपना अधिकार रखता है ।

अथणी के परशुराम गुरव जो कि जर्नादन पंत जोशी मंगल वेढ़ेकर जी के शिष्य थे उच्च कोटि के कलाकार थे ।

सतारा के ताजगांव के रहने वाले धर्मा जी गुरव तथा उनके पुत्र रघुनाथ बुवा के नाम कलाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं । कहा जाता है कि सतारा के महाराजा श्रीमन्त भाऊ साहब को धर्मा जी गुरव पखावज सिखाते थे ।

बाजी घनश्याम गुरव ।पर्वतकर। गोवा के रहने वाले थे जिनसे सुप्रसिद्ध तबला पटु श्री कामूराव मंगेशकर ने सीखा था ।

अहमदनगर निवासी तथा पानसे घराने के शिष्य केशव बुवा दीक्षित उनके भाई नाथ बुवा दीक्षिततथा नाथबुवा के सुपुत्र बाला साहब दीक्षित वंश परम्परागत देव सेवा में समर्पित हैं । आज भी अहमदनगर के दत्त मंदिर में बाला साहब दीक्षित सेवारत हैं । साथ ही वे दत्त संगीत महाविद्यालय भी चलाते हैं।

केड़गांव के भोबोवा गुरव और उनके सुपुत्र बापूराव गुरव अहमदनगर भी अपनी कला के सिद्ध हस्त कलाकार हैं ।

श्री गोदू जी गुरव और श्री नारायण राव जी गुरव ग्वालियर के

निवासी थे जो पर्वत सिंह पखावजी के समकालीन थे । इन्दौर के मुन्ना लाल पवार वहाँ के वैष्णव मंदिर के सेवक थे और जीवन के अन्त समय तक देव सेवा में संलग्न रहे ।

जलगांव के शंकर भैया गुरव, महाराष्ट्रीय कीर्तनों के उत्तम संगत कार थे । वे नट सम्राट बाल गंधर्व के समकालीन एवं उनके मित्र भी थे । उनके पुत्र बालाभाव गुरव भी उच्च कोटि के कलाकार थे । पं०गणपत राव गुरव जलगांव के रहने वाले थे जो इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे ।

इनके उपरान्त दादू अण्णा गुरव, श्रीकृष्ण, श्रीधर बालाजी वाले, जानकी राव गुरव, लक्ष्मणराव मधुकर, कालूराम, भीखा जी तथा सदाशिव गुरव (सभी धुले निवासी) राधे जी गुरव, पाण्डुरंग गुरव, भानुदास गुरव, तथा गणपत राव कोण्कर आदि के नाम गुरव सम्प्रदाय में उल्लेखनीय हैं ।

मंगल वेढ़ेकर घराना

आज से करीब पौने दो सौ वर्ष पूर्व (१९वीं शताब्दी के आरम्भ में महाराष्ट्र के शोलापुर जिले के एक छोटे से गाँव मंगल वेढ़ा में एक प्रतिभाशाली ब्राह्मण का जन्म हुआ जिसका नाम था विट्ठलाचार्य जोशी । मंगल वेढ़ा गाँव के श्री संत दामा जी पंत के समाधि के वे पुजारी थे तथा अच्छे कलाकार गायक, कीर्तनकार, वैदिक कर्मकांडी ब्राह्मण, ज्योतिषी तथा मृदंगाचार्य थे । कीर्तन भजन की संगति तथा सीमित मृदंग वादन की अपनी अल्प जानकारी को उन्होंने आगे चलकर योग शिक्षा तथा अपनी बुद्धि कौशल से इस प्रकार विकसित किया कि पखावज के क्षेत्र में एक नवीन शैली का निर्माण हुआ जो मंगल वेढ़ेकर घराने के नाम से आज भी सुविख्यात है । पं० विट्ठलाचार्य जोशी जी ने अपने समय में किस गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । परन्तु यह निश्चित है कि जो कुछ भी उन्होंने सीखा अपनी बुद्धि बल से विकसित किया तथा एक नवीन घराने के रूप में पल्लवित किया । पिछले छः पीढ़ियों से यह घराना अपनी निजी विशेषताओं को संभाले हुये चला आ रहा है । केवल पखावज वादन ही नहीं वरन् ख्याल गायकी, ध्रुपद-धमार कीर्तन, वैदिक परम्परा, नृत्य कला तथा ज्योतिष विद्या में परम्परागत चली आ रही है ।

मंगल वेढ़ेकर घराने का विकास

मंगल वेढ़ेकर घराने का विकास पं०नारायण राव के समय में हुआ ।

नारायण राव जी ने गायन एवं पखावज की शिक्षा अपने पिता श्री केशव बुवा तथा चाचा श्री काशीनाथ बुवा से प्राप्त की थी । वे अपने समय के धुरन्धर पंडित एवं मृदंगाचार्य थे । देशभर में भ्रमण करके उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया था । अपने परम्परागत पखावज वादन में संशोधन करके उन्होंने सैकड़ों बंदिशों की रचना भी थी ।

आज से करीब 75 वर्ष पूर्व संगीत के उत्सुक विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए जिन कठोर कष्टों का सामना करना पड़ता था उन्हें देखकर नारायण राव जी का हृदय द्रवित हो जाता था । उनका निजी अनुभव था कि अधिकतर कलाकार गाने बजाने में प्रवीण होते थे, परन्तु शिक्षा देने की विधि से अनभिज्ञ एवं कृपण होते थे । कलाविद होना एक बात है और उत्तम गुरु होना दूसरी बात । दोनों बातों का मेल किसी एक से बहुत कम दिखाई देता है ।

पं0नारायण राव ने अपने मित्र पं0 नारायण बुवा विट्ठे के सहयोग से 1914 में विट्ठल के परमधाम पंढरपुर में "धर्मार्थ महाराष्ट्र संगीत विद्यालय" नामक संगीत संस्था की नींव डाली । तब से अब तक इस संस्था के अन्तर्गत निःशुल्क विद्यादान करके सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा दी गई । गरीब विद्यार्थियों को शिक्षा के साथ-साथ आवास, भोजन एवं वस्त्र की सुविधा का भी प्रबन्ध वहां किया जाता था । उनके वंशज तथा शिष्यगण उनके सन्यास के बाद भी पिछले कई वर्षों से लगातार उनके द्वारा दिखाये मार्ग पर चले आ रहे हैं। 25 वर्ष पर्यन्त विद्यालय का सुन्दर संचालन करने के पश्चात् उनके छोटे भाई पं0दत्तोपंत मंगल वेढेकर तथा शिष्य पं0जगन्नाथ बुवा पंढरपुरकर के हाथों में सौंप दिया ।

पं0नारायण राव की शिष्य परम्परा को संभालने, संवारने तथा कायम रखने में पं0दत्तोपंत मंगल वेढेकर का योगदान भी असाधारण है । उन्होंने अपने बाज में अनेक संशोधन एवं परिवर्तन किये, रचनाएं कीं तथा युग की आवश्यकता को ध्यान में रखकर अपने घराने में प्रथमबार पखावज के साथ-साथ तबला वादन भी प्रारम्भ किया ।

पं0दत्तोपंत पखावज एवं तबला के अतिरिक्त नृत्य तथा जलतरंग वादन में भी प्रवीण थे । इस क्षेत्र में भी उनके अनेक शिष्य हैं । अपनी कला के प्रसारण हेतु उन्होंने समूचे भारत में भ्रमण किया तथा स्वतंत्र वादन एवं संगति में नाम कमाया । महाराष्ट्र में आकाशवाणी के सर्वप्रथम मृदंगवादक होने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है । गंधर्व महाविद्यालय के हीरक जयन्ती महोत्सव के अवसर पर उन्हें मानपत्र तथा महावस्त्र से विभूषित किया गया था ।

पं०दत्तात्रेयपंत की शिष्य परम्परा बहुत विशाल है जिसमें उनके छोटे भाई पं०शंकरराव मंगल वेढेकर, पं०माधवराव मंगल वेढेकर, दो पुत्र श्री तात्याराव तथा श्री नरसिंह राव, सिने तारिका नृत्यांगना शान्ता आप्टे आदि मुख्य हैं ।

मंगल वेढेकर घराने के कुछ प्रमुख शिष्यों में सर्व श्री परशुराम बुवा गुरव, बाल शास्त्री जोशी, दामुअण्ण कानेरकर, शंकरराव जंगम, भाऊ साहब राजवाडे, जगन्नाथ बुवा पंढारपुरकर, रंगनाथ बुवा देगलुरकर, देशा पान्डेय [बैरिस्टर], बाला साहब खाजगीवाले, बापूराव गुरव, शान्ता आप्टे, जगन्नाथ दलवी, नारायण जोशी, बाजीराव सोनवणे, हरिभाऊ जेउरीकर आदि के नाम लिये जा सकते हैं ।

मंगल वेढेकर घराने की वादन शैली

मंगल वेढेकर घराने का बाज पखावज के दूसरे घराने के बाजों से पृथक बाज है जो ओजपूर्ण तथा शक्तिपूर्ण है । उसमें लय बांट की कला का अनोखा समन्वय उल्लेखनीय है । उसकी बंदिशों की भाषा, लय गूंथने की पद्धति, पूरे पंजे का प्रयोग, हाथ तैयार करने का प्राथमिक तरीका तथा द्रुत लय में हाथ तैयार करने की पद्धति दूसरे घरानों से पृथक दिखती है, जो इसके स्वतंत्र विकास का परिचायक है ।

भिन्न-भिन्न लयकारी के सहस्त्रों रचनाओं का भंडार निश्चित रूप में अंतिम छः पीढ़ियों से इनके पास संचित है । नारायण राव, दत्तो पन्त तथा शंकरराव जैसे गुणी कलाकारों ने अपना सम्पूर्ण जीवन पखावज जैसे जटिल वाद्य को लोकप्रिय बनाने हेतु तथा महाराष्ट्र में उसका उदार मन से अधिकतः प्रचार करने हेतु लगा दिया है ।

उनके घरानों में बोलों की रचना की विविधता के उपरान्त लय की बांट, हिसाब को समझाने का तरीका तथा प्रत्येक भाव मात्रा [1/4] से उठने वाली कमाली, वजदार परनों की विशेषता महत्वपूर्ण स्थान रखती है ।[1]

---

1. सर्व श्री पं०नारायणराव, दत्तोपंत तथा शंकरराव जोशी मंगल वेढेकर के साक्षात्कार पर आधारित ।

ग्वालियर परम्परा

कोदऊ सिंह महराज का काल भारत के ताल वाद्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है क्योंकि संयोग से उसी काल के 50 वर्ष के बीच कोदऊ सिंह के उपरान्त बाबू जोध सिंह जी, नाना पानसे, ग्वालियर के श्री जोरावर सिंह, लखनऊ के उस्ताद मोदू खाँ, बख्शू खाँ, अजराड़ा के उस्ताद कल्लू खाँ, उस्ताद मीरु खाँ, फर्रुखाबाद के उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ तथा बनारस के पं0 राम सहाय जी जैसे कला निपुण व्यक्ति पैदा हुये, जिनकी कला साधना एवं विद्वता से भारत वर्ष के अनेक परम्परायें चल पड़ीं जो विविध घरानों में परिवर्तित होकर समृद्ध एवं विस्तृत हुईं ।

पखावज की ग्वालियर परम्परा के आदि संस्थापक जोरावर सिंह जी माने जाते हैं । वे कोदऊ सिंह के समकालीन एवं उनके मित्र भी थे । कुछ विद्वानों का मत है कि वे भी लाला भवानीदीन के शिष्य थे, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता तथा उनके गुरु के विषय में भी कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती । ग्वालियर परम्परा के कलाकार एवं वंशज अपने को स्वतंत्र परम्परा का मानते हैं और अपना सम्बन्ध भवानीदीन या किसी भी कलाकार के साथ स्वीकार नहीं करते ।

जोरावर सिंह ग्वालियर के महराज जनकोजी राव सिंधिया के आश्रित कलाकार थे । आश्रय मिलने के कारण ग्वालियर में बस गये और जीवन के अंतिम समय तक ग्वालियर में ही रहे और इसीलिए इनकी परम्परा ग्वालियर परम्परा के नाम से प्रचलित हुई ।

ग्वालियर में जोरावर सिंह के बाद उनकी शैली वंश परम्परागत एवं शिष्य परम्परागत चार-पाँच पीढ़ियों से चली आ रही है । जोरावर सिंह ने अपने पुत्र श्री सुखदेव सिंह को उत्तम शिक्षा दी तथा पिता के समान पुत्र भी ग्वालियर दरबार के कलाकार बने । श्री सुखदेव सिंह के पुत्र एवं देश के सुप्रसिद्ध पखावज वादक श्री पर्वत सिंह अपने पिता से भी ज्यादा उत्तम कलाकार बने । बाल्यावस्था से ही वे अपने पिता से शिक्षा ग्रहण करके ग्वालियर घराने के दरबारी कलाकार का स्थान ले लिये । उस्ताद अल्लादिया खाँ, पं0 विष्णु दिगम्बर, सितार वादक उस्ताद बरकत उल्ला खाँ, उस्ताद नदीर खाँ, पं0भास्कर बुवा बखले आदि अनेक उच्च कोटि के कलाकारों के

के साथ श्री पर्वत सिंह को संगत करने का अवसर मिला । वे 15 वर्षों तक बम्बई में भी रहे । उस्ताद हाफिज अली खाँ, पं0कृष्णराव शंकर पंडित,उस्ताद उमराव खाँ आदि कलाकारों से उनकी आत्मीयता बढ़ी । थोड़े समय उस्ताद हाफिज अली खाँ(सरोद)और पर्वत सिंह(पखावज)की जोड़ी सारे देश में प्रसिद्ध हो गई । पर्वत सिंह के छोटे भाई कन्हैया भी अच्छे पखावज वादकों में से थे । पर्वत सिंह पखावज के साथ-साथ तबला भी अच्छा बजाते थे । उनके तीनों पुत्र विजय सिंह, माधो सिंह तथा गोपाल सिंह ने अपने घराने की परम्परा को कायम रखा ।पर्वत सिंह के छोटे पुत्र गोपाल सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत विभाग के अध्यापक थे और आज भी उनके एक पुत्र उसी विद्यालय से संलग्न हैं ।

श्री जोरावर सिंह के प्रमुख शिष्य ग्वालियर निवासी श्री नारायण प्रसाद दीक्षित अग्निहोत्री थे । वे उच्च कोटि के वादक एवं उदार शिक्षक भी थे । उनकी शिष्य परम्परा ग्वालियर और महाराष्ट्र में फैली हुई थी । श्री नारायण प्रसाद जी के अनेक शिष्य थे जो आज भी ग्वालियर तथा महाराष्ट्र में परम्परागत फैले हुये हैं ।उनके वंश में उनके पुत्र वेंकट राव दीक्षित तथा पौत्र शंकर राव दीक्षित कुशल कलाकार हुये तथा शिष्यों में गणपत राव गुरव का स्थान मुख्य है । पं0गणपत राव ने अपने पुत्र माधव राव गुरव एवं अन्य शिष्यों को शिक्षा दी जिनमें बालकृष्ण पाठकर का नाम उल्लेखनीय है ।श्री जोरावर सिंह के पुत्र सुखदेव सिंह के शिष्यों में उनके दोनों पुत्र पर्वत सिंह एवं कन्हैया और श्री राम प्रसाद तथा उस्ताद मिट्टू का नाम उल्लेखनीय है ।श्री राम प्रसाद के पुत्र श्री कामता प्रसाद भी अच्छे पखावज वादक थे ।

पर्वत सिंह के शिष्यों में उनके तीनों बेटे माधो सिंह, विजय सिंह गोपाल सिंह के उपरान्त उनके दामाद जमुना प्रसाद तथा राम दास पाठक के नाम उल्लेखनीय हैं । राम दास पाठक से कानपुर के तेग बहादुर सिंह ने तबला सीखा । इसके उपरान्त श्री रामाराव काटे का नाम भी इसी परम्परा से सम्बन्धित है । श्री माधो सिंह जी ने हीरा लाल त्रिपाठी तथा ग्वालियर की एक दूसरी तबला परम्परा के वंशज श्री नारायण प्रसाद रतौनिया को भी सिखाया है ।

ग्वालियर की दूसरी परम्परा

ग्वालियर के रतौनिया परिवार में पिछले पाँच पीढ़ियों से पखावज तथा तबले की विद्या वंश परम्परा चली आ रही है । श्री नारायण प्रसाद

रतौनिया तथा भोगीराम आजकल इस परम्परा को आगे बढ़ाने में कार्यरत हैं उनके परिवार के पाँचवीं पीढ़ी के परदादा गणेश उस्ताद इस परम्परा के आदि पुरुष माने जाते हैं। गणेश उस्ताद ने किस गुरु से शिक्षा पाई इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता किन्तु वे अपने समय में ग्वालियर दरबार के दरबारी कलाकार थे। उनके पुत्र दयाराम उस्ताद को उनके पिता जी से ही शिक्षा प्राप्त हुई थी जो स्वयं अच्छे कलाकार थे। दयाराम उस्ताद के भानजे दाताराम भी नामी कलाकार हुये। दाताराम उर्फ दान सहाय श्रीमंत माधव राव सिंधिया के दरबार के सुप्रसिद्ध कलाकार माने जाते थे। नारायण प्रसाद रतौनिया श्री दाताराम के पुत्र हैं, उन्होंने अपने पिता के उपरान्त अपने पिता के गुरुभाई (दयाराम उस्ताद के शिष्य) पं० राम प्रसाद से, पं० माधव सिंह से तथा अपने ससुर मिलाई राम से भी तालीम ली। आजकल उनके युवा पुत्र राम स्वरूप तथा भोगीराम अपने वंश के उत्तराधिकारी हैं तथा अच्छे वादकों के रूप में नाम कमा रहे हैं। इस रतौनिया परम्परा में पखावज के उपरान्त मुख्यतः तबले की परम्परा ही चली आ रही है।

ग्वालियर के आधुनिक कलाकारों में रतौनिया मिलाई के अतिरिक्त श्री राजेन्द्र प्रसाद (रज्जन), उनके भाई सज्जन लाल, उस्ताद फयाज खाँ, उमेश कम्पूवाला तथा मुकुन्द भाले का नाम उल्लेखनीय है। ये सब तबला ही बजाते हैं, पखावज की परम्परा तो ग्वालियर से शनैः शनैः विलीन ही हो रही है।

ग्वालियर परम्परा की वादन विशेषता

ग्वालियर परम्परा का बाज, सरल, मुलायम तथा गम्भीर है। वादन में माधुर्य तथा संगत में दक्षता एवं सूझ ग्वालियर परम्परा की प्रमुख विशेषता है। ग्वालियर में दो विविध परम्पराएँ चली हैं और दोनों परम्पराओं में पखावज एवं तबले की विद्या का प्रचार हो रहा है। जोरावर सिंह एवं गणेश उस्ताद तबला और पखावज दोनों पर समान अधिकार रखते थे किन्तु जोरावर सिंह की परम्परा में अधिकतर पखावज को ही प्रधानता दी गई। यद्यपि पर्वत सिंह ने तबले के कई शिष्य तैयार किये, इसके विपरीत गणेश उस्ताद की परम्परा में विशेष रूप से तबला ही बजता आया है।

=====

रायगढ़ दरबार की मृदंग परम्परा

मध्य प्रदेश की रायगढ़ रियासत का संगीत प्रेम सुविख्यात है । यहाँ के गुणग्राहक नरेशों ने वर्षों पर्यन्त संगीत एवं उसके कलाकारों को आश्रय दिया था । यही कारण है कि रायगढ़ दरबार में संगीत कारों ने नृत्यकारों का सदैव मेला लगा रहता था ।

रायगढ़ रियासत में संगीत की नींव डालने वाले महारथी नरेश मदन सिंह की छठवीं पीढ़ी के राजा घनश्याम जी के समय से गणेशोत्सव में संगीत सम्मेलनों का आयोजन हुआ करता था । उनके पुत्र भूदेव सिंह भी संगीत रसिक थे तथा समय-समय पर संगीत उत्सवों एवं संगीत सम्मेलनों का आयोजन किया करते थे । किन्तु भूदेव सिंह के द्वितीय पुत्र महाराज चक्रधर सिंह के सन् 1923 ई0 से सन् 1947 ई0 तक का राज्यकाल रायगढ़ में संगीत का स्वर्णकाल माना जाता है ।

महाराज चक्रधर सिंह केवल गुणग्राही शासक ही नहीं थे, वरन् स्वयं उच्चकोटि के शास्त्रज्ञ, संगीतज्ञ एवं रचनाकार थे । भारत के श्रेष्ठ कलाकार इनके समक्ष अपनी कला को प्रस्तुत करने में गौरव अनुभव करते थे । श्रेष्ठतम कलाकारों से इनका दरबार हमेशा भरा रहता था । वे स्वयं मृदंग, तबला, सितार तथा कथक नृत्य में प्रवीण थे और लखनऊ में आयोजित संगीत सम्मेलन में "संगीत सम्राट" की उपाधि से विभूषित किये गये थे । उनके भाई नटवर सिंह जी भी मृदंग वादन में प्रवीण थे ।

नृत्य एवं तबला-पखावज में महराज चक्रधर सिंह जी की विशेष रुचि होने के कारण उनके दरबार में ऐसे किसी तबला पखावज वादक की कला का प्रदर्शन बाकी नहीं रहा जिनकी गिनती भारत के उत्कृष्ट कलाकारों में की जाती हो । ऐसे आमंत्रित कलाकारों के उपरान्त कुछ कलाकारगण उनके दरबार में आश्रय प्राप्त कर चुके थे जिनमें पखावज के क्षेत्र में ठाकुर लक्ष्मण सिंह, पं0सखा राम, पं0शम्भू महराज।बांदा।, पं0रामदास, पं0वासुदेव पखावजी, ठाकुर भीखमसिंह, ठाकुर जगदीश सिंह"दीन" आदि प्रमुख थे ।

महराज चक्रधर सिंह के दरबार में ठाकुर लक्ष्मण सिंह नामक एक विद्वान पखावज वादक थे । उनका शिष्यत्व ग्रहण करके महराज ने इस विद्वान कलाकार का यथेष्ठ सम्मान किया था । ठाकुर लक्ष्मण सिंह, चक्रधर सिंह

महराज के पिता भूदेव सिंह के समय से ही राज कलाकार थे ।

ठाकुर लक्ष्मण सिंह ने रायगढ़ के मठाधीश संगीताचार्य महन्त श्री गोपालदास से पखावज एवं तबले की शिक्षा प्राप्त की थी । वे गायन, नृत्यवादन, जलतरंग तथा सितार वादन में भी कुशल थे । उन्हें प्रचलित, अप्रचलित तालों की विशद जानकारी प्राप्त थी तथा कलाकारों की विविधता सहज साध्य थी। महराज चक्रधर सिंह के ग्रन्थ निर्माण कार्य में उनका योगदान अमूल्य था ।

ठाकुर लक्ष्मण सिंह जी उदार व्यक्ति थे । उन्होंने महराज के अतिरिक्त अनेक विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी थी जिनमें उनके भतीजे ठाकुर भीखम सिंह "मृदंग प्रभाकर", डा० हरि सिंह तथा भान्जे ठाकुर जगदीश सिंह "दीन" मृदंगार्जुन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

ठाकुर लक्ष्मण सिंह के भतीजे ठाकुर भीखम सिंह ने अपने चाचा के उपरान्त कोदऊ सिंह घराने के संत मृदंगाचार्य अयोध्या निवासी बाबा ठाकुर दास से तथा नाना पानसे घराने के पखावजी पं० शंकरराव अलकुटकर से भी शिक्षा प्राप्त की थी । इसके उपरान्त रायगढ़ दरबार के गुणीजनों से भी वे यथासंभव मार्गदर्शन लेते रहे थे ।

ठाकुर जगदीश सिंह "दीन" रायगढ़ दरबार के सम्माननीय कलाकार थे । उन्होंने अपने मामा तथा अयोध्या के बाबा ठाकुर दास जी, शम्भू महराज पखावजी (बांदा), नृत्य सम्राट जयलाल महराज (जयपुर), उस्ताद कादिर बख्श खां (पंजाब), उस्ताद नत्थू खां (दिल्ली) तथा बाबा मलंग खां (पंजाब) से मार्गदर्शन भी प्राप्त किया था । आजकल रायगढ़ में उनके पुत्र ठाकुर वेदमणि सिंह उनकी कला के उत्तराधिकारी हैं तथा अपने पिता द्वारा स्थापित "ठाकुर लक्ष्मण सिंह संगीत विद्यालय" का संचालन करते हुये अपने कुल की परम्परा को निभा रहे हैं । उनके प्रमुख शिष्यों में सर्व श्री धर्मराज सिंह, महेन्द्र प्रताप सिंह तथा केशव आनन्द शर्मा हैं । उनके सुपुत्र श्री धुरन्धर सिंह भी उसी मार्ग पर अग्रसर हैं । श्री केशव आनन्द शर्मा की शिष्या कु० नीलम गुप्ता ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया है ।

महराज चक्रधर सिंह ने अपने कानुपर दरबार के आश्रित विद्वानों एवं कलाकारों की सहायता से स्वयं संगीत के पाँच अमूल्य ग्रन्थों की रचना की थी जो अपने आप में अनूठे हैं । इन हस्तलिखित विशालकाय ग्रन्थों में रागों पर आधारित "राग रत्न मंजूषा" तथा लय ताल पर आधारित "ताल तोय निधि" "ताल बल पुष्पाकर" एवं "मुरज परन पुष्पाकर" प्रमुख हैं ।

इन सभी ग्रन्थों में "ताल तोय निधि" लय ताल के विषय का एक महत्वपूर्ण एवं आधारभूत ग्रन्थ है जिसका वजन 32 कि०ग्रा० है। यह करीब दो हजार संस्कृत श्लोकों में लिखा गया है। "भरत नाट्य शास्त्र", संगीत रत्नाकर" तथा "संगीत कलाधर" पर आधारित इस विशालकाय हस्तलिखित ग्रन्थ में दो से लेकर तीन सौ अस्सी मात्रा तक तालों का ताल चक्र सहित विशद वर्णन है।

इन ग्रन्थों की रचना के पीछे दरबार के अनेक गुणी कलाकारों के सहयोग के उपरान्त गुरु ठाकुर लक्ष्मण सिंह, पं०भगवान जी पान्डेय, अयोध्या निवासी पं०भूषण महराज तथा संस्कृत श्लोकों के लिए महामहोपाध्याय पं०सदाशिव दास शर्मा का भी विशेष योगदान रहा है।

=====

गुजरात, सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र की मृदंग परम्परायें

मुख्यतः कहा जाता है कि गुजरात एवं सौराष्ट्र में लोगों को संगीत से लगाव नहीं है। यह प्रदेश केवल व्यापार में ही रुचि नहीं रखता वरन् गहराई से देखने से तथा इतिहास के पन्नों को पलटने से यह पता चलता है कि शिल्प कला, चित्र कला, साहित्य एवं संगीत का सौराष्ट्र में काफी विकास हुआ। भारत में सर्वप्रथम अखिल भारतीय संगीत परिषद का आयोजन गुजरात राज्य के बड़ोदरा (बड़ौदा) नगर में ही हुआ। स्व0पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने श्रीमंत सियाजीराव गायकवाड़ की अध्यक्षता में अखिल भारतीय स्तर की इस संगीत परिषद का आयोजन 1916 में बड़ौदा में किया था, जो अपने स्तर का प्रथम सम्मेलन था।[1] जनता में संगीत शिक्षा हेतु शास्त्रीय संगीत के विद्यालय का प्रारम्भ बड़ौदा में सन् 1886 की फरवरी माह में श्रीमंत सियाजीराव गायकवाड़ के द्वारा हुआ था जो भारत में अपने ढंग का प्रथम विद्यालय माना जाता है।[2]

बड़ौदा के श्रीमंत साहब ने "कलावंत कारखाना" नामक एक खास विभाग अपने दरबार में आरम्भ किया था जो पं0 हिरजी भाई डाक्टर की निगरानी में वर्षों चलता रहा। इसमें भारत के अनेक कलाकार सम्मिलित होते थे। आफताब मूसिकी, उस्ताद फैयाज खाँ सहित भारत के 150 गुणी कलाकार इस कलावंत कारखाने में सम्मिलित होते थे। श्रीमंत साहब ने इस कारखाने की योग्य देखभाल के लिए सुप्रसिद्ध वीणा वादक तथा शास्त्रज्ञ पंडित हिरजी भाई डाक्टर को नियुक्त किया था तथा ताल के क्षेत्र में नासिर खाँ पखावजी तथा उनके शिष्य कान्ता प्रसाद, गंगाराम मृदंगाचार्य, तबला नवाज करीम बक्श, कुमार सिंह तथा उनके दोनों पुत्र कुबेर सिंह एवं गोविन्द सिंह आदि सभी इस कलावन्त कारखाने के कलाकार थे।

पंजाब घराने के सुप्रसिद्ध तबला वादक उस्ताद बाज खाँ डेरेदार के पुत्र उस्ताद नासिर खाँ पखावजी काफी सालों तक बड़ोदरा दरबार के दरबारी कलाकार रहे। नासिर खाँ ने अपने पिता के उपरांत मथुरा के पं0जानकी प्रसाद से शिक्षा ली थी।

---

1. गुजरात अने संगीत (गुजराती लेख), पुस्तक (संगीत चर्चा), प्रो0आर0सी0मेहता पृष्ठ-9.

2. — उक्तवत् —

उस्ताद नासिर खाँ ने बड़ोदरा में अनेक शिष्य तैयार किये जिनमें पं०कामता प्रसाद, हिम्मतराम बक्शी, विष्णु पंत जोशी, गणपत राव बर्वेकर कृष्णराव, लक्ष्मण सिलेदार के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उस्ताद नासिर खाँ के एक प्रमुख शिष्य श्री नरहरि शम्भूराव भावे से उस्ताद नासिर खाँ की वादन शैली का विस्तृत मराठी भाषा में एकपुस्तक लिखी जिसका नाम "मरहूम नासिर खाँ याचा मृदंग बाज" था।

बड़ोदरा के उपरान्त गुजरात के अहमदाबाद शहर में भी मदंग को लोकप्रियता मिली। नाना पानसे घरानेके उत्तराधिकारी मृदंगाचार्य पंडित गोविन्दराव बुरहानपुरकर काफी समय तक अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध साराभाई परिवार से सम्बन्धित थे। श्री अम्बा लाल साराभाई की पुत्री श्रीमती दुर्गा साराभाई ने पं०बुरहानपुरकर से मृदंग वादन की शिक्षा प्राप्त की।

जामनगर की बल्देव सा परम्परा

गुजरात की तरह ही सौराष्ट्र के रजवाड़ों में भी मृदंग की परम्परा काफी विकसित हुई थी। सौराष्ट्र में जामनगर के पं आदित्य राम जी की बल्देव सा परम्परा विशेष महत्त्वपूर्ण थी। जामनगर के मृदंगाचार्य पं०आदित्य राम जी को लोग आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ याद करते हैं और गुजरात-सौराष्ट्र का स्वामी हरिदास कहकर उनका गौरव बढ़ाते हैं। गिरिनार के किसी योगी से इन्होंने पखावज वादन की योग्यता प्राप्त की थी। कहा जाता है कि अपने मृदंग वादन से इन्होने एक पागल हाथी को वश में कर लिया था। सन् 1841 में वे जूनागढ़ छोड़कर जामनगर चले गये और अन्त तक जामनगर में ही रहे। जामनगर में पं०आदित्यराम जी ने अनेक शिष्य तैयार किये जिनमें पं०बल्देव शंकर भट्ट प्रमुख हैं। बम्बई के कलाकार पं०चतुर्भुज राठौर बल्देव शंकर भट्ट के शिष्य थे। चतुर्भुज राठौर के दोनों पुत्र भी बल्देव घराने की परम्परा को निभा रहे हैं। पं०आदित्यराम जी की जन्म भूमि जूनागढ़ होते हुये भी उनकी कर्मभूमि जामनगर रही है। अतः उनका घराना जामनगर का बल्देव सा घराना कहलाता है।

जूनागढ़ के दरबारी कलाकारों में उस्ताद मंगल खाँ का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। वैष्णव सम्प्रदाय के कलाकारों में पोरबंदर के स्वामी घनश्याम लाल जी तथा उनके पुत्र गोस्वामी द्वारकेश लाल जी तथा गोस्वामी

दामोदर लाल जी के नाम प्रसिद्ध हैं । उनके समय में भारत के प्रसिद्ध कलाकार पोरबन्दर को कला का तीर्थ धाम मानते थे । गोस्वामी द्वारकेश लाल जी के दो पुत्र गोस्वामी माधोराव तथा गोस्वामी रसिक राव भी संगीत ज्ञाता थे । यह सभी लोग ध्रुपद गायकी एवं पखावज तथा तबला वादन में प्रवीण थे ।

राजस्थान की मृदंग परम्परा

(1) जयपुर की परम्परा : राजस्थान में जयपुर का "गुणीजन खाना" वहाँ के शासकों की कलाभक्ति एवं कद्रदानी का उत्कृष्ट उदाहरण है । सन् 1727 में सवाई जयसिंह द्वारा जयपुर अथवा जयनगर की स्थापना हुई। भारतीय गणराज्यों में जयपुर राज्य के विलय तक के करीब सवा दो सौसाल तक "गुणीजन खाना" नाम की यह ऐतिहासिक संस्था राज्य की ओर से चलती रही थी । जयपुर के राजाओं में पीढ़ी दर पीढ़ी से संगीत प्रेम चला आ रहा था। अतः इन दिनों समग्र देश के सैकड़ों कलाकार "गुणीजन खाना" में आश्रय पाकर उदर पोषण एवं आत्म सम्मान पाते थे ।

मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् दिल्ली दरबार के बहुत से कलाकार दूसरे राज्यों में चले गये । इनमें बहुत से कलाकार जयपुर दरबार में आये और "गुणीजन खाने" में स्थान पाकर सम्मानित हुये । यही कारण है कि दिल्ली घराने के तबले और पखावज का प्रचार और प्रभाव जयपुर की ओर अधिक रहा । तत्पश्चात् तत्कालीन स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप एक नवीन वादन शैली का प्रारम्भ जयपुर में हुआ जो दिल्ली घराने पर आधारित तथा अन्य घरानों से प्रभावित होते हुये भी पृथक था ।

गुणीजन खाने में गायन, वादन तथा नृत्य सम्मेलनों के उपरान्त पुस्तकों की रचना जयपुर के राजकीय पुस्तकालयों में "मोहर विभाग" में मूल्यवान पोथियों, पाण्डुलिपियों एवं रागों की चित्रावलियों का संग्रह है जो वहाँ के राजाओं के संगीत प्रेम का साक्षी है। महाराजा राम सिंह (द्वितीय) के समय में गुणीजन खाने में सत्रह पखावजी नियुक्त थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। महाराजा माधोसिंह (द्वितीय) के समय में गुणीजन खाने में पन्द्रह पखावजी मुलाजिम थे जिनमें नाम इस प्रकार मिलते हैं- सर्व श्री छुट्टन खाँ, हिदायत अली, इनायत अली, मदत अली, कुतुब अली, किस्से नूरबक्श, भुवनी, चोथु, रामकवंर, सवादास, अजीज उद्दीन, जगन्नाथ पारिख आदि । इन सब में पखावजी जगन्नाथ प्रसाद पारीक का देहान्त कुछ वर्षों पूर्व ही हुआ है । इन पखावजियों में कुछ लोग पखावज के

साथ साथ अच्छा तबला भी बजा लेते थे । अब इस गुणीजन खाने का कोई भी कलाकार जीवित नहीं है।[1]

[2] जयपुर की हालुका अथवा नाथद्वारा की परम्परा

गुणीजन खाने में पखावजियों के साथ ही जयपुर में ही एक दूसरी प्रसिद्ध परम्परा भी विख्यात थी । लगभग 250 से भी अधिक वर्ष पूर्व राजस्थान के आमेर शहर में इस परम्परा के आदि पुरुष पं0तुलसीदास जी हुये, जो पखावज के अच्छे कलाकार थे जिनके कारण यह परम्परा सुदृढ़ हुई ।

हालू जी की चौथी पीढ़ी में पं0 रूपराम जी हुये, जो स्वयं उच्चकोटि के पखावजी थे । उन्होंने संवत् 1771 में जयपुर से जोधपुर प्रस्थान करके दरबारी कलाकार के रूप में आश्रय प्राप्त किया था । अपनी उत्तरावस्था में वे अपने युवा पुत्र वल्लभ दास जी के साथ जोधपुर दरबार की नौकरी छोड़कर श्री 108 बड़े गिरिधारी जी महराज की आज्ञा से नाथद्वारा आकर बस गये थे । वहाँ श्रीनाथ जी के मंदिर में वे ठाकुर जी की सेवा में आजीवन सेवारत रहे । तभी से उनके वंशज नाथद्वारा में ही ठाकुर जी की सेवा करते आये और इसी कारण यह परम्परा जयपुर परम्परा के अतिरिक्त नाथद्वारा के मृदंग परम्परा के नाम से अधिक पहचानी जाती है । इस वंश में पं0वल्लभ दास जी के दो पुत्र शंकरलाल तथा खेम लाल एवं उनके पौत्र घनश्याम दास तथा श्याम लाल हुये जो अपने समय के प्रतिष्ठित कलाकार थे । श्री खेमलाल जी ने "मृदंग सागर" नामक एक बृहद् ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया, जो दुर्भाग्यवश उनके जीवन में पूरा न हो सका, इसे उनके भतीजे घनश्याम दास जी ने पूर्ण किया एवं 20वीं सदी के आरम्भ में उसका प्रकाशन कराया । इस वंश के अंतिम वंशज पुरुषोत्तम दास जी घनश्याम दास जी के पुत्र हैं । इनकी शिष्य परम्परा काफी विस्तृत है जिनमें उनके नाती प्रकाश चन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

जयपुर के हालुका मुहल्ले में अनेक कलाकार हैं जिनमें पं0 नारायण जी, पं0मांगी लाल जी तथा पं0 बद्री जी के नाम प्रमुख हैं । जयपुर के श्री बद्री नारायण पारिख के अनुसार हालुका घराने के सुप्रसिद्ध पखावजी मांगी लाल जी तथा बद्री जी के नाम प्रमुख हैं । जयपुर में जोरावर सिंह नामक एक पखावजी हुये थे । नाथद्वारा के कुछ इस परम्परा से भी सम्बन्धित थे ।

---

1. गुणीजन खाना-लेख डा0चन्द्र मणि सिंह, राजस्थान पत्रिका, 18 नम्बर, 1977, पृष्ठ-9.

जोधपुर के कलाकार

जोधपुर के दरबारी कलाकार श्री पहाड़ सिंह करीब ढाई सौ वर्ष पूर्व हुये थे । वे अपने युग के काफी प्रसिद्ध पखावजी माने जाते थे । वे दिल्ली घराने से सम्बन्धित थे तथा जोधपुर के कला रसिक राजाओं के आमंत्रण से वहां आकर बस गये थे । उनके पुत्र जौहर सिंह भी अच्छे पखावज वादक थे जो जोधपुर दरबार के आजीवन आश्रित कलाकार थे। श्री पहाड़ सिंह और श्री रूप राम दोनों समकालीन थे और दोनों ही जोधपुर दरबार के आश्रित कलाकार थे । श्री पहाड़ सिंह के प्रति रूपनाथ जी को बहुत आदर सम्मान था । रूप नाथ जी ने अपने पुत्र कल्लीन दास को पहाड़ सिंह जी से शिक्षा दिलवाई थी।

जयपुर घराने की विशेषता

जयपुर घराने का बाज वजनदार बाज है, इसमें प्रायःजोरदार बोल बजते हैं । "धुं धुं" "तुं तुं" "धड़ान्न" "तड़ान्न" आदि बोलों का प्राधान्य इसमें देखने को मिलता है । दिल्ली और कोदऊ सिंह इन दोनों घरानों का प्रभाव जयपुर घराने में देखने को मिलता है, यद्यपि कोदऊ सिंह घराने के बाज से यह बहुत प्रभावित है, फिर भी वह उससे कुछ भिन्न भी है ।

जयपुर में मुख्यतः दिल्ली से बहुतेरे कलाकार आकर बस गये थे, अतः दिल्ली घराने की मृदुता एवं माधुर्य तथा कोदऊ सिंह के बाजों की प्रबलता और गाम्भीर्य दोनों का सुन्दर समन्वय जयपुर के बाज में देखने को मिलता है। जब कि आज तो जयपुर, जोधपुर, उदयपुर और राजस्थान के प्रमुख शहरों में पखावज वादक प्रायः कम हो चुके हैं तथापि नाथद्वारा की परम्परा में आगे भी कुछ पखावजी जीवित हैं ।

जयपुर घराने का इतिहास निम्नलिखित पर आधारित है :-

॥1॥ "मृदंग सागर" घनश्याम दास पखावजी, जीवनी अध्याय, पृष्ठ-1 से 10 तथा पृष्ठ-11 से 50.

॥2॥ नाथद्वारा के वंशपरम्परागत कलाकार पं०पुरुषोत्तम दास पखावजी के आधार पर ।

॥3॥ पखावजी जगन्नाथ प्रसाद पारीख के पुत्र बद्री प्रसाद पारीख से प्राप्त जानकारी के अनुसार ।

॥4॥ गोस्वामी कल्याण राय तथा गोस्वामी गोकुलोत्सव महाराज की नाथद्वारा में ली गई भेंट के आधार पर ।

तबले की घरानों की उत्पत्ति एवं विकास

जब भी कोई कला विधा विकसित व परिष्कृत होती है, इतने सुसंस्कृत और समृद्ध हो जाती है कि कला मर्मज्ञ जन समाज में उसकी विशेष मान्यता और प्रतिष्ठा हो जाती है, तब उसकी एक परम्परा चल पड़ती है। कला विधाओं की इस परम्परा में जहां कलाकारों का इतिहास और उनकी कलात्मक उपलब्धियों का समावेश रहता है, वहीं पीढ़ी दर पीढ़ी कला की प्रायोगिक उन्नति के आधार पर भिन्न-भिन्न शैलियों की सृष्टि और उनकी प्रगति भी समाविष्ट रहती है। इस दृष्टि से भारतीय संगीत में गायन, वादन व नृत्य विधाओं की परम्पराएं अलग-अलग समय पर विविध रूपों में प्रस्फुटित होती रही है और कालान्तर में यही परम्पराएं संगीत के विभिन्न घरानों के रूप में विकसित हुईं। भारतीय धर्म, संस्कृति और कला में पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आई परम्परा के लिए प्राचीन काल में सम्प्रदाय शब्द व्यवहार किया जाता है। यह शब्द आज भी इसी अर्थ में दक्षिण भारतीय संगीत में व्यवहार किया जाता है। सम्प्रदाय शब्द संस्कृत भाषा के "सम" और "प्रदाय" दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रदाय शब्द के पूर्व सम उपसर्ग लगने से सम्प्रदाय शब्द बना है।[1] सम का अर्थ सम्यक रूप में अर्थात् भलीभांति और प्रदाय का अर्थ है प्रदान, अर्थात् विशिष्टतापूर्वक देना। इस प्रकार सम्प्रदाय शब्द का पूरा अर्थ होता है, किसी वस्तु को विधिवत् व विशिष्टतापूर्वक देने की प्रक्रिया। आगे चल कर यही सम्प्रदाय शब्द रूढ़ार्थ में गुरु द्वारा शिष्य को विधिवत् ज्ञान दिये जाने की परम्परा का द्योतक हो जाता है।[2] अतः संगीत के संदर्भ में गुरु से शिष्य को शास्त्र एवं क्रिया की शिक्षा दिये जाने की परम्परा को सम्प्रदाय कहा गया है। गायन (गायक) के लक्षण बताते हुये पं० सारंगदेव ने संगीत रत्नाकर में इसी अर्थ सम्प्रदाय शब्द का व्यवहार किया है जिसका अर्थ होता है "उत्तम गुरु परम्परा से शिक्षा पाया हुआ"।[3]

लगभग 13वीं, 14वीं शताब्दी में गुजरात का क्षेत्रीय संगीत कला के लिए सुप्रसिद्ध था और वहां की संगीत-जीवी जातियों के संदर्भ में "परिवार" नामक संगीत जीवी जाति का उल्लेख मिलता है। मोटे तौर पर परिवार शब्द

---

1. शब्दकल्पद्रुम कोश, भाग-5 (सम प्र दा घ =सम्प्रदाय)
2. गुरु-परम्परा-समुपदेशः, शिष्यपरम्परावतीर्णोपदेशः इति भरतः (शब्द कल्पद्रुम कोष, पांचवां भाग)
3. सुसम्प्रदायो गीतज्ञैगीते गायनाग्रणीः (संगीत रत्नाकर तृतीयःप्रकीर्णकाध्यायः श्लोक सं०-18)

एक तरह से सम्प्रदाय शब्द का पर्यायवाची शब्द था। परन्तु दोनों के अर्थ में एक विशेष अन्तर यह था कि जहाँ सम्प्रदाय शब्द एक विस्तृत अर्थ में योग्य गुरु और योग्यशिष्य की परम्परा को अभिव्यक्त करता था वहाँ परिवार शब्द संगीत का व्यवसाय करने वाले लोगों के रक्त संबंध और मुख्य रूप से आनवांशिक परम्परा के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से परिवार शब्द सम्प्रदाय शब्द की तुलना में संकुचित अर्थ वाला शब्द था। इसके साथ ही दोनों शब्दों में एक विशेष अन्तर यह भी है कि जहाँ सम्प्रदाय शब्द मुक्त रूप से विधा प्रदान किये जाने की अभिव्यक्ति प्रधान है वहाँ परिवार शब्द संगीत के पारिवारिक व्यवसाय का सूचक था। परिवार शब्द का अर्थ होता है एक दूसरे के रक्त से सम्बन्धित लोगों का समूह। आज संगीतज्ञों के संदर्भ में इस्तेमाल होने वाले खानदान और घराना शब्द परिवार के फारसी और उर्दू पर्यायवाची हैं। इससे ज्ञात होता है कि मुस्लिम काल के पूर्व भी भारत में पेशेवर संगीत जीवी जातियों में खानदान या घराना के अर्थ में परिवार शब्द प्रचलित था। मध्य युग में मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से जब इन पेशेवर संगीत जीवी जाति के परिवारों ने मुस्लिम धर्म ग्रहण कर लिया तब ये खानदान या घराना शब्द व्यवहार करने लगे।

घराना शब्द की व्युत्पत्ति घर शब्द से हुई। घर शब्द भी मूलतः संस्कृत के गृह शब्द से अपभ्रंश होकर बना है। घराना शब्द भारतीय संगीत में पेशेवर गायक-वादक और नर्तकों की वंश परम्परा का द्योतक रहा है। वंश परम्परा व्यवसाय में दक्ष और कला को वंशानुगत शिक्षा में पारंगत रहने के कारण घराना और शैली के घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही था। अतः 'घराना शब्द संगीतज्ञों की कलाभिव्यक्ति की विशिष्ट शैली के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। यद्यपि घराना और शैली में कहीं-कहीं भिन्नता भी रही है, परन्तु संगीतज्ञों में घराना शब्द बहुत समय से प्रायः आनुवंशिकता और शैली दोनों के मिले-जुले अर्थ का रूप है।

मध्यकालीन युग में विभिन्न स्थानों पर संगीत जीवी जातियों के लोग अपने जीविकोपार्जन के लिए विभिन्न राजाश्रयों में रहे हैं और इसीलिए वे विभिन्न स्थानों पर बस गये हैं। उन स्थानों पर बसे विभिन्न कलाकारों की समन्वित कला, परिकल्पना, स्थानीय प्रभाव और लोक रुचि से उनकी कला प्रस्तुतिकरण की शैली पर जो प्रभाव पड़ा वह स्थानीय नाम से प्रसिद्ध

हो गया और इस जगह रहने वाले कलाकारों के खानदान भी अपने-अपने स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुये और आगे चलकर वे नाम संगीत क्षेत्र में प्रचलित हो गया। इसी कारण लखनऊ घराना, आगरा घराना, ग्वालियर घराना, जयपुर घराना, बनारस घराना इत्यादि नामकरण हुए।

उत्तर भारतीय संगीत में कुछेक दशकों पूर्व तक घरानों को विशेष मान्यता प्राप्त थी, परन्तु आज के प्रगतिशील युग में परिस्थिति भिन्न हो गयी है। अब घरानों की आवश्यकता व्यक्ति के ज्ञान की परिधि तक ही सीमित हैं। प्रत्येक घराने के विशेषता को आत्मसात करके अपने संगीत में ढाल लेना ही एक लक्ष्य रह गया है। अतः अब घरानों की कट्टरता में शिथिलता आई है क्योंकि आज संगीत का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। संगीत सम्मेलन, सभाएँ, आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं विभिन्न प्रकार की रिकार्डिंग पद्धतियों के कारण संगीत जनमानस में व्याप्त हो गया है। यही कारण है कि आज किसी एक घराने की विशेष शैली का परम्परागत एवं कट्टरतापूर्वक अनुसरण नहीं हो रहा है। संगीत लोक रुचि पर आधारित होने के कारण उसमें सदा परिवर्तन होता आया है। आज का संगीतकार अपने प्रदर्शन में प्रत्येक घराने की सुन्दर बातों को सम्मिलित करने का प्रयास करता दिखाई देता है। आज के कलाकार घरानों की रुढ़िवादिता से ऊपर उठकर संगीत को लोकप्रिय बनाने का प्रयास कर रहे हैं।

तबले के विभिन्न बाज

=:=:=:=

बाज और घरानों का आपस में क्या सम्बन्ध है और वे एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं, यह विचार करने योग्य प्रश्न है। तबले के विभिन्न घरानों की मान्यता का एक मात्र आधार उनकी भिन्न-भिन्न वादन शैलियाँ हैं। यह भिन्नता दो प्रकार की होती हैं : ।1। रचनाओं से, ।2। बोलों की निकास विधि से। तबले के वर्ण सभी घरानों से एक हैं उसी प्रकार से जैसे वर्ण माला के आधार पर भिन्न-भिन्न विषय लिये जाते हैं। तबले में एक ही बोल विभिन्न घरानों में थोड़ा- थोड़ा अन्तर के साथ बजाये जाते हैं जैसे- दिल्ली अजराड़ा में किनार की प्रधानता और बनारस में खुले बोल को प्रधानता प्राप्त है। इसी प्रकार विभिन्न घरानों में बोल-बंदिशों में भी अन्तर पाया जाता है और उसी से उसकी पहचान स्पष्ट होती है। जैसे पश्चिम के बाज में क़ायदा,

पेशकारा, रेले, छोटे-छोटे मुखड़े, मोहरे की प्रधानता रही है। इसके विपरीत फर्रुखाबाद में चालें और गतों को महत्व दिया जाता है। बनारस बाज में बोल, बाँट, लग्गी-लड़ी एवं छन्दों का महत्वरहता है। इसी विश्लेषण से तबले के विभिन्न बाजों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि दिल्ली घराना और बाज अन्य सभ घरानों के जनक हैं। दिल्ली के शिष्यगण देश के विभिन्न नगरों में फैल गये और स्थाई रूप से बस गये। इन लोगों में अपने वादन में स्थानीय परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार संशोधित किया तथा अपनी निजी प्रतिभा एवं सृजनशक्ति के आधार पर परिवर्तन करके अपने बाज को नये रूप में प्रस्तुत किया तथा उनकी अपनी अलग पहचान हुई। जब इस नवनिर्मित शैली का अनुसरण उनके वंश एवं शिष्यों द्वारा नई पीढ़ियों तक चलता गया तो कालांतर में उसे एक घराने की मान्यता मिली। इसप्रकार आज उत्तर भारतीय संगीत में तबले के मुख्य छः घराने प्रसिद्ध हैं :-

११। दिल्ली घराना

१२। अजराड़ा घराना

१३। लखनऊ घराना

१४। फर्रुखाबाद घराना

१५। बनारस घराना

१६। पंजाब घराना

उपर्युक्त घरानों के अतिरिक्त देश में तबले की अनेक परम्पराएं प्रचलित हैं जैसे इन्दौर, विष्णुपुर, ढाका, जयपुर, हैदराबाद, मुरादाबाद, भटौला आदि परम्पराएं। रामपुर, रायगढ़, ग्वालियर जैसे राजदरबारों में पैली परम्पराएं और कुछ नर्तकों एवं पखावजों से सम्बन्धित परम्पराएं।

दिल्ली घराने के आदि प्रवर्तक उस्ताद सिद्धार खाँ ढाढ़ी, उनके अनुज चाँद खाँ, पुत्र बुगरा खाँ, घसीट खाँ, एक अज्ञात नाम के पुत्र तथा वंश एवं शिष्यों की लम्बी सुदृढ़ परम्परा ने दिल्ली घराने की नींव दृढ़ की।

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में एक मेरठ जनपद है उसमें एक गाँव का नाम अजराड़ा है। वहाँ के मूल निवासी दो भाई मीरू खाँ और कल्लू खाँ तबले की उच्च शिक्षा प्राप्त करने दिल्ली गये और वे उस्ताद सिद्धार खाँ के पौत्र सिताब खाँ के शिष्य बन गये। पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद वे दोनों

भाई गांव वापस चले गये । वहां उन लोगों ने अपनी वादन शैली में उल्लेखनीय परिवर्तन करके दिल्ली के बाज को एक नया रूप दिया और फिर उनकी शिष्य परम्परा ने उस परिपाटी को आगे बढ़ाया और इस प्रकार से अजराड़ा नामक एक नवीन घराने को जन्म दिया ।

उस्ताद सिद्धार खां के दो पौत्रों मोदू खां और बख्शू खां को अवध के नवाब असमत जंग बहादुर ने लखनऊ बुला लिया । इन दोनों भाइयों ने अपनी वादन शैली में यथेष्ठ परिवर्तन करके एक नये बाज का विकास किया । इसी से उनके घराने को एक पृथक घराने की मान्यता मिली जो लखनऊ घराने के नाम से विख्यात हो गयी ।

देश के पूर्वी भाग में तबले के प्रचार और प्रसार का श्रेय पं०राम सहाय जी को प्राप्त है । वे लखनऊ घराने के प्रवर्तक उस्ताद मोदू खां साहब की शिष्यता में रहकर तबला वादन में प्रवीणता किये । एक लम्बी अवधि के पश्चात् वे अपने नगर बनारस लौट आये और अपने तन, मन, धन से तबले का यथेष्ठ प्रचार किया । उनकी शिष्य परम्परा में एक घराने का जन्म हुआ जो आज बनारस घराने के नाम से विख्यात है ।

लखनऊ घराने के प्रवर्तक उस्ताद बख्शू खां के शिष्य एवं दामाद उस्ताद हाजी विलायत अली खां फर्रुखाबाद के रहने वाले थे । अपने श्वसुर से तालीम प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने फर्रुखाबाद जाकर अपनी नई परम्परा आरम्भ की जो फर्रुखाबाद घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

तबले का एक बहुचर्चित घराना पंजाब घराना है । अभी तक जितने घरानों की चर्चा की गई सभी का सीधा सम्बन्ध दिल्ली से है, परन्तु यही एक ऐसा घराना है जिसका दिल्ली घराने से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होता । यह घराना एक स्वतंत्र घराना है और इसके प्रवर्तक मृदंग वादक लाल भवानी दास थे । यही कारण है कि पंजाब घराने की वादन शैली मृदंग शैली के अधिक निकट है ।

=====

दिल्ली घराना

तबले के सर्व प्रथम घराना दिल्ली घराने के जन्मदाता उस्ताद सिद्धार खाँ ढाढ़ी थे। घरानों की परिपाटी में ढाढ़ी या दाढ़ी और खलीफा शब्द का प्रयोग काफी होता है।

ढाढ़ी परम्परा में जन्मे व्यक्ति उस्ताद सिद्धार खाँ ढाढ़ी का नाम इस घराने के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध है। इनका जन्म कहाँ हुआ, यह कहना कठिन है। संभवतः सन् 1700 के आस पास इनका जन्म हुआ होगा। उनके समय में सब्बे हुसैन ढोलकिया, नियामत खाँ (सदा रंग), बुबरों खाँ-पखावजी, भवानी सिंह आदि प्रसिद्ध कलाकार थे। सिद्धार खाँ ने युग की बदलती हुई रुचि का गहराई से अध्ययन किया और पखावज के आधार पर तबले को और स्वरूप दिया कि उसका रूप पखावज से पृथक होकर सामने आया। पखावज के खुले बोलों को तबले पर बजाने योग्य बनाया। अंगुलियों के रख-रखाव में परिवर्तन किया और चाँटी प्रधान कुछ नवीन रचनाएँ करके एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। कालान्तर में उनकी वंश परम्परा और लम्बी शिष्य परम्परा ने उस घराने को सुदृढ़ किया, विस्तृत किया तथा अन्य घरानों के मूल प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त किया।

दिल्ली घराने के प्रवर्तक उस्ताद सिद्धार खाँ ढाढ़ी के तीन पुत्र थे:

(1) घसीट खाँ : जिनके वंशजों का इतिहास नहीं मिलता, अतः अनुमान है कि उनकी वंश परम्परा आगे नहीं चली होगी।

(2) नाम अज्ञात है : इनके दो पुत्र उस्ताद मोदू खाँ और उस्ताद बख्शू खाँ हुये जिनसे लखनऊ का घराना स्थापित हुआ। अतः तबले के इतिहास में सिद्धार खाँ के इस अज्ञात नाम के पुत्र का विशेष महत्व है।

(3) बुगरा खाँ : उस्ताद सिद्धार खाँ के अनुज उस्ताद चाँद खाँ तथा पुत्र बुगरा खाँ दोनों इनके परम्परागत शिष्य थे जिनके वंशजों तथा शिष्य परम्परा से दिल्ली घराना सर्वत्र फैला है।

उस्ताद बुगरा खाँ के दोपुत्र थे- (1) उस्ताद सिताब खाँ, (2) उस्ताद गुलाब खाँ। इन दोनों भाइयों के वंशज तथा शिष्यों में अनेक श्रेष्ठ तबला नवाज पैदा हुये जिन्होंने इस घराने का नाम रौशन किया।

उस्ताद सितार खाँ के पुत्र उस्ताद नजर अली खाँ दौहित्र बड़े काले खाँ वंशज शादी खाँ और शिष्य मीरु खाँ, कल्लू खाँ सभी गुणी कलाकार थे। पुत्र नजर अली से जयपुर के बहुत से कलाकारों ने शिक्षा ग्रहण की थी जिनमें श्री हिदायत अली, कुतुब अली, इनायत अली तथा मदत अली के नाम लिये जाते हैं। आज कल इनके वंशज पाकिस्तान में हैं। उस्ताद सिदार खाँ के दौहित्र बड़े काले खाँ साहब से तबले का बहुत प्रचार हुआ। उनके पुत्र बोली बख्श और पौत्र नत्थू खाँ, शिष्य उस्ताद मुनीर खाँ एवं बादशाह बहादुर शाह जफर के पौत्र फिरोज खाँ दिल्ली वाले ने देश भर में ख्याति प्राप्त की। तबले के इतिहास में उस्ताद मुनीर खाँ का नाम श्रेष्ठ उस्तादों। शिक्षकों। में लिया जाता है। उनके जीवन में सैकड़ों शिष्य तैयार हुये जिनमें सर्वश्री अहमद जान थिरकवा, अमीर हुसैन खाँ, गुलाम हुसैन खाँ, हबीब उद्दीन खाँ, समसुद्दीन खाँ, नजीर हुसैन पानीपत वाले, चाँद खाँ बिजनौरी, सुब्बाराव अंकोडकर, विष्णुपंत शिरोडकर, कृपाराम ब्यास, रहमान खाँ, रहीम बख्श, बाबा लाल इस्लामपुरकर आदि नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। खाँ साहब के शिष्य-प्रशिष्यों में भी हजारों कलाकार हुये। उनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं: सर्व श्री फकीर मोहम्मद, निखिल घोष, अता हुसैन खाँ, पंढरी नाथ नागेशकर, शेख अब्दुल करीम, सुफैल, शेर खाँ, जगन्नाथ बुवा, पुरोहित, रोजवेल लायल, गुलाम रसूल, अब्दुल सत्तार, अब्दुल रहमान, बाबा साहेब मिरजकर इत्यादि। उस्ताद नत्थू खाँ की परम्परा में सर्व श्री राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी, हीरेन्द्र किशोर राय चौधरी, विनायक घांग्रेकर, वासुदेव प्रसाद, तारानाथ एवं हबीब उद्दीन खाँ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

उस्ताद बुगरा खाँ के दूसरे पुत्र गुलाब खाँ के पुत्र मोहम्मद खाँ तथा पौत्र काले खाँ ने भी तबला जगत में काफी ख्याति पाई। काले खाँ साहब के दो पुत्र गाम्मी खाँ एवं उस्ताद मुन्नू खाँ हुये। गाम्मी खाँ के पुत्र इनाम अली तथा पौत्र गुलाम हैदर अनी परम्परा को आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील हैं। गामी खाँ के शिष्यों में उल्लेखनीय सर्व श्री- फकीर मोहम्मद, मोहम्मद अहमद, हीरा लाल, ग्लेडवीन चार्ल्स, मारुतिकीर, रीजराम देसाई इत्यादि प्रमुख हैं। आज-कल इस परम्परा के शिष्यों में सर्व श्री लतीफ अहमद खाँ, फैयाद खाँ, बशीर अहमद, राम धुर्वे इत्यादि के नाम लिये जाते हैं।

उस्ताद सिद्धार खाँ के छोटे भाई उस्ताद चाँद खाँ के परम्परा से भी तबले का प्रचार काफी हुआ । उस्ताद चाँद खाँ के पुत्र उस्ताद लल्ली मसीद खाँ पौत्र लंगड़े हुसैन खाँ तथा दोनों प्रपौत्र घसीट खाँ तथा नन्हें खाँ अपने समय के कुशल कलाकार माने जाते थे । इनकी शिष्य परम्परा में सर्वश्री उस्ताद फज़ली खाँ, गुलाम मोहम्मद, करम बख्श जिलवाने वाले, परले खाँ, रहीम बख्श , रुबगाजी, अल्ला दिया खाँ-अमरावती वाले, पं०बालू भाई रुक्कड़ीकर, काले खाँ, छम्मा खाँ, महबूब खाँ मिरजकर, जुगना खाँ, अजीम खाँ-जाबरे वाले, निजाम उद्दीन, ज्ञान प्रकाश घोष, शेर खाँ, लंगड़े अहमद अली, हीरेन्द्र किशोर राय चौधरी, हिदायत खाँ, फैयाज खाँ, अब्दुल करीम खाँ इत्यादि के नाम प्रमुख हैं । आजकल इस परम्परा के उदीयमान कलाकारों में दिल्ली के सफाद अहमद का नाम लिया जाता है ।

उस्ताद सिद्धार खाँ के तीन पुत्र थे- सर्व श्री रोशन खाँ, तुल्लन खाँ और कल्लू खाँ । उस्ताद सिद्धार खाँ के दो पौत्र उस्तार मोदू खाँ तथा उस्ताद बख्शू खाँ से लखनऊ घराने की परम्परा चली ।

उस्ताद सिद्धार खाँ के पौत्र सिताब खाँ के दो शिष्य उस्ताद कल्लू खाँ तथा मीरु खाँ दोनों भाई अजराड़ा घराने को जन्म देने वाले थे, जो दिल्ली घराने की ही एक शाखा है ।

<u>दिल्ली घराने की वादन शैली</u>

दिल्ली बाज अपने निजी एवं मौलिक विशेषताओं के कारण और तबला का सर्वप्रथम घराना होने का श्रेय प्राप्त होने से तबले के क्षेत्र में महत्व-पूर्ण स्थान रखता है । इसकी प्रमुख वादन विशेषताएं इस प्रकार हैं :-

।1। यह तबले अत्यन्त कोमल और मधुर बाज हैं । इसे दो अंगुलियों का बाज भी कहतेहैं । इसमें तर्जनी एवं मध्यमा उंगली का अधिक प्रयोग होता है। कभी-कभी अनामिका का भी प्रयोग होता है । इस बाज में उंगलियों का विशेष ढंग से प्रयोग होता है ।

।2। यह वाद्य चाटी प्रधान वाद्य है । अतः इसे किनार का बाज भी कहा जाता है । चाटी की प्रधानता होने के कारण इसके वादन में ध्वनि की उत्पत्ति सीमित होती है । इसलिए इसे बन्द बाज भी कहा जाता है ।

।3। इस बाज में पेशकारा, कायदा, रेला, मुखड़ा, मोहरा एवं छोटे-

छोटे टुकड़े विशेष रूप से बजाये जाते हैं । इसमें प्रयुक्त होने वाले कुछ विशेष बोल समूह इस प्रकार हैं - धिन धिन, धा धा, तिरकिट, धींगेन धा, तिरकिट, धाती धागे, धातिगेन आदि ।

(5) इस घराने की अधिकांश रचनाएं चतुश्र जाति में निबद्ध होती हैं ।

(5) इस बाज के डग्गे (बांया) के वादन में तर्जनी और मध्यमा उंगली का अधिक प्रयोग होता है और बजाते समय वाद्य पर से हाथ हटाया नहीं जाता ।

(6) चूंकि यह उंगलियों का बाज है और पूरे पंजों का प्रयोग वर्जित है, अतः धिर-धिर का निकास पुड़ी के अन्दर-अन्दर ही होता है, जबकि पूरब के घरानों में धिर-धिर बजाते समय उंगली का काफी भाग पुड़ी से बाहर निकल जाता है ।

(7) अंत में इस बाज की संगति सीमाओं एवं स्वतंत्र वादन में प्रायः प्रयुक्त किया जाता है । सोलो (स्वतंत्र वादन) यह वादन की दृष्टि से यह बाज एक श्रेष्ठ बाज है क्योंकि इसमें तबले के शुद्ध बाज प्रदर्शन होता है । मधुर एवं कर्णप्रिय बाज होने के कारण विद्वानों एवं श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है ।

तबला मुख्यतः संगति का वाद्य है और इस पक्ष में दिल्ली बाज बिल्कुल खरा नहीं उतरता । गायन की कुछ विधाओं एवं कत्थक नृत्य की संगति में यह बाज पूर्ण सफल नहीं होता । यही कारण है कि आज के इन घरानों के सफल कलाकारों ने अपने वादन को आवश्यकतानुसार बदल दिया है जो बाज की शुद्धता पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है । कोई भी यदि ऐसा न करे तो आज के युग में कितना सफल हो पाये, कहना कठिन है ।

अजराड़ा घराना

इस घराने को यदि दिल्ली घराने की एक निकटतम शाखा कहें तो अनुचित न होगा । दिल्ली के निकट मेरठ जनपद में एक गांव है जिसका नाम अजराड़ा है । वहां के मूल निवासी दो भाई कल्लूखां और मीरु खां ने दिल्ली आकर उस्ताद सिद्धार खां ढाढ़ी के पौत्र सिताब खां से तबले की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की और शिक्षा पूर्ण हो जाने पर वे अपने गांव वापस चले गये । तत्पश्चात् उन भाइयों ने अपनी प्रतिभा और सूझ-बूझ से अपने गुरु परम्परागत प्राप्त वादन शैली में मौलिक परिवर्तन किये और नये ढंग की बंदिशों का निर्माण किया । श्री कल्लू खां और श्री मीरु खां का समय सन् 1780 के पश्चात् का था । कालान्तर में उनके वंश और शिष्य परम्परा ने उस शैली में निरन्तर निखार पैदा की और उसको एक पृथक घराने की मान्यता दिलाने में सराहनीय कार्य किया । यूं तो अजराड़ा घराना पश्चिम के घरानोंकी श्रेणी में आता है जिसकी विशेषता बन्द और किनार के बाज में है, किन्तु उसमें मौलिक बंदिशों एवं भिन्न छन्दों के प्रयोग से तत्कालीन उस्तादों ने उसे अजराड़ा घराने के नाम से मान्यता प्रदान की ।

अजराड़ा घराने की परम्परा

इस घराने के प्रवर्तक कल्लू खां और मीरुखां की वंश परम्परा में मोहम्मदी बख्श, चांद खां, काले खां, कुतुब खां, तुल्लर खां, एवं धीसा खां हुये । कुतुब खां के पुत्र हस्सू खां एक विख्यात उस्ताद हो गये । उनके पुत्र वंशज एवं शिष्यों में बम्बू खां, शम्मू खां तथा नन्हें खां हुये । इस परंपरा में अजाब उद्दीन खां, नियाजू खां तथा उनके शिष्य शफिया खां, निजाउद्दीन खां, जमीर अहमद के नाम उल्लेखनीय हैं । लगभग सन् 1943 ईस्वी से उस्ताद शम्मू खां पुत्र उस्ताद हबीब उद्दीन खां संगीत जगत में चमके और उनका वादन लगभग केवल दो दशकों तक ही चल सका । हबीब उद्दीन खां ने अपने उस्ताद मुनीर खां से भी शिष्य के रूप में शिक्षा प्राप्त की । खां साहब के हाथ में वह जादू था कि वे जहां भी बजाते थे, बेजोड़ बजाते थे । वह सोलों की अपेक्षा संगत करने में अधिक पारंगत थे, परन्तु सन्1965 के बाद ही उनका वादन शिथिल होने लगा और कुछ ही वर्षों में सन् 1972 में इस

लोक से चल बसे । उनकी परम्परा में उनके पुत्र मंजू खाँ तथा उनके शिष्य सर्व श्री सुधीर सक्सेना ।बड़ौदा।, हाजी लाल कथक ।मेरठ।, करनसिंह ।आकाशवाणी इन्दौर।, राम दुबे ।रामपुर।, महाराज बनर्जी ।कलकत्ता।, पप्पन खाँ, राम प्रवेश सिंह ।पटना।, अमीर मोहम्मद खाँ ।टोंक। आदि । इस घराने की परम्परा को जीवित रखने के लिए आकाशवाणी दिल्ली में कार्यरत श्री रमजान खाँ, आशिक हुसैन ।जयपुर।, हस्मत अली खाँ ।आकाशवाणी श्रीनगर। एवं यशवंत केलकर ।बम्बई। आदि विशेष योगदान दिये हैं ।

<u>अजराड़ा घराने की वादन शैली</u>

अजराड़ा घराने के मूल प्रवर्तकों ने दिल्ली घराने के उस्तादों से शिक्षा प्राप्त की थी, अतः उस घराने की वादन शैली का आधार दिल्ली घराने की शैली में इतना अन्तर आ गया है कि इसमें मौलिकता स्पष्ट दिखाई देने लगी । इस घराने की वादन शैली की विशेषता इस प्रकार है :-

।1। अजराड़ा घराने के उस्तादों ने कायदे की रचनाएँ त्र्यश्र ।तिस्त्र। जाति में अधिक थी, जब कि उस समय तक दिल्ली घरानों में केवल चतुश्र जाति में ही कायदे रचे गये थे । अजराड़े वालों के इस नवीन प्रयोग एवं लय वैचित्रता के कारण उनकी सरलता से स्वतंत्र घराने की मान्यता मिल गई ।

।2। इस घराने में डग्गे ।बाँया। का प्रयोग मींण युक्त सुन्दर एवं दाहिने के बालों से लड़ता हुआ होता है जो अन्य किसी घराने से अलग है ।

।3। अभी तक तबला वादन में मध्यमा उँगली या तर्जनी का ही प्रयोग होता रहा, किन्तु इस घराने वालों ने तबला और बाँया दोनों पर इन उँगलियों के साथ-साथ अनामिका का भी प्रयोग बताया गया है । इन बोल समूह में तर्जनी से चाटी पर न बजाकर अनामिका से स्याही के पूर्व भाग से बोल निकाला जाने लगा ।

।4। यह घराना कायदे की खूबसूरती और विशिष्टता के लिए विशेष प्रसिद्ध है । यहाँ के कुछ कायदे कत, ति, धिगन, धेनक आदि बोलों से प्रारम्भ होते हैं जो अन्य घरानों में कम दिखते हैं ।

।5। इस घराने के कुछ कायदों में एक विशेषता देखने को मिलती है जो कायदे के उत्तरार्ध से सम्बन्धित है । अधिकांश कायदे उत्तरार्ध का भाग, पूर्वार्ध का छन्द ।बाँया रहित। ही होता है ।

।6। सोलो या स्वतंत्र वादन के लिए यह बाज बहुत स्वतंत्र है क्योंकि

इसमें जिस प्रकार की वादन क्रिया देखने को मिलती है उसी गुणी जन शुद्ध तबला मानते हैं। यही कारण है कि यह बाज अत्यन्त कठिनाई होने पर भी अधिकतर गुणी जनों के बीच सराहा जाता है। इसके लय वैचित्र्य से पूर्ण लचीले कायदे वादन में विशेष आकर्षण पैदा करता है।

उदाहरण के लिए इस घराने की कुछ रचनाएं इस प्रकार हैं :-

लखनऊ घराना

दिल्ली में दीर्घ काल तक तबला वादन की कला फूलती-फलती रही। जैसे-जैसे दिल्ली से पूरब की ओर इसका प्रचार होने लगा इस दिशा में लखनऊ सर्वप्रथम नगर है, जहां तबले का प्रवेश हुआ ।

नवाबी शान-शौकत के कारण लखनऊ रंगीन शहर रहा । वहां के नवाब तथा रईश लोग संगीत के प्रेमी थे । संगीत तथा संगीतज्ञों का वहां काफी आदर-सम्मान होता रहा । अतः गायक, वादक तथा नर्तकों की भीड़ लखनऊ शहर में सदैव लगी रहती थी । सन् 1739 ईस्वी के आस-पास हिंदुस्तान पर नादिरशाह का हमला हुआ । उन दिनों दिल्ली पर मोहम्मद शाह रंगीले का शासन था । क्रूर नादिरशाह ने दिल्ली में जो कत्ले आम किया तथा प्रजा में जो आतंक फैलाया उसका असर बादशाह रंगीले पर इतना गहरा हुआ कि उन्हें संगीत से विरक्ति हो गई । संगीत के प्रति अपनी अत्यधिक विरक्ति को ही वे नादिरशाह के हमले का कारण मानने लगे । अतः 24 घंटे संगीत में डूबे रहने वाले बादशाह को संगीत से अचानक इतनी घृणा हो गयी कि उन्होंने अपने दरबार से संगीत तथा संगीतकारों का नामो निशान मिटा दिया । नादिरशाह के घोर आतंक और क्रूरता के कारण कुछ कलाकार तो मारे गये और शेष घबराकर अन्य नगरों में भाग गये । इस प्रकार दिल्ली का चहकता दरबार वीरान हो गया । अधिकतर दिल्ली के कलाकार लखनऊ, रामपुर, जयपुर एवं अन्य आस-पास की रियासतों में जाकर बसने लगे ।

सांगीतिक दृष्टि से दिल्ली के पतन के पश्चात् लखनऊ कलाकारों का प्रमुख केन्द्र बना । ख्याल गायकी के प्रचार के साथ-साथ उन दिनों वहां ठुमरी तथा टप्पा की गायकियां भी पनप रही थीं । रंगीन तबियत के लखनऊ के नबाब और रईशजादे ठुमरी जैसे श्रृंगारिक गायकी के विशेष प्रेमी थे । कथक नृत्य का भी वहां काफी प्रचार बढ़ रहा था । महराज कालकादीन तथा महराज बुन्दादीन के द्वारा कथक नृत्य का एक घराना ही बना । उन दिनों संगीत के लिए वहां पखावज ही एक मात्र प्रमुख ताल वाद्य था, किन्तु ख्याल की स्वर प्रधान गायकी एवं ठुमरी की नजाकत के लिए पखावज का गंभीर वादन मेल नहीं खाता था । अतः दिल्ली से आये हुये तबला वादकों ने इस अस्थिर परिस्थिति का लाभ उठाया और अपने वादन में काफी परिवर्तन किया

जो तत्कालीन संगीत की संगति के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ । उनका ऐसा प्रयास लखनऊ के वातावरण में खूब प्रशंसित हुआ । यही मुख्य कारण था कि तबला के व्यावसायिक वादकों की दृष्टि लखनऊ पर केन्द्रित हुई ।

इस प्रकार दिल्ली का तबला लखनऊ आ गया । वहाँ ख्याल तथा ठुमरी की संगति के लिए वह अच्छा साबित हुआ, किन्तु नृत्य की जोरदार लम्बी-लम्बी परनों और चक्करदारों के सामने वह फीका था । अतः उन उस्तादों ने दिल्ली के तबले में आवश्यक परिवर्तन किये ।

लखनऊ घराने के जन्म के विषय में उपलब्ध इतिहास के अनुसार जिन दिनों लखनऊ की गद्दी पर नवाब आसुफुद्दौला आसीन थे, उस्ताद मोदू खाँ तथा उनके कुछ वर्षों पश्चात् उनके अनुज उस्ताद बख्शू खाँ तो दिल्ली के उस्ताद सिद्धार खाँ के पौत्र थे, दिल्ली से लखनऊ आकर बस गये । कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि मोदू खाँ नवाब हस्मत जंग बहादुर के शासन काल में आये थे । यद्यपि नवाब आसुफुद्दौला का समय अधिक समय तर्कसंगत लगता है । लखनऊ के चौक में स्थित लाल हवेली की कोठी नवाब साहब ने उस्ताद मोदू खाँ को उपहार स्वरूप दी थी और इसी कोठी के कारण लखनऊ घराने वाले आज भी अपने आप को कोठी वाले अथवा लाल कोठी के परंपरा वाले कहलाने में बड़े गौरव का अनुभव करते हैं ।

उस्ताद मोदू खाँ तथा उस्ताद बख्शू खाँ ने लखनऊ आकर यहाँ की तत्कालीन संगीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण किया और परिस्थिति के अनुसार अपनी कला में परिवर्तन किया । उन दिनों लखनऊ में कथक नृत्य का प्रचलन बढ़ रहा था । संगीत की इस विधा के कारण संगति के लिए शुद्ध दिल्ली का बंद बाज उपयुक्त न था । अतः उन्होंने पखावज की वादन शैली व उसके रचनाओं के आधार पर धीरे-धीरे अपने वादन में परिवर्तन करना आरम्भ किया । उन्होंने अपनी नवीन वादन शैली में चाँटी से अधिक स्याही को तथा दो उंगलियों के स्थान पर पाँच उंगलियों का प्रयोग शुरू किया, बोलों के निकास में परिवर्तन किया, चाटी के स्थान पर स्याही और लय से नाद उत्पन्न करने का प्रयत्न किया तथा गत, परन, टुकड़े, चक्करदार आदि का उसमें समावेश करके एक स्वतंत्र बाज का निर्माण किया जो न तो दिल्ली के समान बंद बाज था और न ही पखावज की भाँति थाप वाला खुला बाज था इस प्रकार देश के पूर्वी भाग में सर्वप्रथम लखनऊ घराना और पूरब बाज अस्तित्व में आये ।

पूरब बाज

जैसा कि कहा गया है दिल्ली से सर्वप्रथम तबला लखनऊ आया । चूँकि भौगोलिक दृष्टि से यह दिल्ली से पूर्व की ओर स्थित है, अतः इस घराने को पूरब का घराना और इसकी वादन शैली को पूरब बाज कहा गया है । इसके बाद विकसित फर्रुखाबाद और बनारस घराने इसी घराने की देन हैं । अतः यह भी पूरब घराने के अन्तर्गत आते हैं । पूरब का बाज लौ और स्याही प्रधान बाज है । यह अधिक जोरदार और गूंजयुक्त वादन शैली है । इसमें दिल्ली के समान दो उँगलियों के स्थान पर सभी उँगलियों का प्रयोग प्रचलित है । इसमें गत, टुकड़े, परन, चक्करदार आदि तो बजाये जाते ही हैं और नृत्य के साथ बजाने के लिए विशेष रचनाओं का समावेश किया गया है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पूरब बाज सर्वांगिक बाज है जो संगीत के लिए बहुत ही उपयुक्त है ।

लखनऊ घराने की परम्परा

तबले की इस घराने की उत्पत्ति और प्रगति के पीछे लखनऊ के कला प्रेमी नवाबों का विशेष सहयोग रहा । नवाब आसुफुद्दौला के शासन काल में उस्ताद मोदू खाँ साहब के लखनऊ आने के कुछ वर्ष पश्चात् उनके अनुज उस्ताद बख्शू खाँ भी वहाँ आ गये । उन दिनों लखनऊ में संगीत का उच्च स्तरीय वातावरण था । देश के प्रमुख संगीतज्ञ एवं नृत्यकारों ने लखनऊ को ही अपनी कर्मभूमि बना रखा था जिसमें गुलाम रसूल जैसे ख्याल गाने वाले तथा गुलाम नबी सोरी जैसे टप्पा गायक लखनऊ दरबार की शोभा बढ़ाते थे । ठुमरी का भी विशेष प्रचलन हो चुका था, फिर भी अभी तक पखावज का ही चलन था।

नवाब आसुफुद्दौला के पश्चात् नवाब नासिर उद्दीन हैदर का समय आया । नासिर उद्दीन भी संगीत के प्रेमी और पोषक थे । उस समय तक उस्ताद बख्शू खाँ लखनऊ आ चुके थे । वे अपने भाई मोदू खाँ से काफी छोटे थे । बड़े भाई मोदू खाँ काफी सरल प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, जबकि छोटे भाई बख्शू खाँ अभिमानी एवं कठोर स्वभाव के थे । वे बहुत अच्छा तबला बजाते थे, अतः उसका उन्हें बहुत गर्व था ।

सांगीतिक दृष्टि से नवाब वाजिद अली शाह का समय (सन् 1847 ईस्वी से 1857 ईस्वी तक) तक लखनऊ के इतिहास में महत्वपूर्ण माना जाता है।

उनके दरबार में सैकड़ों गायक, वादक तथा नृत्यकार थे। नवाब वाजिद अली शाह केवल कला प्रेमी ही नहीं स्वयं भी एक कुशल कलाकार थे। उनके समय में लखनऊ का वातावरण अत्यन्त रंगीन, विलासी एवं कलामय था। कथक नृत्य के लिए तो वह सबसे महत्वपूर्ण समय था, क्योंकि नृत्य के लखनऊ घराने के शिरोमणि महराज कालकादीन तथा महराज बिन्दादीन नवाब वाजिद अली शाह के कला रत्नों में से थे। हकीम मोहम्मद करम इमाम ने अदन-उल-मूसिकी में ऐसा उल्लेख किया है कि कालिका बिन्दा के नृत्य के मोदू-बख्शू के प्रपौत्र मुन्ने खाँ तबले की संगत किया करते थे। नवाब साहब की तबले के प्रति भी काफी रुचि थी। अतः उनके दरबार में तबले के विद्वानों एवं कलाकारों का भी बहुत आदर-सम्मान होता था।

इस प्रकार आसुफुद्दौला, नासिर उद्दीन हैदर, हसमत जंग बहादुर, सुजात उद्दौला तथा वाजिद अली शाह जैसे कला प्रेमी नवाबों की कला परस्ती के कारण लखनऊ में संगीत तथा नृत्य कला को यथेष्ठ विकसित होने का अवसर मिला। सैकड़ों कलाकार जीविकोपार्जन की चिन्ता से मुक्त होकर कला साधना में लीन हो सके तथा इन्हीं की छत्रछाया में लखनऊ के घराने को उदित होने तथा विकसित होने का सौभाग्य मिला।

उस्ताद मोदू खाँ अच्छे कलाकार थे। उनका मोहम्मद करम इमाम ने अच्छा तबला वादक कहा है जो उनके श्रेष्ठ कलाकार होने का प्रमाण है। दुर्भाग्य से वे कम अवस्था में ही स्वर्गवासी हुए। मोदू खाँ के प्रमुख शिष्यों में पं० राम सहाय मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहते हैं कि मोदू खाँ अपने छोटे भाई उस्ताद बख्शू खाँ के व्यवहार से क्षुब्ध रहा करते थे, अतः उन्होंने बनारस से आये कथक परिवार के प्रतिभाशाली किशोर राम सहाय को तैयार करने का निश्चय किया। मिश्र जी ने 12 वर्ष तक उस्ताद के घर रहकर तबले की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। गुरु एवं गुरु-पत्नी उन्हें पुत्र की तरह प्रेम करते थे। गुरु पत्नी जिनके बारे में प्रचलित है कि वे पंजाब के किसी बड़े उस्ताद की पुत्री थीं तथा तबले की जानकार भी थीं। राम सहाय को उनके उस्ताद की अनुपस्थिति में तबला सिखाया करती थीं। इस प्रकार गुरु और गुरु-पत्नी दोनों ओर से लखनऊ तथा पंजाब घराने की श्रेष्ठ विद्या राम सहाय को प्राप्त हुई। उस्ताद मोदू खाँ के शिष्यों में दूसरा नाम उनके भतीजे मम्मन खाँ उर्फ मम्मू खाँ का आता है।

उस्ताद मोदू खां के 3 तीन थे- मम्मन उर्फ मम्मू खां, सलारी खां तथा केशरी खां। केशरी खां के सम्बन्ध में दो मत बताया गया है। कुछ लोग केशरी खां को शिष्य मानते हैं। उनके दामाद तथा शिष्य हाजी विलायत अली खां थे। वे अपने युग के जाने-माने तबला वादक माने जाते हैं।

उस्ताद मम्मू खां अपने चाचा उस्ताद मोदू खां की विद्वता से बहुत प्रभावित थे तथा अपने पिता बख्शू खां के होते हुये भी उन्होंने अपने चाचा मोदू खां से ही शिक्षा ग्रहण की। उस्ताद मम्मू खां लखनऊ घराने के खलीफा माने जाते थे।

उस्ताद बख्शू खां के दूसरे पुत्र सलारी मियां अपने समय के अत्यन्त प्रख्यात तबला वादकों में से। बख्शू खां के दामाद तथा शिष्य हाजी विलायत अली खां थे, जो फर्रुखाबाद के निवासी थे। वे भी अपने समय के ऊँचे कलाकार माने जाते थे। हाजी साहब की पत्नी भी तबले में निपुण थीं। लखनऊ से फर्रुखाबाद लौटने के बाद हाजी साहब ने अपनी पृथक शैली का निर्माण किया जो फर्रुखाबाद बाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि मियां सलारी, हाजी साहब के ही शिष्य थे, परन्तु वे दोनों गुरु भाई ही थे। उस्ताद मोदू खां के एक शिष्य रामसहाय चट्टोपाध्याय थे, वे विष्णुपुर के रहने वाले थे। उस्ताद मोदू खां से शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् अपने घर विष्णुपुर लौटकर तबले का प्रचार किया। आगे चलकर वही बाज विष्णुपुर परम्परा कहलाने लगी। इसी प्रकार उस्ताद मम्मू खां के एक शिष्य राम प्रसन्न बंदोपाध्याय ने भी तबले का प्रचार किया।

उस्ताद मम्मू खां के एक पुत्र का नाम उस्ताद मोहम्मद खां था। मोहम्मद खां भी अपने पिता की भांति उत्कृष्ट कलाकार थे। मोहम्मद करम इमाम ने मम्मू खां के लड़के को मम्मू खां से भी श्रेष्ठ कलाकार माना। मो0 खां के दो पुत्र थे- मुन्ने खां तथा आबिद हुसैन खां। दोनों बड़े विद्वान थे तथा नृत्य की संगति के लिए उच्च कोटि के कलाकार माने जाते थे। उन दोनों ने अपने समय में काफी लोकप्रियता प्राप्त की। उस्ताद मो0खां साहब नवाब शुजात उद्दौला के दरबारी कलाकार थे, जब कि मुन्ने खां नवाब वाजिद अली शाह के दरबार के कलाकार माने जाते थे। उस्ताद मोहम्मद खां की मृत्यु कम उम्र में होने के कारण उनके पुत्र आबिद हुसैन की शिक्षा उनके बड़े भाई मुन्ने खां से सम्पन्न हुई। उस्ताद आबिद हुसैन बड़े विद्वान परिश्रमी तथा प्रतिभा-

कलाकार है । लखनऊ के मैरिस म्यूजिक कालेज की स्थापना के साथ तबले के प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति की गयी थी । उनके दामाद तथा भतीजे वाजिद हुसैन खाँ भी प्रख्यात कलाकार थे । वाजिद हुसैन के पुत्र उस्ताद आफ़ाक़ हुसैन तथा पौत्र अलमास हुसैन इस परम्परा को आगे बढ़ाने में तत्पर हैं ।

उस्ताद आबिद हुसैन के चचेरे भाई उस्ताद नाविर हुसैन खाँ उर्फ छोट्टन खाँ भी इस परम्परा के उत्कृष्ट कलाकार थे । वे कुछ समय तक ढाका तथा मुर्शिदाबाद में रहे, वहाँ उन्होंने लखनऊ के तबले का काफी प्रचार किया। आज भी उनके शिष्य पूर्व बंगाल के कलाकार हैं । उनके प्रमुख शिष्यों में उस्ताद अकबर हुसैन खाँ उर्फ बल्लू खाँ का नाम उल्लेखनीय है । उस्ताद मुन्ने खाँ के पुत्र बहादुर हुसैन खाँ तथा पुत्री खम्मन बीबी की औलादें नायब हुसैन पौत्र इनायत हुसैन , रजा हुसैन तथा नाती सुल्तान हुसैन आदि तबले के कलाकार हो गये हैं ।

उस्ताद मम्मू खाँ की पुत्री छोटी बीबी तथा नाती बाबू खाँ ने भी तबले की शिक्षा मम्मू खाँ से ही प्राप्त की । वे बहुत वर्षों तक कलकत्ता में रहे । वहीं उनका शिष्य परिवार फैला है । उस्ताद मम्मू खाँ के भतीजों में अल्लर बख्श, बहादुर खाँ तथा घसीट खाँ के नाम प्रसिद्ध हैं । उनके दूसरे भतीजे गुलाम हैदर पटना में रहने लगे । उस्ताद अली कादर खाँ से पटना के सुप्रसिद्ध तबला वादक श्री केशव महराज ने तबले की शिक्षा ली तथा बिहार में तबले का प्रचार किया । घसीट खाँ की परम्परा में उनके पुत्र छोटे खाँ, पौत्र सादत अली, प्रपौत्र रजा हुसैन तथा उनके पुत्र जाफर खाँ और अकबर हुसैन उर्फ बल्लू खाँ हुये ।

उस्ताद गुलाम हैदर के एक भतीजे अलीगढ़ में थे जिनका नाम अली रजा था । मेरठ के उस्ताद हबीब उद्दीन खाँ ने इनसे शिक्षा ग्रहण की थी । इस घराने के वंशजों में गुलाम अब्बास खाँ, नागू खाँ, लाडले खाँ, हाजी जाकिर हुसैन खाँ, इरशाद खाँ, इन्तजार खाँ आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। लखनऊ घराने के शिष्यों में रहीम बख्श, रूग्गाजी, अमान खाँ, भैरव प्रसाद।बनारस।, सुप्पन खाँ।ढाका।, मोहम्मद हुसैन।मुरादाबाद वाले।, राम धन, राम कन्हाई ।त्रिपुरा।, फकीर साहब, मन्मथ नाथ गांगुली।कलकत्ता।, जहाँगीर खाँ ।इन्दौर।, अल्ला दिया खाँ।अमरावती वाले।, हीरेन्द्र कुमार गांगुली

(कलकत्ता), हीरेन्द्र किशोर राय चौधरी (मैमन सिंग), मिर्जा आलम नवाब, फ़ियाज खाँ (मुरादाबाद वाले), हबीब उल्ला, महबूब खाँ मिरजकर (पूना), यार रसूल, नागेन्द्र नाथ बसु, देवी प्रसन्न घोष, उस्ताद शेख दाउद खाँ (हैदराबाद), शिशिर शोभन भट्टाचार्य, राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी (कलकत्ता), धन्नू उस्ताद, गंगा दयाल आदि के नाम प्रसिद्ध हैं जिनके प्रयत्नों से लखनऊ घराने का विकास हुआ ।

<u>लखनऊ घराने के द्वारा अन्य घराने एवं परम्पराओं का जन्म</u>

जिस प्रकार तबले के दिल्ली घराने से अजराड़ा और लखनऊ जैसे दो प्रमुख घराने अस्तित्व में आये उसी प्रकार लखनऊ घराने से तबले के दूसरे अनेक घराने तथा परम्परायें भी अस्तित्व में आईं । इसी लिए तो मान्यता है कि पंजाब को छोड़कर तबले के दूसरे सभी घराने तथा परम्परायें प्रत्यक्ष या परोक्ष में दिल्ली तथा लखनऊ से सम्बन्धित हैं ।

लखनऊ घराने के प्रवर्तक मोदू खाँ तथा बख्शू खाँ से अनेकों व्यक्तियों ने शिक्षा प्राप्त की थी । इनमें कुछ कलाकारों तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने कालान्तर में अपने नवीन घरानों एवं परम्पराओं की स्थापना की । कुछ कलाकार दूसरे शहर में जाकर बस गये तथा उन्होंने अपनी परम्परा को आगे बढ़ाया । समयानुसार वह परम्परायें भी उसी नाम से पहचानी जाने लगीं । इस प्रकार लखनऊ घराने से जो विस्तार हुये, वह निम्नलिखित हैं :-

उस्ताद मोदू खाँ से बनारस के पं0 राम सहाय मिश्र ने शिक्षा प्राप्त की थी । बनारस लौटने के पश्चात् उन्होंने अपने शहर में बनारस घराने की नींव डाली थी । उस्ताद मोदू खाँ के छोटे भाई उस्ताद बख्शू खाँ के शिष्य तथा दामाद उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ फर्रुखाबाद के रहने वाले थे । उनसे फर्रुखाबाद घराना अस्तित्व में आया ।

उस्ताद बख्शू खाँ के एक शिष्य बेचाराम चट्टोपाध्याय से विष्णुपुर की परम्परा फैली । बाद में यह परम्परा मम्मू खाँ के शिष्य विष्णुपुर निवासी राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय से और भी सुदृढ़ हुई ।[1]

लखनऊ के उस्ताद मम्मू खाँ तथा फर्रुखाबाद के हुसेन बख्श से शिक्षा प्राप्त करके उस्ताद अता हुसेन ढाका चले गये, जहाँ उन्होंने अपनी अलग से

---

1. तबला कथा- सुबोध नन्दी (विष्णुपुर परम्परा)

परम्परा फैलाई । वे कुछ विष्णुपुर में भी रहे थे । पूर्व तथा पश्चिम बंगाल में तबला के प्रचार में उनका योगदान महत्वपूर्ण है ।[1]

उस्ताद बख्शू खाँ के नाती बाबू खाँ से कलकत्ता में तबले की परम्परा फैली ।[2] हाजी विलायत अली खाँ के शिष्य उस्ताद चूड़ियाँ इमाम बख्श से भटौला की परम्परा फैली ।[3]

लखनऊ घराने की विशेषताएं

(1) यह सर्वविदित है कि दिल्ली के मूर्धन्य कलाकारों द्वारा लखनऊ घराने का सूत्रपात हुआ । स्वाभाविक है कि ये कलाकार दिल्ली बाज की सम्पूर्ण विशेषताएं अपने साथ लाये, परन्तु लखनऊ की सांगीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप उनको अपनी वादन शैली में परिवर्तन करना पड़ा । दिल्ली का बंद, तबला लखनऊ में पखावज नृत्य के प्रभाव से खुला और जोरदार हो गया ।

(2) यहाँ चाटी की अपेक्षा स्याही का प्रयोग तथा लय से ध्वनि के निर्माण की प्रथा है ।

(3) इस बाज में दो उंगलियों के स्थान पर पाँचों उंगलियों का प्रयोग किया जाता है तथा बायें पर अंगूठे द्वारा मीण्ड, घसीट या घिस्सा उत्पन्न करने की प्रथा घरानेदार बाजों में देखी जाती है । (बायें के चमड़े को कलाई के नीचे के हिस्से से हल्का सा घिस कर जो मधुर ध्वनि उत्पन्न की जाती है, उसे घिस्सा, घसीट या मीण्ड कहते हैं)

(4) लखनऊ घराने के कायदे दिल्ली और अजराड़े के कायदे से भिन्न होते हैं जो अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं । यहाँ कायदे की अपेक्षा विविध लयकारी युक्त टुकड़े, गौडक्का, परन, गत परन, विविध प्रकार के चक्रदार एवं गतें, फरद, सात्विक परनें (स्तुति अथवा श्लोक परनें), इत्यादि खूबसूरत बंदिशें मुख्यत: होती हैं, जो इस बाज की अपनी विशेषता है ।

---

1. तबला कथा- सुबोध नन्दी (ढाका घराना)
2. तबला कथा- सुबोध नन्दी.
3. तबले पर दिल्ली और पूरब : सत्य नारायण वशिष्ठ (भटौला घराना)

।5। इस बाज तगन्न, दुंग, नग नग, किट तक धेत्ता, धिडान-धिडान, धिन तड़ान-न, धेत्-धेत्, धड नग, धेतान, धेधित, धेधित, ता-न, कडां, धेट धेट, कड़ध तेट आदि बोल समूहों का प्रयोग अधिक देखा जाता है। धेट धेट धागे तेट, कड़ध तेट शब्द का प्रयोग तो लखनऊ घरानों का एक प्रतीत सा बन गया है।

।6। कथक नृत्य में प्रायः कलाकार कुछ बंदिशों का पहले पढ़ता है, फिर उसे अंग संचालन द्वारा प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार इस घराने के तबला वादक कभी-कभी अपनी कुछ रचनाओं को पहले मुह से पढ़ता है फिर उसे तबले पर निकालता है। यह तबले पर नृत्य का स्पष्ट प्रभाव प्रमाणित करता है।

।7। लखनऊ पर पंजाब घराने का भी कुछ प्रभाव है। कहते हैं इस घराने के प्रवर्तक उस्ताद मोदू खां की पत्नी पंजाब के किसी उस्ताद की पुत्री थीं और उन्हें भी तबले की बहुत अच्छी जानकारी थी। मोदू खां को अपने ससुराल से कुछ गतें उपहार ।दहेज। में मिली थीं। आज भी लखनऊ तथा बनारस घराने के कुछ लोगों के पास ऐसी गतें सुरक्षित हैं जिन्हें वे "दहेज गत" के नाम से पुकारते हैं।

।8। ठुमरी गायन शैली के जन्म और विकास का मुख्य केन्द्र लखनऊ रहा है। ठुमरी के साथ संगति करने में लग्गी-लड़ियों का प्रयोग अनिवार्य होता है। यही कारण है कि लखनऊ की वादन शैली में लग्गी-लड़ियों का नया काम जुड़ गया जो उन्होने लोक वाद्य शैली से ग्रहण कियाह होगा।

फर्रुखाबाद घराना

लखनऊ के प्रसिद्ध तबला वादक बख्शू खाँ दाढ़ी के कोई पुत्र न था, इसलिए उन्होंने अपना तबला वादन कला की सम्पूर्ण शिक्षा अपनी पुत्री को दे दी। उनकी पुत्री का विवाह फर्रुखाबाद के विलायत अली खाँ से हुआ था।[1] श्री विलायत अली सात बार हज करनेगगये थे जिसके कारण संगीत समाज के लोग उन्हें हाजी विलायत अली डाढ़ी के नाम से पुकारते थे।[2] प्रत्येक बार हज करते समय उन्होंने अपनी तबला वादन कला की उन्नति व प्रतिष्ठा के लिए ईश्वर से दुआ माँगी थी।[3] कहा जाता है कि हाजी विलायत अली को विवाह के समय लखनऊ घराने की शैली की 12 गतें दहेज में लि थीं। कुछ लोगों के अनुसार उन्हें 600 गतें और गत परनें भी मिली थीं।[4] ऐसा कहा जाता है कि हाजी विलायत अली उन्हीं गतों से तबला वादन की एक अलग शैली का विकास किया जा कि फर्रुखाबाद घराने की बाज के नाम से मशहूर हुआ। इस प्रकार हाजी विलायत अली दाढ़ी से फर्रुखाबाद घराने का आरम्भ हुआ।

हाजी विलायत अली खाँ के पुत्र हुसेन अली खाँ हुये। हाजी विलायत अली के वंशज नन्हें खाँ के पुत्र भी उच्च कोटि के तबलिये हुये। नन्हें खाँ के पुत्र मसीद खाँ और मसीद खाँ के पुत्र करामतहुसेन खाँ इस युग के सुप्रसिद्ध तबलिये हुये हैं। करामत हुसेन खाँ के सुपुत्र साबिर खाँ आज संगीत जगत में विख्यात हैं।

जावरे के अजीम खाँ, मसीद खाँ के प्रसिद्ध शिष्य हुये। मसीद खाँ के वर्तमान सुप्रसिद्ध शिष्यों में लखनऊ के उस्ताद मुन्ने खाँ और कलकत्ता के श्री ज्ञान प्रकाश घोष उल्लेखनीय हैं। विलायत अली खाँ के सुप्रसिद्ध शिष्यों में सलारी खाँ, चूड़ियाँ इमाम बख्श, मुबारक अली खाँ और बरेली के छुन्नू खाँ हूये। इनमें से चूड़ियाँ इमाम बख्श के पुत्र हैदर खाँ अपने पोते बंदे हसन खाँ उत्तम तबलिये हुये। इस घराने के अनेक शिष्य उत्तम तबलिये हुये जिसमें से हुसेन अली खाँ के शिष्यों में निसार खाँ (मोदू) और ललियाने के मुनीर खाँ प्रसिद्ध विद्वान तबलिये हुये। मुनीर खाँ के भाजिअमीर हुसेन खाँ और

---

1. तबला - पृष्ठ- 296
2. तबला - पृष्ठ- 297
3. तबला - पृष्ठ- 297
4. तबला - पृष्ठ- 296

पौत्र गुलाम हुसैन खाँ हुये । अमीर हुसैन खाँ के पुत्र फकीर हुसैन खाँ हैं । मुनीर खाँ के प्रसिद्ध शिष्यों में अहमद जान खाँ "थिरकवा", हबीब खाँ, नासिर खाँ, अब्दुल करीम खाँ, समसुद्दीन खाँ तथा सुब्बाराव आंकोलेकर ॥गोवा॥ इत्यादि सुप्रसिद्ध तबलिये हुये । उनके प्रशिष्यों की संख्या अत्यन्त विशाल है ।

फर्रुखाबाद घराने की विशेषताएँ

॥1॥ यह घराना पूरब की एक शाखा होते हुये भी न तो लखनऊ घराने जैसा नृत्य से प्रभावित है, न बनारस तथा पंजाब जैसा जोरदार है और न ही दिल्ली के समान किनार का है ।

॥2॥ अन्य घरानों की भाँति इस घराने में भी कायदे, पेशकारा आदि तो बजाये ही जाते हैं, यहाँ रेलों को एक नवीन रूप दिया गया है जो "रौ" अथवा "रविश" कहलाता है । तबला वादन में गत बजाने की परम्परा को महत्व इस घराने से ही प्राप्त हुआ है । हाजी साहब, सलारी मियाँ या फर्रुखाबाद की गतें आज भी विद्वानों के बीच आदर से पढ़ी जाती है । इन गतों को लयकारी के विभिन्न दर्जों में बजाने की प्रथा यहाँ प्रचलित है तथा इसमें "तक तक" एवं "धिर धिर" बोल समूह का प्रयोग विशेष देखने को मिलता है । इस घराने की एक अन्य विशेषता उल्लेखनीय है जिसे चाल या चलन कहते हैं । इसकी प्रथा अन्य किसी घराने में नहीं है ।

॥3॥ स्वतंत्र वादन के प्रस्तुतीकरण के लिए यह अत्यन्त सफल एवं उत्तम बाज है, क्योंकि "सोलो" के लिए आवश्यक सभी विशेषताएँ उसमें सम्मिलित हैं । अतः इस घराने के वादकों ने स्वतंत्र वादन में बहुत नाम कमाया है तदुपरांत संयत होने के कारण संगीत के लिए भी उपयुक्त सिद्ध हुआ है ।

॥4॥ इस वादन शैली में कड़ाँ, धिड़ान, धिर धिर किट तक तकत धा, तक तक, धिर धिर किट तक धेत्त, धिग नग धन तक, नग नग आदि बोल समूहों का अधिक प्रयोग होता है ।

बनारस घराना

बनारस घराना लखनऊ घराने की ही देन है । बनारस घराना में लखनऊ घराने के प्रसिद्ध तबलिये उस्ताद मोदू खाँ के शिष्य पं० राम सहाय द्वारा बनारस घराने का प्रारम्भ माना जाता है । पं० राम सहाय के भाई जानकी सहाय उनके प्रथम शिष्य हुये, उसके बाद राम सरन, भैरो सहाय, भगत जी और प्रताप महराज उर्फ परतप्पू भी उनके शिष्य हुये । आगे चलकर पं० राम सहाय के इन्हीं 5 शिष्यों से तबले के बनारस घराने का विकास हुआ । पं० जानकी सहाय को कोई पुत्र नहीं हुआ । उनके दो शिष्य थे-गोकुल और विश्वनाथ । विश्वनाथ के शिष्य भगवान प्रसाद के पुत्र वीर मिश्र हुये ।

पं० राम सहाय के दूसरे शिष्य राम सरन के पुत्र दुर्गा ।दरगाहीजी। हुये । दुर्गा जी के पुत्र बिक्कू जी और बिक्कू जी के पुत्र गामा महराज उर्फ गुम्मो जी हुये । गामा महराज के सुपुत्र पं० रंग नाथ मिश्र सुप्रसिद्ध तबला वादक हैं ।

राम सहाय जी के तीसरे शिष्य और उनके भतीजे भैरो सहाय के पुत्र बल्देव सहाय हुये । बल्देव सहाय के पुत्र नन्हू जी ।सूर। हुये । नन्हू जी के शिष्य भोला श्रेष्ठ और पं० नन्हें महराज हुये । नन्हें महराज के भतीजे और दत्तक पुत्र पं० किशन महराज सुप्रसिद्ध तबला वादक हैं ।

राम सहाय जी के चौथे शिष्य भगत जी के शिष्य पं० भैरव प्रसाद हुये। भैरव प्रसाद के शिष्यों में उनके ममेरे भाई मौलवी राम मिश्र, महाबीर भाट, पं महादेव मिश्र, पं० अनोखे लाल व नागेश्वर प्रसाद हुये । पं अनोखेलाल के पुत्र राम जी हैं और शिष्य महापुरुष मिश्र हुये ।

पं० राम सहाय के पांचवें शिष्य परतप्पू जी के पुत्र पं० जगन्नाथ हुये । पं० जगन्नाथ के दो पुत्र पं० शिव सुन्दर और पं० बाचा मिश्र हुये जिनमें से शिव सुन्दर के पुत्र बालमोहन महराज और बाचा मिश्र के पुत्र श्री शान्ता प्रसाद उर्फ गुदई महराज हैं । गुदई महराज के दो पुत्र- कुवँर लाल और कैलाश हुये ।

कैठे महराज के शिष्य पं० शारदा सहाय हैं, जो पं० राम सहाय के वंशज होने के नाते बनारस घराने के उत्तराधिकारी माने जाते हैं । पं० राम सहाय ने अपने छोटे भाई जानकी सहाय, भतीजे भैरव सहाय तथा

शिष्य बैजू महराज, राम सरन, यदु नन्दन, भगत जी ।गुरुदत्त। तथा परतप्पू महराज ।प्रताप महराज। आदि को अपनी विद्या सिखाई ।

राम सहाय जी के अनुज जानकी सहाय एक कुशल कलाकार थ । उनके शिष्य गोकुल जी, रघुनन्दन, विश्वनाथ, श्याम मिश्र, गोकुल मिश्र, लक्ष्मी प्रसाद इत्यादि हुये । उनके शिष्यों के शिष्य में युसुफ खाँ, सभी उल्ला, महादेव चौधरी, राम दास, पुरुषोत्तम दास, भगवान दास, महाबीर महराज, अनन्त घोष, मन्मथ नाथ गांगुली, श्याम जी मिश्र, कुन्दी महराज, पंचानन पाल, कृष्ण कुमार गांगुली।नाटू बाबू।, अनाथ नाथ बसु, वासुदेव प्रसाद, हीरेन्द्र कुमार गांगुली, दुर्गा मिश्र, सुबोध नन्दी इत्यादि हैं । इस परम्परा में पन्ना लाल, राम नाथ पान्डेय, केदार नाथ भौमिक, मदन मिश्र आदि कलाकार प्रसिद्ध हैं ।

पं० राम सहाय जी ने अपने भाई गौरी प्रसाद जी के पुत्र भैरव सहाय को पुत्रवत् माना था और उन्हें शिक्षा देकर अपने घराने का उत्तराधिकारी बनाया था । भैरो सहाय के पुत्र बल्देव सहाय, पौत्र भगवती सहाय, लक्ष्मी सहाय तथा दुर्गा सहाय।सूरदास।, प्रपौत्र शारदा सहाय, गंगा सहाय एवं राम शंकर सहाय सभी अपने क्षेत्र के उच्च स्तारीय कलाकार रहे हैं । भैरो सहाय जी के शिष्यों में विश्वनाथ,केदार नाथ, जगन्नाथ मिश्र तथा गोकुल जी के नाम प्रमुख हैं । उनके शिष्यों में भगवान दास, बाचा मिश्र, यूसुफ खां, सभी उल्ला, महादेव जी चौधरी, बिक्कू जी कण्ठे महराज, गणेश प्रसाद, वासुदेव प्रसाद, श्याम लाल, हीरेन्द्र किशोर राय चौधरी आदि हैं । इसी परम्परा में पं० किशन महराज, मुन्नू लाल, बनमाली प्रसाद, शान्ता प्रसाद, आशुतोष भट्टाचार्या, विश्वनाथ बोस, बद्री प्रसाद मिश्र, कृष्ण कुमार गांगुली, प्रो०लाल जी श्रीवास्तव, नन्कू महराज आदि । पं० राम सहाय जी के शिष्यों में पं० बैजू महराज, उनके पुत्र सूरज प्रसाद।बड्कू। तथा शिव प्रसाद।छोटकू। एवं पौत्र हरी दास, गणेश दास तथा ननकू महराज एवं प्रपौत्र प्रकाश महराज सभ बनारस घराने के प्रतिनिधि कलाकार हैं । इस परम्परा के शिष्य-प्रशिष्यों में भट्ट जी, जमुना प्रसाद, मुन्नू लाल मिश्र आदि प्रमुख हैं ।

पं० राम सहाय जी के दूसरे शिष्य पं० राम शरण जी कुशल कलाकार थे, उनके पुत्र दरगाही जी, पौत्र बिक्कू जी एवं सूर्य जी, प्रपौत्र गामा जी और उनके पुत्र रंग नाथ मिश्र इस परम्परा से सम्बन्धित हैं । बिक्कू जी के

शिष्यों में उच्च कोटि के कलाकार पैदा हुये, जिनमें मन्नू जी मृदंगाचार्य ।तबले की शिक्षा।, शत्रुंजय प्रसाद सिंह उर्फ लल्लन बाबू ।आरा। के नाम प्रमुख हैं ।

राम सहाय जी के तीसरे शिष्य यदुनन्दन जी के शिष्य तथा वंश परम्परा का कोई प्रमाण नहीं मिलता । उनके चौथे शिष्य भगत जी के प्रमुख शिष्यों में भैरव प्रसाद, ढाका के अता हुसैन खाँ, दीन मिसिर, बुन्दी महराज, श्याम जी मिश्र, राजा मियाँ तथा नज्जू मियाँ का नाम उल्लेखनीय है । भैरव प्रसाद जी के शिष्यों में पं0अनोखे लाल जी का नाम जगविख्यात है । अनोखे लाल के उपरान्त मुन्नू महराज, महादेव मिश्र, मौलवी राम मिश्र, महाबीर भाटे आदि हैं। भैरव प्रसाद के शिष्यों में पंचू महराज उर्फ नागेश्वर प्रसाद मिश्र, राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी, हीरेन्द्र किशोर राय चौधरी, राम कृष्ण राय चौधरी, विपिन राय तथा उदित कलाकारों में राम जी मिश्र, काशी नाथ मिश्र, शिवशंकर मिश्र आदि प्रसिद्ध हैं । भगत जी के दूसरे शिष्य अता हुसैन खाँ की परम्परा ढाका में फैली । उनके दूसरे शिष्य दीनू मिसिर पुत्र बिहारी मिसिर तथा शिष्य मौलवी राम और मुंशी राम की परम्परा में भी तबले का प्रचार रहा है । बुन्दी महराज के पुत्र दामोदर मिश्र एवं पौत्र श्यामू मिश्र भी इसी परम्परा के हैं । पं0 राम सहाय जी के पाँचवे शिष्य पं0 प्रताप मिश्र उर्फ परतप्पू मिश्र महराज थे । परतप्पू जी नेपाल नरेश के दरबारी थे। परतप्पू जी के पुत्र जगन्नाथ पौत्र शिव सुन्दर तथा दाचा मिश्र प्रपौत्र बाल मोहन तथा शान्ता प्रसाद।गुदई महराज।इस परम्परा के कुशल कलाकार माने जाते हैं । शान्ता प्रसाद जी के पुत्र कुमार लाल तथा कैलाश एवं उनके सैकड़ों देशी व विदेशी शिष्य भी हैं ।

<u>बनारस घराने की विशेषताएँ</u>

।1। बनारस के कलाकारों के अनुसार इस बाज में अनामिका।दूसरी उंगली। को थोड़ा सा टेढ़ी करके तथा तबले।दाहिने।पर प्रहार करके ध्वनि निकाली जाती है। इस प्रकार इस बाज में लौ का सर्वाधिक प्रयोग होता है और इसी प्रयोग से यह बाज अन्य बाजों से पृथक हो जाता है ।

।2। बनारस घराने में कायदे से अधिक महत्वपूर्ण उठान, गत, परन, मोहरे, मुखड़े, रेला, लग्गी, बाँट, लड़ी आदि बोलों पर दिया जाता है । इस घराने का सम्बन्ध नृत्य से भी रहा है । अतः उसमें तोड़े, टुकड़े, चक्करदार

आदि विशेष बजते हैं । ठेके के प्रकार, फरद नाम की एक विशेष प्रकार की गत बनारस घराने की प्रमुख विशेषता है ।

[3] बनारस शैली में कुछ विशेष तरह की गतें बजाई जाती हैं जो खूबसूरत और नजाकत वाली होती हैं, उन्हें केवल उंगलियों से ही बजाया जाता है, उन्हें जनाना गतें तथा जो जोरदार बालों द्वारा बजाये जाते हैं, उन्हें मर्दाना गतें कहा जाता है ।

[4] दिल्ली और अजराड़ा में तबले में स्वतंत्र वादन का प्रारम्भ पेशकार से होता है, जब कि बनारस के कलाकार अपना वादन उठान से आरम्भ करते हैं । स्वतंत्र वादन या संगति के प्रस्तुतीकरण में उठान की तत्कालीन मौलिक रचना से वादक की निपुणता प्रदर्शित होती है ।

[5] इस घराने के कलाकार तीन ताल के ठेके "धा धिन धिन धा" को "ना धिन धिन ना" कहते हैं । उनके अनुसार ना धिन धिन ना शब्द नजाकत और सौंदर्य का प्रतीक है, जिसका प्रयोग केवल मौखिक रूप से किया जाता है और वास्तव में तबले पर धा धिन धिन धा ही बजाया जाता है ।

[6] बनारस बाज में लखनऊ की सारी विशेषताएं तो हैं ही, अतः तबला तथा पखावज दोनों के ही वर्ण एवं शब्द उसमें आ जाते हैं, साथ ही नक्कारा, हुड़ुक, दुक्कड़, तासा आदि के वादन शैली का प्रयोग भी देखने को मिलता है ।

इस बाज में धिग्, धिना, धेरे, तेरे, धेधे नक, केरे नक, धेत् धेत् कतान, धिननान, किट-धान, गदि गेन, कड़ान, धेत्तान इत्यादि शब्दों का अधिक प्रयोग देखा जाता है ।

[7] गति और स्पष्टता बनारस घराने की अपनी विशेषता है । हाथ की तैयारी तथा सफाई के लिए यहां के लोग कठिन परिश्रम करते हैं ।

[8] बनारस घराने की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि यह बाज गायन, वादन तथा नृत्य सभी की संगति से उच्च कोटि का प्रदर्शन करता है । जहां तक स्वतंत्र वादन का प्रश्न है, उनकी तैयारी और सफाई सभी को आकर्षित करती है । बायें को घसीट कर लम्बी मीड़ निकालने की प्रथा बनारस घराने में ही अधिक देखने को मिलती है ।

पंजाब घराना
=:=:=:=:=:=:=

तबला वादकों के सभी घरानों के वादक किसी न किसी रूप में मूलतः दिल्ली घराने से ही सम्बन्धित रहे हैं । पंजाब घराने के तबला वादकों द्वारा इस घराने का विकास स्वतंत्र रूप से माना जाता है । पंजाब के सबसे पुराने तबला वादक फकीर बख्श खां को इस घराने का प्रतिष्ठापक माना गया है । ऐसी मान्यता है कि पंजाब के फकीर बख्श खां, कादिर बख्श खां और हद्दू खां ने मध्य युग के सुप्रसिद्ध पखावजी लाल भवानी दास से पखावज की शिक्षा पाई थी । बाद में फकीर बख्श खां ने पखावज के खुले बोलों को बन्द बोलों में परिवर्तित करके एक नवीन शैली को जन्म दिया । आगे चलकर इसी शैली के वादकों की परम्परा पंजाब घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

लाला भवानी दास, मोहम्मद शाह रंगीले के समय में दिल्ली दरबार के कलाकार थे । लाला भवानी दास अपने समय के उच्च कोटि के पखावजी थे, देश भर में उनका बहुत नाम तथा कीर्ति थी । अतः विविध स्थान से उनको निमंत्रण मिलते थे । एक बार लाहौर के सुबेदार के निमंत्रण पर वे पंजाब गये । वहां भी उन्होंने कई प्रतिभाशाली व्यक्तियों को शिष्य बनाया जिनमें ताज खां, डेरेदार, हद्दू खां लाहौर वाले, कादिर बख्श इत्यादि अनेक कलाकार प्रसिद्ध हुये जिनमें वहां की परम्परा फैली और घराने के साथ में विकसित हुई। लाला भवानी दास और सिद्धार खां समकालीन कलाकार थे । अतः दोनों की परम्पराएं एक ही समय में कुछ आगे-पीछे फैलीं, जब कि अनुमान है कि भगवान दास के शिष्य कुदऊ सिंह का घराना लगभग अर्द्ध शताब्दी के बाद स्थापित हुआ । यहां विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सिद्धार खां ने जब से तबला ग्रहण किया उसी की उन्नति प्रचार-प्रसार में लगे रहे और समकालीन भवानी दास के प्रयत्नों से पंजाब में पखावज का, एवं उनके शिष्य कुदई सिंह ने दतिया (मध्य प्रदेश) में पृथक घराना स्थापित किया, जो आज भी कुदऊ सिंह घराने के नाम से प्रसिद्ध है । यह भी सर्वविदित है कि आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व तक पंजाब में पखावज की बकिरती थी और उसी की आड़ में तबला और दुक्कड़ भी बजने लगा । दुक्कड़ पंजाब का ही एक प्राचीन लोक वाद्य है जो तबले के समान दो भागों वाला वाद्य है। भवानी दास जी ने इस

वाद्य पर एक नवीन वाद्य का आविष्कार किया और लोगों को उसकी शिक्षा दी । कहा जाता है कि भवानी दास जी ने इसे अभिजात संगीत में स्थान दिलाने का प्रयास किया । दुक्कड़ तबले के समान वाद्य होने के कारण कुछ लोगों की धारणा है कि वही तबले का पूर्वज है और पंजाब ही तबले का आदि घराना है । भवानी दास जी के अनेक शिष्य प्रतिष्ठित पखावजी थे जिनमें नसीर खां उच्च कोटि के पखावज के कलाकार थे । पखावज के साथ-साथ दुक्कड़ की शिक्षा भी उन्होंने लोगों को दी । खब्बे हुसैन ढोलकिया के पुत्र अमीर अली को उन्होंने दुक्कड़ सिखाया, ऐसा उल्लेख मिलता है । इस प्रकार उन्होंने पखावज तथा दुक्कड़ का प्रचार बराबर से किया । लखनऊ घराने के उस्ताद मोदू खां की पत्नी किसी पंजाबी उस्ताद की पुत्री थीं । उन्हें अपने वालिद की अनेकों गतें याद थीं, ऐसा उल्लेख मिलता है । बनारस के पं0 राम सहाय जी को गुरु पत्नी से पंजाब घराने की काफी विद्या मिली थी । ऐसा बनारस घराने का इतिहास भी बताता है । अत: जिस काल में सिद्धार खां के द्वारा तबले के बाज और दिल्ली घराने की स्थापना हुई उसी काल में ही पंजाब में भी लाला भवानी दास द्वारा दुक्कड़ का प्रचार हो गया होगा । इतना होते हुये भी उस समय तक पंजाब में पखावज ही सर्वोत्कृष्ट अवनद्ध वाद्य माना जाता था । । उस्ताद फकीर बख्श पखावजी पंजाब के पहले कलाकार थे जिन्होंने तबला वादन के महत्त्व का समझा और देश में उसके प्रति बढ़ती हुई लोकप्रियता को उचित महत्त्व दिया । उन्होंने भवानी दास जी द्वारा विकसित दुक्कड़ पर बजने वाले नवीन बाज को तबले पर बजाना प्रारम्भ किया । इसके उपरान्त मियां फकीर बख्श के गुरु भाइयों, पुत्र मियां कादिर बख्श तथा उनके कुछ शिष्य-प्रशिष्यों ने भी उनके इस प्रयास में सहयोग दिया और इसी प्रकार पंजाब घराने में तबले का प्रचार प्रारम्भ हो गया । उस समय वहां तबले की शक्ल दुक्कड़ से मिलती-जुलती थी । उनके वादन शैली पर पखावज का बहुत अधिक प्रभाव देखा जाता था । यही कारण है कि तबले पर उंगलियों के स्थान पर दूसरे पंजे का प्रयोग, बोलों को निकालने की पद्धति, लयकारी का गणित एवं बंदिशों की रचना में पंजाब घराने का तबला दूसरे सभी घरानों की अपेक्षा पखावज के अधिक निकट लगता है ।

पंजाब घराने की परम्परा

सन् 1947 में भारत विभाजन के बाद पंजाब-घराने का मूल केन्द्र

लाहौर, पाकिस्तान में चला गया । लाला भवानी दास के मुख्य रूप से पांच शिष्य थे जिनमें मियां कादिर, हद्दू खां लाहौर वाले, ताज खां डेरेदार, अमीर अली [खब्बे हुसेन ढोलकिया के पुत्र] तथा पांचवें शिष्य का नाम अज्ञात है । भवानी जी के प्रथम शिष्य मियां कादिर बख्श[प्रथम]से जो परम्परा चली उनमें उनके पुत्र मियां हुसेन बख्श, पौत्र मियां फकीर बख्श एवं शिष्य भाई बाग, फकीर बख्श के पुत्र मियां कादिर बख्श तथा शिष्यों में करम इलाही मियां मलंग, मीरबख्श घिलवालये, बहादुर सिंह इत्यादि तथा कादिर बख्श के अनेकों शिष्यों में उस्ताद अल्ला रक्खा एवं उनके पुत्र जाकिर हुसेन के नाम सुविख्यात हैं । मियां हुसेन बख्श के शिष्य भाई बाग की परम्परा भी लम्बी है जिनमें उनके पुत्र भाई अमीर, शिष्य भाई मंदा तथा वंशज एवं प्रशिष्यों में भाई नसीरा, भाई सन्तू, गुराभल एवं दासमल के नाम उल्लेखनीय हैं । मियां कादिर बख्श[प्रथम]की यह परम्परा जिस प्रकार भारत में फैली उसी प्रकार पाकिस्तान में भी फैली थी । आज भी इसी परम्परा के कुछ शिष्य पाकिस्तान में हैं ।

लाला भवानी दास के दूसरे शिष्य हद्दू खां लाहौर वाले के शिष्य मुख्यतः पाकिस्तान में फैले हैं, किन्तु इस घराने के कुछ प्रमुख कालाकारों की मुलाकातों से प्राप्त जानकारी के अनुसार बनारस के पं0 बलदेव सहाय ने उस्ताद हद्दू खां से शिक्षा ग्रहण की थी । जर्मन लेखक श्री राबर्ट गारलिब ने अपनी पुस्तक "दी मेजर ट्रेडीशन्स आफ नार्थ इन्डियन तबला ड्रमिंग" में भी इस बात का उल्लेख किया है । यद्यपि बनारस के तबला वादक इस कथन का विरोध करते हैं ।

लाला भवानीदास के तीसरे शिष्य ताज खां डेरेदार से जो परम्परा चली, उसमें उनके पुत्र नासिर खां पखावजी का नाम प्रमुख है । वे अपने समय के कुशल पखावजी थे । अवध दरबार में महराज कुदऊसिंह के साथ उनकी प्रतियोगिता हुई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है, जो उनके उत्कृष्ट कलाकार होने को प्रमाणित करता है । उस्ताद नासिर खां बड़ोदरा[गुजरात]दरबार के कलाकार रहे ।अतः उनके शिष्य-प्रशिष्यों की विशाल संख्या बड़ोदरा में फैली, जिनमें उनके पुत्र उस्ताद निसार हुसेन खां, पौत्र नजीर खां तथा प्रमुख शिष्य कान्ता प्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं ।

लाला भवानी दास के चौथे शिष्य खब्बे हुसेन ढोलकिया के सुपुत्र थे । खब्बे हुसेन अपने समय के उत्कृष्ट कलाकार थे । वे लाला भवानीदास के समकालीन,

मित्र एवं प्रतिद्वन्दी थे । वे लाला जी का बड़ा आदर करते थे । अतः उनके साथ प्रतियोगिता में हार जाने के पश्चात् उन्होंने अपने पुत्र अमीर अली को लाला भवानी दास का शिष्य बना दिया । इस तथ्य का प्रमाण बृज की "पोथी" में उपलब्ध है । दुर्भाग्य से अमीर अली वंश अथवा शिष्य परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता है ।

लाला भवानीदास के पांचवें शिष्य का नाम अज्ञात है जिनसे भवानी प्रसाद ने शिक्षा पाई थी । उनके प्रमुख शिष्यों में बृज के मक्खन लाल पखावजी का भीनाम आता है, जिन्होंने भवानी प्रसाद के उपरान्त अपने पिता तथा चाचा से कुदऊ सिंह एवं नाना पानसे घराने की विद्या प्राप्त की थी ।

पंजाब घराने में तबले के प्रचार तथा उसके साहित्य को समृद्ध एवं बहुश्रुत करने का प्रमुख श्रेय उस्ताद कादिर बख्श॥प्रथम॥के पौत्र मियां फकीर बख्श तथा प्रपौत्र मियां कादिर बख्श॥द्वितीय॥ को जाता है । तबले के विकास में उन दोनों पिता-पुत्रों का तथा फकीर बख्श के शिष्य करम इलाही, बाबा मलंग इत्यादि का योगदान अमूल्य है ।

उस्ताद फकीर बख्श अपने युग के महान कलाकार थे । पखावज एवं तबला दोनों पर उनका समान अधिकार था । उनके वादन पर लोग मुग्ध हो जाते थे । कहा जाता है कि फकीर बख्श के सवा लाख शिष्य थे ।

मियां फकीर बख्श के प्रथम एवं प्रमुख शिष्य मियां करम इलाही थे, जो ज्ञान एवं विद्या की दृष्टि से काफी गुणी व्यक्ति माने जाते थे । मियां फकीर बख्श के पुत्र कादिर बख्श की शिक्षा उनके पिता के उपरान्त मियां करम इलाही से प्राप्त हुई । मियां करम इलाही के अनेक शिष्य हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान में प्रसिद्ध हैं जिनमें मियां नबी बख्श कालरिये, बनारस के वासुदेव प्रसाद, लुधियाना के बहादुर सिंह इत्यादि के नाम प्रमुख हैं ।

मियां फकीर बख्श के दूसरे शिष्य बाबा मलंग उच्च कोटि के कलाकार थे । उनके भी सैकड़ों शिष्य-प्रशिष्य आज भी पंजाब तथा पाकिस्तान में फैले हुये हैं । उनका भांजा तालब हुसैन, शिष्य शौकत हुसैन, इनायत अली, अयोध्या प्रसाद॥रावलपिंडी वाले॥ आदि आज भी पाकिस्तान में प्रख्यात तबला वादकों के रूप में हैं । उस्ताद फकीर बख्श के शिष्यों में-मीरबख्श घिलवालिये, फकीर बख्श, फते उल्ला॥पेशावर॥, आदि का भी योगदान है । बाबा मलंग तथा मीर बख्श घिलवालिये के प्रमुख शिष्यों में बहादुर सिंह का नाम आता है, जिनकी

विस्तृत शिष्य परम्परा लुधियाना, जालंधर, पटियाला, अमृतसर, चंडीगढ़ आदि में फैली है ।

मियाँ कादिर बख्श द्वितीय का देहान्त करीब 70 वर्ष की उम्र में सन् 1960 ई0 में लाहौर॥पाकिस्तान॥में हुई । वे पंजाब घराने के महान कलाकार थे । तबला तथा पखावज दोनों पर उनका समान अधिकार था । उनके शिष्यों में लाल मोहम्मद खां, महाराजा टीकमगढ़, भाई नसीरा, शौकत हुसैन, सादिक हुसैन, रायगढ़ के राजा चक्रधर सिंह, अल्ला धेत्ता खां तथा अल्ला रक्खा खां आदि सुप्रसिद्ध कलाकार थे ।

पंजाब घराने की विशेषताएं

॥1॥ इस घराने का बाज पखावज से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण जोरदार और खुला है जिसमें चारों उंगलियों के प्रयोग के साथ तबले पर थाप का खूब प्रयोग होता है ।

॥2॥ इस घराने की वादन शैली में ठेके के बांट का काम तथा लयकारी के हिसाब का गणित जटिल होता है । जैसे चक्करदारों में साढ़े नौ मात्रा का पल्ला तथा पौने दो मात्रा का दम तथा साढ़े पन्द्रह मात्रा का पल्ला और पौन मात्रा का दम इत्यादि ।

॥3॥ पंजाब घराने की बंदिशों पर वहां की भाषा का स्पष्ट प्रभाव है । जैसे धाती के स्थान पर धात का उच्चारण अथवा धिर धिर कत के स्थान पर धेर-धेर केट का उच्चारण इत्यादि ।

॥4॥ पंजाब घराने में कायदे का प्रचार कमहैऔर जो हैं भी वे काफी जटिल एवं लयकारी युक्त हैं । पंजाब घराना अपने गतों एवं रेलों के लिए प्रसिद्ध है ।

॥5॥ बंदिशों में धिनाड़, धिडन्त, कृतन्न, धाड़ा धिन तथा ठेकों में धाति धाड़ा तथा द्रुत लय में धिर किट तेरे किट बोलों का प्रयोग होता है।

॥6॥ बाये तबले पर मीड़ का काम तथा दाये तबले पर लचीलापन पंजाब घराने की अपनी विशेषता है ।

बंगाल की विविध परम्पराएं

=:=:=:=:=:=

।1। विष्णुपुर परम्परा

बंगाल का विष्णुपुर जिला संगीत कला के प्रचार एवं विकास का प्रमुख स्थान रहा है । चाहे ध्रुपद गायकी हो या ख्याल, पखावज हो या तबला वादन, हर क्षेत्र में उसकी अपनी विशिष्ठ परम्परा रही है । विष्णुपुर में तबले दो प्रमुख पम्पराएं चलीं- एक बेचाराम चट्टोपाध्याय द्वारा तथा दूसरी राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय द्वारा स्थापित । विष्णुपुर में पहले पखावज का प्रचार था तत्पश्चात् तबला वादन का विकास हुआ । यह दोनों परम्पराएं लखनऊ घराने से सम्बन्धित हैं ।[1]

श्री बेचाराम चट्टोपाध्याय की परम्परा

विष्णुपुर परम्परा में तबले का जो इतिहास आज हमारे पास उपलब्ध है, उसका आरम्भ श्री बेचाराम चट्टोपाध्याय से हुआ है। विष्णुपुर ध्रुपद गायन की परम्परा काफी प्राचीन है । अतः उस गायकी की संगति के लिए पखावज का प्रचार भी वहां पहले से था ।

बेचाराम जी मूलतः एक पखावज वादक थे ।उन्होंने तबले की शिक्षा फर्रुखाबाद घराने के प्रवर्तक तथा लखनऊ के उस्ताद बख्शू खां के दामाद उस्ताद हाजी विलायत अली से, संभवतः लखनऊ में रहकर प्राप्त की थी । विष्णुपुर में तबले के प्रचार का सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं को है । अनुमान है कि उनका समय सन् 1860 के आसपास का रहा होगा ।[2]

श्री चट्टोपाध्याय के गोपालपुर नामक गांव ।आजकल बंगलादेश। के निवासी थे । पखावज वादन की कला तो उन्हें अपने पूर्वजों से विरासत में मिली थी, परन्तु वे पखावज तथा तबला दोनों पर समान अधिकार रखते थे । उन्होंने विद्या का प्रचार उन्मुक्त हृदय से किया । उनके भतीजे गिरीश चन्द्र चट्टोपाध्याय तथा नारायण चट्टोपाध्याय अच्छे कलाकार माने जाते थे । श्री बेचाराम के शिष्यों में भैरव चक्रवर्ती।गोला।, निताई तंतुबाई, हरिप्रदा करमकार, राजा जगेन्द्र नाथ राय।नाटौर। तथा सुप्रसिद्ध ईश्वर चन्द्र सरकार आदि ने इस क्षेत्र में काफी ख्याति अर्जित की । श्री सरकार अपने

---

1. तबला कथा।बंगला में।, सुबोध नन्दी कृत ।
2. तबला कथा।बंगला में।, सुबोध नन्दी कृत।विष्णुपुर घराना अध्याय।

समय के उत्कृष्ट कलाकारों में एक माने जाते हैं। आज भी बंगाल के लोग उन्हें सम्मान से याद करते हैं।

भैरव चक्रवर्ती के शिष्यों में राजग्राम के स्थितिराम पांजा तथा ईश्वर चन्द्र सरकार के शिष्यों में विजन चन्द्र हजारे और हरिपद करमकार के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस पीढ़ी के पश्चात् आजकल विष्णुपुर परम्परा के विषय में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्राप्त परम्परा इस तालिका से अधिक स्पष्ट हो जायगी :
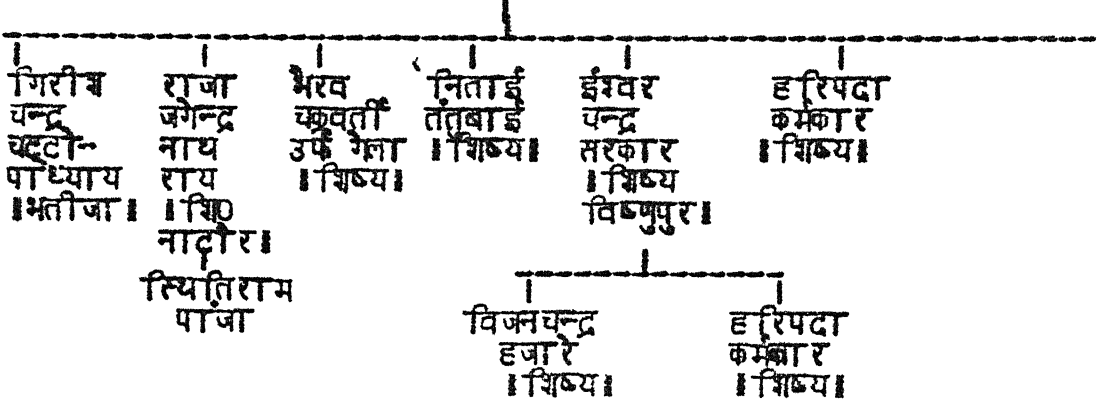
श्री राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय की परम्परा

विष्णुपुर घराने की दूसरी परम्परा के जन्म के पूर्व विकास का श्रेय राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय को है। अनुमान है कि, उनका समय सन् 1875-80 के पश्चात् रहा होगा। वे उस्ताद मम्मन खाँ (मम्मू खाँ) के शिष्य थे। राम प्रसन्न जी विष्णुपुर के मूल निवासी थे, परन्तु तबले की शिक्षा उन्होंने कलकत्ते में प्राप्त की थी। मम्मू खाँ जब भी कलकत्ते आते थे, वे भी वहाँ पहुँच जाते थे। इस प्रकार उन्होंने कला की बारीकियों का सूक्ष्म अध्ययन किया।[1]

श्री राम प्रसन्न बन्दोपाध्याय तबला, पखावज तथा गायन में निपुण थे। उन्होंने अपनी विद्या का खूब प्रचार किया तथा अनेक शिष्य तैयार किये। इनकी विशाल शिष्य परम्परा में सर्व श्री क्षुदीराम दत्त, बृज लाल माँझी, नकुल चन्द्र नन्दी, नित्यानन्द गोस्वामी, पशुपति सखा तथा विजन चन्द्र हजारे का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

---

1. तबला कथा (बंगाली), सुबोध नन्दी, विष्णुपुर घराना।

उनके प्रशिष्यों की सूची में नित्यानन्द गोस्वामी के पुत्र शिव प्रसाद गोस्वामी, पशुपति सखा के शिष्य कालिपाद चक्रवर्ती, भाल चन्द्र परमणिक तथा सत्तार अली खाँ [सतीश], श्री बृज लाल माझी के शिष्य विपिन बिहारी दास [विपिन बाबू], श्री विजन चन्द्र हाजर के पुत्र सुजित हजारे तथा शिष्य मनोज दे, बाके बिहारी दत्त एवं सुबोध नन्दी के नाम लिये जाते हैं। उनकी चौथी पीढ़ी के कलाकारों में सर्व श्री सुदीप नन्दी, सुबीर नन्दी, विश्वनाथ करमकार, अनिल पाल आदि के नाम प्रमुख हैं। कलकत्ता के सुप्रसिद्ध तबला वादक पद्मभूषण ज्ञान प्रकाश घोष ने पखावज वादन की शिक्षा इसी परम्परा के सुप्रसिद्ध कलाकार श्री विपिन बाबू से प्राप्त की है।

[2] <u>ढाका की परम्पराएं</u>

<u>बासक परम्परा</u>

अविभाजित भारत के पूर्व ढाका का क्षेत्र पूर्वी बंगाल में था। देश के अन्य स्थानों के समान वहाँ भी छोटे-बड़े जागीरदार तथा सम्पन्न जमींदार थे। उनमें से बहुत से लोग संगीत के विशेष प्रेमी थे। अतः विष्णुपुर के कलाकार प्रायः ढाका आया-जाया करते थे। अतः इसी आवागमन का प्रभाव वहाँ की परम्परा पर पड़ा।

ढाका में तबले के प्रचार एवं प्रसार में बासक परिवार का विशेष योगदान रहा। इस परम्परा के अधिकतर कलाकार तबला तथा पखावज दोनों वाद्यों पर समान अधिकार रखते थे। तबले के क्षेत्र में विशेष महत्व रखने के कारण इस परिवार की एक पृथक परम्परा ही चल पड़ी जो "बासक परम्परा" के नाम से प्रसिद्ध हुई।

बासक परम्परा के आदि प्रवर्तक श्री राम कुमार बासक माने जाते हैं। उनका समय उन्नीसवीं सदी का अंतिम चरण रहा होगा। उनके पुत्र उपेन्द्र कुमार बासक तथा शिष्य गौर मोहन बासक का अपना अनूठा स्थान है। उनके वंशज शशि मोहन बासक तथा आनन्द मोहन बासक ने भी काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। श्री आनन्द मोहन ने अपने अग्रज गौर मोहन तथा कलकत्ते के श्री पाँचु मित्रा से भी शिक्षा प्राप्त की।

किन्तु ढाका के तबला वादकों में श्री प्रसन्न कुमार साहा वाणिक्य का नाम सर्वाधिक लोकप्रिय था। अनुमान है कि उनका समय बीसवीं सदी का

प्रारम्भिक काल था । वे गौर मोहन बासक के शिष्य थे, परन्तु उन्होंने मुर्शिदाबाद के दरबारी तबला वादक उस्ताद अता हुसैन खाँ से भी शिक्षा प्राप्त की । तबला तथा पखावज बजाने में वे अद्वितीय थे । ढाका तथा बंगाल की पुरानी पीढ़ी के कलाकारों में उस्ताद अता हुसैन के पश्चात् श्री प्रसन्न कुमार साहा वाणिक्य का ही नाम आता है । उन्होंने "तबला तरंगिणी" तथा "मृदंग प्रवेशिका" नामक दो पुस्तकें लिखीं एवं बीसवीं शदी के आरम्भ में प्रकाशित कराई । इनके प्रमुख शिष्यों में राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी तथा सर्व श्री राधा बल्लभ गोस्वामी, अक्षय कुमार करमकार, राजा प्रताप चन्द्र बरुआ, हेम चन्द्र राय, कामिनी कुमार भट्टाचार्य, वीरेन्द्र कुमार राय चौधरी तथा भागवत् साहा के नाम प्रमुख हैं।

इनके उपरान्त बासक परिवार के वंशज तथा शिष्यों में सर्व श्री फणिन्द्र कुमार बासक, सतीश कुमार बासक, गगन चन्द्र चौधरी तथा गौडा के नाम भी उल्लेखनीय हैं ।[1]

<u>ढाका के अता हुसेन खाँ की परम्परा</u>

ढाका के बासक परिवार की परम्परा के उपरान्त बाहर से आये हुये दो, तीन कलाकारों ने भी तबले का काफी प्रचार किया जिसमें से अता हुसैन खाँ का नाम उल्लेखनीय है । प्राप्त सूचना के अनुसार अता हुसैन खाँ आगरा के निवासी थी । वे फर्रुखाबाद घराने के उस्ताद हुसैन अली के शिष्य तथा मुर्शिदाबाद राज्य के दरबारी कलाकार थे । बनारस घराने के कलाकारों के अनुसार वहाँ के पं0भगत जी से भी शिक्षा प्राप्त की । वे अपने समय के महान कलाकार थे तथा उन्होंने बंगाल में काफी ख्याति अर्जित की थी ।

उस्ताद अता हुसैन खाँ का मूल नाम आफताब हुसैन खाँ था, किन्तु वे अता हुसैन खाँ के नाम से प्रसिद्ध थे । उनका समय संभवतः सन् 1880ई0 के पश्चात् रहा होगा । उनके गुरु उस्ताद हुसैनअली खाँ फर्रुखाबाद घराने के प्रवर्तक हाजी विलायत अली खाँ के पुत्र थे । यद्यपि श्री सुबोध नन्दी की "तबला कथा" नामक बंगला पुस्तक में उनके गुरु का नाम हुसैन बख्श लिखा है । तथापि फर्रुखाबाद घराने के हुसैन अली की शिष्य परम्परा में ही अता हुसैन का नाम जोड़ना अधिक उचित जान पड़ता है। संभव है कि उस्ताद हुसैन बख्श जो कि हाजी विलायत अली खाँ के दामाद थे, उनसे भी सीखा हो । खाँ

---

1. तबला कथा- सुबोध नन्दी, ढाका घराना ।

साहब की कर्मभूमि ढाका थी । वे मुर्शिदाबाद का राजाश्रय छोड़कर ढाका चले आये और जीवन के अन्त समय तक वहीं रहे । वहां के सुप्रसिद्ध तबला वादक श्री वाणिक्य उनके प्रमुख शिष्यों में से थे । उनके अतिरिक्त खां साहब के शिष्यों की बड़ी संख्या है, जिनमें अधिकतर लोग मुर्शिदाबाद, ढाका एवं बंगाल के अन्य भागों से सम्बन्धित थे, जिनमें मुर्शिदाबाद के उस्ताद कादिर बख्श, मौनीधारा, बावल के राजकुमार, भवानी चरण बरन, अबानी गांगुली आदि प्रमुख थे।उस्ताद अता हुसैन खां के अनेक प्रशिष्यों मेंनिम्नलिखित कलाकार उल्लेखनीय हैं :-

त्रिपुरा के कामिनी कुमार भट्टाचार्य, अक्षय कुमार करमकार, राधा बल्लभ गोस्वामी, भागवत् साहा, राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी, हीरेन्द्र किशोर राय चौधरी, राधेन्द्र किशोर राय चौधरी, अरुणेन्द्र किशोर राय चौधरी, विमल दास, सुनिर्मल, निर्मल बन्द्योपाध्याय, सुरेन्द्र अधिकारी, हरेन्द्र चक्रवर्ती, मणिन्द्र नाथ लहरी, विश्वनाथ सोम, शष्टि बाबू, चुन्नी लाल बाबू, दुलाल मुन्ना, रविन्द्र बरन, कृष्ण कुमार गांगुली इत्यादि ।

ढाका के छुट्टन खां की परम्परा

लखनऊ घराने के छुट्टन खां की परम्परा के उस्ताद मम्मन खां।मम्मू खां के पौत्र नादिर हुसैन खां उर्फ छुट्टन खां कुछ समय तक ढाका में रहे । छुट्टन खां अपने परम्परा के ऊँचे कलाकार थे । ढाका में उनके शिष्य परम्परा में वहां के जमींदार खान बहादुर काजी, उस्ताद अल्ला उद्दीन अहमद खां तथा फेलु चन्द्र चक्रवर्ती के नाम महत्वपूर्ण हैं ।

उस्ताद छोट्टन खां की परम्परा
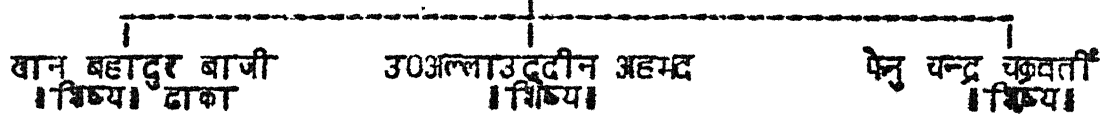
ढाका के मिअन खां और सुप्पन खां की परम्परा

ढाका के उस्ताद मिअन खां तथा उनके पुत्र सुप्पन खां ।कुछ लोग छुप्पन खा कहते हैं। अपने समय में अत्यन्त प्रसिद्ध कलाकार माने जाते थे।सुप्पन खां ने अपने पिता तथा फर्रुखाबाद घराने के कुछ उस्तादों से भी शिक्षा प्राप्त की थी जिनमें सर्व श्री गुलाम अब्बास, सलारी खां, हुसैन बख्श तथा आबिद हुसैन के नाम प्रमुख हैं। उस्ताद सुप्पन खां अता हुसैन के गुरु भाई थे । उनके प्रमुख

शिष्यों में दुर्गा दास लाखा तथा शशि मोहन बासक के नाम उल्लेखनीय हैं ।

ढाका के उस्ताद साधु चरण की परम्परा

ढाका की तबला परम्परा में श्री गगन चन्द्र चौधरी तथा साधुचरण के नाम भी महत्वपूर्ण हैं । साधुचरण की वंश परम्परा में उनके पुत्र गोपाल चन्द्र तथा महताब चन्द्र, भतीजा पुतु एवं शिष्य राजेन्द्र नारायण राय, शारदा चरण राय चौधरी तथा राज बिहारी दास उल्लेखनीय हैं । श्री गगन चन्द्र चौधरी के शिष्यों में श्री गोरा मुख्य हैं ।
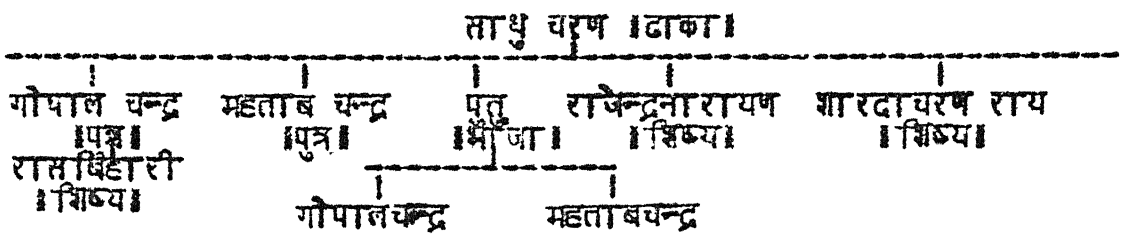
अगरतला के कलाकारों की परम्परा

करीब 150 वर्ष पूर्व राय कन्हाई तथा राम धन नाम के दो भाई अगरतला दरबार के कलाकार थे । दोनों भाई बड़े कुशल कलाकार थे । त्रिपुरा जिले के अफताफ उद्दीन खां, मैहर के सुप्रसिद्ध सरोद नवाज,-बाबा अलाउद्दीन खां के बड़े भाई थे । अला उद्दीन खां की तबले की शिक्षा उनके बड़े भाई आफताब उद्दीन से सम्पन्न हुई थी । तत्पश्चात् उन्होंने पखावज की तालीम प्रसिद्ध मृदंगाचार्य मुरारीलाल गुप्त के शिष्य श्री नन्दी भट्ट से प्राप्त की थी जो पथुरिया घाट के राजा जोतेन्द्र मोहन टैगोर के दरबारी कलाकार थे ।

उस्ताद आफताब उद्दीन खां अपने छोटे भाई अला उद्दीन खां के उपरान्त अपने नाती यार रसूल उर्फ फलझड़ी खां को तबले की शिक्षा दी थी । इसके पश्चात् मैहर में रहकर बाबा अला उद्दीन से भी शिक्षा ली थी ।

...:5

अगरतला की परम्परा
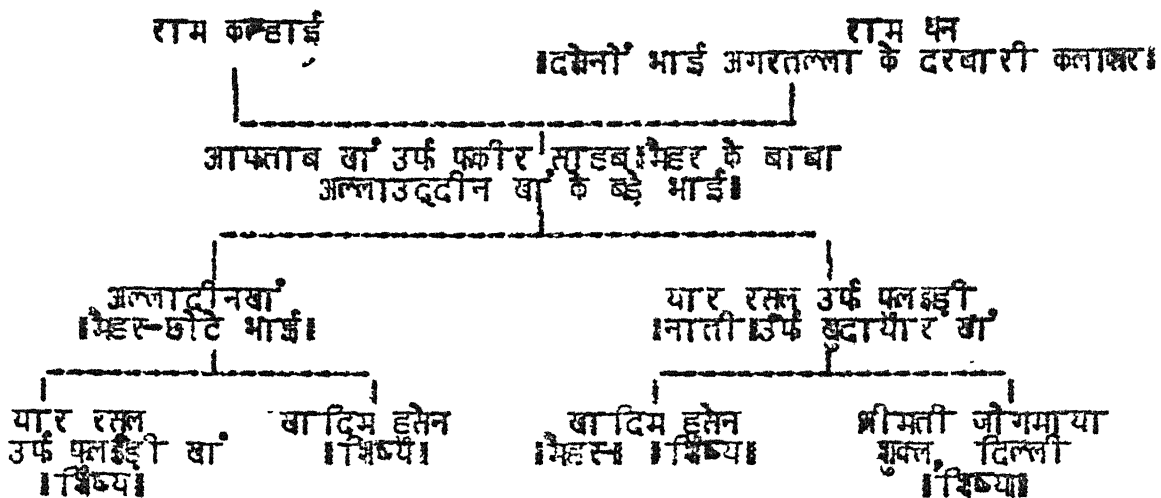
कलकत्ता में उस्ताद बाबू खाँ की परम्परा

कलकत्ता में तबले के प्रचार और प्रसार में लखनऊ घराने के बाबू खाँ का नाम उल्लेखनीय है। बाबू खाँ लखनऊ घराने के संस्थापक उस्ताद बख्शू खाँ के नाती थे। वे काफी समय तक कलकत्ता में रहे और वहाँ अनेक शिष्य तैयार किये, जिनमें से नगेन्द्र नाथ बरन, विधु भूषण दत्त, मन्मथ नाथ गांगुली, बुद्धेश्वर दे, मोती लाल मिश्रा, गोवर्धन पाल, विनय कान्त सरकार, अरुण मुखर्जी, मोहम्मद इस्माइल, इनायत उल्ला खाँ, प्रसन्न कुमार साहा तथा भवानी चरन दास प्रमुख हैं।

=====

प्रसिद्ध तबला वादकों का परिचय

अनोखे लाल मिश्र

श्री राम सहाय जी के घराने से सम्बद्ध बनारस-बाज के प्रसिद्ध तबला वादक अनोखे लाल मिश्र का जन्म सन् 1914 ई० में वाराणसी में हुआ । आपके पिता का नाम श्री बुद्धू प्रसाद जी था । प्रारब्धवश अनोखे लाल बचपन में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित हो गये, अर्थात् इनके माँ-बाप का देहान्त हो गया । इसी प्रकार इनकी दादी ने इनका पालन-पोषण किया ।

अर्थहीन परिवार में जन्म लेने के कारण श्री अनोखे लाल का बाल्यकाल आपदाग्रस्त ही रहा, 5-6 वर्ष की आयु से ही भैरा प्रसाद मिश्र के द्वारा आपको तबले की शिक्षा मिलने लगी । यह क्रम 15 वर्ष तक चला । योग्य गुरु द्वारा शिक्षण तथा कठिन परिश्रम और अटूट लगन होने के कारण श्री अनोखे लाल ने तबला वादन कला में विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया । अल्पकाल में ही सम्पूर्ण देश में उनकी ख्याति फैल गई । बड़े-बड़े संगीत सम्मेलनों, आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों में अपने तबला वादन का विशेष प्रभाव इन्होंने छोड़ा । दिल्ली रेडियो से प्रसारित होने वाले "नेशनल प्रोग्राम" में भी अनोखे लाल ने 2-3 बार भाग लिया । साथ संगति के अतिरिक्त श्रोताओं द्वारा इनका एकाकी वादन भी बहुत पसन्द किया जाता था । "ना धिं धिं ना" के तो आप सचमुच जादूगर ही थे । अतिद्रुत लय में जितना सुस्पष्ट और दमदार "ना धिं धिं ना" अनोखे लाल बजाते थे, उतना संभवतः किसी अन्य तबला वादक से नहीं सुना गया ।

जीवन के अंतिम दो वर्षों तक अनोखे लाल गैंगरिंग रोग से पीड़ित रहे । आखिरकार 10 मार्च, 1958 की प्रातः यह अनोखा तबला-वादक संसार से सदैव के लिए उठ गया । आपके शिष्य महापुरुष मिश्र अच्छा तबला वादक रहे हैं ।

अमीर हुसैन खाँ

अमीर हुसैन खाँ ने ऐसे परिवार में जन्म लिया, जिसमें संगीत के संस्कार आनुवंशिक रूप में विद्यमान थे । इनके पिता उस्ताद अहमद बख्श तबला तथा सारंगी वादन में सिद्ध कलाकार थे । अमीर हुसैन खाँ का जन्म सन् 1895 ई०

देना आरम्भ कर दिया । पिता की मृत्यु की उपरान्त आबिद हुसेन खाँ ने अपने बड़े भाई मुन्ने खाँ से लगभग 12 वर्ष तक तबले की तालीम हासिल की । उस समय उस्ताद आबिद हुसेन खाँ की गणना श्रेष्ठतम तबला वादकों में होने लगी थी । लखनऊ के "मैरिस म्यूजिक कालेज" में कुछ समय तक अपने तबला शिक्षक के रूप में काम किया । इनका सोला तबला वादन अत्यन्त मिठासपूर्ण और सुस्पष्ट था । इनका तबला वादन सुनकर अनेक बार श्रोताओं को रस मग्न होते देखा गया ।

वैसे तो उस्ताद आबिद हुसेन खाँ ने अपने दौर में तबला वादन कला का प्रचार बहुत बड़े रूप में किआ और अनेक शिष्यों को तालीम दी, फिर भी उनके कुछ प्रमुख शिष्यों के नाम पं0 बीरु मिश्र, उस्ताद जहाँगीर खाँ एवं वाजिद हुसेन खाँ । आबिद हुसेन खाँ का देहान्त सन् 1936ई0 में लखनऊ में ही हो गया।

अहमदजान थिरकवा

तबले के विख्यात कलाकार उस्ताद अहमदजान थिरकवा के नाम से भारतवर्ष के सभी संगीत प्रेमी परिचित हैं । मेरठ के उस्ताद मुनीर खाँ साहब से आपने शिक्षा पाई थी । वैसे थिरका खाँ साहब के चचा उस्ताद शेर खाँ भी एक सुविख्यात तबलिये थे, किन्तु तबले की नियमित और उच्चस्तरीय शिक्षा के लिए इन्हें मुनीर खाँ के पास ही जाना पड़ा ।

बाल्यकाल में तबले का अभ्यास करते समय उनकी उंगलियाँ तबले पर एक विशेष प्रकार से थिरका करती थीं, इसलिए इनका नाम "थिरकू" पड़ गया था । बाद में शनैः-शनैः यह थिरकवा के नाम से विख्यात हो गये । लखनऊ, मेरठ, फर्रुखाबाद, अजराड़ा आदि सभी तरह की वादन शैलियों में थिरकवा साहब दक्ष थे । किन्तु इनकी स्वयं की पसन्द तबले का दिल्ली और फर्रुखाबाद बाज था । स्वतंत्र तबला वादन में आपकी प्रतिभा विशेष रूप से निखरती थी । तबले के इस जादूगर का देहावसान 13 जनवरी, 1976 को लखनऊ में हो गया ।

कंठे महराज

तबला सम्राट पं0 राम सहाय मिश्र के घराने से सम्बद्ध पं0 कंठे महराज भारत वर्ष के श्रेष्ठतम तबला वादकों में गिने जाते थे । कंठे महराज का जन्म सन् 1880 ई0 के आस-पास बनारस में हुआ था । बाल्यकाल से ही आपकी शिक्षा पं0बलदेव सहायमिश्र के द्वारा सम्पन्न हुई । तीन वर्ष तक शिक्षा देने के बाद बलदेव सहाय जी नेपाल चले गये। शिष्य से गुरु का वियोग सहन न हो

में हैदराबाद दक्षिण में हुआ । 5वर्ष की अल्पायु से ही इन्हें अपने पिता के द्वारा शिक्षा मिलनी प्रारम्भ हो गयी थी । कुछ वर्षों के बाद इनके मामा उस्ताद मुनीर खाँ ने इन्हें तबले की शिक्षा देना प्रारम्भ किया । तबले की शिक्षा का यह क्रम उस्ताद मुनीर खाँ की मृत्युपर्यन्त चला ।

अमीर हुसैन खाँ गत 20 वर्षों से बम्बई में निवास करते हैं। बंबई आकाशवाणी से भी आपका तबला वादन प्रसारित होता रहा ।

अल्लारखा खाँ

प्रसिद्ध तबला वादक अल्लारखा खाँ का नाम भारत वर्ष के प्रायःसभी तबला प्रेमी जानते हैं । इनका जन्म सन् 1951 ई0 में रतनगढ़ (गुरदासपुर) में हुआ । इनके पिता का नाम हाशिम अली था, वे खेतीबाड़ी का काम करते थे।

वैसे तो बाल्यकाल से ही अल्लारखा खाँ को संगीत के विशेष लगाव था; किन्तु 15-16 वर्ष की आयु में उन्होंने पठानकोट की एक नौटंकी-कम्पनी में बाकायदा नौकरी कर ली । यहाँ पर आप उस्ताद कादिरबख्श के शिष्य खाँ साहब लाल मुहम्मद के सम्पर्क में आये और उन्हीं से तबले की शिक्षा लेना प्रारम्भ कर दिया । कुछ दिनों के पश्चात् इन्हें अपने चाचा के साथ लाहौर जाने का सुयोग प्राप्त हुआ । वहाँ पर आने उस्ताद कादिरबख्श से तबले की उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त की ।

लाहौर और दिल्ली के आकाशवाणी-केन्द्रों से कुछ दिनों तक तबला-वादन प्रसारित करने के बाद 1937 ई0 में अल्लारखा खाँ बम्बई चले आये। वहाँ भी आपने आकाशवाणी-केन्द्र में नौकरी कर ली । 4-5वर्ष नौकरी करने के पश्चात् इन्हें फिल्म क्षेत्र में आना पड़ा ।

अल्ला रखा खाँ का तबला वादन पंजाब घराने की विशेषताओं से ओत प्रोत है । बेमिसाल तैयार और सफाई आपकी वादन शैली के गुण हैं। तंत्रकार तथा गायकों को संगति करने में अल्लारखा खाँ को विशेष महत्त्व प्राप्त था ।

आबिद हुसैन खाँ

नक्कारख बाज के खलीफा उस्ताद आबिद हुसैन खाँ का जन्म सन् 1867 ई0 में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ । आपके पिता का नाम उस्ताद मुहम्मद खाँ था । यह भी एक प्रतिभा सम्पन्न घरानेदार तबला वादक थे, अतः आपके पुत्र आबिद हुसैन खाँ को 6-7 वर्ष की आयु से ही इन्होंने तबले की शिक्षा

सका, फलतः कठे महराज को भी नेपाल पहुंचना पड़ा और वहां जाकर पुनः चार वर्षों तक गुरु के सान्निध्य में कठे महराज ने तबले की उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त की ।

भारत वर्ष का प्रत्येक संगीत प्रेमी पं० कठे महराज की तबला वादन कला से प्रभावित था । कठे महराज ने देश में होने वाले विशाल संगीत सम्मेलनों आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों एवं समय समय पर होने वाले अन्य सांस्कृतिक सम्मेलनों में तबला वादन द्वारा जितनी ख्याति अर्जित की थी, उतनी ख्याति भारत के किसी बिरले की तबला वादक ने प्राप्त की होगी ।एक अगस्त, 1969 को आकाशवाणी में ही आपका स्वर्गवास हो गया । आपके प्रमुख शिष्यों में पं० किशन महराज भी भारतवर्ष के प्रौढ़ तबला वादकों में उच्च स्थान रखते हैं ।

करामत उल्ला खां

फर्रुखाबादी बाज के सिद्ध कलाकार उस्ताद मसीत खां के नाम से प्रत्येक तबला वादक परिचित होगा । करामतुल्ला खां उन्हीं के पुत्र थे, सन् 1918 ई० के लगभग रामपुर में आपका जन्म हुआ था । इनकी तबले की शिक्षा इनके पिता मसीत खां के द्वारा 5-6 वर्ष की आयु से ही आरम्भ हो गई थी ।

भारत के श्रेष्ठ तबला वादकों में करामतुल्ला खां की गणना की जाती थी । यहां होने वाले विशाल संगीत समारोहों में आपको प्रमुख रूप से आमंत्रित किया जाता था । श्रोता और संगीतज्ञ, दोनों ही आपकी वादन कला पर मुग्ध हो जाया करते थे । 3 दिसम्बर, 1977 को कलकत्ता में आपका निधन हो गया ।

कादिर बख्श

उस्ताद कादिर बख्श ऐसे पखावजी घराने से सम्बन्धित हैं, जो अत्यन्त प्राचीन और ख्याति प्राप्त घराना है । इनके पिता मियां फकीर बख्श भी अपने समय के उद्भट पखावजी थे । कादिर बख्श का जन्म लगभग 62 वर्ष पूर्व लाहौर में हुआ था । आठ नौ वर्ष की आयु में ही ये तबला और पखावज वाद्यों को एक कुशल वादक की भांति बजाते थे । तरुणावस्था तक इनके तबला वादन की ख्याति सम्पूर्ण भारत में हो गई । आपने अनेक संगीत आयोजनों में दर्शकों और श्रोताओं को आश्चर्यचकित किया है ।

उस्ताद कादिर बख्श इस समय पाकिस्तान में रहते हैं । बहुत से तबला वादक आपसे सम्बद्ध हैं । प्रसिद्ध तबला वादक अल्ला रखा खां आपके प्रमुख शिष्यों में हैं ।

किशन महराज

आपका जन्म काशी में 3 सितम्बर, 1923 की कृष्णाष्टमी को हुआ था, जिसकी वजह से नामकरण भी "किशन" हुआ । आपने अपने ही परिवार द्वारा संगीत शिक्षा प्राप्त की । बचपन में जब आपने तबले की तालीम लेनी शुरू की तो आपकी रुचि तैयारी की ओर विशेष रूप से न रहकर लयकारी की ओर झुकने लगी, यहाँ तक की 3 वर्ष तक आप त्रिताल, झप ताल, एकताल आदि प्रमुख और प्राथमिक तालों को भी नहीं बजाया । इनकी बजाय आप अधिकतर 9-11-13-15-17-19 व 21 मात्राओं की वक्र तालों को बजाने में विशेष दिलचस्पी लेते रहे और इन्हीं को बजाने का अभ्यास भी करते रहे । इसका फल यह हुआ कि सीधी-सीधी अर्थात् बराबर मात्रा वाली तालें आपको सरल प्रतीत होने लगीं । किसी भी ताल में भिन्न-भिन्न प्रकार के टुकड़े व तिहाई लगा देना आपको सरल और सुबोध मालुम होने लगा ।

। आपके ताल गुरु वाद्य शिरोमणि पं0 कंठे महराज जी थे और आपका घराना तबला सम्राट पं0 राम सहाय जी मिश्र का कहा जाता है । आपका बाज "बनारस बाज" है ।

पं0 किशन महराज ने अपने तबला वादन द्वारा देश-विदेश में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वह प्रशंसनीय है । संगति करने में आपका स्थान श्रेष्ठतम कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी ।

नन्नू सहाय (सूर)

बनारस के प्रख्यात तबला वादक श्री भैरों सहायक पौत्र (नाती) तथा बल्देव सहाय जी के पुत्र नन्नू सहाय (सूर) का जन्म सन् 1892 ई0 के लगभग काशी में हुआ था । आनुवंशिक संस्कारों से ओत-प्रोत नन्नू सहाय जी को बाल्यकाल से ही अपने पिता जी द्वारा तबले की शिक्षा मिलनी प्रारम्भ हो गयी थी । अल्पायु में ही इनका हाथ अद्भुत रूप से तैयार हो गया था। इनकी जैसी अद्भुत तैयारी तत्कालीन तबला वादकों में बहुत कम दृष्टिगोचर होती थी ।

नन्नू सहाय सूरदास थे । इनका दूसरा नाम दुर्गासहाय भी था, किन्तु इनकी ख्याति नन्नू सहाय (सूर) के नाम से ही हुई । खेद का विषय है कि 34 वर्ष की तरुणावस्था में ही इस अलभ्य कलाकार का देहावसान हो गया ।

बाचा मिश्र

प्रसिद्ध तबला वादक श्री सामता प्रसाद (गुदई महराज) के पिता महराज हरिसुन्दर उर्फ पं० बाचा मिश्र काशी नगरी के महान कलाकारों में से थे। आपके पिता श्री प्रताप महराज की बाबत बताया जाता है कि जब उन्हें तबला वादन से तृप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने विन्ध्याचल पर्वत पर बहुत दिनों तक विन्ध्यवासिनी देवी के सम्मुख तपस्या की और देवी जी ने आपको तबला में विश्व विजयी होने का वरदान दिया। वहाँ से आकर उन्होंने तबला के प्रसिद्ध उस्ताद मोदू खाँ के सम्मुख लखनऊ के कैसर बाग में बड़े बड़े ताल मर्मज्ञों तथा कलाकारों के बीच अपना तबला वादन सुनाया। वहाँ कलाकारों द्वारा आप बहुत प्रशंसित हुये, फिर आपने भारत वर्ष का भ्रमण करके तबला वादन का प्रचार किया। आपकी ख्याति सुनकर नेपाल के महाराजा राणा जंगबहादुर ने दरबारी संगीतज्ञों में आपको स्थान दिया। उन दिनों वहाँ प्रसिद्ध गायक चाँद खाँ भी महाराज के साथ ही रहते थे।

प्रताप महाराज के यशस्वी पुत्र तबला विद्वान पं० जगन्नाथ महराज हुये। जगन्नाथ जी के बड़े लड़के श्री शिवसुन्दर तथा उनके सुपुत्र श्री बलमोहन महराज भी तबले के खलीफा कहे जाते थे। इन शिवसुन्दर महराज के छोटे भाई बाचा मिश्र थे।

पं० बाचा मिश्र ने भी देवी जी की उपासना करते हुये अपनी कला की प्रगति को जारी रखा। हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध तबला वादकों में आपकी गिनती होने लगी। प्रसिद्ध तबला वादक नत्थू खाँ साहब दिल्ली वाले, अजीम खाँ बरेली वाले आपके समकालीन प्रसिद्ध तबला वादक मित्र थे और वे पं० बाचा मिश्र की प्रशंसा ही किया करते थे। लगभग 50 वर्ष की आयु में सन् 1926 ई० में आपका देहावसान हो गया। उनके पश्चात् उनके पुत्र सामता प्रसाद मिश्र (गुदई महराज) ने अपनी कला द्वारा इस घराने का नाम रौशन किया।

बीरू मिश्र

आप बनारस के पं०भगवान प्रसाद जी के सुपुत्र थे। आपका जन्म बनारस के पियरी नामक मोहल्ले में सन् 1896 ई० में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा का श्रीगणेश आपके पिता द्वारा हुआ। पिता की मृत्यु के पश्चात् पं०विश्वनाथ जी से आपको शिक्षा प्राप्त हुई और फिर कुछ समय बाद लखनऊ के आबिदहुसैन खाँ से भी तालीम मिली। बरेली के उस्ताद छुन्नू खाँ साहब से भी कुछ समय तक आप

को शिक्षा मिली ।

पं0बीरु मिश्र को विभिन्न संगीत सम्मेलनों तथा संगीत प्रेमियों से अनेक पदक भी प्राप्त हुये । संगीत क्षेत्र में आप एक चमत्कारी तबला वादक हो गये हैं ।

भैरव प्रसाद

रामापुर, काशी के प्रसिद्ध तबला वादक तथा अनोखे लाल के गुरु स्व0भैरो जी महराज(भैरव प्रसाद)के पिता बिहार प्रान्त, आरा के स्थायी निवासी थे और संगीत व्यवसाय के निमित्त पटना में भी रहा करते थे । पटना में ही सन् 1844 ई0 में भैरों जी का जन्म हुआ था । आपके पिता शिव प्रसाद जी मिश्र की शादी काशी के प्रसिद्ध सारंगी वादक स्व0 बिहारी जी मिश्र की बहन सुश्री कदंबादेवी से हुई थी । काल के कुचक्र से भैरो जी को पौने दो वर्ष की अवस्था में ही छोड़कर पिता जी स्वर्ग सिधार गये ।तत्पश्चात् विधवा माँ के साथ भैरों की को अपने एक पुत्रहीन मामा स्व0बिहारी के यहाँ काशी में आश्रय मिला । मामा जी ने आपका अपने बच्चे के समान लालन-पालन किया ।

काशी के प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्व0मिठाई लाल जी के पिता स्व0पयाग जी उस समय काशी नरेश के राज दरबार के संगीतज्ञ व नाजिर थे, अतः भैरो जी के मामा ने इनकी रुचि गायन की ओर देखकर पयाग जी के शिष्यत्व में इन्हें भेज दिया । इधर तबले की शिक्षा के लिए भैरो जी स्व0भगत महराज, जो अपने समय के धुरन्धर तबला वादक थे, के पास जाने लगे । गुरु की असीम सेवा तथा कठिन परिश्रम से भैरो जी तबले के अद्वितीय विद्वान सिद्ध हुये । आपका बाज शुद्ध बनारसी व मर्दाना था । गत व फर्द के आप विशेषज्ञ थे । वादन करते समय आपके हाथों की रफ्तार दूनी-चौगुनी होती जाती थी । चौड़े मुह वाले उस समय के दाहिने व बाये तबलों पर जब आप शहजोर हाथों से "धाप, ता और धा" लगाते थे, तो सुननेवालों के हृदय में एक दहल पैदा हो जाती थी और दुर्बल शरीरर वालों का हृदय हिलने लगता था । इसके विपरीत आपकी" तिरकिट धिरकिट" से ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मोती बिखरे जा रहे हों ।

भैरों जी को लगभग 3-4 हजार कायदे, गत, फर्द, पेशकारे, रेले व टुकड़े आदि ज्ञात थे और इन पर पूर्ण अधिकार व रियाज था । स्व0बल्देवसहाय, स्व0जगन्नाथ जी(गुदई महराज के दादा), स्व0महाबीर जी, स्व0बैजू जी, स्व0गोकुल जी, स्व0विश्नाथ जी आदि आपके समकालीन धुरंधर तबला वादक थे । स्व0भैरों

सहाय जी भी आपके शिक्षण काल में जीवित थे ।

भैरो जी ने अपने समय में लगभग 3-4 सौ शिष्य तैयार किये थे, जिनमें प्रधान पाँच शिष्यों ने अधिक ख्यातिपाई, उनके नाम हैं- मौलवी राम मिश्र, स्व0महाबीर भाट, महादेव जी मिश्र, अनोखे लाल तथा नागेश्वर प्रसाद ।मौलवी राम जी आपके ममेरे भाई व सर्वप्रथम शिष्य थे ।

भैरो जी मुख के कठोर तथा हृदय के कोमल थे । शिष्यों को हृदय खोल कर सिखाते थे । एक-एक कायदे का छह-छह माह तक रियाज कराते थे ।"तिरकिटधिरकिट" तथा "धेर धेर किटतक" के बालों का अधिक अभ्यास कराते थे । तबले के अतिरिक्त भैरों जी ध्रुपद-धमार, होली, ख्याल आदि भी खूब गाते थे और सैकड़ों चीजें उनको याद थीं । युवावस्था में आप डटकर भोजन और आठ-दस घंटे नित्य-प्रति अभ्यास किया करते थे । गीता का पाठ आपको अत्यन्त प्रिय था । मृत्यु के समय भी गीता आपके हाथ में थी । दुर्व्यसनों से दूर, सात्विक जीवन व्यतीत करने वाले भैरों जी इतने तगड़े रियाजी थे कि दो इंच मोटी लकड़ी के तबले पर रियाज करते-करते लकड़ी घिसकर आधा इन्च रह गयी थी ।

भैरो जी के तीन पुत्र व दो पुत्रियाँ हुईं, किन्तु वे सब इनके जीवनकाल में ही गुजर गये । आप 96 वर्षों तक जीवन से संघर्ष करते हुये 21 सितम्बर, 1940 को प्रातः स्वर्गवासी हो गये ।

भैरव सहाय

बनारस बाज के प्रवर्तक श्री राम सहाय जी ने जब साधु वेश धारण कर लिया, तब उन्होंने अपने भाई गौरी सहाय जी के पुत्र भैरव सहाय को अपना शिष्य बनाते हुये कहा कि यह मेरा अंतिम शिष्य है ।

बचपन से ही क्रोधी तथा तेजस्वी प्रकृति के होने से इनका नाम भैरव सहाय रखा गया । लगभग 5 वर्ष की अवस्थासे ही राम सहाय जी से तबला वादन की शिक्षा लेनी प्रारम्भ कर दी । छह वर्षों में ही मानो राम सहाय जी ने तबले की कुंजी इनको दे दी थी । आपका रियाज प्रतिदिन बढ़ने लगा । काशी के नीची बाग मुहल्ले में स्थित "आस-भैरव" की मूर्ति का प्रतिदिन पूजन तथा दर्शन करना और तबले का खूब अभ्यास करना इनके जीवन का लक्ष्य बन गया था ।

18 वर्ष की अवस्था में ही भैरव सहाय ने अपनी वादन शैली में वह बात पैदा कर दी, जिसे उनके पूर्वाधिकारी भी नहीं कर सके थे । निरन्तर अभ्यास का विशेष चमत्कार 21 वर्ष की आयु में आपको ऐसा प्राप्त हुआ कि अपने तबला

वादन से आप श्रोताओं के साथ-साथ बड़े-बड़े गुणी वृद्ध तबला वादकों को भी आश्चर्य में डाल देते थे।

नेपाल के राणा जंगबहादुर सिंह ने जब अपने यहां एक विशाल संगीत सम्मेलन का आयोजन किया था तो आप भी आमंत्रित हुये थे। वहां भारत के प्रसिद्ध सरादिये नियामत उल्ला खां के साथ जब एक दिन संगति करने का अवसर आपको प्राप्त हुआ, तो गत शुरु होते ही दोनों धुरंधर कला मर्मज्ञ एक से एक नवीन छन्द, लय तथा तोड़ों का काम दिखाने लगे। इनकी लड़न्त देखकर बड़े-बड़े गुणीजन चकित हो गये थे। नियामतुल्ला खां ने तो यहां तक कह दिया था कि "यह तो भैरव सहाय तबलिया नहीं, फरिश्ते हैं। इनकी अंगुलियों को खुदा ने आंखें दे दी हैं, इसीलिये तो साथी गवैये के सब गत-तोड़े इन्हें तत्काल दिखा देते रहते हैं।" महाराज ने प्रसन्न होकर आपको एक रायफल और तलवार भी भेंट की थी। वास्तव में भैरव सहाय जी बनारस-बाज के "प्रतिनिधि कलाकार" हो गये। इनकी विलक्षण सूझ-बूझ की सभी कलाकार प्रशंसा किया करते थे।

मसीत खां

उस्ताद मसीत खां के पिता नवाब वाजिद अली शाह के दरबारी तबलिये थे। मसीत खां का जन्म सन् 1890 के लगभग हुआ। आपके तबले की प्रारंभिक तालीम अपने पिता से ही शुरु हुई। आप फर्रुखाबाद बाज के विशेषज्ञ माने जाते हैं, जो कि पूरब-बाज का ही एक अंग है। यद्यपि उस्ताद मसीत खां को रामपुर दरबार का राज्याश्रय प्राप्त था, फिर भी आप अधिकतर कलकत्ते में ही निवास करते थे।

आपके सुपुत्र प्रो० करामत हुसैन एक उत्कृष्ट तबला वादक हैं।

मुनीर खां

भारत के मशहूर तबला नवाज उस्ताद अहमद जान थिरकवा के उस्ताद खां साहब मुनीर खां का जन्म मेरठ जिले के ललियाना गांव में हुआ था। इनके पिता उस्ताद काले खां साहब अधिकांश बम्बई नगर में रहा करते थे। मुनीर खां साहब ने 8 वर्ष तक उस्ताद वलीबख्श से तबले की शिक्षा पाई थी। इनके अतिरिक्त आपने अन्य अनेक उच्च कोटि के तबला वादकों के सान्निध्य में रहकर तबला वादन की अनेक नई-नई विशेषतायें अपने वादन में सम्मिलित कर लीं।

देश के गिने-चुने तबला वादकों में आपका प्रमुख स्थान था। आपका अधिकांश जीवन हैदराबाद तथा बम्बई में व्यतीत हुआ, तत्पश्चात् इन्हें महारा

रायगढ़ का आश्रय प्राप्त हुआ । ।।सितम्बर, 1937 ई0 को आपका शरीरांत हो गया । आपके शिष्यों में उस्ताद अहमदजान थिरकवा, निखिल घोष, शमसुद्दीन खां, गुलाम हुसैन खां तथा अमीर हुसैन खां के नाम उल्लेखनीय हैं ।

मौलवी राम मिसिर

मौलवी राम मिसिर बनारस के एक प्रख्यात तबला वादक हुये हैं । आपका जन्म सन् 1870 ई0 के लगभग हुआ था । मौलवीराम का संवर्द्धन ऐसे परिवार द्वारा हुआ, जिसमें हर समय सारंगी और तबला के स्वर गुंजायमान रहते थे । इनके पिता श्री बिहारी लाल मिश्र उच्च कोटि के तबला वादक होने के साथ-साथ सारंगी में भी दक्ष थे । पिता जी के नेतृत्व में ही मौलवी राम जी को तबले की शिक्षा प्राप्त हुई ।

युवावस्था में मौलवीराम की गणना श्रेष्ठ तबलियों में होने लगी । एक बार ग्वालियर के महराज श्री माधो सिंह सिंधिया इनके तबला वादन पर मुग्ध हो गये और इन्होंने मौलवी राम को पुरस्कृत किया । कलकत्ता के भवानी पुर संगीत सम्मेलन, मारवाड़ी एसोसियेशन आदि संस्थाओं द्वारा आपको स्वर्ण पदक प्राप्त हुये । इस समय आपकी ख्याति दिनों-दिन बढ़ रही थी । कुछ दिन तक राजा जगत किशोर जी आचार्य के सान्निध्य में भी आप रहे । अन्त में आप मुक्तागाछी ।मंगलसिंह। के महाराज के यहाँ दरबारी कलाकार नियुक्त हुये ।

मौलवी राम की वृद्धावस्था इनके छोटे भाई प्रसिद्ध सारंगी वादक मुंशीराम जी के पास काशी में ही व्यतीत हुई । आपके प्रमुख शिष्यों में अमृतलाल मिसिर, विपिन चन्द्र राय, रामकृष्ण कर्मकार तथा हरेन्द्र किशोर राय चौधरी के नाम उल्लेखनीय हैं । लगभग 70 वर्ष की आयु पाकर आप काशी में ही स्वर्गवासी हो गये ।

मौला बख्श

खाँ साहब मौला बख्श का जन्म सन् 1878 ई0 में हुआ था, ऐसा गुणी जनों का मत हैं । इनके पिता खाँ साहब रहीम बख्श खाँ तथा बाबा करम खाँ सिद्ध सारंगी वादक थे, अतः मौलाबख्श का संगीत संस्कारों से सम्पन्न होना स्वाभाविक था । आठ वर्ष की अवस्था से ही इन्हें तबले का कलाकार बनने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी । मुरादाबाद वाले मुहम्मद हुसैन खाँ द्वारा आपको तबले की तालीम मिलने लगी ।

अनवरत अभ्यास और कठोर परिश्रम तथा संयम से आप अल्प काल में ही प्रभावशाली तबला वादक हो गये। नवाब रामपुर ने इनकी कला पर मुग्ध होकर इन्हें अपने दरबार में रख लिया। कुछ दिनों तक आप अच्छन बाई, बौहर जान, और मलिका जान के यहां भी तबला वादक रहे। चूंकि उस्ताद मौला बख्श खां जन्म तथा पालन-पोषण ऐसे परिवार में हुआ, जिसमें संगीत कला परम्परा से विद्यमान थी, अतः इनके पास तबले के बोलों का एक विशाल भंडार हो गया था। इसी कारण देश के तत्कालीन बड़े-बड़े संगीतज्ञ आपका सम्मान करते थे। आपके प्रमुख शिष्यों में कलकत्ता के काली बाबू एवं गोपाल जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

राम सहाय

बनारस-बाज के प्रवर्तक स्व0 राम सहाय जी के पूर्वज मूल रूप से जिला जौनपुर के अन्तर्गत गोपालपुर ग्राम के निवासी थे। बाद में इनके पिता बनारस आकर बस गये।

राम सहाय जी का जन्म बनारस में सन् 1830 ई0 के लगभग हुआ। जब ये केवल दो वर्ष के शिशु थे, तब अपने चाचा का रखा हुआ तबला घंटों पीटते रहे और इसी छोटी सी आयु में तबले का सर्वप्रथम पाठ "धा धा दिटी धा धा तिन्ना" ठीक तरह से बोलने लगे थे। त्रिताल का ठेका भी इन्हें याद हो गया था। घर वाले इतनी छोटी अवस्था में तबले के प्रति इनकी ऐसी रुचि देखकर आश्चर्यचकित रह गये। जब ये 5 वर्ष के हुये, तब अपने चाचा के शिष्य बनाये गये और तबले की शिक्षा बाकायदे प्रारम्भ हो गयी।

9 वर्ष की अवस्था में राम सहाय इतना अच्छा तबला बजाने लगे, मानो कोई तबले का उस्ताद बजा रहा हो। ये तबले के अभ्यास में लीन रहते थे। अपने परिश्रम और लगन के फलस्वरूप राम सहाय शीघ्र ही काशी के श्रेष्ठ तबला वादक समझे जाने लगे। लखनऊ में एक बार तबला के खलीफा उस्ताद मोदू खां ने जब इनका तबला वादन सुना तो वे इनकी ओर बहुत आकर्षित हुये और राम सहाय के पिता से विशेष आग्रह करके इन्हें मांग लिया। फिर शुभ मुहूर्त देखकर उस्ताद मोदू खां ने राम सहाय को अपना शिष्य बना लिया। लखनऊ में शोर हो गया कि एक हिन्दू लड़के को उस्ताद मोदू खां तबले की तालीम दे रहे हैं, इस प्रकार वर्षों बीत गये। जब उस्ताद मोदू खां किसी कार्यवश अपनी ससुराल चले गये, तब राम सहाय अपने उस्ताद की बैठक में अकेले बैठे-बैठे रोने लगे। उस्ताद की बीवी

ने उनसे रोने का कारण पूछा, तो कहने लगे-"अब मुझे तबला कौन सिखायेगा?" ये सुनकर वे हंसने लगीं। राम सहाय को धैर्य देते हुये उन्होंने कहा-"तुम चिन्ता न करो, मेरे वालिद ने मुझे 500 गतें बताई थीं, सो मैं तुम्हें बतला दूंगी।" तब चार महीने में 500 पंजाबी गतें बीबी जी ने राम सहाय को सिखलाई। इस बीच उस्ताद मोदू खां भी पंजाब से आ गये और उनका शिक्षा का क्रम पुनः चालू हो गया। इस प्रकार लगभग 12 वर्ष तक राम सहाय जी ने मोदू खां से शिक्षा प्राप्त की। वे 20-20 घंटे दैनिक रियाज किया करते थे।

लखनऊ में नवाब शुजात उद्दौला की मृत्यु के पश्चात् वहां की नवाबी जब वाजिद अली शाह को प्राप्त हुई, तो इस खुशी में संगीत का एक बड़ा जलसा किया गया और उसमें अनेक बड़े गायक, नर्तक तथा वादक इकट्ठे हुये। इस जलसे में राम सहाय ने अपना कला-कौशल दिखाकर श्रोताओं को आनन्द विभोर कर दिया। यह जलसा सात दिन तक चला और सातों दिन रामसहाय जी का तबला वादन इसमें हुआ।

दूसरे दिन दरबार में कलाकारों की भीड़ लग गई। सभी को यह उत्सुकता थी कि देखें नवाब साहब क्या इनाम देते हैं? कहा जाता है कि इन्हें मोतियों की दो मालाएं, 4 हाथी तथा बहुत सा रुपया पुरस्कार में मिला। दूसरे दिन राम सहाय जी मोदू खां साहब के साथ काशी के लिए रवाना हो गये और हिफाजत के लिए नवाब साहब ने अपने तिलंग (घुड़सवार) को इनके साथ कर दिया।

राम सहाय जी ने अपने अनुज जानकी सहाय का नृत्य छुड़वाकर उन्हें तबले का शिष्य बनाया तथा अन्य भी कई शिष्य बनाये एवं तबले पर एक ग्रन्थ भी तैयार किया। उस ग्रन्थ का नाम उन्होंने "बनारस-बाज" रखा, जो आज उपलब्ध नहीं है। राम सहाय जी ने अपने चाचा से कहा कि अब हमारे घराने का नया बाज "बनारस-बाज" के नाम से प्रसिद्ध होगा। इस बाज को बजाने वाला ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, नृत्य, सितार आदि सबके साथ उत्तमता से संगति के अतिरिक्त स्वतंत्र वादन करके भी यश का भागी बनेगा। तभी से बनारस-बाज की नींव पड़ी।

अपने चाचा और पिताजी की मृत्यु के उपरान्त राम सहाय जी साधु-वेष में रहकर शिष्यों को विद्या-दान करते रहे। अपने भाई गौरी सहाय जी के पुत्र भैरव सहाय को उन्होंने 6 वर्ष तक स्वयं शिक्षा दी। लगभग 46 वर्ष की आयु में राम सहाय जी का स्वर्गवास हो गया। आपके शिष्यों में जानकीसहाय

प्रताप और भगतशरण, रघुनंदन, यदुनंदन और बैजू के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

श्री राम सहाय जी को गुणी लोगों से जो अलभ्य चीजें प्राप्त हुई थीं उनमें सिद्ध परन, गज परन, चक्रदार परन, पावस परन, कृष्ण परन, रासलीला परन, दुर्गा परन, हनुमान परन, काली परन, शंकर परन, गणेश परन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । समा परन द्वारा नारियल अपने आप सम पर आते ही टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता था । गज परन द्वारा पागल हाथी को वश में किया जा सकता था और सुलभ का टुकड़ा तो ऐसा था, जो संसार की किसी लय से नहीं मिलता था । बीच में कुछ समय के लिए ऐसी स्थिति भी आ गयी थी, जब एक तबला वादक की अनुचित आवाजकशी के कारण आपने तबला बजाना छोड़ दिया था, किन्तु लोगों के बहुत समझाने-बुझाने पर आपने केवल कुछ शिष्य को शिक्षा देना स्वीकार किया था, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

सामता प्रसाद (गुदई महराज)

बनारस के तबला सम्राट "परतप्पू महराज" के घराने के तबला वादकों में गुदई महराज वर्तमान समय के प्रसिद्ध तबला-वादकों में हैं । आपका जन्म सन् 1921 ई० के लगभग कबीरचौरा, काशी में हुआ था । आपकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही आपके पिता पं०बाचा प्रसाद मिश्र के द्वारा प्रारंभ हुई । पं० बाचा प्रसाद मिश्र स्वयं तबले के कलाकार थे, अतः 7 वर्ष की आयु तक इनके द्वारा गुदई महराज को व्यवस्थित ढंग से शिक्षा मिलती रही । पिताजी की मृत्यु के बाद आपकी तालीम पं० बिक्कू जी मिश्र के द्वारा आगे बढ़ती रही । अत्यन्त रियाज और अथक परिश्रम द्वारा आपने इसमें अच्छी सफलता प्राप्त कर ली , जिसके फलस्वरूप आपके पास विविध संगीत सम्मेलनों के निमंत्रण आने लगे और इस प्रकार आपकी कला और भी परिष्कृत हो गयी । बिहार के गवर्नर श्री अणे जी द्वारा आपको एक प्रमाण पत्र भी मिला था । सन् 1980 ई० में आपको भारत सरकार ने "पद्मश्री" से विभूषित किया था और दिसम्बर, 1985 में कलकत्ता के "हाफिज अली पुरस्कार" से भी सम्मानित किया गया ।

तीन ताल, रूपक, धमार और सवारी आपकी प्रिय तालें हैं। कोडरमा (बिहार) के राजा साहब आपके शिष्यों में से प्रमुख हैं ।

हबीब उद्दीन खां

समकालीन तबलियों में आप भी अपना एक विशेष स्थान रखते थे । आपका जन्म सन् 1899 ई० में मेरठ में हुआ था । आपके पिता उस्ताद शम्भू

खां साहब भी प्रसिद्ध तबलिये थे । उन्हीं से आपने लगभग 12 वर्ष की अल्पायु से तबले की तालीम लेनी प्रारम्भ की । बाद में आपने दिल्ली घराने के खलीफा उस्ताद नत्थू खां से भी सीखा ।

अजराड़ा घराने की तालीम अपने पिता और दिल्ली घराने की शिक्षा उस्ताद नत्थू खां से प्राप्त करके आप इन दोनों घरानों के तबला वादन में अत्यन्त निपुण हो गये थे । इनके अतिरिक्त अन्य घरानों का तबला भी आप बजाते थे । भारत के विभिन्न संगीत सम्मेलनों में आप आदर के साथ निमंत्रित किये जाते थे । लखनऊ संगीत सम्मेलन द्वारा आपको संगीत सम्राट की उपाधि प्राप्त हुई थी । सन् 1970-71 में आपको "संगीत नाटक अकादमी" का पुरस्कार मिला था ।

जीवन के अन्तिम दिनों में हबीब उद्दीन खां लकवे के रोग से पीड़ित रहे । 20 जुलाई, 1972 को मेरठ में ही आपका निधन हो गया ।

=====

अम्बादत्त आग्ले

मृदंगाचार्य श्री अम्बादत्त आग्ले का जन्म सन् 1920 ई0 में इन्दौर नगर में हुआ । आपके घराने की संगीत परम्परा सुदीर्घ काल से उच्च कोटि की रही है । आप भारत विख्यात मृदंगाचार्य सखराम जी आग्ले के सुपुत्र हैं । मृदंगवादन कला आपने अपने पिताजी से ही प्राप्त की । पिताजी की सत् प्रेरणा और अपने अटूट परिश्रम के द्वारा आपने 20 वर्ष की आयु में ही इन्दौर दरबार से मृदंगाचार्य पद प्राप्त करके कीर्ति अर्जित की । कई वर्षों तक इन्दौर महाराज के आश्रय में रहने के पश्चात् अम्बादात जी ने लखनऊ में मैरिस-म्यूजिक-कालेज में भी कुछ दिनों तक अध्यापन कार्य किया ।

सुप्रसिद्ध "मृदंग-केसरी" नाना साहब पानसे के घराने की वादन कला का प्रदर्शन आप भलीभाँति करते हैं । आपकी वादन में अनूठी विशेषता आपके मृदंग वादन का लचीलापन है । उत्कृष्ट लयकारी और बोलों की सफाई देखकर बड़े-बड़े गुणी भी आपसे प्रभावित हुये बिना नहीं रहते ।

वर्तमान समय में आप इंदौर में रहते हैं और जब तब भारत के विभिन्न स्थानों पर अपनी कला का प्रदर्शन करके कला-प्रेमियों को तृप्त करते रहते हैं ।

अयोध्या प्रसाद

पखावज के धुरंधर वादक स्व0पं0 गया प्रसाद जी के सुपुत्र पं0 अयोध्या प्रसाद को पखावज का प्रशिक्षण अपने दादा ।जो कि कुदऊ सिंह जी के अनुज थे। से प्राप्त हुआ । उनकी मृत्यु के पश्चात् पिता श्री गया प्रसाद जी से शिक्षा मिली ।

गत कई दशाब्दियों से पं0 अयोध्या प्रसाद जी का पखावज वादन दिल्ली तथा लखनऊ के आकाशवाणी-केन्द्रों से होता रहता है । राष्ट्रीय कार्यक्रमों में भी आप कई बार आ चुके हैं और विभिन्न उत्कृष्ट गायक-वादकों के साथ संगति करके आपको अपूर्व ख्याति मिली थी।आपकी दृष्टि में संगति की आदर्श पद्धति का निर्वाह तभी संभव है, जब कि दोनों कलाकार एक दूसरे के स्वभाव से परिचित हों, और यह पहचान साथ-साथ

पं० अयोध्या प्रसाद की धारणा थी कि जब तक पखावजी को सौ-दो सौ ध्रुवपद याद न हों, तब तक वह अपने कार्य में पूर्ण दक्ष नहीं हो सकता । स्व० उस्ताद वजीर खां एवं नवाब छम्मन साहब से प्राप्त हुये अनेक ध्रुवपदों का संग्रह अयोध्या प्रसाद जी के पास था तथा पूर्वजों की डायरी के रूप में प्राचीन ध्रुवपदों का एक विशाल और अद्वितीय संग्रह भी आपके पास सुरक्षित था ।

पं० अयोध्या प्रसाद जी मृदंग वादन परम्परा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । आपके चार पुत्र-शीतला प्रसाद, नारायण प्रसाद, कुन्दन प्रसाद और रामजी दास हुये । इनमें से नारायण प्रसाद तथा कुन्दन प्रसाद पर अयोध्या प्रसाद ने वर्षों परिश्रम करके उन्हें पूर्वजों की थाती सुरक्षित रखने योग्य बनाया, किन्तु काल के निर्मम प्रहार से दोनों ही अल्पायु में दिवंगत हो गये । इस कारण पंडित जी का हृदय विदीर्ण हो गया ।

आपका स्वभाव बड़ा सरल था, इसलिए विद्वता की आभा सामान्य व्यक्ति को सहज ही स्पष्ट नहीं हो पाती थी, किन्तु गुण-ग्राहकों से आप सदैव घिरे रहते थे । आपके वर्तमान यशस्वी शिष्यों में आचार्य डा० कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति का नाम उल्लेखनीय है । 26 दिसंबर, 1977 को 91 वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करके पं० अयोध्या प्रसाद जी का स्वर्गवास हुआ ।

गणेश चतुर्वेदी

ब्रज भूमि के प्रसिद्ध वल्लभ कुल के मृदंग और तबला वादक श्री गणेश चतुर्वेदी का जन्म संवत् 1921 वि० में हुआ । मथुरा निवासी प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री चंदन जी चौबे के साथी होने के कारण मृदंग और तबला वादन में आपको अद्वितीय ख्याति प्राप्त हो गयी थी । वल्लभ कुल के गोस्वामी संगीत प्रेमी प्रायः आपको अपने साथ ही रखते थे ।

तबला और मृदंग की कला में आपने ब्रज भूमि के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी ख्याति अर्जित की । स्वभाव से मधुरभाषी तक हास्य रस के प्रेमी होने के कारण आप प्रसन्न मुद्रा में रहते थे । पौष, सम्वत् 1996 वि० को 76 वर्ष की अवस्था में आपका स्वर्गवास हो गया। कवि दत्त जी द्वारा लिखित कवितांश, जो आपके निधन पर लिखा गया था, इस प्रकार है :-

वल्लभीय बालकों के सुघर खिलौना खरे,
हाव-भाव भरे , हास्य-रस के अवतार थे,
दर्शनीय दिव्य अंग, मूर्ति गणनायक सी,
मधुर मृदंग के "गणेश" गतिकार थे ।

गुरुदेव पटवर्धन

प्रसिद्ध मृदंगाचार्य पं0 गुरुदेव जी पटवर्धन प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्व0 विष्णु दिगंबर पलुस्कर के साथी और मित्र थे । इनके पूर्वज पटवर्धन बंधु मिरज के वेदपाठी ब्राह्मण थे, अतः गुरुदेव भी बाल्यावस्था से ही संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करके वेद अध्ययन की ओर अग्रसर हुये । कुछ समय बाद आपको तबला सीखने की इच्छा हुई, तो आपने मिरज में श्री रामभाऊ गुरव से तबला की प्रारंभिक शिक्षा लेनी आरंभ कर दी ।

जब एक दिन गुरुदेव ने श्री रामभाऊ से तालीम को आगे बढ़ाने के लिए प्रार्थना करते हुये कहा कि मुझे तबला में अब कुछ आगे बताइये, क्योंकि मैं इस कला में प्रवीणता प्राप्त करना चाहता हूँ, तो रामभाऊ ने कुछ क्रोधपूर्ण मुद्रा में ताना देते हुये कहा कि यह ऐसी कला नहीं है, जिसमें चाहे जो कोई पारंगत हो जाय । तुम ठहरे पंडा-पुरोहित । अपना काम करो, इस झगड़े में पड़कर क्या लोगे । उनका यह ताना सुनकर गुरुदेव के हृदय पर ऐकऐसी चोट लगी जिसने इन्हें कलाकार बनने के लिए मजबूर कर दिया । आपने तुरन्त अपने गुरु रामाभाऊ से कहा कि "अच्छा अब मैं आपसे कुछ नहीं पूछूंगा तथा मिरज के बाहर जाकर इस कला को प्राप्त करके ही आपको मुंह दिखाऊंगा और प्रमाणित कर दूंगा कि पुरोहित और पंडे भी परिश्रम द्वारा कलाकार हो सकते हैं ।"

उन दिनों नाना साहब पानसे के प्रथम शिष्य पं0वामनराव चांदवड़कर हैदराबाद दरबार में मुलाजिम थे जिनकी मृदंग और तबला वादन में बड़ी अच्छी तैयारी थी । गुरुदेव पटवर्धन उनके पास हैदराबाद को चल दिये और उन्हें तबला सीखने की अपनी उत्कट अभिलाषा के साथ-साथ अपनी प्रतिज्ञा भी बताई कि अब तो मैं तबला सीखकर ही घर जाऊंगा । पं0 वामनराव जी ने थोड़ी सी जांच करके यह मालुम कर लिया कि यह विद्यार्थी तबला में पारंगत हो सकता है, अतः इनकी शिक्षा प्रारंभ कर दी । बहुत समय तक परिश्रम करते हुये एवं गुरु सेवा कार्य निभाते हुये आपने तबले में अच्छी उन्नति कर ली ।

सन् 1901 ई0 में, जब लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना हुई तो श्री विष्णु दिगंबर पलुस्कर के अनुरोध से पं0गुरुदेव पटवर्धन वहां पर विद्यार्थियों को तबला-शिक्षा देने लगे । इस विद्यालय में पलुस्कर जी का और इनका अति निकटतम संबंध रहा । विद्यालय के बाहर भी जब कहीं पलुस्कर जी का संगीत कार्यक्रम होता तो तबले की संगति गुरुदेव पटवर्धन ही करते । यहां पर आपने बहुत से शिष्य तैयार किये जिनमें पं0 बापू राव गोखले का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने इस विद्या में आगे चलकर बहुत नाम पाया । सन् 1903 में "मृदंग-तबला वादन-पद्धति" आपने प्रकाशित कराई और फिर इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित हुआ ।

सन् 1914 ई0 के लगभग आप गांधर्व महाविद्यालय, लाहौर को छोड़कर मिरज आ गये और अपने घर पर ही निवास करने लगे । गुरुदेव जी बड़े सरल स्वभाव, सात्विक प्रकृति के मितभाषी ब्राह्मण थे । आवश्यकता से अधिक बातें वे किसी से नहीं करते थे । अंत में सन् 1919 ई0 में, मिरज में ही आपका शरीरांत हो गया ।

गोविन्द राव देव राव
(बुरहानपुरकर)

श्री गोविंद राव जी बुरहानपुरकर मध्य प्रदेश के बुरहानपुर नामक नगर के निवासी थे । आपकी गत तीन पीढ़ियां इसी नगर में रहती आई है, अतः आपकी प्रसिद्धि गोविन्दराव बुरहानपुरकर के नाम से हुई ।

परिवार की गरीबी के कारण आपको स्कूली शिक्षा अधिक प्राप्त न हो सकी । जैसे तैसे मराठी फाइनल कर सके, किन्तु संगीत के प्रति आपकी रुचि बाल्यकाल से ही थी । इसके पिताजी संगीतज्ञ थे, अतः 5 वर्ष की आयु से ही इन्हें संगीत सीखने का प्रोत्साहन मिला । 15 वर्ष तक आप मृदंग (पखावज) का ही अभ्यास करते रहे । साथ ही इन्दौर तथा बुरहानपुर में तबले का अभ्यास भी किया । स्वर्गीय हर-हर बुवा कोपरगांवकर के पास आपने ध्रुपद-धमार आदि का भी अभ्यास किया किन्तु अधिकतर झुकाव मृदंग तथा तबला-वादन पर ही रहा । मध्यांतर काल में हैदराबाद के स्व0पं0वामनराव जी के पास भी कुछ समय तक इन्होंने तबले की शिक्षा प्राप्त की । अन्त में नाना पानसे के प्रमुख शिष्य सखाराम जी के ये शिष्य हो गये और उन्होंने इन्हें मृदंग वादन कला में पारंगत कर दिया ।

अब   अब श्री गोबिन्दराव एक उत्कृष्ट मृदंग तथा तबला वादक हो गये थे । इन्हीं दिनों आप आचार्य विष्णु दिगंबर पलुस्कर के संपर्क में आये और उनके साथ समस्त भारत के अतिरिक्त बर्मा, सीलोन आदि देशों की यात्रा करने का इन्हें सुयोग मिला । आचार्य पलुस्कर जी से ही प्रेरणा पाकर इन्होंने "मृदंग-तबला-वादन सुबोध" के तीन भाग तथा "भारतीय ताल मंजरी" पुस्तकें लिखीं, जो प्रकाशित हो गयीं ।

सन् 1929 ई0 में अहमदाबाद में एक संगीत-सम्मेलन हुआ जिसमें स्व0 सरदार बल्लभ भाई पटेल के द्वारा आपको "मृदंगाचार्य" की उपाधि प्राप्त हुई । गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली के सुवर्ण-जयंती महोत्सव के अवसर पर गोबिन्दराव गुरु जी को भारत के राष्ट्रपति डा0राजेन्द्र प्रसाद जी ने सम्मानित किया व पुरस्कृत किया । मार्च, सन् 1955 में "संगीत-नाटक-अकादमी" की ओर से पुनः आपका उच्च सम्मान किया गया ।

गुरु जी ने प्रसिद्ध नृत्यकार श्री उदय शंकर के "कल्पना" चित्र में तथा सरकारी फिल्म्स डिवीजन में सफल पखावज वादन किया था । आपका प्रिय राग तोड़ी तथा प्रिय ताल धमार था । हिज मास्टर्स वायस कम्पनी ने आपके मृदंग-वादन के कुछ ग्रामोफोन-रिकार्ड भी प्रकाशित किये थे ।

20 जून, 1957 को सायंकाल 4 बजे भारत के वयोवृद्ध मृदंग वादक पं0 गोबिन्द राव टेंबराव गुरु जी का निधन हो गया । मृत्यु के समय आपकी आयु 82 वर्ष की थी ।

घनश्याम पखावजी

श्री नाथद्वारा के प्राचीन प्रसिद्ध पखावजी शंकर लाल जी के सुपुत्र श्री घनश्याम पखावजी का जन्म संवत् 1926, ज्येष्ठ कृष्णा 8 को हुआ । जब आपकी अवस्था 7 वर्ष की थी, तब से ही आप श्रीनाथ जी के मंदिर में अपने पिताजी के साथ मृदंग वादन सुना करते थे ।फलतः कलापूर्ण संस्कार आपके हृदय में भी अंकुरित हो गये। 13 वर्ष की आयु में आपका विवाह हो गया और आपने पिताजी से मृदंग वादन की नियमित शिक्षा भी आपको प्राप्त होती रही । परिणाम स्वरूप मृदंग वादन में आपने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली । आपके काका श्री खेम लाल जी मृदंग वादन कला में अत्यन्त प्रवीण थे और मात्राओं के भेद तथा तालों के विषय में अच्छी जानकारी रखते थे । इन्होंने "मृदंग सागर" नाम से एक पुस्तक लिखनी आरम्भ की, जिसमें बहुत सी तालों

रूप रखा और बरन लिखे गये । किन्तु भाग्य चक्र से संवत् 1934 में ही इनका शरीरांत हो गया और वह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। खेमलाल जी की मृत्यु के समय वे 9 वर्ष के ही थे, मृत्यु शोक के धक्के से घनश्याम जी के पिता का मस्तिष्क कुछ विकृत सा हो गया अत: वह पुस्तक ज्यों की त्यों रखी रही । 5 वर्ष तक भी जब इनके पिता का चित्त भ्रम दूर न हुआ, तब इनकी माता जी ने उनको सम्मति दी की आप कुछ समय के लिए तीर्थ यात्रा करें तो संभव है कुछ लाभ हो । तब यात्रा का विचार निश्चित हुआ और सकुटुम्ब आप लोग यात्रा को चल दिये । इस यात्रा में स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े गुणी और संगीत प्रेमियों का इनको सान्निध्य प्राप्त हुआ। कई जगह से भेंट में वस्त्राभूषण प्राप्त हुये और परिचय बढ़ा । इस यात्रा से घनश्याम जी के पिता को तो लाभ हुआ ही साथ ही आपको भी बड़े-बड़े गुणी जनों की कला सुनने और देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ ।

अंत में संवत् 1950 में आपके पिता जी का भी निधन हो गया और "मृदंग-सागर" पुस्तक को पूर्ण करने की इच्छा उनके हृदय में ही रह गयी । इसके पश्चात् श्री घनश्याम जी ने अपने पूर्वजों के ज्ञान का लाभ उठाकर इस ग्रन्थ को पूर्ण करके संवत् 1968 में प्रकाशित किया ।

घनश्याम जी के पश्चात् आपके सुपुत्र श्री पुरुषोत्तम पखावजी ने श्री नाथद्वारा-मंदिर में पखावजी के रूप में सेवा करते हुये अपने पूर्वजों की कला को सुरक्षित रखा है ।

पं0 चतुर लाल

पं0 चतुरलाल का विश्वास था कि बोलों का निकास सफाई से हो और मुश्किल गतों के प्रस्तुतीकरण में खूबसूरती रहे । वादन का उनका ढंग निराला था । सदा प्रसन्न और मस्त रहने वाले पं0 चतुरलाल की उँगलियाँ सदैव तालमय नर्तन करती रहती थीं । वे जैसे ताल-लय के सागर में डूबे रहते थे,हर समय मस्त रहते थे ।

पं0 चतुरलाल का जन्म उदयपुर में हुआ । आठ वर्ष की आयु में उन्होंने स्व0 पं0 नाथू प्रसाद जी से शिक्षा ग्रहण करनी आरंभ की । 20 वर्ष की आयु में उन्होंने उस्ताद हाफिज मियाँ साहब से प्रशिक्षण लेना शुरु किया जो अंत तक जारी रहा । उस्ताद थिरकवा खाँ से भी उन्होंने बहुत कुछ सीखा और पं0 रविशंकर से उन्होंने तबला संगति का तरीका सीखा । दक्षिण भारत के विद्वानों से भी उन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया । सन् 1948 में वे आकाशवाणी, दिल्ली में कलाकार के रूप में कार्य करने लगे ।

उन्होंने 1952 में पं0 ओंकार नाथ ठाकुर के साथ काबुल, 1955 में उस्ताद अली अकबर खाँ के साथ अमरीका, 1957 में पं0 रविशंकर के साथ अमरीका, कनाडा एवं यूरोप, 1960 में शिष्टमंडल के साथ मंगोलिया एवं रूस, 1961 में श्रीमती शरनरानी के साथ आस्ट्रेलिया व यूरोप तथा 1964 में अपने भ्राता विख्यात सारंगी वादक पं0 राम नारायण के साथ यूरोप की यात्रा की । आपके स्वतंत्र वादन और संगीत के कई रिकार्ड निकल चुके हैं । पं0 चतुर लाल ने देश-विदेश में काफी ख्याति अर्जित की ।

गुणी वादक पं0 चतुर लाल 40 वर्ष की आयु में ही 14 अक्टूबर, 1965 को दिवंगत हो गये ।

जहाँगीर खाँ

देश के मूर्धन्य तथा वयोवृद्ध तबला वादक इंदौर निवासी उस्ताद जहाँगीर खाँ के निधन से भारतीय संगीत के परिष्कृत व्यक्तित्व का लोप हो गया । कठोर परिश्रम एवं सुदीर्घ तपस्या के द्वारा प्राप्त तबला वादन की कला के प्रचार एवं प्रसार में उनके प्रयास स्मरणीय रहेंगे ।

विद्याध्यापन में सर्वदा सक्रिय रहकर उस्ताद जहाँगीर खाँ ने विशाल शिष्य समुदाय को तबला वादन की शिक्षा दीक्षा प्रदान की । तबला वादन की कठिन एवं परिश्रमपूर्ण कला को सुरक्षित रखकर विकासोन्मुखी करने की ओर वे सदा ही प्रयत्नशील रहे । देश के विभिन्न स्थानों में तथा आकाशवाणी केन्द्रों पर उस्ताद जहाँगीर खाँ के शिष्य कार्यरत हैं । उनके शिष्यों की संख्या 400 के लगभग है ।

उस्ताद जहाँगीर खाँ का जन्म वाराणसी में सन् 1864 ई0 में हुआ तथा उनका बाल्यकाल पटना में व्यतीत हुआ । उनके पिता श्री अहमद खाँ स्वयं विख्यात तबला वादक थे तथा "पूरब-बाज" तबला वादन प्रणाली में सिद्धहस्त रहे । इसी कारण उस्ताद जहाँगीर खाँ भी पूरब बाज वादन प्रणाली में विशेषता रखते थे । अपने पिता के अतिरिक्त पटना में तत्कालीन प्रसिद्ध तबला वादक उस्ताद मुबारक खाँ से उन्होंने तबला वादन की शिक्षा प्राप्त की । लखनऊ के प्रसिद्ध तबला वादक उस्ताद आबिद हुसेन खाँ से उस्ताद जहाँगीर खाँ ने लखनऊ वादन शैली का विशेष प्रशिक्षण प्राप्त किया । अतः पूरब बाज व लखनऊ बाज में निष्णात थे । दोनों के स्पष्टतः वादन का प्राविधिक स्वरूप व अनुकूल साथ संगति उनके वादन के प्रमुख गुण थे ।

होल्कर राज्य के शासन काल में इन्दौर नगर संगीत कला का केन्द्र था । महाराजा तुकोजीराव होल्कर संगीत के प्रशंसकर्ता थे । प्रति वर्ष होलिकोत्सव का आयोजन होता था जिसमें संगीत के मूर्धन्य कलाकार इंदौर राज दरबार में निमंत्रित होते थे । परिणामत: उस्ताद जहांगीर खां इंदौर की ओर आकृषित हुये उन्हें होल्कर राज्य में तबला वादक के पद पर स सम्मानित किया गया । इंदौर के प्रति उस्ताद जहांगीर खां सदैव निष्ठावान रहे व आजीवन इंदौर में ही निवास करते हुये तबला वादन की कला का प्रसार करते रहे ।

अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों में उस्ताद जहांगीर खां ने तबला वादन कला के नैपुण्य का परिचय दिया। आकाशवाणी इन्दौर-भोपाल से उनके स्वयं तबला वादन के तथा साथ संगति के अनेक कार्यक्रम प्रसारित हुये । स्वयं तबला वादन एवं साथ संगति दोनों ही क्रियाओं में वे सिद्धहस्त थे ।

बोलों की स्पष्टता एवं गायन वादन के अनुरूप साथ संगति उनके वादन कला की विशेषता थी । उनकी साथ साथ संगति कार्यक्रम के सदद ही अनुकूल रही । स्व0 उस्ताद रजबअली खां तथा वर्तमान सुविख्यात गायक डा0 कृष्णराव शंकर पंडित के साथ उन्होंने आकाशवाणी कार्यक्रमों में साथ संगति की थी । सुविख्यात वादकों के साथ भी उन्होंने कुशलतापूर्ण साथ-संगति करके ख्याति अर्जित की ।

भारतीय संगीत कला के क्षेत्र में उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करते ह हुये उन्हें महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सन् 1959 ई0 में सम्मानित किया गया । भारतीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा उन्हें फेलोशिप प्रदान की गई। इंदिरा संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के द्वारा उस्ताद जहांगीर खां को "डाक्टर आफ म्यूजिक" की उपाधि प्रेषित की गयी । "बंबई संगीत समाज" के द्वारा भी सम्मानित हुये ।

स्व0 श्री चतुरलाल उस्ताद जहांगीर खां के शिष्य के शिष्य थे । वर्तमान शिष्यों में से सर्व श्री नारायण राव एवं महादेव राव इंदूरकर, श्री खरगौनकर आदि नवीन पीढ़ी के कलाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

उस्ताद जहांगीर खां के विचार आशावादी थे। वर्तमान कठिन जीवन प्रणाली में विद्यार्थियों के लिए रियाज करना संभव नहीं है, यह उनका निश्चित अभिमत था । इस वयोवृद्ध ताल-मनीषी की मृत्यु 11 मई, 1976 को हो गयी ।

जाकिर हुसैन

जाकिर हुसैन का जन्म 9 मार्च, 1952 को बंबई में हुआ । वह कलाकार लयमय वातावरण में ही पला । पिता उस्ताद अल्लारखा विश्वविख्यात तबला-वादक होने के नाते बालक जाकिर का खेल ही जैसे ताल-लय का विषय था । जाकिर हुसैन ने 5 वर्ष की आयु से ही अपने पिता से तबला वादन सीखना शुरु किया । स्कूली पढ़ाई के साथ-साथ तबले का अभ्यास भी जारी रहा । इसके अलावा इस कलाकार को पं० रवि शंकर एवं उस्ताद अली अकबर का वरद हस्त मिला । जाकिर की मान्यता है कि इन दिग्गज कलाकारों ने ही उसे संगति की कला सिखाई ।

जाकिर हुसैन देश भर के कलाकारों के साथ संगति कर चुके हैं । इसके अलावा इसी युवा कलाकार ने महाविष्णु, जान मैकोगलिन, जार्ज हैरिसन, जान हार्डी आदि पश्चिमी संगीतज्ञों के साथ भी संगति की है । इस प्रकार इस कलाकार ने इस बात को असत्य सिद्ध कर दिया कि पूर्व और पश्चिम कभी मिल नहीं सकते ।

जाकिर हुसैन आस्ट्रेलिया तथा यूरोपीय देशों की यात्रा कर चुके हैं । अभी वह कलाकार कैलीफोर्निया (अमरीका) में अली अकबर कालेज आफ म्यूजिक से सम्बद्ध है । इसके अलावा जाकिर हुसैन विदेशों में भाषण प्रदर्शन भी कर चुके हैं ।

जोध सिंह

मध्यकालीन मृदंग वादकों में कुदऊ सिंह एक विख्यात पखावजी हो गये हैं । इनके समकालीन पखावजियों में बनारस के बाबू जोधसिंह का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है । प्रदर्शन और प्रसिद्धि से दूर रहकर एकांत साधना को आप विशेष महत्व देते थे, अतः इधर-उधर जाकर रईसों या राजाओं को सुनाने तथा संगीत महफिलों में जाकर प्रदर्शन करने से आप यथासंभव बचते ही रहते थे । किन्तु नियम पूर्वक वीणापाणि सरस्वती देवी के सम्मुख मृदंग चरनों का दैनिक पाठ किया करते थे । इस प्रकार आप एक शांत प्रकृति के संत पुरुष थे । प्रसिद्ध पखावजी नाना साहब पानसे के गुरु होने का सौभाग्य आपको प्राप्त था ।

श्री कुदऊसिंह का बाज जितना कठिन था, जोधसिंह का उतना ही सीधा व सरल था। इसका एक उदाहरण श्री भरत व्यास। जो कि महाराज कुदऊसिंह के घराने के शिष्य हैं। इस प्रकार बताया करते हैं - धड़न्न, तड़न्न, द्रे द्रे धिलांग, कुद्रे, धुमकिट, धिट, तिट, धेत्ता, तड़धा, धुंगा, तक्का आदि ऐसे उखाड़-पछाड़ के बोल कुदऊसिंह के हैं, किन्तु जोधसिंह जी के "किटतक, तिरकिटतका, धातिकूधान, किटधुं, नगतिरकिट-तक, गद्दी, गदिगन, धिटतिट ताधिड़नग, नकिटतगन, किड़नग, नगधे, धिरकिटधे, किड़नाधित्ता, कुधिता" आदि बोलों में कोमलता है। इस प्रकार उक्त दोनों कलाकारों के बोलों में अलग-अलग विशेषताएं पाई जाती हैं।

एक बार नाना साहब पानसे कीर्तन मंडली के साथ काशी पधारे। एक मंदिर में उनकी मंडली का कीर्तन हुआ, तो उनके विचित्र मृदंग वादन को सुनकर निस्पृति श्रोताओं की भीड़ बढ़ने लगी। उन दिनों नाना पानसे की बाल्यावस्था थी, अतः इस बालक की प्रतिभा पर सभी मुग्ध थे। जब कुछ कला प्रेमियों ने बाबू जोधसिंह की बाबत भी इनसे जिक्र किया और उनके मीठे बोलों की प्रशंसा की तो नाना साहब पानसे उत्सुकतापूर्वक बोलेक, "ऐसे गुणी को तो मैं जरूर सुनना चाहता हूं।" जब नाना साहब को यह बताया गया कि बाबू जी तो यहां आकर नहीं बजायेंगे, क्योंकि वे एकांतप्रिय और प्रदर्शनों से दूर रहते हैं, तब नाना पानसे अपने पिता जी से आज्ञा लेकर उनके घर जाने को तैयार हो गये। उस समय जोधसिंह जी नियमानुसार सरस्वती देवी की पूजा करके मृदंग वादन आरंभ करने ही वाले थे। समस्त घर सुगंधित द्रव्यों-धूप, अगरबत्ती, चन्दन आदि से महक रहा था। ऐसे शुद्ध वातावरण में जब नाना पानसे पहुंचे और अपने साथियों के साथ उनका मृदंग वादन सुना तो ऐसा लगा मानो घनघोर वर्षा हो रही है। उनके बोलों में कभी बादलों की गरज मालूम होती तो कभी बिजली की चमक। इस प्रकार कई घंटे तक आपका विचित्र मृदंग वादन सुनकर सब लोग आनंदविभोर हो गये। तब नाना पानसे ने आत्मविभोर होकर सरल भाव से कहा- "गुरुदेव, ऐसी पखावज मैंने आज तक नहीं सुनी। अपने भंडार से इस सेवक को भी कुछ भिक्षा प्रदान कीजिये।" यह कहते हुये नाना साहब ने बाबू जोधसिंह के पैर पकड़ लिये। तब बाबू जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके उन्हें अपना शिष्य बना लिया और अपनी कला का प्रसाद देकर उन्हें आशीर्वाद दिया। बाबू जोध सिंह की प्रौढ़

और प्राचीन कला प्राप्त करके नाना साहब पानसे उस समय ऐसे चमके कि उत्तर और दक्षिण भारत में उनकी जोड़ का एक भी पखावजी नहीं था। आपका शिष्य समुदाय बहुत विशाल है, जिसमें स्व0 सखाराम जी, गोविंद राव-देवराव गुरु जी, मक्खन जी पखावजी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि बाबू जोधसिंह के शिष्य नाना साहब पानसे के पांच सौ शिष्य थे, इसीलिए उनको "पानसे" कहा जाता था। वास्तव में दक्षिण में मृदंग विद्या के प्रसार का श्रेय आपको ही है।

बाबू जोधसिंह के जन्म तथा मृत्यु संवत् के ठीक-ठीक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु अनुमानतः आप उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुये थे।

जोरावर सिंह

ये ग्वालियर दरबार के प्रसिद्ध तबला वादक थे तथा कुदऊसिंह के समकालीन होने के साथ-साथ उनके प्रगाढ़ मित्र भी थे। ये मुख्यतः ख्याल गायकों की संगति बड़े मधुर और आकर्षक ढंग से किया करते थे। इनके बोल स्पष्ट होने के साथ-साथ बड़े माधुर्यपूर्ण होते थे। ख्याल गायकों की संगति करने में उस समय जोरावर सिंह की बड़ी प्रसिद्धि थी। इनका स्वभाव बड़ा सरल और विनम्र था, अतः महाराज जयाजी-राव इन पर विशेष कृपा दृष्टि रखते थे। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ग्वालियर में ही आपका शरीरांत हो गया।

तारा नाथ

"आज विश्व ताल के प्रति सजग है। भारत ताल और तालमय वाद्यों का घर है। भारत में 500 से अधिक ताल हैं, जिनमें आज 12-13 लोकप्रिय हैं। इस वाद्य की अपनी संकेत प्रणाली है। इसके चार घराने हैं- दिल्ली, अजराड़ा (मेरठ), पंजाब और पूरब। ताल ठेका से भिन्न हैं और दीपचंदी वास्तव में ठेका है, ताल नहीं।" ये विचार तबला वादक पंडित तारा नाथ के हैं।

उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय ताल पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन में लीन पं0 तारानाथ अभी तबला वादन के लिए शीघ्रलिपि तैयार करने में लगे हुये हैं। ताल और लय के आपके विश्लेषण से ऐसा लगा कि पं0 तारानाथ का जीवन संगीत की सेवा के लिए समर्पित है।

पं0 तारानाथ ने बताया कि यह प्रणाली पूर्ण रूप से गणित पर आधारित है। इसमें काल, मार्ग (पेशकारा), क्रिया, अंग (विभाजन) कला

।ताली और प्रदर्शन।, लय ।मात्रा का समय।, यति ।मृदंग, गोपुच्छा, समा आदि। और विस्तार ।जो बोधगम्य हो। का महत्व है । प्रसिद्ध तबला वादक ने इस बात पर जोर दिया कि अंगों का कायम रखना अत्यावश्यक है ।

पं०तारानाथ का जन्म सन् ।914 ई० में मंगलोर।दक्षिण कनारा। में हुआ । कला और साहित्य के पारिवारिक वातावरण में पं० तारानाथ ने कला के विभिन्न पक्षों की शिक्षा पाई, किन्तु तबला वादन के प्रति उनका रुझान विशेष रहा । चित्रकारी एवं तबला सीखने की उत्कट आकांक्षा उन्हें सन् 1932 में बम्बई ले आई, जहाँ उन्होंने सर जे०जे० स्कूल आफ आर्ट्स में ललित कला में डिप्लोमा हासिल करने के साथ-साथ चि० सुबाराव जी अंकोलेकर, स्व० लक्ष्मण भास्कर खपू जी पर्वतकर एवं स्व० फैजाब मुहम्मद से तबला शिक्षा जारी रखी । बाद में उन्होंने उस्ताद शम्सुद्दीन खाँ से मार्गदर्शन प्राप्त किया ।

पं० तारानाथ के लिए तबला आत्माभिव्यक्ति का एक साधन है। उनकी भारतीय संगीत की दोनों रूपों ।उत्तर एवं दक्षिण भारतीय ताल पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन। पर वार्ता प्रसारित हो चुकी है । वे भारतीय विद्या भवन में अध्यापक रहने के बाद पंडित रविशंकर की संस्था "किन्नर" में भी तबला शिक्षक रहे हैं । सम्प्रति तबला एवं मृदंग पर पुस्तकें लिखने में व्यस्त हैं ।

नाना पानसे

कला का अंकुर यदि बाल्यकाल में ही किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति के हृदय में प्रकट हो जाय तो वह परिश्रम का बल पाकर अवस्थानुसार एक दिन निश्चयात्मक रूप से फल-फूल उठता है । नाना पानसे का जीवन इस तत्व के प्रकटीकरण का साक्षी है ।

वे इंदौर के निवासी थे । किशोरावस्था में एक बार इन्हें कीर्तन मंडली में अपने पिताजी के साथ काशी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहाँ इनकी भेंट एक राजपूत ब्राह्मण से हुई, जिसका नाम जोधसिंह था। देवालयों में राम चरित मानस का पाठ, भजन कीर्तन आदि इस ब्राह्मण के जीविकोपार्जन के साधन थे । शेष समय एकांत पखावज वादन में व्यतीत होता था । नाना साहब इस ब्राह्मण के पखावज वादन को सुनकर बड़े प्रभावित हुये और उनके हृदय में इस कला को सीखनेकी प्रबल उत्कंठा जागृत हो गयी । अपने पिताजी से विशेष आग्रह करके पानसे ने इस ब्राह्मण से पखावज वादन की

शिक्षा पाने की स्वीकृति प्राप्त कर ली और समस्त शक्तियों को केन्द्रित करके कला की आराधना में जुट गये । मौखिक शिक्षा के अतिरिक्त लगभग 6 घंटे तक आप दैनिक क्रियात्मक अभ्यास किया करते थे । काशी में नाना साहब का यह क्रम लगभग बारह वर्ष तक अविरल गति से चला । तपश्चर्या फलीभूत हुई और नाना साहब पानसे पखावज वादन में पूर्ण रूपेण दक्ष होकर अपने निवास स्थान को लौट पड़े ।

इंदौर आने पर नाना ने प्राप्त विद्या में अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक आवश्यक संशोधन किये । गणित की दृष्टि से जिन परन और बोलों में कुछ न्यूनता रह गयी थी, उन्हें शास्त्र मर्यादानुसार शुद्ध किया । स्वयं भी बहुत से नवीन ठेकों, बोलों, टुकड़ों, परनों आदि की रचना की और उन्हें अपने शिष्य वर्ग को सिखाया । नाना साहब उद्भट और अद्वितीय वादक होने के साथ-साथ उच्च कोटि के शिक्षक भी थे । इनका शिक्षा देने का ढंग बड़ा सरल और सुबोध था इसीलिए पानसे का शिष्य समुदाय विशाल एवं विस्तृत है । वे पखावज के अतिरिक्त तबला वादन और नृत्य कला में भी प्रवीण थे। अपने कुछ शिष्यों को इन्होंने नृत्य की शिक्षा भी दी । निजाम सरकार की इच्छानुसार वामनराव चांदवड़कर को आपने तबला की शिक्षा देकर प्रवीण कर दिया । अपने एक पुत्र तथा लड़की के पुत्र को भी आपने अपनी कला में पारंगत कर दिया था।

नाना साहब निरभिमानी और सरल स्वभाव के व्यक्ति होने के साथ-साथ बड़े संतोषी जीव थे । आपको इंदौर का राज्याश्रय प्राप्त था । योग्यतानुसार राज्यकोष से आपको बहुत कम वेतन मिलता था, इस पर भी इन्हें संतोष न था । एक बार ग्वालियर नरेश महाराज जयाजीराव इंदौर आये । उन्होंने नाना साहब का पखावज वादन सुना और अत्यन्त प्रभावित हुये । इंदौर नरेश श्री तुकोजीराव होल्कर से उन्होंने नाना साहब को ग्वालियर ले जाने की मांग की । इंदौर नरेश ने यह प्रश्न नाना साहब की मर्जी पर छोड़ दिया, परन्तु नाना साहब ने अधिकाधिक आर्थिक प्रलोभन होते हुये भी ग्वालियर जाने के लिए अपनी स्वीकृति नहीं दी । इस घटना से आपकी संतोषी प्रवृत्ति का प्रमाण मिलता है ।

नाना साहब ने अपने जीवन में कभी किसी कलाकार को अपमानित नहीं किया, अपितु इंदौर में आने वाले कलाकारों की प्रशंसा करके उन्हें राज्य द्वारा सम्मानित कराया करते थे । इससे इनकी विशालहृदयता का पता चलता है ।इन्होंने तबला वादकों के सम्मान रक्षार्थ "सुदर्शन" नामक एक नवीन ठेके का निर्माण किया था । कभी-कभी बीच महफिल में किसी-किसी क्लिष्ट गायक की सम तबलिये की समझ में नहीं आती और इस प्रकार

उसके अपमान का खतरा पैदा हो जाता है । उससे बचने के लिए सुदर्शन ठेका बड़ा उपयोगी है ।

तत्कालीन विज्ञ जनों के मतानुसार नाना साहब पानसे जैसा ताल मर्मज्ञ, मधुर और तैयार वादक एवं ताल शास्त्री कोई दूसरा नहीं हुआ । आपको ताल शास्त्र का नायक कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी । आपका 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंदौर नगर में ही निधन हो गया ।

पर्वत सिंह

सन् 1979 ई0 के लगभग पर्वतसिंह मृदंगाचार्य का जन्म ग्वालियर में हुआ । आपका पूर्व वंश मृदंग वादन के लिए प्रसिद्ध रहा है । आपके परदादा स्व0जोरावर सिंह जी जब ग्वालियर राज्य में आये थे, उस समय ग्वालियर में श्रीमंत जनकोजीराव सिंदे शासन कर रहे थे । ग्वालियर दरबार में जोरावर सिंह जी को आश्रय प्राप्त हो गया, अतः वे स्थायी रूप से ग्वालियर में ही निवास करने लगे ।

श्रीमंत जनकोजीराव संगीत कला प्रेमी थे अतः उन्होंने पर्वतसिंह के पिता श्री सुखदेव सिंह की नियुक्ति दरबार में पखावजी के पद पर की और समयानुसार उनको उत्साहित करते रहे ।

पर्वतसिंह की आयु 5-6 वर्ष की ही थी तब से ही उनके पिता श्री सुखदेव सिंह जी ने इनको मृदंग की शिक्षा देना आरंभ कर दिया। वे जब किसी जलसे में जाते तो अपने पुत्र को भी साथ ले जाते थे । इस प्रकार जलसों में भाग लेने से तथा भिन्न-भिन्न कलाकारों का गायन-वादन सुनने से संगीत के प्रति इनकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और ये पखावज बजाने में प्रवीणता प्राप्त करते गये ।

जब इनकी आयु केवल 9-10 वर्ष की थी तब आपके पिता एक दिन दरबार में आपको अपने साथ ले गये । वहाँ पर बालक पर्वतसिंह की पखावज सुनकर महाराजा बहुत प्रसन्न हुये और उन्होंने आपको पाँच सौ रुपये के मूल्य का एक चोगा प्रदान किया । इससे आपका उत्साह बढ़ा और ग्वालियर के लोगों की जबान पर आपका नाम भी आने लगा । आप अपने रियाज को धीरे-धीरे बढ़ाते रहे ।

जब आपकी अवस्था 25 वर्ष की थी, तब आपके [illegible] एक दिन बम्बई गये । वहाँ पर उस समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञों से आपने परिचय प्राप्त किया । जिसमें अल्लादिया खाँ साहब, पं0 विष्णुदिगम्बर पलुस्कर, नजीर खाँ साहब, भास्कर बुवा, प्रसिद्ध सितार वादक बरकतुल्ला के नाम

विशेष उल्लेखनीय हैं । कई प्रसिद्ध सितारिये तथा ध्रुवपद गायकों का साथ आपने वहाँ पर किया । इस प्रकार आपकी कला निखरती गई और बंबई में आपका नाम हो गया । लगभग पन्द्रह वर्ष तक आप बंबई रहे ।

इधर आपके पिता की मृत्यु हो जाने के कारण श्रीमंत माधवराव महाराज आपको अपने साथ बंबई से ग्वालियर ले आये और सन् 1917 ई0 में ग्वालियर दरबार में मृदंग वादक के पद पर आपकी नियुक्ति हुई । यहाँ भी आपका सत्संग प्रसिद्ध संगीतज्ञों से रहा जिनमें श्री कृष्णराव पंडित, बालाभाऊ उम्डेकर, उस्ताद हाफिज अली खाँ तथा उमराव खाँ आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

सन् 1926 ई0 में "भारत धर्म महामंडल" के अध्यक्ष दरभगा महाराज ने आपकी कला से आकर्षित होकर आपको "विद्या कला विशारद" की उपाधि प्रदान की । भारत के अतिरिक्त पाश्चात्य देशों से भी आपको निमंत्रण मिले किन्तु आप वृद्धावस्था के कारण भारत से बाहर जाने में असमर्थ रहे । दिल्ली आकाशवाणी से आपकी पखावज के कार्यक्रम समयानुसार प्रसारित होते रहे हैं । पखावज के अतिरिक्त आप तबला भी बहुत सुन्दर बजाते थे ।

हाफिज अली खाँ तथा पर्वतसिंह की जोड़ी को सभी संगीत प्रेमी जानते हैं । जिस संगीत के जलसे में इन दोनों का साथ होता थी वहाँ पर एक विचित्र वातावरण उत्पन्न हो जाता था ।

प्रो0 पर्वत सिंह का स्वभाव अत्यन्त सरल और रहन-सहन सादा था । आप कलाकारों का आदरब करते थे और अभिमान से दूर रहकर विनयशीलता को महत्व देते थे । 18जुलाई,1951 ई0 को ग्वालियर में आपका शरीरांत हुआ । आपके बाद आपके पुत्र स्व0माधवसिंह ने ग्वालियर दरबार में पखावज वादक के रूप में तथा दूसरे पुत्र गोपालसिंह ने सितार के रूप में पर्याप्त यश अर्जितकिया है ।

पुरुषोत्तम दास पखावजी

आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा 6, संवत् 1946 को नाथद्वारा ।मेवाड़। में हुआ । आपके पिता श्री घनश्याम जी एक प्रसिद्ध पखावजी थे । आपने बाल्यकाल से अपने पिताजी से ही पखावज वादन की शिक्षा पाई । बारह वर्ष की आयु के बाद जब इनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया तो गोस्वामी श्री गोवर्धन लाल जी महराज ने इनका भरण पोषण किया एवं शिक्षा संबंधी सहायता देकर श्रीनाथ मंदिर में कीर्तन करने के लिए रखा ।

"मृदंग सागर" नामक प्रसिद्ध पुस्तक आपके पिता जी की ही लिखी हुई है ।

प्रसन्न कुमार बाणिक्य

प्रसन्न कुमार बाणिक्य का जन्म सन् 1257 ई0 में ढाका में हुआ। आप स्व0 मदनमोहन बाणिक्य के सुपुत्र थे। आपकी प्रमुख जीविका तबला-वादन थी। यद्यपि आपके पिता व पितामह संगीत से प्रेम नहीं रखते थे, तथापि आप बाल्यकाल से ही उच्चकोटि के संगीत के प्रति आकर्षित हो गये। उन दिनों ढाका में भारत के अनेक महान संगीतज्ञ आया करते थे। आपका संगीत के प्रति विशेष प्रेम देखकर ढाका के सर्वश्रेष्ठ तबला वादक व पखावजी गौर मोहन बासक ने आपको अपना शिष्य बना लिया। इस प्रकार आपने 9-10 वर्ष की अवस्था में ही तबला वादन सीखना आरम्भ कर दिया। अपने कठोर परिश्रम के कारण प्रसन्न कुमार ढाका के सर्वश्रेष्ठ तबला वादकों में गिने जाने लगे। विशेषतः कंठ तथा वाद्य संगीत की संगति करने में आप बहुत कुशल माने जाते थे। जब आपको मुर्शिदाबाद के नवाब बहादुर अमीर-उल-उमरा के दरबारी संगितज्ञ अताहुसेन खाँ की तबला वादन कला के विषय में ज्ञात हुआ तो आप अपने गुरु की आज्ञा लेकर उनसे शिक्षा लेने मुर्शिदाबाद चले गये। अताहुसेन आपकी कला निपुणता देखकर बहुत प्रभावित हुये और उन्होंने आपको बहुत प्रेम से शिक्षा दी। परन्तु आपकी तथा आपके परिवार की जीवन-निर्वाह की आवश्यकता ने आपको घर लौटने के लिए विवश कर दिया। सांसारिक झंझटों के होते हुये भी आप प्रतिदिन नियम से 8-10 घंटे तबले का अभ्यास करते थे। इसके पश्चात् प्रसन्नकुमार ने इसे अपना व्यवसाय बना लिया। आपने बंगाल के सरदारों तथा नवाबों के यहाँ अपनी कला का प्रदर्शन करके बहुत धन एवं ख्याति अर्जित की। आपकी कला साधना एवं ख्याति के फलस्वरूप अनेक राजाओं तथा जमींदारों द्वारा आपको पुरस्कार प्राप्त हुये। जिस समय आप कलकत्ता थे, तो कलकत्ता के संगीत विद्वान स्व0 राजा सर सुरेन्द्र मोहन टैगोर से आपका परिचय हुआ, जो आपकी तबला वादन कला से बहुत संतुष्ट हुये। अताहुसेन के पश्चात् कलकत्ता, ढाका तथा सांगीतिक महत्व रखने वाले अन्य स्थानों के व्यक्तियों ने प्रसन्न कुमार को ही बंगाल का सर्वश्रेष्ठ तबला वादक स्वीकार किया। आपने अपने समय का विशेष भाग "भारत संगीत समाज" की सेवा में व्यतीत किया, जो कि बंगाल की सर्वमान्य संस्था थी, जिसमें उत्तर तथा दक्षिण भारत के श्रेष्ठ संगीतज्ञ आया करते थे।

आपके बहुत से शिष्यों में से राय बहादुर केशव चन्द्र बनर्जी, प्राणवल्लभ गोस्वामी एवं अक्षयकुमार सरकार ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। आपके तबला वादन का ढंग बहुत मधुर था। इसमें कोई संदेह नहीं कि बंगाल के तबला वादन में तबला के बोलों का सबसे अधिक भंडार आपके ही पास था, जिनकी संख्या 2000लगभग बताई जाती है। ये बोल इतनी सुन्दरता एवं कलात्मक ढंग से रचे हुये हैं कि

जब भी कंठ अथवा वाद्य संगीत में इनका प्रयोग होता है, तो संगीत के आकर्षण और लालित्य में चार-चांद लग जाते हैं । आपने "तबला तरंगिणी" और "मृदंग प्रवेशिका" नामक दो पुस्तकें भी तैयार करके प्रकाशित कराई थीं ।

बीरु मिश्र

आप बनारस के पं0 भगवान प्रसाद जी के सुपुत्र थे। आपका जन्म बनारस के पियरी नामक मुहल्ले में सन् 1896 ई0 में हुआ। प्रारंभिक तालीम का श्रीगणेश आपके पिता द्वारा ही हुआ । पिता की मृत्यु के पश्चात् पं0 विश्वनाथ जी से आपको शिक्षा प्राप्त हुई और फिर कुछ समय बाद लखनऊ के आबिद हुसैन खाँ से तालीम पाई । बरेली के उस्ताद छुन्नू खाँ साहब से भी कुछ समय तक आपने सीखा ।

पं0 वीरु मिश्र को विभिन्न संगीत सम्मेलनों तथा संगीत प्रेमियों से अनेक पदक भी प्राप्त हुये । संगीत क्षेत्र में आप एक चमत्कारी तबला वादक हो गये हैं ।

लतीफ अहमद

दिल्ली घराने के तबला वादक लतीफ अहमद खाँ का जन्म सन् 1942 में हुआ । सन् 1952 से उनकी तबला वादन शिक्षा आरम्भ हुई । उन्होंने उस्ताद गामे खाँ, उस्ताद इनाम अली खाँ और उस्ताद मुन्नू खाँ से छह वर्षों तक शिक्षा ग्रहण की । उनका रेडियो कार्यक्रम सन् 1955 में हुआ और सन् 1956 में उन्होंने सम्मेलन में बजाया । वस्तुतः सन् 1959 में पं0 रविशंकर के साथ संगति उनके जीवन की बड़ी घटना है ।

लतीफ अहमद खाँ की उंगलियों की द्रुत थिरकन से तबले के बोल बड़ी सफाई और वजन के साथ निकलते हैं । गायन-वादन-नृत्य की संगति तथा एकाकी वादन में आप निष्णात हैं ।

लतीफ अहमद ने इंगलैंड, मध्यपूर्व, पश्चिमी यूरोप और रूस की यात्रा की । उन्होंने यूनेस्को सम्मेलन (पेरिस), रूहर समारोह (जर्मनी) और शेराज समारोह (ईरान) में भाग लिया । उन्होंने डार्टिंग्टन कालेज आफ इंगलैंड में शिक्षा दी । उनके कुछ रिकार्ड भी तैयार हुये हैं ।

शम्भु प्रसाद तिवारी

शम्भु प्रसाद जी का संबंध प्रसिद्ध पखावजी कुदऊसिंह के घराने से है । आपका जन्म सन् 1885 ई में बांदा सिटी में हुआ । आपने

पखावज की शिक्षा अपने पिता अयोध्या प्रसाद तिवारी से प्राप्त की, जो कि एक प्रसिद्ध पखावजी थे। वे केवल पखावज में ही नहीं, अपितु गायन में भी कमाल रखते थे। कुदऊसिंह उनके चाचा थे। उन्हीं से अयोध्या प्रसाद ने पखावज की तालीम प्राप्त की थी। यही कारण था कि आपने इस कला में यश प्राप्त किया और अपने पुत्र शम्भू प्रसाद को यह विद्या सिखाकर अपने घराने का नाम अमर कर गये। सन् 1913 ई0 में अयोध्या प्रसाद स्वर्गवासी हो गये।

शम्भू प्रसाद के पास बोलों का विशेष भंडार था, अतः देश के प्रमुख संगीतज्ञ भी इनका आदर करते रहे। इनका बाज "कुदऊसिंह का बाज" के नाम से प्रसिद्ध है।

शम्सुद्दीन खाँ

"विशिष्ट घराने वाले ही किसी कला को पेश कर सकते हैं, यह कहना गलत है। कला परमेश्वर की देन है और सभी इसे पा सकते हैं, बशर्ते, उनमें कला के प्रति श्रद्धा हो, भक्ति हो और लगन हो।"- ये विचार विख्यात तबला वादक उस्ताद शम्सुद्दीन खाँ के हैं।

उस्ताद शम्सुद्दीन खाँ मानते थे कि इस दरिया में से मुझे अभी कतरा ही मिला है और वह भी ईश्वर की देन ही है। सभी अंगों के माहिर उस्ताद जी की विनम्रता मृदु भाषा से इस कला का गौरव ही बढ़ा है। सभी घरानों के बाज बजाने वाले उस्ताद जी ने अनेक बड़े-बड़े गायकों के साथ तबला वादन किया। उस्ताद अब्दुल करीम खाँ, उस्ताद फैयाज खाँ, उस्ताद रहीम बख्श जैसे दिग्गजों से आशीर्वाद प्राप्त उस्ताद जी को गर्व तो जैसे छू तक नहीं गया था। उनके वादन में मधुरता एवं स्पष्टता मिलती थी। जमींदार के पुत्र, संतस्वभावी उस्ताद जी की निष्ठा और भक्ति ने जैसे उच्च आसन पर आसीन कर दिया। आराम के सभी साधनों का परित्याग कर लगन से उन्होंने इस कला को अपनाया और उसकी दीर्घ काल तक सेवा की।

गायक एवं वादन उस्ताद शम्सुद्दीन खाँ ने शास्त्रीय संगीत की विधिवत् शिक्षा पाई और तबला वादन की विशेष भक्ति ने उन्हें तबला नवाजों की उच्च श्रेणी में ला खड़ा किया। उस्ताद को किराना-घराने की गायकी विशेष रूप से पसन्द थी। 12 वर्षों तक उस्ताद करीम खाँ के पास रहे। अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) के इस्मिलियाँ खाँ के पुत्र शम्सुद्दीन खाँ ने उस्ताद मसीत खाँ, अब्दुल अजीज खाँ से शास्त्रीय गायन 8 से 12 वर्ष की

उम्र तक सीखा और बंबई में उस्ताद रहीमबख्श से गाना बजाना सीखा। रहीम बख्श खाँ हर साज बजाते थे। शम्सुद्दीन खाँ की मुलाकात उनसे हैदराबाद में हुई। तब से बराबर चार महीने तक उनके साथ रहे। जिस समय थिरकवा खाँ उस्ताद फैयाज खाँ से सीख रहे थे, उस समय शम्सुद्दीन खाँ गाते थे। हाजी विलायत खाँ के शागिर्द एवं थिरकवा के मामा उस्ताद फैयाज खाँ ने ही शम्सुद्दीन खाँ को तबला वादन की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की। शम्सुद्दीन खाँतब उस्ताद मुनीर खाँ के शिष्य बने और 10-11 वर्षों तक उनसे शिक्षा पाई। वास्तव में तीन व्यक्ति-गुलाम मुहम्मद, थिरकवा और शम्सुद्दीन ही थे, जिन पर उस्ताद फैयाज खाँ का वरद हस्त रहा।

इस साधक कलाकार का 77 वर्ष की आयु में 11 अप्रैल, 1967 को देहावसान हो गया।

सखाराम पन्त आगले

नाना साहब पानसे के प्रधान शिष्य मृदंगाचार्य सखाराम पंत उन इने-गिने कलाकारों में से थे, जिन्होंने एक छोटे से गाँव में जन्म लेकर अपने परिश्रम और प्रतिभा द्वारा इंदौर दरबार में संगीत कला रत्न का रूप धारण किया।

आपका जन्म औरंगाबाद जिले के अन्तर्गत वैजापुर नामक स्थान पर सन् 1858 ई0 के लगभग हुआ। जब आपकी आयु 12-13 वर्ष थी तभी से आपने "मृदंग केसरी" नाना साहब पानसे के पास इंदौर में शिक्षा प्राप्त की। अपूर्व गुरु भक्ति और तीव्र कला निष्ठा द्वारा सोलह वर्ष तक आपने शिक्षा ग्रहण करके इंदौर में दरबारी मृदंगाचार्य का पद प्राप्त कर लिया।

उन दिनों आपके मृदंग वादन की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी, अतः आपका नाम प्रमुख वादकों में आदर के साथ लिया जाता था। भारत के प्रमुख नगरों में भ्रमण करके, नेपाल और कश्मीर तक अपनी कला का चमत्कार दिखकार आपने नाद प्रेमियों को तृप्त किया था। अपूर्व कला सौष्ठव और उच्चतम व्यक्तित्व के अनोखे सामंजस्य के कारण उस समय के भूगंधर्व उस्ताद रहमत खाँ, निसार हुसैन खाँ (ग्वालियर), पं विष्णु दिगंबर पलुस्कर तथा वझे बुवा जैसे महान कला मर्मज्ञ आपका अत्यन्त आदर करते थे। सन् 1918 ई0 के लगभग सतारा में आप परलोकवासी हुये। आपके शिष्यों में गोविन्दराव बुरहानपुरकर का नाम उल्लेखनीय है।

वर्तमान समय में आपके सुपुत्र श्री अम्बादास पन्त आगले आपकी कला एवं नाना साहब पानसे के घराने का नाम चमत्कृत कर रहे हैं ।

सुख देव सिंह

ये ग्वालियर दरबार के प्रसिद्ध तबला वादक श्री जोरावर सिंह के पुत्र थे । तबला वादन की शिक्षा आपको अपने पिता के द्वारा ही प्राप्त हुई थी । प्रतिभाशाली बालक को यदि घराने की विद्या अपने परम हितैषी पिता के द्वारा ही प्राप्त हो तो वह निश्चित रूप से एक न एक दिन महान कलाकार बन जाता है । इसलिए सुखदेव सिंह अल्प काल में ही उच्च कोटि के तबला वादक हो गये ।

आपका बाज यथेष्ठ मधुर और स्पष्ट था । संगति बड़ी अनुकूल और मधुर करते थे । इस विषय में आपकी प्रसिद्धि अधिक थी । स्वभाव के बड़े नम्र तथा दीन श्री सुखदेव का श्री माधवराव के शासनकाल में ग्वालियर में देहांत हुआ ।

अध्याय ५

१. संगीत में ताल और लय का महत्व

२. ताल शब्द की परिभाषा

३. ताल की ऐतिहासिकता

४. ताल की महत्ता

५. ताल के दस प्राण

संगीत में लय और ताल का महत्व

संगीत के दो आधार स्तम्भ- स्वर और लय हैं । इन्हीं दोनों के आधार पर कलाकार संगीत की सृष्टि करता है । स्वर का प्रयोग रागों में तथा लय का प्रयोग तालों में विशेष रूप से किया जाता है । स्वर के अतिरिक्त लय ताल संगीत के अविभाज्य अंग हैं ।

लय संगीत में ही नहीं वरन् समस्त सृष्टि और मानव जीवन में व्याप्त है । प्राणी की हृदय गति और नाड़ी एक निश्चित लय में ही चलती है । बातचीत करना, चलना-फिरना, शरीर में रक्त संचालन आदि सभी में एक निश्चित लय रहती है । इस गति में ज़रा भी अन्तर आ जाने से बड़े से बड़े अनिष्ट तथा प्रलय की कामना की जा सकती है । अतः हम कह सकते हैं कि लय ही जीवन है । इसी प्रकार से लय का सम्बन्ध सृष्टि संचालन में भी है। आकाश मंडल के सब नक्षत्र एक निश्चित लय में ही घूमते हैं । पृथ्वी की निश्चित गति में लेश मात्र भी अन्तर आ जाने से भूकम्प जैसी अनिष्टकारी स्थिति उत्पन्न हो जाती है । लय का इसी प्रकार महत्व संगीत में भी है ।

संगीत में लय का सम्बन्ध सदा से चला आया है । आदि काल से ही अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है । उस समय के वाद्यों में भू-दुन्दुभि, वनस्पति, भेरि आदि उल्लेखनीय वाद्य हैं । उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में इस प्रकार के वाद्यों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है । संगीत में लय के प्रयोग की श्रृंखला इस समय तक अटूट चली आयी है और जब तक सृष्टि मानव और संगीत रहेगा लय का स्थान संगीत में इसी प्रकार बना रहेगा । आजकल के संगीत और जनरुचि से हम भलीभाँति अनुमान लगा सकते हैं कि लय प्रधान संगीत जनता में बड़ी ही रुचि से सुना जाता है । संगीत का आधार स्वर तो है, परन्तु किसी भी राग का विस्तार, आलाप, ताल, विस्तार, बोल तान, सरगम आदि लय के विविध रूपों पर ही आधारित रहता है । बिना लय के स्वर विस्तार से न तो श्रोताओं को ही आनन्द मिलता है, और न ही वह पूर्ण संगीत कहलाता है । यदि लय विहीन स्वर विस्तार को संगीत कहा जा सकता तो कोयल की कूक को भी संगीत की संज्ञा दी जा सकती थी । अतः लय विहीन स्वर संगीत कला की दृष्टि से अधूरा रह जाता है ।

इस प्रकार लय का स्थान प्रकृति और मनुष्य दोनों में देखा जा सकता है, परन्तु दोनों प्रकार के लयों में अन्तर है । प्रकृति की लय समान होती है और उसमें अन्तर नहीं आता, परन्तु मनुष्य की लय अपनी आवश्यकता के अनुसार घटाई-बढ़ाई जाती है । संगीतकार पहले अपनी एक लय निश्चित कर लेता है और फिर अपनी कलात्मक साधना के द्वारा विभिन्न प्रकार की लयकारियों की सृष्टि करता है । लय के अनगिनत प्रकार हो सकते हैं,परन्तु प्राचीन काल में विद्वानों ने सुविधा के लिए लय को तीन प्रकार से बाँटा जो विलम्बित-लय, मध्य-लय और द्रुत-लय के नाम से सर्व विदित है ।

संगीत में समय की बराबर-बराबर इकाइयों से मात्रा बना और विभिन्न मात्राओं के योग से अनेक तालों की रचना की गयी । प्रत्येक ताल में कुछ मात्राओं, विभागों तथा ताली-खाली का होना आवश्यक है । उससे संगीत में सुविधा के साथ-साथ आनन्द की भी वृद्धि होती है । भारतीय संगीत में ताल का समावेश अपनी मौलिक विशेषता है । पाश्चात्य संगीत में लय का महत्व अधिक है वहाँ ताल का यह रूप नहीं है । तेरहवीं शताब्दी में विद्वान शारंगदेव ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक संगीत रत्नाकर के ताल अध्याय में लिखा है :-

"तालस्तलप्रतिष्ठयाऽमिति धातोर्घञि स्मृतः ।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।।"

अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्य की प्रतिष्ठा तल में हुई है एवं प्रतिष्ठा वाचक धातु का रूप "तल" से ताल शब्द की उत्पत्ति हुई है । कुछ ग्रन्थों के अनुसार तांडव नृत्य से ता तथा लास्य नृत्य से ला के योग से ताल शब्द बना है। अतः भगवान शंकर के तांडव और पार्वती का लास्य या शिव और शक्ति के योग से ताल की उत्पत्ति हुई । कुछ भी हो संगीत के इस अखंड काल को नापने और विभाजित करने के लिए ताल की रचना हुई । अतः ताल का प्रयोग भारतीय संगीत में आदि काल से होता चला आ रहा है । ताल, स्वरों को गति प्रदान करता है तथा संगीत को एक निश्चित नियम से बाँधता है। जिस प्रकार जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए निश्चित नियम और क्रम की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार संगीत को सुचारु रूप से चलाने के लिए ताल की आवश्यकता पड़ती है और उसी सुचारु रूप से संचालन से संगीत में अनुशासन आ जाता है और जिसके चमत्कार से श्रोतागण आनन्द

विभोर हो जाते हैं। अनुमान है कि संगीत में ताल का तथा साहित्य में छन्द का जन्म स्वाभाविक रूप से हुआ होगा। आज जितने प्रकार की गायन शैलियां प्रचार में हैं, उतने ही प्रकार की तालें भी हैं, जैसे- ख्याल के लिए - एक ताल, तीन ताल, तिलवाड़ा ताल आदि, ध्रुपद के लिए- चार ताल, सूल-ताल आदि, गीत-भजन के लिए- दादरा, कहरवा आदि तालें हैं। इन सभी का उद्देश्य संगीत में समय का मापन तथा व्यवस्था स्थापित करना है। आज हम संगीत के ऐसे कार्यक्रम की कल्पना ही नहीं कर सकते जिसमें लय और ताल दिखलाने के लिए किसी वाद्य का प्रयोग न किया गया हो। अतः अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संगीत में लय और ताल का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

=====

§आ§ ताल शब्द की परिभाषा

संगीतशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में से भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' एवं आचार्य शारंगदेव का 'संगीतरत्नाकर' ही आज के काल में सुलभ हैं । इन दोनों ही ग्रन्थों में ताल के सभी तत्त्वों, उपादानों की विशद चर्चा की गयी है। मार्ग और देशी शब्दों का प्रयोग कई बार आता है, इसलिए उनको भी समझना आवश्यक है ।

मार्ग और देशी ताल :

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की रचना के बाद जाति-गान एवम् ग्राम-रागों के गायन के साथ-साथ धीरे-धीरे एक और गायन पद्धति भी उभरी, जिसको देशी गायन पद्धति के रूप में कहा जाने लगा । इस प्रकार भारतीय संगीत की दो धारायें मार्गी और देशी के रूप में चलने लगीं । मार्गी पद्धति वह थी जो ब्रह्मा के द्वारा निःसृत हुई और नारद के द्वारा प्रशिक्षित की गयी तथा भरतादि के द्वारा भगवान् शंकर के सम्मुख गायी गयी। देशी राग पद्धति के बारे में सर्वप्रथम चर्चा संगीत के विद्वान् आचार्य मतंग ने अपने ग्रन्थ 'बृहद्देशी' में की है । 'बृहद्देशी' का केवल वही अंश आज उपलब्ध है, जिसमें उन्होंने देशी रागों की चर्चा की है और उन रागों की चर्चा के सन्दर्भ में ही देशी तालों का भी वर्णन हो गया है । परन्तु उनका तालाध्याय आज उपलब्ध नहीं होता । मतंग का काल छठी शताब्दी माना जाता है । छठी शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक संगीतशास्त्र के बहुत से ग्रन्थ लिखे गये, जिनके नाम हमें आचार्य शारंगदेव के द्वारा लिखित 'संगीतरत्नाकर' के मूलपाठ तथा टीकाओं में मिलते हैं । परन्तु उनमें से अधिकांश ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में आचार्य शारंगदेव का 'संगीतरत्नाकर' अपना विशेष स्थान व प्रभाव रखता है । 'संगीतरत्नाकर' में मार्गी व देशी दोनों प्रकार के तालों का वर्णन हुआ है ।

मार्ग व देशी के लिए संगीतरत्नाकर में इस प्रकार कहा गया है -

"मार्गो देशीति तद्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते ।
यो मार्गितो विरंच्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ।।"[1]

मार्ग-तालों को स्वर्ग के एवं देशी-तालों को इस भूतल के रंजन हेतु माना है -

"स्वर्गे मार्गाश्रितं देश्याश्रितं भूतलरंजकम् ।"[2]

आचार्य शारंगदेव ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि मार्गी संगीत का प्रचलन अब नहीं होता है । तालशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त तो मार्ग तालों के लिए जो निश्चित किये गये थे, वही रहे । परन्तु जिस प्रकार तालों की संख्या में वृद्धि हुई, तालांगों में वृद्धि हुई, उस सबके नियमन के लिए कुछ नियामक सिद्धान्त आचार्यों ने निश्चित किये । इस प्रकार संगीत के लक्ष-लक्षण, शास्त्र और प्रयोग दोनों साथ-साथ चले । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 13वीं शताब्दी के आते-आते तक मार्गी संगीत के प्राचीन - नियमों की जटिलता लोगों को स्वीकार्य नहीं रह गयी थी और संगीत केवल अदृश्य फल की प्राप्ति के लिए ही माध्यम नहीं रहा था, वह विभिन्न प्रदेशों के निवासियों के मनोरंजन का माध्यम भी बन चुका था; जैसा कि संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने देशी शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है -

"तत्तद्देश मनुज मनोरंजनैकत्वात् ।"

संगीतरत्नाकर के पढ़ने से यह बात स्पष्ट है कि भरत का जातिगान काफी समय पहले ही समाप्त हो चुका था और उसका स्थान प्रबन्ध गायकी ने ले लिया था । यह भी स्पष्ट होता है कि प्रबन्ध गायन की जटिलता के

---

1. सं० र०, 1/21
2. वही, 1/23

कारण से प्रबन्ध गायकी में भी लोगों की रुचि समाप्त हो रही थी। यद्यपि उस समय तक तीन सौ से अधिक प्रकार के प्रबन्धों की रचना हो चुकी थी, परन्तु जन-रुचि न्यूनाधिक रूप से केवल सालग सूढ प्रबन्धों तक ही सीमित रह गयी थी । संगीतरत्नाकर के बाद के सभी ग्रन्थों में (राणा कुम्भा के संगीतराज को छोड़कर) प्रबन्ध गायकी, उसकी बन्दिशों, तालों आदि की चर्चा नहीं मिलती है ।

आचार्य शारंगदेव ने सात सालगसूढ प्रबन्धों के लिए सात ताल भी निश्चित किये हैं; जिनको आज अज्ञान, अपभ्रंश या अन्य किसी कारणवश लोग सप्त सूल ताल कहने लगे हैं । इन सप्त सूल तालों के अतिरिक्त शारंगदेव ने 120 देशी तालों की भी विशद चर्चा की है । उन्होंने देशी तालों के निर्माण के प्रयोग में आने वाले तालांगों का भी वर्णन किया है ।

संगीतरत्नाकरकार ने गणों, जिनके द्वारा छन्दों का निर्माण होता है, उनके बारे में भी विशद विवेचना की है । उन्होंने तालांगों के साथ-साथ देशी [illegible]ों के निर्माण में गणों के प्रयोग का भी वर्णन किया है । उन्होंने ताल विषयक सारी चर्चा 5 मार्ग तालों के आधार पर की है। आज भी देशी तालों की विवेचना करते समय विद्वान् उन्हीं उपादानों के आधार पर ताल की व्याख्या करते हैं । संगीतरत्नाकर के बाद के काल से लेकर आज तक उन्हीं तत्वों और उपादानों के आधार पर ही हमारा संगीतशास्त्र खड़ा हुआ है ।

प्राचीन काल में ताल क्रिया के मापन की विधि आज के मापन की विधि से भिन्न थी । आज जिस प्रकार से सम, खाली, ताली का प्रयोग करके ताल मापन की क्रिया की जाती है, वैसा प्राचीन काल में नहीं होता था। उस काल में गायन, वादन और नृत्य में निरन्तर सशब्द और निःशब्द क्रियाओं का प्रयोग स्वयं कलाकार करता था, अथवा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा, जिसको गणक कहा जाता था, घन वाद्यों पर आघात देकर किया जाता था।

ताल मापन की यह क्रिया लघु, गुरु और प्लुत - इन तालांगों के काल को ध्यान में रखकर की जाती थी । उपरोक्त क्रिया का कुछ स्वरूप आज भी दक्षिण भारतीय संगीत में होता हुआ हम देखते हैं ।

ताल के गठन और चलन तथा निर्माण व्यवस्था को जानने के लिए जिन उपादानों की आवश्यकता होती है, अब हम उनकी चर्चा करेंगे । इन उपादानों को ताल के प्राण के नाम से मध्ययुग के जहाँगीर-काल के लेखक चतुरदामोदर ने पहली बार अभिहित किया है -

"काल मार्ग क्रियांगानि ग्रहो जाति कला लयाः ।
यति प्रस्तार श्चेति ताल प्राणः दशस्मृताः ।।"[1]

भरत, शारंगदेव, सुधाकलश आदि आचार्यों ने ताल के इन दसों उपादानों का वर्णन तो किया है, परन्तु प्राण शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है । भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन पाँच मार्ग तालों का प्रयोग किया है, उन तालों के प्रयोग करने की विधि को समझाते हुए गायन-विधि, जातियों तथा उनसे उत्पन्न समस्त रागों की गायन-विधि के साथ-साथ ताल के उपरोक्त उपादानों का वर्णन भी किया है । आचार्य शारंगदेव ने संगीतरत्नाकर के पाँचवें अध्याय में ताल विषयक इन दसों उपादानों का, जिनको बाद आचार्यों ने प्राण कहा है, वर्णन करके फिर चौदह प्रकार के गीतों में उनका प्रयोग किस प्रकार से हो, इसकी चर्चा की है ।

भरतमुनि तथा आचार्य शारंगदेव दोनों ने यह चर्चा मार्ग तालों का आश्रय लेकर की है । स्मरण रहे कि भरत के काल में केवल पाँच ही ताल और उनके द्विकल, चतुष्कल आदि भेद से उनके रूप बदले जाते थे । परन्तु शारंगदेव के काल तक आते-आते तालों की संख्या 120 हो गयी थी, जिनमें

---

[1] सं० दर्पण, 63।

5 मार्ग ताल, 7 सालगसूढ ताल एवं 108 अष्टोत्तरशतम् ताले हैं -

"मार्ग देशी गत्वेन तालोऽसो द्विविधो मत: ।
शुद्ध सालग संकीर्णस्तालभेदा: क्रमान्त्ता: ।।"[1]

आचार्यों ने मार्ग और देशी - यह दो भेद तालों के किये हैं । कुछ ने मार्ग, सालग और संकीर्ण - इस प्रकार तीन भेद किये हैं ।[2] सालग शब्द से उनका आशय था कि जिनमें दूसरे ताल की छाया पड़ती हो, संकीर्ण जो कई तालों के संयोग से बने हों । इस प्रकार कई आचार्यों ने शुद्ध मार्ग ताल, सालग मार्ग ताल, शुद्ध देशी ताल, सालग देशी ताल आदि-आदि भेद किये हैं । सालग या सालग सूढ़ शब्द से मन्तव्य है - सालग सूढ़ प्रबन्धों में प्रयोग किये जाने वाले ताल । भरत के जातिगान के बाद उसका स्थान प्रबन्ध-गान और देशी रागों ने ले लिया था । देशी रागों का चलन छठी शताब्दी में ही काफी हो गया था । मतंग की पुस्तक का नाम ही बृहद्देशी है ।

इन प्रबन्धों और देशी रागों के अनुरूप तालों का निर्माण भी उसी समय हुआ होगा । मानव नित्य नव्यता चाहता है । संगीतकला में भी निरन्तर परिवर्तन और विकास मानव की नव्यता की इस भूख का ही परिणाम है । उसी के आधार पर ही गायन-वादन में परिवर्तन और विकास हुआ । आचार्य शारंगदेव के काल तक आते-आते लगभग 300 प्रबन्धों का निर्माण हो चुका था । परन्तु उनकी जटिलता के कारण से केवल सालग सूढ़ प्रबन्ध ही श्रोता को रुचिकर लगते थे, और इन प्रबन्धों के साथ वादन के लिए

---

1. सं० द०, श्लोक 630

2. "मार्ग देशी गतत्वेन तालोऽसौद्विविधोमत: ।
शुद्ध सालग संकीर्णस्ताल भेद: क्रमान्मता: ।।"
- सं० द०, श्लोक 630

देशी संकीर्ण तालों के निश्चित उदाहरण उपलब्ध नहीं है । नारद मुनि तथा परिदेव आदि ने पांच मार्गीताल सहित एकोत्तर शत तालों ‖101‖ का विवेचन किया है । तदुपरान्त 108 ताल अष्टोत्तर शत ताल के नाम से प्रसिद्ध है । संगीत रत्नाकर में वर्णित 120 तालों में अष्टोत्तर शत ताल के कुछ ताल लिए गए हैं । इस प्राचीन ताल शास्त्र का "संगीतरत्नाकर‖ वह स्वर्ण काल है जिस समय शारंगदेव ने प्राचीन 108 में से कुछ ताल, तत्कालीन व स्वकल्पित कुछ तालों को लेकर 120 तालों का विशद विवेचन किया है । किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि अनिबद्ध या ताल विहीन संगीत आरण्यक संगीत है तथा निबद्धया तालयुक्त संगीत सामाजिक संगीत है । बिना ताल के केवल स्वरों का आनन्द हृदय में उल्लास व उत्तेजना का सृजन करने में असमर्थ होता है एवं अनिबद्ध संगीत के निरंतर श्रवण से हृदय में उदासीनता छा जाती है ।

(इ) ताल की ऐतिहासिकता :

मानव और संगीत के विकास की कहानी प्रागैतिहासिक काल से साथ-साथ चली है । मानव का विकास और संगीत का विकास अन्योन्याश्रय के सिद्धान्त पर ही आगे बढ़ा है । जहाँ मानव ने प्रकृति के सान्निध्य में रहकर स्वर और लय की प्राप्ति के साधन और माध्यम ढूंढे, वहीं स्वर और लय ने उसमें साहचर्य के सद्गुणों के बीज भी बोये । मानव ने जब कीड़ों से खाये हुए बाँस की डण्डी के छेद में हवा द्वारा उत्पन्न स्वर को जंगल में सुना, तब उसने भी उस छिद्र में फूंक मारकर स्वर पैदा किया । इससे उसमें प्रसन्नता और कौतूहल उत्पन्न हुआ । आज भी अपने अन्दर उत्पन्न कौतूहल और प्रसन्नता को व्यक्त करने के लिए सुसंस्कृत मानव अपने जैसे किसी दूसरे मानव के सामने उसी बात को बताता है अथवा करके दिखाता है । यही भाव उस आदिम मानव में भी रहे होंगे । अपनी प्रसन्नता और आविष्कार की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए उसे अपने जैसे दूसरे मानव की आवश्यकता हुई होगी । इस प्रकार संगीत ने पशुतुल्य आदिमानव में साहचर्य के भाव उत्पन्न किये होंगे। इस प्रकार धीरे-धीरे हजारों वर्ष तक मानव और संगीत साथ-साथ विकास की यात्रा पर चलते रहे । नीचे हम उसी विकास की कहानी को थोड़ा स्पष्ट कर रहे हैं, क्योंकि ताल की ऐतिहासिकता के ज्ञान के लिए यह आवश्यक है ।

प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आदि-मानव सर्वप्रथम जंगल में जानवरों के सान्निध्य में रहता था और वह पशु-तुल्य जीवन व्यतीत करता था । असंस्कृत मानव पशुओं की तरह ही चीखता-चिल्लाता होगा, क्योंकि वह उनके साथ रहता था । आदि-मानव का जीवन पशु-तुल्य था । उसमें ईर्ष्या, बैर, विजय-कामना, स्वरक्षा

एवं कामेच्छा आदि के प्राकृतिक मूलभाव ही थे । वह जब अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करके, पशुओं को मारकर अथवा काम-भावना की तृप्ति करके सन्तुष्ट होता होगा, तब आनन्दविभोर होकर अपनी भावनाओं के प्रगटीकरण के लिए कूद-कूद कर, चिल्ला-चिल्लाकर, अपने हाथों से अपने अंगों को पीट-पीटकर और अपने हाथों को टकरा कर भावाभिव्यक्ति करता होगा - ऐसा अनुमान हम कर सकते हैं ।

आज के मानव में भी यह मूलभाव विद्यमान हैं । वह क्रोध में जोर से बोलता है, जल्दी-जल्दी बोलता है और हाथ-पैरों का विक्षेप भी करता है । आनन्दानुभूति होने पर, चाहे वह स्वादु भोजन करने पर ही हो, वह जीभ से चटकारे लेता है और चुटकी बजाता है । बालक तो आनन्दानुभूति में हाथों से ताली बजाकर कूद-कूदकर अपनी प्रसन्नता प्रगट करते हैं । यह क्रिया हमें इस ओर इंगित करती है कि आदिमानव में अपने भावों के प्रगटीकरण की भावना और उत्तेजना कितनी अधिक मात्रा में होगी । आरम्भ में सम्भवत: आदिमानव ने उपरोक्त सारी क्रियायें एकाकी रूप में ही की होंगी । परन्तु जैसे-जैसे उसमें साहचर्य की भावना, कुटुम्ब और कबीले (टोली) की भावना बढ़ी होगी, वह उपरोक्त सारी क्रियाओं को सामूहिक रूप में भी करने लगा होगा । संगीत का प्रभाव उसमें साहचर्य की भावना को बढ़ाने में सहायक हुआ होगा ।

प्रकृति का सारा व्यापार लयाश्रित है, यह लय देश-काल और पात्र के हिसाब से बदलती रहती है । मानव प्रकृति के सान्निध्य में रहा है । उसने लताओं को झूमते देखा, पेड़ों की डालियों से हाथ-पैर हिलाना सीखा, नदियों का निरन्तर बहना देखा और झरनों के गिरने की गति देखी, जिनको देखकर वह बहुत प्रसन्न होता होगा । उस प्रसन्नता में वह झूमता था । इसी आनन्द से संगीत ने मानव में प्रवेश किया। आदिमानव ने प्रत्येक कला कुछ इसी तरह से सीखी होगी ।

मानव के विकास की परम्परा सम्भवत: निम्नलिखित रूप से विकसित हुई होगी - ऐसा वैज्ञानिकों का मत है । पहले मानव पत्थर से पशु का शिकार करता था, हिरन की टाँग तोड़कर वह उसे डण्डे से मारने लगा और फिर उसने धनुष-बाण की उत्पत्ति की । एक लकड़ी पर लताओं को बाँधकर, एक दिन धनुष के आकार के शस्त्र को बनाकर और उसमें पत्थर लगाकर उससे पत्थर फेंककर उसने जानवर का शिकार किया । फिर उसने मारे हुए जानवरों की आँतों से डोरी बनाई, फिर उसी आँत से धनुष का निर्माण किया । जब वह धनुष छेड़ता था, आँत की प्रत्यंचा से आवाज़ आती थी, वह आवाज़ भी उसे अच्छी लगी । सम्भवत: इसी प्रकार पिनाकी वीणा के पूर्वज का जन्म हो गया ।

असभ्य मानव ठण्ड से बचने के लिए पत्ते लपेटता था । फिर उसने सोचा कि जो जानवर वह मारता है, क्यों न उसकी खाल को ही पहना जाये । उस समय तक वह लज्जा नहीं मानता था, वह पशु जैसा ही जीवन व्यतीत करता था; फिर भी वह सर्दी, गर्मी, बरसात आदि का अनुभव अवश्य करता था । उसने जानवर को मारकर उसकी खाल सूखने पेड़ पर लटका दी और हवा के/हिलने से हिलती जब कोई सूखी डाल उसमें लगी, तो टँग की आवाज़ हुई । उसने हाथ मारकर देखा और फिर वह ध्वनि सुनी, उसे अच्छी लगी । तब उसने अनुभव किया होगा कि जानवरों की खाल से कर्णप्रिय ध्वनि निकलती है ।

उपरोक्त तथ्यों के साक्ष्य के रूप में विभिन्न गुफाचित्र आज भी प्राप्त होते हैं । भीम-वैटिका के कितने ही गुफाचित्रों में आदिमानव-समूह को नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है । उन चित्रों को ध्यान-पूर्वक देखने पर ज्ञात होता है कि चित्रित नर-नारियों के हाथ और पैरों की गति किसी लय-विशेष में हो रही है । सम्पूर्ण शरीर किसी गति-विशेष में ही आगे या पीछे की ओर समवेत रूप में झुक रहा है ।

एक चित्र में नर-नारी गोला बनाकर चक्राकार नृत्य करते दिखाये गये हैं। दूसरे चित्र में पुरूष हाथों में धनुष लेकर, तीर चढ़ा कर नृत्य कर रहे हैं। एक अन्य चित्र में लगभग 40 व्यक्ति, कुछ निःशस्त्र और कुछ धनुष व तीर लेकर भिन्न मुद्राओं और अंग-विक्षेपों के साथ सामूहिक नृत्य कर रहे हैं। सात व्यक्ति बांसुरी जैसा वाद्य फूंककर बजा रहे हैं। सभी चित्रों की गतिशीलता सराहनीय है। इनमें से कई चित्र तो पन्द्रह हजार वर्ष से भी अधिक पुराने, वैज्ञानिक जाँच द्वारा, सिद्ध किये जा चुके हैं। इन चित्रों की किसी लय-विशेष में गतिमयता हमें नाट्यशास्त्र की ताल-परिभाषा "कला पात लयान्वितम्" की ओर इंगित करती है। लगता है कि आदिम मानव ने प्रकृति के सान्निध्य में रहकर किसी विशेष लय में कल-कल निनाद करती नदियों एवं प्रपातों की गति को देखा था। पेड़ों की डालियों को वायु-वेग से झूमते हुए और लताओं को वृक्षों से लिपटकर किसी लय-विशेष में हिलते हुए देखा था। वन्य पशु-पक्षियों को प्रणय-निवेदन, विजय-प्राप्ति, कामेच्छा-तृप्ति आदि के अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से चलते, कूदते और नाचते हुए देखा था। उस मानव को भी अपने भावों के प्रगटीकरण के लिए ताली बजाने एवं नाचने की प्रेरणा मिली होगी। इस प्रकार से उस मानव के नृत्यों में इतनी सजीवता, गतिमयता, अर्थात् लयाभिव्यक्ति उत्पन्न हुई।

ताल शब्द का प्रयोग तो हमें वैदिक-कालीन संगीत-साहित्य के परवर्ती काल में ही मिलता है, परन्तु जिस ताल-तत्व का नाट्यशास्त्र आदि संगीत के महान् ग्रन्थों में व्याख्या करके निरूपण किया गया है, वह "लयः एव हि ताल" - यह भावना हमें इन प्राचीन गुफाचित्रों में भी देखने को मिलती है। जैसे लय के बिना भावाभिव्यक्ति, रस-संचार असम्भव है, वैसे ही लय के बिना ताल और ताल के बिना लय भी अधूरे हैं।

प्रागैतिहासिक काल में सामूहिक रूप में यह लयमयता ही ताल-भावना की ओर इंगित करती है । आज भी मध्यप्रदेश, बिहार, सुदूर पूर्वी सीमा की वन्य जातियों के नृत्य एवं गान में हम लय, गतिमयता तथा ताल का अचूक प्रयोग देख सकते हैं । हाँ, यह सम्भव है कि वे 'ताल' शब्द और उसके शास्त्र से पूर्णरूप से अपरिचित हों । किसी गति विशेष में ताली बजाना ही हमें "हस्त द्वयस्य संयोगे वियोगे चापि वर्तते" - इस सिद्धान्त के अनुसार नृत्य-गान का तालानुगामी होना सिद्ध करता है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मानव के संगीत में प्रागैतिहासिक काल से ही ताल तत्व विद्यमान था ।

वैदिक साहित्य में सामगान के समय हाथ से पात करके मात्रा-काल का निर्वाह किया जाता था, ऐसा उल्लेख है । इस क्रिया को करने वाले व्यक्ति को गणक अथवा पाणिघ्न कहा जाता था । सामगान में जैसे स्वर-शुद्धि परमावश्यक थी, उसी प्रकार काल-मापन भी अनिवार्य था ।

इस प्रकार भारतीय संगीत में हम "ताल: काल क्रिया मानं लय साम्यम्" - इस मूल सिद्धान्त को अतिप्राचीन काल में ही देखते हैं । यद्यपि वैदिक साहित्य में हमें ताल शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु परवर्ती काल के ग्रन्थों में हमें, ताल, ताल-सिद्धान्त और उसके क्रियात्मक रूप आदि का विशद वर्णन मिलता है ।

(ई) ताल की आवश्यकता :

मानव-जीवन की सारी क्रियायें नियमबद्ध हैं, समयबद्ध हैं। अनियमित व असंयमित जीवनचर्या दुखद होती है। यह नियमबद्धता ही मानव-जीवन की लय-ताल है। ब्रह्माण्ड में चर-अचर सभी का व्यापार लय-ताल-बद्ध है। प्रत्येक ग्रह एक-दूसरे की प्रदक्षिणा एक नियमित लय (गति) में निश्चित काल में पूर्ण करता है। यह काल और गति की निश्चितता ही अन्योन्य ग्रहों के आकर्षण का कारण है। इस काल और गति की अनियमितता उनमें विकर्षण उत्पन्न कर देगी, जिसके परिणाम अत्यन्त भयंकर हो सकते हैं। इस निश्चित गति और निश्चित काल के नियमन का कार्य संगीत में ताल और काव्य में छन्द करता है। गति-मयता ही कला को सौन्दर्य प्रदान करती है। संगीत गतिमय है। स्वरों का स्थायित्व यद्यपि संगीत का मूलतत्व है, परन्तु गतिमयता उसका प्राण है। परन्तु इस गति को भी निश्चित लय और काल में बाँधना आवश्यक है। इस नियमन का कार्य ताल करता है। संगीत के स्वरूप-रक्षण, चलन तथा शैलियों के विकास, सौन्दर्याभिवृद्धि, रस-निष्पत्ति आदि सबका मूलस्रोत ताल ही है। संगीत के मूल्यांकनकारक तत्वों में प्राथमिकता ताल-तत्व को ही दी जा सकती है।

संगीत में ताल की आवश्यकता के बारे में हमें थोड़ा विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

संगीत का मुख्य ध्येय आनन्द उत्पन्न करना है। इसी रागात्मक शक्ति के विकास के लिए उसे 'ताल' की सहायता लेना अनिवार्य हो जाता है। बिना 'लय' के संगीत का विकास हो ही नहीं सकता। इसी लय को सुव्यवस्थित करने के लिए लय और ताल के ज्ञान की आवश्यकता होती है। हमारे आचार्यों का तो यह कथन है कि जिसको ताल का ज्ञान नहीं

होता है, वह संगीतज्ञ कहलाने का अधिकारी ही नहीं है । अत: अथक परिश्रम करके ताल-ज्ञान अर्जित करना प्रत्येक संगीतज्ञ को आवश्यक है ।

स्वर की भाँति ताल भी रस की वृद्धि में सहायक होती है। गायक-वादक अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की लयकारियाँ प्रस्तुत करता है, और ताल-वाद्य-वादक उन्हीं के अनुरूप बन्दिशों से मूल क्रिया की संगति करता है, जिससे रसानुभूति होती है और श्रोता प्रसन्न होताहै।

'ताल' संगीत के प्रत्येक अंग का आधार है । यद्यपि 'स्वर' भी आवश्यक है, परन्तु वह भी ताल के अभाव में नीरस और निर्जीव रहता है । ज्यों ही व ताल का अनुसरण करता है, वह सजीव हो जाता है । संगीत की सभी क्रियाएँ प्राय: तालबद्ध होती हैं । वादन तो पूर्णत: ताल पर ही आधारित है । प्रस्तुतीकरण में जरा-सा भी विचलित होने पर ताल की मात्रा-काल में अन्तर आ जाता है और इस प्रकार ताल-विहीनता संगीत के सारे सौन्दर्य को नष्ट कर देती है ।

नृत्यकला में भी ताल और लय का ही प्रभुत्व होता है, इसमें एक-एक कदम पर ताल की सहायता लेनी पड़ती है । इसके अतिरिक्त तन्तु तथा सुषिर वाद्यों के साथ भी ताल का प्रयोग होता है । बिना ताल के उनमें भी आनन्द की वृद्धि नहीं होती है । 'सुगम-संगीत' व 'लोक-संगीत' में तो लय का ही प्रभुत्व दिखाई देता है । सारांश यह है कि संगीत का आधार लय और ताल ही है ।

इस प्रकार ताल संगीत को एक निश्चित नियम और समय के बन्धन में बाँधता है ।......भारतीय संगीत में तो गुणीजन ताल न जानने वाले को गायक या वादक भी मानने को तैयार नहीं हैं -

"यस्तु ताल न जानाति, गायको न च वादक: ।"

'संगीतरत्नाकर' व 'नारदार्थ-रागमाला' के निम्न श्लोक में कहा गया है कि जिस प्रकार देह में प्रधान मुख है और मुख में नासिका, उसी प्रकार तालविहीन संगीत नासिकाविहीन मुख के समान है -

"मुख-प्रधान-देहस्य नासिका मुख-मध्यके ।
तालहीनं तथा गीतं नासाहीनं मुखं यथा ।।"[1]

गीत, वाद्य एवं नृत्य की तुलना मदमत्त हाथी से देकर ताल को अंकुश की उपमा दी गयी है -

"तौर्यत्रिकं च मत्तेभस्तालस्तस्यांकुशं विदुः ।"[2]

डॉ० अरुणकुमार सेन ने अपने शोध-निबन्ध में 'भक्ति-रत्नाकर' के रचयिता श्री नरहरि चक्रवर्ती का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस प्रकार बिना पतवार के नाव होती है, वैसे ही तालविहीन संगीत होता है एवं तालविहीन संगीत अशुद्ध संगीत है -

"गीते तालयुक्त ताल विना शुद्धि नय ।
जैछे कर्णधार बिना नौका तैछे हय ।।"[3]

इतना ही नहीं, हमारे संगीताचार्यों ने तालविहीन गायन को गाना न कह कर रोना कहा है, क्योंकि रोने में स्वर तो होता है परन्तु ताल नहीं होता है ।

इस प्रकार हम अनुभव करते हैं कि गायन को निश्चित गति और नियमित काल में चलाने के लिए ताल का निर्माण हुआ है । ताल से गायन में जीवन-संचार होता है। ताल संगीत का प्राण है ।

---

1. सुबोध नन्दनी कृत 'भारतीय संगीते ताल ओ छन्द, बंगला, पृ० 2
2. कात्यायन स०द०, पृ० 108
3. भा०ता०शा०वि०, पृ० 50

भारतीय संगीत में प्रस्तुतीकरण के लिए निबद्ध और अनिबद्ध दोनों भेद स्वीकृत हैं। इसलिए कुछ तक गायक-वादक दोनों को अनिबद्ध प्रस्तुतीकरण की स्वतन्त्रता है। परन्तु कुछ काल के बाद ही इस अनिबद्ध गायन-वादन से श्रोता ऊब जाता है। यह अनिबद्ध गायन-वादन अधिक असह्य न हो जाये, इसलिए श्रेष्ठ मार्दंगिक और तबला-वादक आलाप के समय न्यास स्वर पर आलाप समाप्ति के समय दाहिने पर थाप देकर श्रोताओं का ध्यानाकर्षण करते रहते हैं। नृत्य का तो ताल प्राण ही है। नर्तन तो अनिबद्ध हो ही नहीं सकता। तालविहीन नर्तन भोंडा और असह्य होता है। भारत की सभी नृत्य-शैलियों में गायन अथवा लहरा (राग तालबद्ध रचना) प्रारम्भ होने के पश्चात् ही नृत्यकार अपनी क्रिया आरम्भ करता है।

ताल के बिना किसी भी गायन और वादन के स्वरूप की रक्षा नहीं हो सकती है। ताल ही वह ढाँचा है, जिसकी सीमा में रह कर कलाकार राग-रागनी के स्वरूप की रचना करता है। जिस प्रकार मानव-शरीर की रचना के लिए अस्थिपंजर आवश्यक है, उसी प्रकार राग-रचना के लिए ताल आवश्यक है। इसके बिना राग के विभिन्न तत्वों का अनुपात भंग हो जायेगा। कल्पना कीजिये कि यदि किसी रचना का पूर्ण नोटेशन भी तालविहीन हो, तो क्या उस नोटेशन से बन्दिश का त्रुटिपूर्ण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है? निश्चित रूप से नहीं। प्राचीन आचार्यों की बन्दिशों के रूप हम राग और ताल के नाम ज्ञात होने पर निर्मित कर लेते हैं, यद्यपि उन बन्दिशों का स्वरांकन उपलब्ध नहीं है। ताल, राग-रचना के स्वरूप-रक्षण में विशेष महत्व रखता है।

ताल के आधार पर ही कलाकार अपनी रचना में लयकारी की विविधता उत्पन्न करता है। चार मात्रा काल में तीन मात्रा, पाँच मात्रा अथवा सात मात्रा आदि-आदि की क्रियाओं, विविध छन्दों एवं

शैलियों का चमत्कार ताल की सीमा में बद्ध रहकर ही प्रभावी हो सकता है। किसी भी छन्द का प्रयोग, सवाई-डेढ़ी लय का प्रदर्शन आदि ताल की मौलिक लय के आधार पर ही किया जा सकता है। जिस प्रकार से कुशल व्यक्ति के द्वारा आकाश में उड़ाई गयी पतंग डोर के आधार पर ही विविध प्रकार से ऊँची, नीची, सीधी एवं इठलाती हुई चलती है और दर्शक को प्रसन्न करती है, उसी प्रकार संगीत में भी उड़ान के लिए ताल का आधार आवश्यक है।

ताल एक ओर जहाँ समय का माप करता है, वहाँ दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण लयों एवं गतियों के द्वारा संगीत में विविधता भी उत्पन्न करता है। समयबद्ध एक सा संगीत कुछ काल बाद नीरस लगने लगता है। उस नीरसता के क्षणों में एक चमत्कारपूर्ण तान, तोड़ा अथवा परन का प्रयोग करके गायक-वादक कलाकार श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करके संगीत और रंगभवन में स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है। अखण्ड, एक लय वितृष्णा उत्पन्न करती है। ताल उस अखण्डता को दूर करता है, विविधता उत्पन्न करता है और संगीत को सरस बनाता है। इसके अतिरिक्त लय की चंचलता के प्रवाह में कलाकार द्वारा संयम भंग न हो जाये, इसलिए उसका नियमन भी करता है। "नमक बिन खाना और गमक बिन गाना" रुचिकर नहीं होता, ऐसी कहावत है। परन्तु उसी नमक अथवा गमक का अनुपाताधिक्य खाने और गाने को अयोग्य सिद्ध कर देता है। ताल उसका नियामक है।

संगीत का चरम ध्येय है - रसाभिव्यक्ति। रस के बिना संगीत नीरस है और नीरस वस्तु को कोई भी व्यक्ति नहीं पसन्द करता है। इस रसाभिव्यक्ति के लिए रसानुकूल शब्दों से युक्त गीत, रसानुकूल राग-स्वरावलियों का प्रयोग, गायन-वादन का समय एवं श्रोता की मनः-स्थिति आदि आवश्यक हैं। परन्तु इन सबसे अधिक आवश्यक है -

रसानुकूल ताल का चयन । प्रत्येक ताल की अपनी एक मौलिक लय होती है । उसी के सहारे ताल रसाभिव्यक्ति में सहायक होता है । वियोग-शृंगार के लिए द्रुतलय का त्रिताल, रौद्र रस के लिए विलम्बित लय का एकताल अथवा शान्त रस के लिए कहरवा ताल, कभी भी अनुकूल नहीं हो सकता । राग-चयन, पद-रचना आदि सभी कुछ व्यर्थ होगा । परन्तु वियोग-शृंगार के लिए विलम्बित एकताल और संयोग-शृंगार के लिए मध्य और द्रुत लय का त्रिताल रस-वृद्धि कर देगा । निर्वेद के लिए मध्य विलम्बित लय अनुकूल है । रौद्र रस के लिए द्रुत लय आवश्यक है । इस प्रकार हम अनुभव कर सकते हैं कि उपयुक्त ताल के बिना रस-निष्पत्ति सम्भव नहीं है । ताल रसाभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संगीत के लिए ताल उतना ही आवश्यक है, जितना मानव-शरीर के लिए अस्थिपंजर । पुराने उस्ताद लोग कहते थे - "बेसुरा चल जाता है, बेताला नहीं "। आशय है कि एक बार स्वर की भूल क्षम्य है, परन्तु ताल का प्रमाद अक्षम्य है । ताल की भूल सभी श्रोता अनुभव कर सकते हैं, स्वर की अस्वरता कुछ ही लोग अनुभव कर पाते हैं । संगीतोपनिषद्सारोद्धार में आचार्य सुधाकलश ने लिखा है -

"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं तालवर्जं न शोभते
तालाभावान्न मेलः स्यादमेलादव्यवस्थिति ।
न रंगमव्यवस्थातो विना रंग कुतो लयः
लयं विना न सौख्यं स्यात् तन्मूलं ताल उच्यते ।"[1]

अर्थात् - गायन, वादन और नृत्य ताल के बिना कभी सजते नहीं । ताल

---

1. अध्याय 2/5,6

के अभाव में कलाकार, संगीतिकार आदि में मेल नहीं होता और मेल के अभाव में अव्यवस्था हो जाती है । इस अव्यवस्था से रंग उत्पन्न नहीं होता । रंग के बिना लय नहीं उत्पन्न हो सकती ॥यहाँ लय शब्द का अर्थ है - लीयते यस्मिन्, जिसमें लीन हो जाये॥ और लय के बिना सुख अर्थात् रसानुभूति नहीं होती । अतः ताल ही रसाभिव्यक्ति का मूल-तत्व है ।

ताल की महत्ता

भारतीय संगीत में 'स्वर' और 'ताल' दोनों ही महत्व-पूर्ण व एक-दूसरे के पूरक हैं । ताल की क्रिया आज के युग में अवनद्ध वाद्य से जुड़ी हुई है । भारतीय संगीत के दोनों पक्षों - लोक-संगीत तथा शास्त्रीय-संगीत में ताल का महत्वपूर्ण स्थान है । ताल के बिना हम संगीत में आनन्द की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं । संगीत में ताल-वाद्यों के द्वारा आनन्द का सृजन होता है ।

ताल की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य बृहस्पति ने कहा है - बालक अत्यानन्द में आकर गाते, तालीं बजाते और नाचने लग जाते हैं । इससे यह प्रतीत होता है कि गीत, ताल तथा नाच ये सबको आनन्द देनेवाले हैं । गीत और नाच की प्रतिष्ठा ताल से है । केवल ताल वाद्यों का वादन सुनते समय हमारे हाथ, सिर या पैर हिलने लगते हैं, अथवा ताल की गति का अनुसरण करने लगते हैं । संकोच के कारण हम नाचते नहीं हैं, पर बालक तो ठुमकने लगते हैं । इससे यह कहना अन्योक्तिपूर्ण न होगा कि आनन्द ही ताल के रूप में विद्यमान है ।

संगीत में ताल-वाद्य बजना परम आवश्यक है । हमारे संगीत में ताल-वाद्य पर आघात केवल समय नापने के लिए ही नहीं किया जाता है,

समय-मापन के साथ-साथ उसका महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न प्रकार से हस्त-संचालन करके विभिन्न प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करना भी होता है। तालवाद्य-वादक अपने हाथों के मृदु और कठोर आघातों के द्वारा लय के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित करता है। ध्वनियों में सामंजस्य व तारतम्य उत्पन्न करता है और इन सब क्रियाओं के द्वारा एक ऐसे ध्वन्यात्मक वातावरण का सृजन करता है कि जो रसाभिव्यक्ति में सहायक होता है। गायन, वादन अथवा नृत्य अकेले अपने आप में अवनद्ध वाद्यों के बिना एकांगी रह जाते हैं तथा अभीष्ट रस की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहते हैं। हमारे देश के संगीत के आचार्यों ने विभिन्न ताल-वाद्यों पर तालमय ध्वनियों को निकालने के लिए हस्त-संचालन के ढंगों पर विस्तृत विचार किया है। संगीत की प्रत्येक विधा में किस प्रकार के पाटाक्षरों की रचना कैसे प्रयोग में लायी जाये, इस पर भी उन्होंने पर्याप्त विचार किया है। यह सब विचार शिक्षा अभ्यास द्वारा अवनद्ध वाद्यों के वादन में कुशलता प्राप्त करके गायन, वादन और नृत्य को अधिकतम प्रभावी और रसमय बनाने के लिए ही किया गया है।

भारतीय संगीतज्ञों को ताल-वाद्यों का बेसुरा होना सह्य नहीं है। क्योंकि हमारे संगीत में ताल-वाद्य केवल आघात (बीट्स) ही नहीं देते हैं, वरन् उनका कार्य बहुत विशद है। इसलिए ताल-वाद्यों के ऊपर स्याही का प्रयोग किया जाता है, उनको गायक अथवा वादक के स्वर में ठोक-बजाकर मिलाया जाता है, ताकि उनसे जो ध्वनि उत्पन्न हो वह गायक और वादक के स्वरों से सम्वाद करके कर्ण-मधुर हो जाये। कई बार प्रदर्शन के बीच में भी यदि किंचित् भी ताल-वाद्य बेसुरा हो जाता है, तब वादक अपनी क्रिया रोककर अपने ताल-वाद्य को पुनः स्वर में स्थापित करता है। इसके विपरीत पाश्चात्य संगीत में अवनद्ध वाद्यों का कोई विशेष महत्व नहीं है। वे केवल बीट्स देते हैं। वहाँ पर रिद्म और बीट्स दिखाने के लिए ड्रम का प्रयोग किया जाता है।

लोक-संगीत के वाद्य जैसे - ढोल, ढोलक, नगाड़ा, तबला आदि सबमें स्याही लगी होती है । मुहर्रम में बजने वाले ढोल, जो लकड़ी से बजाये जाते हैं, उनमें भी पूड़ी के अन्दर की ओर से स्याही लगाते हैं । इन सभी वाद्यों की प्रत्येक चाल किसी न किसी ताल से अवश्य ही सम्बन्धित होती है । भरत नाट्यशास्त्र में घन वाद्यों को ही ताल का आधार माना गया है, जैसे - घण्टा, घड़ियाल, मंजीरा आदि । इनका लयाश्रित वादन ताल को स्पष्ट करता है । दक्षिण भारतीय संगीत में आज भी ताली अथवा मंजीर से ताल-प्रदर्शन किया जाता है । इस प्रकार अवनद्ध वाद्यों का व घन वाद्यों का वादन हमारे संगीत का महत्वपूर्ण अंग है। चाहे दक्षिण भारतीय पद्धति का गायन-वादन हो अथवा उत्तर भारतीय, दोनों में वे ही ताल-वाद्य-वादक श्रेष्ठ माने जाते हैं, जोकि अपने आघात के द्वारा प्रमुख गायक अथवा वादक के द्वारा गायी और बजायी जाती शब्दावली और स्वरावली की प्रतिमूर्ति उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं । हमारे यहाँ इसी क्रिया को संगति कहा जाता है ।

ताल के दस प्राण

परम्परागत रूप में प्राचीन काल से ही भारतीय संगीत में ताल संरचना के कुछ मूलभूत आधार माने जाते हैं । अलग-अलग ग्रन्थों में इनके क्रम, संख्या और कुछ के नामों में भिन्नता मिलती है जैसे भरत नाट्य शास्त्र में 1- काल, 2- कला, 3- पात्र, 4- लय, 5- मार्ग, 6- योनि, 7- यति, 8- पार्णि, संगीत रत्नाकर में 1- काल, 2- क्रिया, 3- मार्ग, 4- कला, 5- लय, 6- यति, 7- ग्रह व 8- प्रस्तार तथा संगीत समय सार में 1-कालमान, 2- क्रिया, 3- मात्रा, 4- लय, 5- यति, 6- मार्ग, 7- ग्रह, 8- प्रस्तार इत्यादि, किन्तु ताल संरचना के 10 मूलभूत आधारों का ताल के दस प्राण के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख नारद कृत "संगीत मकरन्द" ग्रन्थ में इस प्रकार मिलता है:

"कालमार्गक्रियाङ्गानि ग्रहजातिकलालयाः ।
यतिप्रस्तारकं चैव तालप्राणा दश स्मृताः ।। 5 ।।

(नृत्याध्याये, तृतीयःपादः)

अर्थात् काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार यह ताल के दस प्राण हैं ।

नारदकृत संगीत मकरन्द को कुछ विद्वान प्राचीन और कुछ विद्वान मध्यकालीन ग्रन्थ मानते हैं । अतः इसके अनुसार ताल के दस प्राण को कुछ लोग मध्यकालीन परिकल्पना मानते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन परम्परा से चले आ रहे ताल संरचना के मूलभूत आधारों की परिकल्पना ही आगे सुव्यवस्थित होकर "ताल के दस प्राण" के रूप में प्रस्फुटित हुई । "ताल" को क्रियात्मक रूप में साकार व गतिमान बनाने अर्थात् जीवन देने में महत्वपूर्ण होने के कारण ही संभवतः इन्हें ताल के 10 प्राण न कहकर "दस प्राण" कहा गया है । और ताल की संरचना व उसके प्रत्यक्ष प्रयोग में इन सबका अत्यन्त महत्वपूर्ण योग माना गया है ।

भारतीय संगीत की आधुनिक ताल पद्धति बहुतअंशों में बदल जाने के कारण प्रत्यक्ष व्यवहार में यद्यपि अब इनमें से कई का महत्व नहीं रह गया, फिर भी भारतीय ताल संरचना की पृष्ठभूमि को समझने में इनका अध्ययन सहायक व उपयोगी है । ताल के दस प्राणों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :

(1) काल : साधारणतः काल का अर्थ है समय, परन्तु ताल के विशिष्ट संदर्भ में काल का तात्पर्य ताल का तालअंगों के लिए नियत काल

प्रमाणों से है । इसके लिए भारतीय मनीषियों ने सूक्ष्म से स्थूल कालखंडों की परिकल्पना क्षण, लव, काष्ठा, निमेष, कला, त्रुटि या अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत के रूप में करते हुये इनमें से अणुद्रुत या विराम को चौथाई मात्रा, द्रुत को आधी मात्रा, लघु के एक मात्रा गुरु को दो मात्रा और प्लुत को तीन मात्राओं के बराबर माना गया है[1] ।

"मार्ग" तालों में केवल लघु , गुरु और प्लुत इन्हीं तीन काल प्रमाणों का व्यवहार होता था । इनमें से लघु अर्थात् एक मात्रा काल प्रमाण को "पंच निमेष" अर्थात् पंचवर्ग के वर्णों में "क, च, ट, त, प" इन पांच प्रारंभिक लघु अक्षरों के स्वाभाविक रूप से क्रमशः उच्चारण करने में लगने वाले समय के बराबर माना गया है[2] ।

मनोरंजन प्रधान होने से देशी संगीत के तालों में यथायोग्य शोभा के लिए "लघु" अर्थात् एक मात्रा काल का परिमाण चार या छः लघु अक्षरों के स्वाभाविक उच्चारण काल के बराबर बताते हुये[3] उसके तालों में अणुद्रुत या विराम द्रुत लघु, गुरु और प्लुत इन पांच काल प्रमाणों का व्यवहार किया जाना बताया गया है[4] । दक्षिण भारतीय ताल पद्धति में आज भी इन पांच काल प्रमाणों का उपयोग तो होता ही है, इसके अतिरिक्त चार मात्रा काल वाले "काक पद" नामक एक अन्य काल प्रमाण का भी व्यवहार किया जाता है।

वर्तमान दक्षिण भारतीय संगीत के तालों में व्यवहार किया जाने वाला एक मात्रिक "लघु" मूलतः चार लघु अक्षर काल का माना जाता है जिसका परिमाण तिस्त्र, चतुस्त्र, खण्ड, मिश्र और संकीर्ण जातीय तालों में क्रमशः तीन, चार, पांच, सात व नौ लघु अक्षर काल हो जाता है ।

वर्तमान उत्तर भारतीय अर्थात् हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के तालों में एक मात्रा काल का कोई नियत् प्रमाण नहीं होने से तालों की लय घटने या बढ़ने के अनुसार मात्रा का काल प्रमाण भी घटता या बढ़ता रहता है । फिर भी प्रायः यह देखा गया है कि हिन्दुस्तानी संगीत में मध्य लय के परिमाण मोटे तौर पर एक लघु अक्षर काल अर्थात् "अणुद्रुत" या "विराम" के बराबर होता है । इसलिए स्व०पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने विभिन्न गीतों की

1. ॥सुधाकर, पंचमस्तालाध्यायः, श्लो०सं०16 की टीका॥
2. ॥संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः॥
3. ॥कलानिधि, सं०र०, पंचमस्तालाध्यायः, श्लो०सं०237॥
4. संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः, श्लो०सं०3 व 16

लय के अनुसार ताल के मात्रा काल या प्रमाण भिन्न रूपों में माना था। उनकी स्वरांकन पद्धति में द्रुत लय के गीतों में "अणुद्रुत" को मध्य लय के गीतों में "द्रुत" को और विलम्बित लय के गीतों में "लघु" को एक मात्रा काल माना गया है।

॥2॥ मार्ग : मार्ग का अर्थ है रास्ता। किसी निर्दिष्ट मार्ग से चलना, अर्थात् ताल में किसी निर्दिष्ट विधि के अनुसार काल प्रमाणों का प्रयोग करना ही मार्ग है।

प्राचीन भारतीय संगीत में "गुरु" काल प्रमाण को कला माना गया है और कला के तीन विशिष्ट विधि से प्रयोग को मार्ग कहा गया है। भरत नाट्य शास्त्र में "चित्र", "वृत्त" और "दक्षिण" नामक तीन मार्ग बताये गये हैं, जिनके अनुसार कला अर्थात् गुरु का व्यवहार "चित्रमार्ग" में दो मात्रा वृत्त मार्ग में चार मात्राओं और दक्षिण मार्ग में आठ मात्राओं के रूप में किया जाता था[1]। संगीत रत्नाकर में "ध्रुव" नामक एक अन्य मार्ग का भी उल्लेख किया गया है कि जिसमें कला को एक मात्रा बताया गया है[2]। वर्तमान ताल पद्धति मेंमार्ग का कोई व्यवहार नहीं है।

॥3॥ क्रिया : क्रिया का अर्थ है, करना। क्रिया का व्यवहार ताल की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। मूलरूप में क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं, ॥1॥ सशब्द क्रिया, अर्थात् ध्वनियुक्त, ॥2॥ निःशब्द क्रिया, अर्थात् ध्वनिहीन[3]। ताल के प्रत्यक्ष प्रयोग में हाथ से ताली देकर जो ध्वनि उत्पन्न की जाती है उसे सशब्द क्रिया और हाथ को हिलाकर केवल संकेत से बिना ध्वनि के जो क्रिया की जाती है, उसे निःशब्द क्रिया कहा जाता है।

सशब्द क्रियाओं के निम्नलिखित चार भेद बताये गये हैं[4] :-

॥1॥ ध्रुव - चुटकी बजाने को ध्रुव कहा गया है।

॥2॥ शम्या- दाहिने हाथ से आघात करने को शम्या कहा गया है।

॥3॥ ताल - बायें हाथ से आघात करने को ताल बताया गया है।

॥4॥ सन्निपात- दोनों हाथों के परस्पर आघात को सन्निपात कहा गया है।

निःशब्द क्रियाओं के निम्नलिखित चार भेद बताये गये हैं[5] :-

॥1॥ आवाप- हाथ को ऊपर उठाकर उंगलियों को सिकोड़ने का नाम आवाप

---

1. ॥नाट्यशास्त्रम्, एक त्रिंशोध्यायः॥
2. संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः
3. संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः
4. संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः
5. संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः

बताया गया है ।

(2) निष्काम - हथेली को नीचे की ओर करके उंगलियों को फैलाने की क्रिया को निष्काम कहा गया है ।

(3) विक्षेप - हथेली ऊपर करके उंगलियों को फैलाकर दाहिने ओर हाथ ले जाने को विक्षेप कहा गया है ।

(4) प्रवेश - हथेली को नीचे करके उंगलियों को सिकोड़ने की क्रिया को प्रवेश कहा गया है ।

वर्तमान भारतीय संगीत में तालों की सशब्द व निःशब्द क्रियाओं में से प्रत्येक के प्रयोग की एक ही विधि प्रचलित है । सशब्द क्रिया के रूप में दाहिने या बायें हाथ से आघात करते हुये ताली देने और निःशब्द क्रिया के रूप में किसी भी हाथ को दाहिने या बायें ओर हिलाकर केवल इशारा करते हुये खाली दिखाने की प्रथा है । कर्नाटक तालों में उसके प्रत्येक "अंग" के अनुसार केवल ताली और हिन्दुस्तानी तालों में निर्दिष्ट नियमानुसार प्रत्येक ताल खंड के प्रारम्भ में ताली या खाली की क्रिया करते हुये ताल का मान किया जाता है ।

(5) अंग : अंग का तात्पर्य विभाग या खंड से है । जिस प्रकार कोई शरीर कई अंगों से मिलकर बना होता है, उसी प्रकार किसी ताल की संरचना भी विभिन्न खण्डों से मिलकर बनी होती है । इन ताल खंडों को क्रियाव द्वारा नापने के लिए विभिन्न काल-प्रमाणों की परिकल्पना की गई है । अतः क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त किये जाने वाले तालखण्डों के काल प्रमाण ही "अंग" कहलाते हैं ।

प्राचीन मार्ग तालों में मार्ग, लघु, गुरु, और प्लुत इन्हीं तीन अंगों का व्यवहार होता रहा । "देशी" तालों में "अणुद्रुत" या विराम, द्रुत, लघु, गुरु तथा प्लुत इन पांच अंगों का व्यवहार बताया जाता है । वर्तमान दक्षिण भारतीय अर्थात् कर्नाटक संगीत की ताल पद्धति में इन पांच अंगों के अतिरिक्त "काक पद" नामक एक अन्य अंग भी व्यवहार में होने से वहां छः अंगों का उपयोग किया जाता है । इन छः अंगों में से "द्रुत" के साथ उसके आधे भाग को मिलाकर "द्रुत विराम" और "लघु" के साथ उसके आधे या चौथाई भाग को मिलाकर "लघु विराम" अंगों की भी परिकल्पना की गई है । इन सभी अंगों के विशिष्ट सांकेतिक चिन्ह नियत हैं जिनका विवरण

उनके काल प्रमाण सहित निम्नलिखित हैं :-

क्र०सं०	अंग	सांकेतिक चिन्ह	काल प्रमाण
1.	अणुद्रुत	˘	एक अक्षर काल
2.	द्रुत	0	दो अक्षर काल
3.	द्रुत विराम		तीन अक्षर काल
4.	लघु	।	चार अक्षर काल
5.	लघु विराम	ꞌ	पाँच(छः)अक्षर काल
6.	गुरु		आठ अक्षर काल
7.	प्लुत		बारह अक्षर काल
8.	काकपद	+	सोलह अक्षर काल

वर्तमान कर्नाटक संगीत में ताल को लिखित रूप में अभिव्यक्त करने के लिए प्रत्येक काल के अंगों के चिन्ह क्रमशः निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं जैसे-त्रिपुट ताल (आदि ताल) ।00 अथवा झंपाताल ।˘0इत्यादि ।

आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत में अंगों के सांकेतिक चिन्हों के स्थान पर प्रत्येक ताल के विभागों की मात्राओं को क्रमशः लिखकर विभागों को खड़ी रेखाओं से अलग-अलग विभक्त करते हुये प्रत्येक विभाग की प्रारम्भिक मात्रा के नीचे ताली या खाली को निर्दिष्ट कर देते हैं । प्रायः समअर्थक पहली ताली के लिए x या योग + चिन्ह अथवा । का अंक बनाते और तालियों के लिए प्रत्येक ताली के क्रमानुसार संख्या अथवा विभाग की प्रारम्भिक मात्रा लिख देने की प्रथा है, जैसे :-

झपताल

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
x		2			0		3		

अथवा

+ | 3 | 0 | 8

अथवा

1 | 3 | 0 | 8

(5) ग्रह : ग्रह का अर्थ है आरम्भ । ग्रह मुख्यतः दो प्रकार के हैं[1], समग्रह

1. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्यायः श्लोक सं०-5।

तथा विषमग्रह । गीत और ताल का प्रारम्भ समान रूप से एक साथ हो तो उसे समग्रह और यदि एक साथ न होकर आगे-पीछे हो तो उसे विषमग्रह कहते हैं ।

विषमग्रह के दो उपभेद हैं- ॥1॥ अतीत ग्रह और ॥2॥ अनागत ग्रह। गीत के प्रारम्भ होने के बाद ताल का प्रारम्भ होने पर अतीत ग्रह और गीत के आरम्भ होने के पहले ही ताल का आरम्भ अनागत ग्रह कहलाता है ।अतीत और अनागत को क्रमशः अवपाणि और उपरिपाणि भी कहा गया है[1]।

आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत में ताल के पहले मात्रा पर "सम" होता है । संगीत प्रस्तुत करते समय सभी कलाकार स्वाभाविकतया बार-बार सम पर आकर ताल में मिलते हैं । इसे साधारण भाषा में "सम" पर आना या सम दिखाना कहा जाता है । कलाकार अपने संगीत में सम को कायम रखते हुये भी ताल के रचनात्मक व चमत्कारपूर्ण कौशल प्रदर्शन के लिए कभी-कभी मूल-सम के पूर्व या पश्चात कृत्रिम सम का आभास दे देते हैं । इन विषम क्रियाओं को क्रमशः अतीत व अनागत कहा जाता है । इस प्रकार इस रूप में समग्रह तथा अतीत व अनागत आदि विषमग्रहों के नामों का प्रयोग अभी भी अस्तित्व में है । अनेक तबला वादक "विषम" के लिए "अकाल" शब्द का व्यवहार करते हैं ।

॥6॥ जाति : जाति का सामान्य अर्थ श्रेणी या वर्ग होता है । अतः ताल के संदर्भ में जाति का तात्पर्य तालों के विशेष वर्ग से है ।

प्राचीन मार्ग संगीत में तालों के "चतुरस्र" और "त्र्यस्र" नामक दो प्रमुख भेद माने गये हैं[2] । गणित के अनुसार एक से नौ तक ही मूल अंक हैं । इनमें से 2 तथा उससे विभाजित होने वाले 4, 6, 8 इत्यादि अंक समसंख्याय और 3, 5, 7, 9 इत्यादि अंक विषमसंख्याय मानी जाती हैं । अतः "सम" और "विषम" संख्याओं पर आधारित मात्राओं के अनुसार तालों के भी दो प्रमुख भेद होना संभव है ।

आवर्तन के रूप में परिकल्पित ताल की बार-बार पुनरावृत्ति भारतीय तालों की स्वाभाविक विशेषता है । सम संख्याओं वाले सबसे छोटी द्विमात्रिक ताल में दो बिन्दुओं की परिकल्पना से ताल के आवर्तन व उसके

---

1. संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः
2. संगीत रत्नाकर, पंचमस्तालाध्यायः

परिक्रमण की परिकल्पना पूरी नहीं होती जैसे । किन्तु, 2 से बड़ी 4 की "सम" संख्या पर आधारित ताल में चार बिन्दुओं से आवर्तन की परिकल्पना पूरी हो जाती है, जैसे [] । संभवतः इसीलिए "मार्ग" तालों में समसंख्यक मात्राओं वाले ताल व उसके भेदों का आधार चार और उससे गुणित संख्याओं को मानते हुये उन्हें "चतुरश्र" कहा गया है । चतुरश्र शब्द का अर्थ ही है- "चार" पर आश्रित" । विषम संख्याओं वाले तालों में सबसे छोटी तीन मात्राओं के अनुसार परिकल्पित तीन बिन्दुओं से ताल के आवर्त व उसके परिक्रमण की कल्पना पूरी हो जाती है । अतः तीन व उसके गुणित संख्या पर आश्रित ताल व उसके भेदों को "त्र्यश्र" कहा गया है[1] । प्राचीन मार्ग संगीत में चतुरश्र के यथा अक्षर रूप "चच्चत्पुटः" और त्र्यश्र के यथाक्षर रूप चाचपुटः को सर्वप्रमुख ताल बताया गया है[2] ।

वर्तमान दक्षिण भारतीय कर्नाटक संगीत के तालों में जाति शब्द का प्रयोग लघु के नियत अक्षर काल के अर्थ में किया जाता है, वहाँ ध्रुव, मठ, रूपक, झम्प, त्रिपुट, अठ व एक इन सप्तशूलादि तालों में से प्रत्येक की चतस्त्र, तीश्र, लघु का प्रयोग नियत अक्षरकाल के अनुसार होता है । लघु का अक्षर काल चतश्र में तीश्र में तीन खण्ड में-5 मिश्र में 7, संकीर्ण में 9 नियत है । इस प्रकार कर्नाटक संगीत में 5 जातियों के अनुसार सप्तशूलादि तालों की संख्या 7x5=35 होती जाती है और यही 35 ताल पंचगतिभेद से 35x5=175 तालों में विकसित हो जाते हैं[3] ।

वर्तमान उत्तर भारतीय तालों में जाति की परिकल्पना बहुत स्पष्ट व सुव्यवस्थित नहीं है । हिन्दुस्तानी संगीत के तालों में और उनके वजन से बनने वाली "छन्द गति" का अधिक महत्व है । अतः चतुर्मात्रिक ताल खण्डों के वजन पर ताली या खाली दिये जाने वाले कहरवा तथा त्रिताल व उसके सितारखानी, पंजाबी, जत, तिलवाड़ा आदि भेदों को प्रायः चतस्त्र जाति और त्रिमात्रिक तालखंडों के वजन पर ताली व खाली दिये जाने वाले दादरा ताल को तीश्र जाति ताल कहा जाता है । इनके अतिरिक्त द्विमात्रिक के बाद त्रिमात्रिक तालखंड के क्रम से युक्त 2+3+2+3 के वजन वाले झपताल को

1. भारतीयसंगीत में ताल और रूप विधान पृ०सं०. 29
2. नाट्यशास्त्र एकत्रिंशो ध्यायः
3. संगीत कौमुदी, चौथा भाग पृ०सं० 21 व 22.

खण्ड जाति और एक त्रिमात्रिक के बाद दो दो मात्रिक इस क्रम से युक्त ताल खंडों वाले अर्थात् 3 + 2 + 2 के वजन वाले रूपक, तीव्रा या 3 + 2 + 2 + 3 + 2 + 2 के वजन वाले रूपक, धमार तथा त्रिमात्रिक के बाद चतुर्मात्रिक ताल खंड के क्रम से युक्त 3 + 4 + 3 + 4 के वजन वाले धीपचन्दी व झूमरा तालों को प्रायः मिश्र जातीय ताल समझा जाता है ।

।7। कला : प्राचीन संगीत शास्त्रों के अनुसार ताल के संदर्भ में कला शब्द के निम्नलिखित कार्य हैं :-

1- निःशब्द क्रिया[1]

2- ताल का विशिष्ट भाग- इस अर्थ में गुरु अर्थात् द्विमात्रिक काल प्रमाण को कला कहा गया है[2] ।

3- ताल के अंगों को गुणन द्वारा बढ़ाकर ताल का स्वरूप परिवर्तन करना ।

वर्तमान ताल पद्धति में कलावृद्धि द्वारा काल के रूप वर्द्धन की प्रथा नहीं है । यद्यपि आवश्यकतानुसार ताल की मात्राओं के काल प्रमाण को घटा या बढ़ा अवश्य लिया जाता है परन्तु यह प्रक्रिया ताल की लय को विलम्बित या द्रुत करने के अन्तर्गत आती है । मात्रा काल बढ़ जाने पर उसी अनुपात में ताल की लय विलम्बित और मात्रा काल घटने या छोटे होने पर उसी अनुपात में ताल की लय द्रुत हो जाती है ।

।8। लय : प्राचीन संगीत शास्त्र में ताल क्रिया के बाद होने वाली विश्रांति का लय कहा गया है[3] । इस परिभाषा के अनुसार ताल में किसी एक क्रिया के बाद दूसरी क्रिया के पहले तक व्यतीत होने वाला अवकाश ही लय है । प्रत्यक्ष व्यवहार में ताल की किन्हीं दो क्रियाओं के बीच समय अपनी नियत समान गति से व्यतीत होता रहता है, इसलिए आजकल लोग लय को "समय की समान गति" के अर्थ में भी लेते हैं[4] ।

लय के मुख्यतः तीन प्रकार माने गये हैं :

1- द्रुत,

2- मध्य

3- विलम्बित

---

1. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्याय: पैरा नं0-4
2. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्याय: श्लो0नं0-20
3. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्याय: श्लो0नं0-44
4. संगीत कौमुदी पहला भाग, पृ0सं0 135.

शीघ्रतम लय को द्रुत मानते हुये उसके आधी लय को मध्य लय और मध्य लय के आधी लय को विलम्बित लय कहा गया है[1] । स्वस्थ्य मनुष्य की नाड़ी स्पन्दन गति सामान्यः मध्य लय में होती है, अतः उससे दुगुनी तेज लय द्रुत और उससे दुगुनी मन्द लय विलम्बित होती है ।

वर्तमान संगीत की विधाओं में प्रायः इन्हीं तीन लयों का व्यवहार होता है, फिर भी आजकल हिन्दुस्तानी संगीत के ख्याल गान में विलम्बित से दुगनी मन्द, अति विलम्बित तथा तराना गाने वाले व सितार वाद्य में झाला बजाने वाले द्रुत से दुगनी शीघ्र अतिद्रुत लय के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ी है ।

‍‍‍‍‍‍‍‍‍‍‍‍‍‍‍‍(9) यति : लय की प्रवृत्ति अथवा लय के विभिन्न रूपों में प्रयोग के नियम को यति कहा गया है[2] । द्रुत, मध्य और विलम्बित लय के संयोगों से विभिन्न रूपों में बने यतियों की विभिन्न आकृतियों में परिकल्पना की गयी है । संगीत रत्नाकर के अनुसार यति के तीन भेद हैं :

1- समा
2- स्रोता
3- गोपुच्छा[3]

1- समायति[4] : आदि, मध्य और अन्त तीनों में एक समान लय का व्यवहार होने पर समायति कहा जाता है। द्रुत, मध्य और विलम्बित लय के अनुसार समा यति के निम्नलिखित 3 भेद हो जाते हैं

1- आदि, मध्य और अन्त तीनों में द्रुत लय युक्त समायति ।
2- आदि, मध्य और अन्त तीनों में मध्य लययुक्त समायति ।
3- आदि, मध्य, अन्त तीन में विलम्बित लययुक्त समायति ।

2- स्रोतागता यति : जिस प्रकार स्रोत में क्रमशः जल बढ़ते जाने पर उसका उसका वेग भी क्रमशः बढ़ता जाता है उसी प्रकार जिस यति में क्रमशः लय की गति बढ़ती जाती है उसे स्रोतागता कहते हैं । इसके निम्नलिखित 3 प्रकार हैं :-

1- प्रारम्भ में विलम्बित, बीच में मध्य और अन्त में द्रुत लय युक्त युक्त स्रोतागता यति है ।

---

1. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्यायः श्लोक नं0 44
2. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्यायः श्लोक नं0 46
3. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्यायः श्लोक नं0 46
4. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्यायः श्लोक नं0 47

2- प्रारम्भ, मध्य तथा बाद में द्रुत लययुक्त स्रोतागता यति है ।

3- प्रारम्भ में विलम्बित तथा बाद में मध्य लय युक्त स्रोतागता यति है ।

3- गोपुच्छा यति : गाय की पूँछ प्रारम्भ में पतली और बाद में क्रमशः विस्तृत होती जाती है । उसी प्रकार लय आदि से अंत की ओर क्रमशः शीघ्र से मन्द गति के रूप में विस्तृत होती जाती है, तब इसे गोपुच्छा यति कहते हैं । गोपुच्छा यति के निम्नलिखित तीन भेद हैं :-

1- आदि में द्रुत, बीच में मध्य और अन्त में विलम्बित लय से युक्त गोपुच्छा यति ।

2- प्रारम्भ में द्रुत और बाद में मध्य लय से युक्त गोपुच्छा यति ।

3- प्रारम्भ में मध्य और बाद में विलम्बित लय से युक्त गोपुच्छा यति ।

समायति, स्रोतागता यति और गोपुच्छा यति के अतिरिक्त मृदंगा और पिपीलिका नामक दो अन्य यतियों का उल्लेख भी अन्य ग्रन्थों में मिलता है । अतः इस प्रकार यतियों की कुल संख्या-5 हो जाती है ।

4- मृदंगा यति : जिस प्रकार मृदंग वाद्य की आकृति में दोनों किनारे छोटे तथा बीच का भाग अधिक विस्तृत होता है, उसी प्रकार आदि और अन्त में शीघ्र तथा बीच में मन्द गति के लय का व्यवहार मृदंगा यति होता है । मृदंगा यति के निम्नलिखित 3 भेद होते हैं :-

1- आदि और अन्त में द्रुत तथा बीच में विलम्बित लय से युक्त मृदंगा यति ।

2- आदि और अन्त में द्रुत और बीच में मध्य लय से युक्त मृदंगा यति ।

3- आदि और अन्त में मध्य तथा बीच में विलम्बित लय से युक्त मृदंगा यति ।

5- पिपीलिका : जिस प्रकार पिपीलिका अर्थात् चींटी की बनावट आदि और अन्त में चौड़ी तथा बीच में पतली होती है, इसी प्रकार आदि और अन्त में मन्द गति और बीच में पतली शीघ्र गति वाली लय से युक्त यति को पिपीलिका यति कहते हैं । पिपीलिका यति के निम्नलिखित तीन भेद हैं :-

1- आदि और अन्त में विलम्बित तथा बीच में द्रुत लय से युक्त पिपीलिका यति ।

2- आदि और अन्त में मध्य तथा बीच में द्रुत लय से युक्त पिपीलिका यति ।

3- आदि और अन्त में विलम्बित तथा बीच में मध्य लय से युक्त पिपीलिका यति ।

आज भी पखावज, मृदंगम, ढोल व तबला इत्यादि अवनद्ध वाद्यों के उत्तम वादकों द्वारा विभिन्न लयकारियों से युक्त पाटाक्षरों की विशिष्ट निबद्ध रचनाओं के वादन में यतियों के विभिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं ।

॥10॥ प्रस्तार : प्रस्तार शब्द का अर्थ है, विस्तार । ताल के काल प्रमाण को अलग-अलग अंगों में बांटते हुये क्रम पूर्वक विस्तार करना ही ताल प्रस्तार कहलाता है ।

प्राचीन ताल पद्धति के अनुसार ताल कई अंगों से मिलकर बना होता है और इन सभी अंगों के काल प्रमाणों के जोड़ने पर ताल का काल प्रमाण पूरा होता है । ताल के इस सम्पूर्ण काल प्रमाण को प्लुत, गुरु, लघु व द्रुत इन चार अंगो में विशिष्ट अंगों क्रम से बांटना "चतुरंग प्रस्तार" और प्लुत, गुरु, लघु-विराम, लघु, द्रुत विराम व द्रुत इन छः अंगों में बांटना षडंग प्रस्तार है ।

ताल प्रस्तार की विधि इस प्रकार है :-

ताल के क्रमानुसार प्रस्तार के लिए सबसे पहले ताल के पूरे काल प्रमाणों को यथासंभव बड़े अंगों में बांटते हुये उनमें बड़े से लेकर छोटे अंग तक के चिन्हों को क्रमानुसार दाहिने ओर से बाईं ओर लिखना चाहिए । यह सबसे पहला प्रस्तार होगा, फिर इस प्रस्तार के अंगों में से अपेक्षाकृत सबसे छोटे अंग के बीच की पंक्ति में उससे भी छोटे अंग के चिन्ह लगाना चाहिए और अगर यह संभव न हो तो उसके पास वाले अपेक्षाकृत बड़े अंग के नीचे की पंक्ति में उससे छोटे अंगों में विभक्त कर उनके चिन्ह लिखकर दाहिनी ओर से शेष अंगों को ज्यों का त्यों उतार लेना चाहिए फिर इस प्रकार से पंक्तिबद्ध अंगों के काल प्रमाणों को जोड़कर देखना चाहिए कि ताल सम्पूर्ण काल प्रमाण पूरा होता है या नहीं । अगर कमी हो तो यथानुकूल बड़े अंग का चिन्ह बाईं ओर लगाकर उसे पूरा करना चाहिए, परन्तु पूरक अंगों के इस क्रम में भी

दाहिने ओर से बाईं ओर क्रमशः बड़े से छोटे अंगों के चिन्ह होने चाहिए। इसी प्रकार आगे सभी प्रस्तार को लिखना चाहिए।

1- एक द्रुत काल प्रमाण। एक ही प्रस्तार होगा।

प्रस्तार क्रम	स्वरूप
पहलाप्रस्तार	0

2- एक लघु काल प्रमाण। इसमें दो प्रस्तार हों।

प्रस्तार क्रम	स्वरूप
पहला प्रस्तार	।
दूसरा प्रस्तार	00

3- एक लघु विराम काल प्रमाण, अर्थात् एक द्रुत व एक लघु। इसमें तीन प्रस्तार होंगे।

प्रस्तार क्रम	स्वरूप
पहला प्रस्तार	0।
दूसरा प्रस्तार	।0
तीसरा प्रस्तार	000

4- एक गुरु काल प्रमाण। इसमें छः प्रस्तार होंगे।

प्रस्तार क्रम	स्वरूप
पहला प्रस्तार	S
दूसरा प्रस्तार	।।
तीसरा प्रस्तार	00।
चौथा प्रस्तार	0।0
पाँचवाँ प्रस्तार	।00
छठा प्रस्तार	0000

इस विधि से प्रस्तार करने पर एक द्रुत व एक गुरु काल प्रमाण के संयुक्त रूप। 0S। के दस और प्लुत। S। काल प्रमाण के। 9 क्रमिक प्रस्तार होंगे। विभिन्न मात्रा काल वाले क्रमिक प्रस्तारों की संख्या व स्वरूप आदि को गणित द्वारा निकालने के लिए संगीत रत्नाकर में संख्या, अंक, पंक्ति, नष्ट, उद्दिष्ट, पाताल, द्रुत मेरु, लघु मेरु, गुरु मेरु, प्लुत मेरु व संयोग मेरु इत्यादि विशिष्ट सूत्रों का विषद विवेचन किया गया है[1]।

1. संगीत रत्नाकर पंचमस्तालाध्यायः श्लोक सं0 313 से 408 तक.

वर्तमान उत्तर भारतीय अवनद्ध वाद्यों के वादक "प्रस्तार" के अर्थ में प्रायः बांट या बांट प्रस्तार शब्दों का व्यवहार करते हैं । कुछ मुस्लिम कलाकार उर्दू भाषा का "तक्सीत" शब्द भी इस्तेमाल करते हैं, जो कि बांट शब्दका ही पर्याय है । क्रमिक प्रस्तार के अर्थ में प्रायः सिलसिला शब्द का व्यवहार किया जाता है । हिन्दुस्तानी अवनद्ध वाद्यों के वादक अपने वाद्यों में दो प्रकार से बांट विस्तार करते हैं :-

1- लय बांट

2- बोल बांट

ताल के पूरे काल प्रमाण को विभिन्न टुकड़ों में बांटते हुये अलग-अलग मात्राओं पर बल ।वजन। देकर ताल के वैचित्र्य उत्पन्न करते हुये किये जाने वाले प्रस्तार को लय बांट और विविध पाटाक्षरों ।बोलों। के क्रम को बदलते हुये प्रस्तार को बोल बांट कहते हैं ।

अध्याय ६

१. भारतीयताललिपि पद्धति

२. कुछ अप्रचलित तालें

भारतीय ताल लिपि पद्धति

हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में दो ताल-लिपियाँ प्रचलित हैं जिन्हें भातखंडे पद्धति और विष्णु दिगंबर पद्धति कहते हैं ।

भातखंडे पद्धति

इस पद्धति में सम का चिन्ह x है और खाली का 0 है । जब किसी मात्रा को बढ़ाया जाता है, तो उसके आगे रेखा अथवा अवग्रह लगा दिया जाता है; जैसे- धा-अथवा धाऽ। जब एक से अधिक बोलों को एक मात्रा में रखना होता है, तो उन सब बोलों के नीचे एक चन्द्र जैसा चिन्ह लगा देते हैं, जैसे- तिरकिट । इस प्रकार लिखे जाते हैं । अर्थात यह बोल एक मात्राकाल में बजाये जायेंगे । सम को पहली ताली मानकर उसके अतिरिक्त अन्य तालियां जहां आती हैं, वहां उनकी गिनती लिख दी जाती है । इस पद्धति में झूमरा ताल का उदाहरण निम्नवत् है :-

धिं धा तिरकिट/धिं धिं धागे तिरकिट/तिं ता तिरकिट/धिं धिं धागे तिरकिट
x 2 0 3

विष्णु दिगम्बर पद्धति

इस पद्धति में प्रत्येक बोल के नीचे जितनी मात्राओं का वह बोल है, उतनी मात्राओं का चिन्ह लगा दिया जाता है । मात्राओं के चिन्ह निम्न प्रकार हैं :-

दो मात्राओं का चिन्ह — जैसे धा
आधी मात्रा का चिन्ह 0 जैसे धागे
चौथाई मात्रा का चिन्ह ◡ जैसे ति र कि ट
1/8 मात्रा का चिन्ह ◡ जैसे धि र धि र कि ट त क
1/3 मात्रा का चिन्ह ⌃ जैसे धा कि ट
1/6 मात्रा का चिन्ह ⌃ जैसे त क त क त क

सम के स्थान पर एक का अंक और खाली के स्थान पर + लगाते हैं । जिस बोल के नीचे जो मात्रा आती है, वहीं गिनती लिख देते हैं । झूमरा ताल को इस पद्धति में इस प्रकार लिखेंगे :- धिंऽ धा ति र कि ट धिं धिं धा गे ति र कि ट तिंऽ ता ति र कि ट धिं धिं धा गे ति र कि ट

दक्षिण (कर्नाटक) ताल लिपि पद्धति तथा हिन्दुस्तानी ताल लिपि पद्धति की तुलना

भारत के दक्षिण भाग जिसमें मद्रास, मैसूर तथा त्रिवेन्द्रम के प्रान्त आते हैं, उसमें जिस ताल पद्धति का प्रचार है, उसको लिपिबद्ध करने की शैली को कर्नाटकी या दक्षिणी ताल लिपि पद्धति कहते हैं। इसी प्रकार हिन्दुस्तानी या उत्तर की ताल को लिपिबद्ध करने की शैली को हिन्दुस्तानी या उत्तरी ताल लिपि पद्धति कहते हैं। इन दोनों की तुलना के पूर्व इन पद्धतियों पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

कर्नाटकी ताल पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके तालों के कोई निश्चित बोल नहीं होते। उनकी ताल के अनुसार विभिन्न अंगों (विभागों) में बांट दिया जाता है। उन अंगों को दर्शाने के लिए आजकल तीन अंगों का प्रयोग किया जाता है जिनके नाम, चिन्ह और अक्षरकाल इस प्रकार हैं :- अनुद्रुतम् चिन्ह ◡ , अक्षरकाल एक मात्रा, द्रुतम-चिन्ह 0, अक्षरकाल दो मात्रा-लघु, चिन्ह- I, अक्षरकाल चार मात्रा। अतः यदि किसी ताल के अंग 4, 4, 2, 4 मात्रा के हैं तो उसे कर्नाटकी काललिपि में ।।0। इस प्रकार लिखेंगे।

इसके विपरीत उत्तर भारत के तालों के बोल निश्चित होते हैं। उनको लिपिबद्ध करने की आजकल दो पद्धतियां प्रचार में हैं। एक को पं0 विष्णु दिगंबर ताल पद्धति और दूसरे को भातखंडे काललिपि पद्धति कहते हैं। इन दोनों पद्धतियों के चिन्ह भिन्न-2 हैं, जिस पर आगे विचार करेंगे। पहले विष्णु दिगम्बर काललिपि के चिन्ह दिये जा रहे हैं :-

4 मात्रा का चिन्ह x नाम- चतुरस्र

2 ,, ऽ ,, - गुरु

एक ,, — ,, - लघु

1/2 ,, 0 ,, - द्रुत

1/4 ,, ◡ ,, - अनुद्रुत

1/8 ,, ◡̈ ,, - अनु अनु द्रुत

सम का चिन्ह ।

खाली का चिन्ह +

ताली का चिन्ह ताली के स्थान पर मात्रा की संख्या का अंकन और मात्रा को आवश्यकतानुसार बढ़ाने के लिए अवग्रह (ऽ) का प्रयोग किया जाता

है । इस पद्धति में एक ताल का ठेका देखिये :

धिं धिं धागे ति र कि ट तू ना कत्त ता धागे ति र कि ट धी ना

— — 00 ◡ ◡ ◡ ◡ ऽ — — — 00 ◡ ◡ ◡ ◡ — —

| + 5 ऽ 9

भातखंडे ताल पद्धति, विष्णु दिगंबर ताल लिपि पद्धति की अपेक्षा सरल और प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए सुबोध है । इस पद्धति में यदि मात्रा का एक वर्ण है तो उसके नीचे कोई चिन्ह नहीं लगता और यदि एक मात्रा में एक से अधिक वर्ण है तो उन सबको एक ‿ चिन्ह के अन्दर रख दिया जाता है । जैसे- एक मात्रा का धा और एक मात्रा में तिरकिट । इस पद्धति में सम का चिन्ह x, खाली का चिन्ह 0 और ताली के लिए ताली की संख्या लिख दी जाती है । इस पद्धति में चार हे ताल देखिये :-

धा धा/दिं ता/किट धा/दिं ता/तेटे कता/गदि गन

x 0 2 0 3 4

अब नीचे फरोदस्त ताल तथा शिखर ताल को उत्तर तथा दक्षिण दोनों पद्धतियों में प्रदर्शित किया जा रहा है :- फरोदस्त ताल ।भातखंडे पद्धति।

धि धिं/धागे तिरकिट/तू ना/कत ता/धिन कधा/तिरकिट धिन/कधा तिरकिट

x 0 2 0 3 4 5

शिखर ताल ।विष्णु दिगम्बर पद्धति में।

धा तक धिन नक/धुं गा धिन नक/धुम किट तक/धेत् धा/तेटे कता ग दि ग न
— 00 00 00 — — 00 00 00 00 00 00 — 00 00 0 0 0 0
+ 5 9 14

दक्षिण की ताल लिपि पद्धति में फरोदस्त ताल 1000 और शिखर ताल को ।। 0 0 । लिखा जायगा ।

=====

कर्नाटक ताल पद्धति

=:=:=:=:=:=

कर्नाटक ताल पद्धति का संक्षिप्त इतिहास

संगीत के प्राचीन ग्रन्थों में ताल को "मार्गी" और "देशी" दो वर्गों में विभाजित किया गया है । इन तालों में शास्त्रीय तालों की संख्या 108 मानी गयी हैं । कुछ काल के बाद पुरन्दर दास ने कुछ अलंकारों की रचना करके 35 तालों के क्रम को अधिक प्रचलित कर दिया था । इनके अतिरिक्त इस पद्धति में "चापू ताल" जिसके "देशादि" और "मध्यादि" दो भेद हो जाते हैं तथा नवसंधि तालें जो प्राचीन काल से मंदिरों में प्रचलित हैं, और हैं। इन सब का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् दिया जा रहा है :

ताल के अंग

इस ताल पद्धति में तालों की रचना करने वाले विभागों को अंग कहते हैं, जैसे यदि कोई ताल छः मात्रा की है और उसके दो तथा चार मात्राओं के दो विभाग हैं जैसे - 1, 2 | 3, 4, 5 , 6 तो यहाँ कहा जायगा कि इस ताल के दो अंग हैं :

(1) दो मात्राओं का,

(2) चार मात्राओं का.

इस प्रकार इस पद्धति में मूल रूप से छः अंग माने गये हैं । इन छहों अंगों के नाम, चिन्ह और अक्षर काल जिसे मात्रा भी समझा जा सकता है, पृथक- पृथक हैं ।

=====

दक्षिण ताल पद्धति

उत्तरी ताल पद्धति और दक्षिणी (कर्नाटकीय) ताल पद्धति में विशेष रूप से भिन्नता पाईजाती है । कर्नाटक ताल पद्धति में मुख्यत: सात ताल माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं :

1- ध्रुव ताल, 2- मठताल, 3- रूपकताल, 4- झमताल
5- त्रिपुटताल, 6- अठताल, 7- एकताल.

पंचजाति भेद के अनुसार इन सात तालों की पांच-पांच जातियां हैं, इस प्रकार 7x5=35 तालें उत्पन्न होती हैं ।

दक्षिण ताल पद्धति में तालों को लिखने के लिए छ: चिन्ह नियत किये गये हैं जिनकी सहायता से इन तालों को लिखा जा सकता है । वे इस प्रकार हैं :-

नाम	मात्रा	चिन्ह
अणुद्रुत अथवा विराम	1	◡
द्रुत	2	0
लघु	4	।
गुरु	8	S
प्लुत	12	꠰S
काकपद	16	x

उपर्युक्त छ: चिन्हों में लघु नामक चिन्ह विशेष महत्वपूर्ण है और इसी एक चिन्ह के कारण तालों की विभिन्न जातियाँ पैदा हुई हैं । लघु चिन्ह की मात्राएं यद्यपि चा बताई गयी हैं, किन्तु पंचजाति भेद के अनुसार लघु की मात्राएं परिवर्तित होती रहती हैं और इसी परिवर्तन से पंचजातियां पैदा हुई हैं जैसे :-

1- चतुरश्र जाति, 2- त्रयश्र जाति, 3- खंड जाति,
4- मिश्र जाति, 5- संकीर्ण जाति ।

1- चतुरश्र जाति : इसमें लघु की चार मात्राएं मानी गई हैं ।
2- त्रयश्र जाति : इसमें लघु की तीन मात्राएं मानी गयी हैं।
3- खण्ड जाति : इसमें लघु की पांच मात्राएं मानी गयी हैं।
4- मिश्र जाति : इसमें लघु की सात मात्राएं मानी गयी हैं।
5- संकीर्णजाति : इसमें लघु की नौ मात्राएं मानी गयी हैं ।

कर्नाटक ताल पद्धति की जिन सात तालों के नाम ऊपर दिये गये हैं, उनमें केवल अणुद्रुत, द्रुत और लघु इन्हीं तीन चिन्हों का प्रयोग होता है शेष तीन चिन्ह गुरु, प्लुत और काकपद का प्रयोग इनमें नहीं होता । इन तीन चिन्हों का प्रयोग दक्षिण की उन 108 तालों में होता है, जो कि उनके नृत्य में प्रयुक्त होती हैं ।

ऊपर बताये हुये पंचजाति भेद के अनुसार सात तालों से 35 तालें किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, यह निम्न तालिका में दिया गया है:-

<u>सात कर्नाटक तालों के पंचजाति भेदानुसार 35 प्रकार</u>

ताल	जातिभेद	ताल चिन्ह	जातिभेद से मात्रा विभाग	कुल मात्रायें
ध्रुव ताल	चतुरश्र	1401414	4+2+4+4	14
	त्र्यश्र	1301313	3+2+2+3	11
	मिश्र	1701717	7+2+7+7	23
	खण्ड	1501515	5+2+5+5	17
	संकीर्ण	1901919	9+2+9+9	29
मठ ताल	चतुरश्र	14014	4+2+4	10
	त्र्यश्र	13013	3+2+3	8
	मिश्र	17017	7+2+7	16
	खण्ड	15015	5+2+5	12
	संकीर्ण	19019	9+2+9	20
रूपक ताल	चतुरश्र	140	4+2	6
	त्र्यश्र	130	3+2	5
	मिश्र	170	7+2	9
	खण्ड	150	5+2	7
	संकीर्ण	190	9+2	11
झंप ताल	चतुरश्र	14◡0	4+1+2	7
	त्र्यश्र	13◡0	3+1+2	6
	मिश्र	17◡0	7+1+2	10
	खण्ड	15◡0	5+1+2	8
	संकीर्ण	19◡0	9+1+2	12

त्रिपुट ताल	चतुरश्र	1800	4+2+2	8
	त्र्यश्र	1300	3+2+2	7
	मिश्र	1700	7+2+2	11
	खंड	1500	5+2+2	9
	संकीर्ण	1900	9+2+2	13
अठ ताल	चतुरश्र	141400	4+4+2+2	12
	त्र्यश्र	131300	3+3+2+2	10
	मिश्र	171700	7+7+2+2	18
	खण्ड	151500	5+5+2+2	14
	संकीर्ण	191900	9+9+2+2	22
एक ताल	चतुरश्र	14	4	4
	त्र्यश्र	13	3	3
	मिश्र	17	7	7
	खण्ड	15	5	5
	संकीर्ण	19	9	9

जाति भेद के अनुसार सात तालों के उपर्युक्त 35 प्रकार हैं। अब पंचगति भेद के अनुसार इनमें से प्रत्येक प्रकार के पांच-पांच भेद और होते हैं इससे 35x5=175 तालों के प्रकार इस पद्धति से उत्पन्न होते हैं। आगे उदाहरण के लिए केवल "अठ ताल" के पच्चीस प्रकार पंचगति भेदानुसार कैसे हो सकते हैं, इसका विवेचन किया जा रहा है।

अठताल के 25 प्रकार

जाति	चिन्ह	मात्राएँ	गति भेद	गतिभेद के प्रकार से कुल मात्रा
चतुरस्र	14/400	12	चतुरस्र	12x4=48
			त्र्यस्र	12x3=36
			मिश्र	12x7=84
			खण्ड	15x5=60
			संकीर्ण	12x9=108
त्र्यस्र	13/300	10	चतुरस्र	10x4=40
			त्र्यस्र	10x3=30
			मिश्र	10x7=70
			खण्ड	10x5=50
			संकीर्ण	10x9=90
मिश्र	17/700	18	चतुरस्र	18x4=78
			त्र्यस्र	18x3=54
			मिश्र	18x7=126
			खण्ड	18x5=90
			संकीर्ण	18x9=162
खण्ड	15/500	14	चतुरस्र	14x4=56
			त्र्यस्र	14x3=42
			मिश्र	14x7=98
			खण्ड	14x5=70
			संकीर्ण	14x9=126
संकीर्ण	19/900	22	चतुरस्र	22x4=88
			त्र्यस्र	22x3=66
			मिश्र	22x7=154
			खण्ड	22x5=110
			संकीर्ण	22x9=198

ज्ञातव्य : इसी तरह शेष छः तालों से भी 25-25 प्रकार पैदा होकर कुल 175 हो जायेंगे ।

पूर्व पृष्ठ के नक्शों में चिन्ह वाले खाने में ताल चिन्ह लघु के आगे जो अंक दि गये हैं, उनका अर्थ यह है कि लघु यहां पर इतनी मात्रा का माना गया है, जैसे लघु का चिन्ह "।" यह है, तो जहां पर चतुरश्र जाति में लघु का चिन्ह दिखाया जायगा वहां |4 इस प्रकार लिखेंगे । खण्ड जाति में लघु को |5 इस प्रकार लिखेंगे और संकीर्णजाति में लघु को |9 इस प्रकार लिखेंगे । लघु के चिन्ह के आगे दिये हुये विभिन्न अंकों द्वारा आसानी से यह मालुम हो जाता है कि यहां पर लघु की इतनी मात्राएं मानी गयी हैं । अन्य चिन्हों के साथ मात्रा लिखने का नियम नहीं है, क्योंकि केवल लघु की ही मात्राएं बदलती हैं, बाकी चिन्हों की मात्राओं में कोई परिवर्तन नहीं होता ।

कर्नाटक ताल पद्धति की बाबत निम्नलिखित बातें विद्यार्थियों को याद रखनी चाहिए :-

1- कर्नाटक ताल पद्धति में लघु की मात्राएं जाति भेद के अनुसार बदलती रहती हैं ।

2- जिस ताल में जितने चिन्ह होंगे, उसमें उतनी ही ताली (थाप) या भरी तालें होंगी ।

3- कर्नाटत ताल पद्धति में "खाली" नहीं होती ।

4- सभी तालें "सम" से आरम्भ होती हैं ।

5- कर्नाटक ताल पद्धति में 7 तालें प्रमुख होती हैं ।

6- प्रत्येक ताल की 5-5 जातियां होती हैं, जिनसे 35 प्रकार उत्पन्न होते हैं ।

7- पांच-पांच जातियों के 5-5 भेद होते हैं, जिनसे 175 प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं ।

=====

कर्नाटक पद्धति की सात तालों को हिन्दुस्तानी पद्धति में लिखने का कायदा

ज्ञातव्य : ये सातों तालें चतुरस्र जाति में दी जा रही हैं।

ध्रुव ताल : 14 मात्राएं ।I0II।, चतुरस्र जाति

मात्रा: 1 2 3 4 | 5 6 | 7 8 9 10 | 11 12 13 14
चिन्ह: x 2 3 4

मठताल : 10 मात्राएं ।I0I।, चतुरस्र जाति

1 2 3 4 | 5 6 | 7 8 9 10
x 2 3

रूपक ताल: 6 मात्राएं।I0।, चतुरस्र जाति

।इस ताल को हिन्दुस्तानी पद्धति में 7 मात्राओं कीमानते हैं।

1 2 3 4 | 5 6
x 2

झंपा ताल : 7 मात्राएं ।I U 0।, चतुरस्र जाति

1 2 3 4 | 5 | 6 7
x 2 3

त्रिपुट ताल: 8 मात्राएं।I00।, चतुरस्र जाति

1 2 3 4 | 5 6 | 7 8
x 2 3

अठ ताल : 12 मात्राएं ।II00।, चतुरस्र जाति

1 2 3 4 | 5 6 7 8 | 9 10 | 11
x 2 3 4

एक ताल : 4 मात्राएं ।I।, चतुरस्र जाति

।हिन्दुस्तानी पद्धति में "एक ताल" 12 मात्राओं की मानी गई है।

1 2 3 4
x

पूर्व पृष्ठांकित 7 तालें चतुरस्र जाति में दी गई हैं। यदि इन्हीं तालों को त्र्यस्र जाति में मानकर लिखें तो इनका रूप बदल जायगा, क्योंकि चतुरस्र जाति में लघु को 4 मात्रा काल का माना गया है और त्र्यस्र जाति में "लघु" की मात्राएं 3 मानी गई हैं। उदाहरणार्थ ध्रुव ताल को अब त्र्यस्र जाति में इस प्रकार लिखेंगे :-

ध्रुव ताल ।त्र्यस्र जाति।, मात्राएं-11

1 2 3 | 4 5 | 6 7 8 | 9 10 11
x 2 3 4

इसी ध्रुव ताल को खंड जाति में लिखना हो, तो निम्नांकित प्रकार से लिखेंगे, क्योंकि खंड जाति में "लघु" की 5 मात्राएं मानी गई हैं :-

ध्रुव ताल : ।खंड जाति। मात्राएं 17

1 2 3 4 5	6 7	8 9 10 11 12	13 14 15 16 17
x	2	3	4

मिश्र जाति में लघु की 7 मात्राएं मानी गई हैं, अतः यही ध्रुव ताल यदि मिश्र जाति में लिखी जायगी, तो इसका रूप यह होगा :-

ध्रुव ताल : ।मिश्र जाति।, मात्राएं 23

1 2 3 4 5 6 7	8 9	10 11 12 13 14 15 16	17
x	2	3	4

18 19 20 21 22 23

अब इसी ताल को संकीर्ण जाति में लिखें, तो इस प्रकार ताल की मात्राएं 29 हो जायेंगी, क्योंकि संकीर्ण जाति में गुरु की मात्राएं 9 मानी गई हैं :-

ध्रुव ताल : ।संकीर्ण जाति।, मात्राएं 29

1 2 3 4 5 6 7 8 9	10 11	12 13 14 15 16 17 18 19
x	2	2

260 अप्रचलित ठेके

कुछ विद्वानों के मतानुसार ठेकों के बोलों में कुछ अन्तर हो सकता है, परन्तु मात्राओं की संख्या, विभागीकरण तथा तालों का क्रम सबमें समान रहेगा। अतएव किसी विद्वान को किसी ठेके के बोलों में यदि अन्तर प्रतीत हो, तो उसे अशुद्ध नहीं समझना चाहिए।।

अद्ध

इस ताल को अठ भी कहा जाता है। इसके अनेक भेद हैं, जो क्रम से नीचे दिये जा रहे हैं :-

अद्ध या आवर्त ॥दस मात्राएं॥

धा धेत् ता | तिट गेन ता | किट धिट | किट कत
x 2 3 0

अद्ध ॥बारह मात्राएं

इसे चार ताल भी कहते हैं :

धा धा | दिं ता | किट धा | दिं ता तिट कत | गदि गिन
x 0 2 0 3 4

अद्ध ॥14 मात्राएं॥

धा ऽ द्रा | गे तिं | ता तिट धा | दिं ता किट तक | गदि गिन
x 0 2 0 3 4

अद्ध ॥18 मात्राएं॥

धा धा तिट धा | तिट कत धेत् | ता किट तक | गदि गिन किट ता |
x 0 2 0
गेन तिट | धिट ता
3 4

अद्ध ॥22 मात्राएं
धा धा गे तिट ता धा गे तिट किट | तक धिट तिट गेन तिट किट तक |
x 0 2
धेत् ता | तिट कत | गदि गिन
0 3 4

अद्ध ॥24 मात्राएं॥

धा ऽ| कि ड़ा |ऽ न धु म |कि ट | तक क धेऽ| त्ता कि ट | तक क |
x 2 3 4 5 6 7
ध दि गि न |

अर्जुन ।20 मात्राएँ।

धा ऽ धि न । न क । धे ऽ धि न । न क । धे ऽ । धा ऽ धि न । न क
x 2 3 4 5 6 7

अर्घ्य ।27 मात्राएँ।

धा गे ता धा । दिं ऽ । दिं ऽ । ता धा दिं ता तिट । कत गदि गिन ।
x 2 3 4 5

धा ऽ ता ऽ ता । धा । दिं । ता । धा । गदि । गिन ।
6 7 8 9 10 11 12

अणिमा ।13 मात्राएँ।

धी त्रक । धी ना क त्ता त्रक । ता त्रक । धी ना । धी ना ।
x 2 0 3 4

अभिनंदन ।20 मात्राएँ।

धा ऽ धि न । न क । धे ऽ धि न । न क । धे ऽ । धा ऽ धि न । न क ।
x 2 3 4 5 6 7

अभिराम ।24 मात्राएँ।

धा त्रक धिन धिन तक धिन । तिर किट धिन ता गे तागे केटे ।
x 2 3

धा गदि गिन तुं ना । ता तिन धिन धिन त्रक धिन
4 5

अष्टमंगल ।22 मात्राएँ।

धा ऽ कि ट । त क । धु म कि ट । त क । धे ऽ त्ता ऽ । त क । ध दि । गि न ।
x 2 3 4 5 6 7 8

अपूर्ण ।24 मात्राएँ।

धिं ना । धिं त्रक धिं ना । ती ना । ती त्रक ती ना । तिट कत । गदि गिन ।
x 2 3 4 5 6

धा त्रक । धुं ना किट कत । तुं ना
7 8 9

आडापन्न ।15 मात्राएँ

धिन् तिरकिट । धिं ना । धिं धिं । धा धा तुं ना । कत्त ती धिंधी । नाधी धीना
x 2 0 3 4 5

आड़ी प ।6 मात्राएं।

धागे तिट |धुम किट तक तक|धुम किट तक|धुम किट तक|तिट कत गदि गिन

x 2 3 4 5

इकताली ।।। मात्राएं।

धा धि ट धि |[illegible] ।

इन्दु ।।5 मात्राएं।

धागे तिट धुम किट|धदि गन धिन नक|तिट कत|गदि गिन|किट तक ता

x 2 3 4 5

इन्दुलीन या धुव।।। मात्राएं।

धा |दिन्ॣ ता|धेत् ता|दिन्ॣ तिट किट|धा क द्रा

x 9 2 3 4

इन्दुलीन ।।7 मात्राएं।

धा धा धा|क द्रा ता किटा किट धा कत किट किटा|कत दिन्ॣ ता|तिट धा

x 0 2 3 0

उदय ।।2 मात्राएं।

धा कि ट धी ना|त क|ता कि ट धी ना

x 2 3

उदीर्ण ।।6 मात्राएं।

धा ऽ कि ट कि ट धिं|ति ट|ता ऽ कि ट त क ति

x 2 3

उद्भव ।।0 मात्राएं।

धागे तिट|तागे तिट|धा त्रक|क त्ता|गदि गिन

x 0 2 3 4

उषाकिरण।।6 मात्राएं।

धा त्रक धीं त्रक धीं धीं|धागे त्रक तिं तिं|तागे त्रक धिं धागे|नधा त्रक

x 2 3 0

एक या सदानंद । 3 मात्राएं।

धा दिं ता

x

एकताल ।4 मात्राएं।

धा किट धा दिन्

x

एक ताल ।5 मात्राएं।

धा धेत् |ता तिइ किट

x 0

एक ताल।7 मात्राएं।

धा तिट धा | दिं ता तिट कत

x 0

एक ताल।9 मात्राएं।

धा तिट धा दिं|ता ता गे धा दिन्

x 0

अंक ।9 मात्राएं।

धा ऽ|धि न न क|थे ऽ त्ता

x 2 3

अंतरक्रीड़ा।7 मात्राएं।

धा गे|धा गे|तिट गदि गिन

x 2 3

कपालभृत ।10 मात्राएं।

धा किट किटतक|धा धा|तिटकत|धा धा तिटकत गदिगिन

x 0 0 3

कंदर्प ।24 मात्राएं।

धा ऽ|धा ऽ|तिट क ता|गिदि क त|ता टी धुं ना|ति ट क त|ग दि गि न

x 2 3 4 0 5 0

करालमंच ।10 मात्राएं।

धा तिट|किट तक दिन् ता|किट कत गदि गिन

x 2 3 0

फरोदस्त ॥२५॥

धीं धीं नक धागे तिर किट धीना|त्रक धागे तिट धुम किट धा|ति ना ता तिर|

x 2 0

क त्ता धिंधिं तिट धा त्रक|तिट कत्

0

कृष्ण 120 मात्राएं।

धा|ऽ|धा|ऽ|कि ट त क|धु|म|कि ट त क द्वे|ऽ|धा|दि ग न

x 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

कुम्भ 11 मात्राएं।

धा|धिं|तिट|कत|धा|धिं|नक|तिट|कत|गदि|गिन

x 0 2 3 4 0 5 6 7 8 0

कुम्भ 11 मात्राएं, द्वितीय मत।

धा|धिन|तक|तिट|धा|धिड़|नक|तिट|कत|गदि|गिन

x 0 2 3 0 4 5 6 7 0

कुसुमाकर 127 मात्राएं।

धिं धिं ना|धा धा त्रक धिन तक धें ना तिं ति ट|धिन तक धुम किट तक धिना|

x 2 0 3

तक गदि गिन|तु न्ना कत गदि गिन

4 5

कैदफरोदस्त 19 मात्राएं।

धिं ता कत|तिं ता तिरकिट|धिन् ता|क त्ता|तिरकिट तुना|धीधी नग धीधी

x 0 2 3 4 5

नग धी|धिंता कत

6

कोकिल 17 मात्राएं, त्रिपुट।

धा दिं ता|तिट कत|गदि गिन

x 2 3

कोकिला ।17 मात्राएं।

धा धिने। नग धे।धेने नग।धेन नग।तेने नग।तिट किट।तक गदि।घन धा दिन्

x 0 2 3 0 4 5 0

कौशिक ।18 मात्राएं।

धा ऽ त क धु म कि ट।धे ऽ त्ता ध दि ग न।धदि गन

x 2 3

समता ।8 मात्राएं, जैश्री।

धाधा धिंधा।कद्धागे।धिंधा। तिरकिट।तुना।कद्धागे।नधागेन

x 2 3 4 5 6 0

खंडपूर्ण ।16 मात्राएं।

धिन तक धेत्।धेत् धिन नक।तिट कत।धागे तिट।कत तिट तिट कत।गदि गिन

x 2 0 3 4 5

खेमटा ।6 मात्राएं।यह दादरा का ही एक प्रकार है ।

धा धिं तक।ता तिं तक अथवा धागे धिन गिन।तागे तिन किन

x 0 x 0

गजझंपा ।15 मात्राएं।

धा धिन नक तक।धा धिन नक तक।तिन नक तक।तिट कत गदि गिन

x 2 0 3

गजलील ।17 मात्राएं।

धा किट धे त्ता।ता तिट धिन नक।गिदि कत/तिट धेधे।धुम किट तक घदि गिन/

x 2 3 4

तिट कत

5

गजारिज ।20 मात्राएं।

धा धा/ता धेत् तक/धा दिं ता धा/धा दिं ता दिं दिं ता तुक/तिट कत गदि गिन

x 0 2 3 0

गणेश ।18 मात्राएं

धा ऽ धि ट/धि ट धा /धा ऽ कि ट/त क/ध दि गि न/

x 2 3 4 5

गणेश 120 मात्राएं।

धा दिन/ता ता/धेत् धेत्/धेने नग/धेत् धा/किट तग/किड़ धा/किट तक/तिक/कत/
x 0 2 3 4 0 5 0 6 7
गदि/गिन
8 9

गणेश 121 मात्राएं।

धा ऽ कि ट/त/धा ऽ कि ट/त/क/ध दि ग न/धिं/धा/त/का धा ता

x 2 3 4 5 6 7 8 9 10

गंडकी 117 मात्राएं।

देत्देत्/धुंधुं/धाकत दिंता/किटतक/देत्देत्/धुंधुं/धाकत/दिन/कड़ान धा/तिरकिट/तका/
x 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11
धुंमा/गदिगिन/नगदेत् तिटकत
12 13 14

गुह 19 मात्राएं।

धी ऽऽ/ता गि न ति ट कि ट

x 2

गुहागुह 120 मात्राएं।

धा कि/ट त क धा/धा धा कि/ट धा कि/ट त क धा/तिट कत गदि गिन

x 2 3 0 4 5

गारुगी 19 मात्राएं।

घा ऽ/धिड़ नग/धिड़ गन/घे त्ता

x 2 3 4

गारुगी पंचक 115 मात्राएं।

धी धी ना तुं ना क त्ता/धुम किट/तिट कत/धा त्रक/धदि गिन

x 2 3 4 5

घट 18 मात्राएं।

धा/ऽ/ति ट/क त/धे/ त्ता

x 2 3 4 5 6

घट 112 मात्राएं।

घा/कि/ट ध/दि/ग/न ता/ त/क/ धदि गन

x 2 3 4 5 6 8 8 8

चक्र 15 मात्राएं।
धी ऽन/ध कि ट

चक्र (30 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा कि ट त क धु म/कि ट त क/धा गे ते टे क त त क ता ऽ/धा टि ग न धि न न।

x 2 3

चतुर (15 मात्राएं ।

धी ना/धी धी ना/ती ना/क त्ता/धी धी ना/ धी धी ना

x 2 0 3 4 5

चतुर्मुट (19 मात्राएं।

धा धिन तिट/तक किड़धा/केहे धागे/तिट किट

x 2 3 4

चतुस्ताल (10 मात्राएं।

धा धे ट धे/ट ग/दि न/दि न

x 2 3 4

चन्द्र (18 मात्राएं।

ता ऽ धेत् धिन/धा ऽ/धा ऽ/तिट कत/धेत् धिन नक धेत्/धा गे तिटकत गदिगिन

x 2 3 4 5 6

चन्द्र कला (15 मात्राएं।

धा दिं/ता देत्/देत् तिट/कता धुं धुं/धुं वड़ा ऽ न/तिट गदि गिन

x 2 3 4 5 6

चन्द्रक्रीड़ा (19 मात्राएं।

धिं ना/तिट कत/कत तिं ना/तिट कत

x 2 0 3

चन्द्रयोताला (13 मात्राएं।

धा धा तिट/कत धा तिट कत/धागे दिं ता/गदि गिन

x 2 3 x

चन्द्रमणि (11 मात्राएं।

धिं ना/तिं ना तिट/धी धी त्रक तुना किटतक/धा

x 2 3 4

चन्द्राचल (18 मात्राएं।

ता देत् धुं ना कत/तुं ना गदि गिन तुं ना/धा गदि गिन ता दित धुं ना

x 2 3

चित्र (2 मात्राएं)

धा/तिटकत

x 0

चित्र (15 मात्राएं, अन्य प्रकार)

धिं ना/धिं धिं ना/तू ना क त्ता/त्रक धी ना धी/धी ना

x 2 0 3 0

चूड़ामणि (17 मात्राएं)

धा क त/तुं ना/धी धी ना त्रक/ना धी धी ना/धी त्रक धी ना

x 2 3 5 5

चूड़ामणि (32 मात्राएं)

धा गे/धा गे/दिं ता/धा गे धि न न/क दिं ता ,/धा गे/ध दि ग न/धि न न धिन

x 2 3 4 5 6 7 8

न त का ता

9

चंग (इसे ख्याल का ठेका भी कहते हैं, 8 मात्राएं)

ता धिन/नग धिन/ता तिन/ धिन

x 2 0 3

चंपक (इसी का नाम आड़ा चार ताल है, 14 मात्राएं)

धिं धिं/धा त्रक तू ना/क त्ता/ धीं धीं/धा धीं धीं धा

x 2 3 4

छपका (8 मात्राएं)

धिनुन तधिनु/ तिनु नग//नग ततिनु/ ति तक

x 2 0 3

छोटी सवारी (15 मात्राएं)

धा ध दि/ग न धु म/कि ट तक क/धि न ता

x 2 3 4

जगझंप (15 मात्राएं)

धा , धा गे ध दि ग न/धु म/कि ट/दि ग न

x 2 3 4

जगदम्बा ।19 मात्राएं।

धि त्ता तिट तिट कत/कत गदि गिन/न क/धिं धिं धागे त्रक/धा धुम किट धुम किट

9 2 0 3 4

जगपाल ।11 मात्राएं।

धा धिन नग धुं ना/धुम किट/किट तक/गदि गिन

x 0 2 3

जयमंगल ।13 मात्राएं।

धा धा/किड़ धा/तिट कत/गेना/गेता/गेन किड़/धा/दिन/ता

x 2 3 4 5 6 7 8 9

जयमंगल ।14 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धि त्ता तिट कत/ता दिन् धुं ना/किट तक/तुं ना गदि गिन

x 2 3 4

झंपक ।11 मात्राएं।

धा ऽ/धि न न क/धे ऽ/धिन न क

x 2 3 4

झंपा ।11 मात्राएं।

धा किट/गेन/किट/तक ता/ ।इसे "तीर " भी कहते हैं।

झंपा ।7मात्राएं।

धा/गे न//ता तिट/किट तक

x 2 3 4

झंपा ।8 मात्राएं।

धा ता किट/तक गदि/गन/ता किट

x 0 2 3

झंपा ।10 मात्राएं।

धा ऽ दिन् ता ऽ /तिट धा/तिट/कत गदि

x 0 2 3

झंपा ।12 मात्राएं।

धा धा किट धा दिन् ता तिट कत गेन/तिट/कत गदि

x 2 3

टप्पा ।16 मात्राएं, यह तीनताल का ही एक प्रकार है।।

कड़धिं ऽधा ऽग/धा धिं ता ऽ/कड़तिं ऽ ता ऽक/धा धिं धा ऽ

x 2 0 3

ठुमरी : यों तो ठुमरी प्रायःदीपचंदी तथा तीनताल में अधिक गाई जाती है, फिर भी ठुमरी की एक निराली सुन्दरता निम्नलिखित ठेके में मिलती है :-

धा धा/गे तिं/ता धा/ गे धिं

x 2 0 3

ताम्रकर्णी ।9 मात्राएं।

धा/कत/धीं ता ता/धा/ धिं ता तिट

x 0 2 3 4

तिमिर ।14 मात्राएं।

धा देत्/धा कत धुं धुं/ना ना/धे/धे तिट ता तिट कत

x 2 0 3 4

तिलवाड़ा ।16 मात्राएं।

धा तिरकिट धिं धिं/धा धा तिं तिं/ता तिरकिट धिं धिं/धा धा धिं धिं

x 2 0 3

तुरंगलीला ।10 मात्राएं।

धा दिं तो/धिं धिं ता/तिट कत/गदि गिन

x 2 3 4

दादरा : ।इसके दो भेद हो जाते हैं, एक खेमटा दादरा और दूसरा भड़ौआ दादरा। खेमटा को "ख" और भड़ौआ को "भ" से प्रारंभ होने वाली तालों में देखिये। इसे प्रचलित ठेकों के अन्तर्गत देखिये ।

दामोदर ।9 मात्राएं।

धिं/तिर किट धिधिं/धिं त्रक/धी धी ना

x 2 0 3

दाक्षायण ।21 मात्राएं।

धाग धाग दीं कत/धा धी दीं ता/धग तिटकत धग/धागे धा/धा दीं/ता तिट कत

x 2 3 4 6 5 0

देवमांधार ।23 मात्राएं।

धा दिं ता धा/दिं ता किट/धा धा दिं ता धा/तिट कत धा/धा गे टीं ता किट/

x 0 2 0 3

धा दिं ता

4

देवध्वनि ।17 मात्राएं।

धीधी तुक तुना किड़ नक धा/कत गदि गिन/तिट गदि गिन/धुम किट तक गदि गिन

x 2 3 4

देवगुना ।12 मात्राएं।

धा धिं नाना कत/ता कत ता/धा तिट/कता गदि गिन

x 2 0 3 4 5

दोबहार ।13 मात्राएं।

धादिन/धाकिट/किटतक/धुंधुं/गदिगिन/तादेनृ/कधा/दिंता/तिटकत/गदिगिन/धाती/धा/दिं ता

x 2 0 3 4 5 6 0 7 8 9 10 0

धमार पंजाबी।14 मात्राएं।

ता धिं कड़/धिं धिं धागे तिरकिट/धिना क क/गा तिरकिट ता तिरकिट

x 2 0 3

धमाली ।7 मात्राएं।

धा/धि/न त/क धि न

x 2 3 4

ध्रुव ।14 मात्राएं।

धा तिट/धा दिनृ/ता धा/तिट किट/दिं तौं/धेत् तिट गदि गिन

x 0 2 3 0 4

ध्रुव ।21 मात्राएं।

धा/. ति ट/क त ग/दि/ग न धु/म ति ट/क/त ग दि/ग न ता

x 2 3 4 5 6 7 8 9

ध्रुव ।23 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा किट धा दिं/ता क धा/दिं ता/तिट कत गदि गिन/दिं ता तिट/कत किट तागेनागे

x 0 2 3 0 4

तिट दिं ता

5

धूम_ ।29 मात्राएं।

धा तिधा धा दिं तिट धा किट/तक दिं ता/तिट/धागे नागे दिग तागे तिट कत/
x 0 2 3
गेन तिट ता/धा गे तिट ता गे तिट/दिं तागे धागे
0 4 0

नट_।_4 मात्राएं।

धा/तिट/कत/गदिगिन

x 2 3 0

नंदी_।24 मात्राएं।

धा क त्ता/ति टे/दि ग/गि दी क त/धी धी ना अक ता . तुं ना अक धी धी ना

x 2 3 4 5

नक्षत्र_।27 मात्राएं।

धा धिं नक/तक धिं नग/धा किट तक/धुम किट कत/नग धिं नग/तग धिं ना/

x 2 3 4 5 6

कड़धा तक नग/तकि टध किट/कड़ा नक्ड़ा न

7 8 9

नांदी_।32 मात्राएं।

ता धिन नक धिन/नक धेत्/धेत् धिन/नक तक धिन नग/किट तक धिन नक/

x 2 3 4 5

तक धेत् धागे धिन नक धेत् धा /दीं ता तिट कत गदि गिन

6 7

निदोषि: । देखें-त्र्यक, 5 मात्राएं।

निशोलक_। 9 मात्राएं ।

धिं ना किट तक/धुम किट तकि टत/का

x 2 3

निसारु_।10 मात्राएं।

धा धि ट धि ट/धा ति ट ति ट

x 2

नील कुसुम_।15 मात्राएं।

देत् देत् धुं/धुं तिट कत/धा दित् धुं नाना तिट धागे/नाधा तिटकत गदिगिन

x 2 3

नीलांबुज ॥13 मात्राएं।

धा तेट्/धा तिट/धा/धा धुं धुं तिट तिट/कत गदि गिन

x 2 3 0 4

पंचम ॥16 मात्राएं।

धा . कि ट/त क/धु म कि ट/त क/ध टि गि न

x 2 3 4 5

पंचशर ॥23 मात्राएं।

धा धिं ना त्र क/धी ना क त्ता/त्रक धिं ना धिं ना/तिं ना तिर किट/

x 2 0 3

तक गदि गिन/धुं ना

4 5

पंचलवारी ॥15 मात्राएं।

धिं तिर किधिं ना ता/धीधी नाधी धीना/तीना तीना त्रकतुना किड़नग/

x 2 0

कत्ता धीधी नाधी धीना

3

पट ॥2 मात्राएं।

धा तिट/तकिट

x 0

पर्ण ॥12 मात्राएं। : आजकल इसका नाम चारताल है। अतःचारताल के बोल देखें:-

प्रताप शिखर ॥12 मात्राएं।

धा किट तक धुम किट तक धेत्/ता/धा तिट कत गदि गिन

x 2 3

प्रताप शिखर ॥17 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा धिन नक्क धेत् धिन नक धेत् धिन नक धेत् धेत् धिन/नक तिट/कत गदि गिन

x 2 3

प्रति ॥ 8 मात्राएं।

धा किट तक धुम/किट तक/गदि गिन

x 2 3

प्रभात किरण ।11 मात्राएं।

धा/धी ना/धी ना त्रक ती ना/धी/धी ना

x 2 3 4 5

प्रमाण ।17 मात्राएं।

धा ऽ न धा कि ट/कि ड़/ता कि ट त क/धी ना धी ना त्रक

x 2 3 4

प्रशती ।यह ठीक रूपक की भांति है, 7 मात्राएं।

तिं ऽ नक/धिं ऽ /धा गे

x 2 3

प्रश्मति ।26 मात्राएं।

धा कि ट त क/धा कि ट त क धे ऽ /त्ता कि ट त क धि न धे त्ता/धा ध हि गि न

x 2 3 4

पुराण ।18 मात्राएं।

धा ऽ धि न/न क/धि ऽ धि न/न क/धा गे/ध टि गि न

x 2 3 4 5 6

पूर्ण ।19 मात्राएं।

धा ऽ धा कि ट कि ड़ु/धि ट/ता दे ऽ त्ता ऽ /त कि ट ता ऽ

x 2 3 4

फरोदस्त ।14 मात्राएं।

धिं धिं/धागे तिरकिट/तू ना/क त्ता/धिन कत्ता/तिरकिट धिन/कधा तिरकिट

x 0 2 0 3 4 5

बसंत ।9 मात्राएं।

धा/दिन/ता/धेत/ता/तिट/कत/किट/ताक

x 2 3 4 0 5 0 6 0

बसंत ।18 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धु म/कि ट/धु म/कि ट त क/धु म कि ट/त क धा ता

x 2 3 4 5 6

भरत ।22 मात्राएं।

क्रमशः

बसंत शिखिर ।26 मात्राएं।

धा त्रक धिन नक/धुं गा धिन नक तिट कड़/धा/धग तिट/कत गदि गिन/धग तिट/
x 2 3 4 0 5
कत गदि गिन/धग तिट/कत गदि गिन
0 6 0

ब्रह्म ।14 मात्राएं।

धा/तत्/धेत्/धिन/नक/धेत्/धेत्/धिन/नक/धागे/तिट/कत/गदि/गिन
x 0 2 3 0 4 5 6 0 7 8 9 10 0

ब्रह्म ।28 मात्राएं।अन्य प्रकार।
धा धिं/धिं धा/त्रक धिं/धिं धा/त्रक धिं/धिं धा/ती ती/ता ती/ती ना/तू ना/
x 0 2 3 0 4 5 6 0 7
क ता/धागे नधा/त्रक धिन/गदि गिन
8 9 10 0

ब्रह्मयोग ।15 मात्राएं।

धा धा/धे/दे तिट/धा/धिट/धा तिट/कत/गदि/गन/धिन नक ता
x 2 3 4 5 6 7 8 9 10

ब्रह्मयोग ।18 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धाधित् ताधित्/धाधा/धेड़नग तिटकिट/धुंधुं/गदिगिन कत्ततिट/ताधा/धुं/धुमकिट/
x 2 3 4 5 6 7 8
कड़ा न/धाकत/गदिगन/धेनान ताकत/धाकत कताकत
9 10 xx 11 12

मगन ।23 मात्राएं।

धा ./ति ट/क त/धु म/ति ट क त ग/दिग न धु म/धि न न क ता
x 2 3 4 5 6 7

महौआ दादरा ।6 मात्राएं।

तक धिन नक/तक तिन नक
x 0

मंग ।15 मात्राएं।

धीं त्रक/धी धी ना तू ना/कत गदि गिन/धागे तिट किट धी ना
x 2 3 4

भानुमती 11 मात्राएं।

धा तिट धिन नक/धिट पिट धागे/तिट/तिन गदि गिन

x 2 3 4

भार्गवी 22 मात्राएं।

धा ऽ दिं/धा किट तक/धुम किट तक तकि टत/का किट धुम/धुम किट तिट कत/

x 2 3 4 5

धागे नधा तिट कत

6

भरव 22 मात्राएं।

धा धि न/न क धे ऽ/धि न/न क धि न/न क/त क/ध दि गि न

x 2 3 4 5 6 7

मकरंदकीर्ति 17 मात्राएं।

दिं दिं ता धा/दिं दिं ता/धा धा/दिं ता/दिं ता तिट कत गदि गिन

x 2 0 3 4

मगध 23 मात्राएं।

धा ऽ धि न/न क धे ऽ धि न न क/धे ऽ धे ऽ/ध न धा/क त/धा

x 2 3 4 5 6

मठ्य 18 मात्राएं, इसे मठ्ठय भी कहते हैं।

धा दिं ता/तिट कत/तिट तक दिन

x 2 3

मठ्य 15 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा किट धा गे/दिन ता/तिट कत गदि गिन

x 2 3

मठ्य 16 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा तिट तिट कत/गेन धागे तिट/किट धिट/तागे तक किट तक/दिन ता तिट

x 0 2 3 4

मणि 11 मात्राएं।

धा धि ट/कि ट/ध कि ट/त कि ट

x 2 3 4

मत्त 19 मात्राएं।

धा तिट/नागे/तिट कत/किट/तिट/कत गेन

x 2 3 4 5 6

मत्त 18 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धी ऽ/ना ऽ/धी तिरकिट/धी ना/तु ना/क त्ता/तिरकिट धि/ना धी/धीना

x 0 2 3 0 4 5 6 0

बसंत 18 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा ऽ/धि इ/न क/धि इ/न क/ति ट/क त/ग दि/गि न

x 0 2 3 0 4 5 6 0

मत्त विजय 13 मात्राएं।

धा धिन धेत्/धिन नक ता/धा कत/धा तिट तक गदि गिन

x 2 3 4

मदन 3 मात्राएं।

धा/तिट/कत

x 2 0

मदन 12 मात्राएं।

धा ऽ/धि टि/न न धु म कि ट त क

x 2 3

मधु मालती 16 मात्राएं।

धीं धीं नग धागे तिर किट धीना/धा गे तिट कता/धी धी ना/धी ना

x 2 3 4

मन्मथ 20 मात्राएं।

धा ऽ धेधे नग धिन/धा ऽ धेधे नक धिन/धा ऽ धेधे नक धिन/धा ऽ धे त्ता

x 2 3 4

मनसिज 21 मात्राएं।

ती ती नक धागे तिर किट धीनों/न देत् धुं ना कत/किट तक धि त्ता/

x 2 3

धुम किट तक तिं ना

4

मयूर ।17 मात्राएं, त्रिपुट।

धा धा/धिन नक धे धे/धिन नक कि ट ता क/ग दि ग न ता

x 2 3 4

मरीची ।26 मात्राएं।

धा ऽधिं ना धि न/धुम किट गदि गन/तक/तुं ना क त्ता धुम किट/

x 2 3

तिट किट धा गदि गिन/धुम किट तक/ता

4 5 6

मल्ल ।21 मात्राएं।

धा ऽ दिं ता/धिं धिं ता ऽ/धा ऽ दिं ता/धिं धिं ता धिं/धिं ता/तिट गदिगिन

x 2 3 4 5 6

मल्लिकमोद ।16 मात्राएं।

धा ऽ दिं ता/धिं धिं ता ऽ/तिट किट/तक धुम/किट तक/धा गन

x 2 3 4 5 6

महानट ।14 मात्राएं।

धा कड़ा ऽन/धा कड़ा ऽन/धा/धा कुधा तिट तिट कत गदि गिन

x 2 3 4

महानट ।16 मात्राएं।

धा धेत् धेत् धा/धा धेत् धेत्/धा धागे नधा तिट/धागे तिट कत गदि गिन

x 2 3 4

महाभुज ।12 मात्राएं।

धा धा दिं दिं ता/ऽ तिट/कत गेन तिट किट तक

x 2 3

महाकुज ।20 मात्राएं।

धा ऽ तिट धा दिं ता तिट कत दिग/नागे नागे/धागे नागे किट ता तिट गेन

x 2 3

धिट किट तक

महातेन ।20 मात्राएं।

धात्र कधि नक धात्र कधि नक/दी ना क त्ता अक/धी ना/धी धी ना तिट कत गदि गिन

x 2 3 4

महेश ।9 मात्राएं।

धा तिट तिट धा/तिट कत/गदि गन ता

x 2 3

मिथिलेश ।20 मात्राएं।

धा धिं तक तक/धा धिं तक धा क त्ता/धिन तक तक किट कत्ता धी/धी धी ना

x 2 3 4

मोहन ।12 मात्राएं।

धा/धा तागे/तिट तद् ता/तिट कत/गदि गन/तग धेत्

x 2 3 4 5 6

मोहनी ।5 मात्राएं।

धागे/तिटकत गदिगिन

x 2

मौठिका ।13 मात्राएं, द्वितीय।

धा धि ट धि/ट धु म कि/ट ध दि/ग न

x 2 3 4

यतिलग्न ।6 मात्राएं।

धा तिट/धा तिट कत गदिगिन

x 2

यतिशेखर ।15 मात्राएं।

धा/तद् धिं/ना त्रक/धिं/धिं/ना तद्/धागे/नधा/त्रक/धिना गदि गिन

x 2 3 4 5 6 7 8 9 10

रविनंदनी ।14 मात्राएं।

किट तक धुम किट तक/किट तक धुं ना/कत गदि गिन/तिं ना

x 2 3 4

राजमंडित ।14 मात्राएं।

धा धिट तक तक धुम किट तक/धदि गिन तिट कत/गदि गिन

x 2 3

राजनारायण ।28 मात्राएं।

धा ऽ /धि न/न क धे ऽ /धि न न धि न न ।। क/धा दि ग न/धि न न धि न न त क

x 2 3 4 5 6

राजसिंह ।40 मात्राएं।

धा ऽ धि न न क/धा ऽ /धा गे/धि न क ता/धा गे/धा/धे त्ता ऽ /धि न न क ता

x
धि 2 3 4 5 6 7 8

धि न न क त क ति ट/क त ग दि गि न

9 10

रायबंक ।12 मात्राएं।

धा ऽ कि ट धु म कि ट/धि न धा ऽ /धु म कि ट त क धा ऽ /धा दि/ग न

x 2 3 4 5

रास ।13 मात्राएं।

धा दिं/ता/किट ता/धा/दित्/धा किट/तक तिट/तक दिन

x 2 3 4 5 6 7 8

रूद्र ।11 मात्राएं।

धा तक/धा/तिरकिट/धी ना/तिरकिट/तू/ना/क त्था

x 2 3 4 5 6 7 8

रूद्र ।15 मात्राएं।

धा दिं/ता/तिट कत/गदि/गन/धा धा/तिं/ता/तिट/किट/तिट गदि

x 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11

रूद्र ।16 मात्राएं।

धा ऽ/कि ट/त/ऽ धु/म/कि/ट त/ऽ/त/क धा/ता

x 1 3 4 5 6 7 8 9 10 11

रूद्र ।17 मात्राएं।

धा घिड़/नक/घिड़ नक/धुम/किट/घिड़ नक/तक/धुम/किट/तक धुम/किट गदि गिन

x 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11

रूपक या निर्दोष ।5 मात्राएं।

धा किट/ता तिट ता

x 2

रूपक 16 मात्रायें।

धा तिट/धा दिं ता तिट

x 2

रूपक 19 मात्रायें।

धा तक/धा तिट धा किट तक धा दिं

x 2

रूपक 111 मात्रायें।

धा कत/किट तक दिं ता तिट किट कत किट ता

x 2

लघुशेखर 15 मात्रायें।

धा गे धिट कता/का

x 0

लघुशेखर 17 मात्रायें।

धा धि ट धुमा कि ट

x 2

लक्ष्मी 116 मात्रायें।

धिंना/धिंधा/तिरकिट धिना/धिंधा/तिरकिट/धाधा तिरकिट/धाधा/तिरकिट/धिंधा/

x 2 3 4 5 6 7 8 9

धिंधा/तिरकिट/धुना/धिड़नग/तागे/ता तिरकिट

10 11 12 13 14 15

लक्ष्मी 136 मात्रायें, अन्य प्रकार।

धा कि ट/त क/धु म/कि ट त क/धे /त्ता /कि ट त क/धि न/न क/धे/ /

x 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11

त्ता कि ट/त क/धे दिं/धि न

12 13 14 15

लावनी 18 मात्रायें।

धिंधी नाधी/नातिं नागेतिरकिट/तिंती नाधी/नातिं नागेतिरकिट

x 2 0 3

लीलावती 113 मात्रायें।
धिं धिं धा त्रक/धिं तिं तिं/ता त्रक धिं/धिं
x 2 3 4

लोकमाता ।।9 मात्राएं।

धा कि ट धा/धा कि ट कड़/धा कि ट ति/ट क त ग/दि गि न

x 2 3 4 5

वर्धन ।।9 मात्राएं।

धा ऽग/धा गे/तिट ता ऽग ता/गे तिट धा गे तिट कत गदि गिन नग धे ऽ

x 2 3 4

वर्ण ।8 मात्राएं।

धा गे/तिट कत दिं/ता गदि गिन

x 2 3

वर्णभिन्न ।16 मात्राएं।

धा धिट/धिट धा/धा तिट कत धा/तिट कत गदि गिन धा ऽ गदि गिन

x 2 3 4

वर्ण भिन्न।8 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा गे/धा गे/धि न न क

x 2 3

वर्णमंठिका ।20 मात्राएं।

धा ऽ धा ऽ/ति ट क त/ग दि/क त/ति ट क त/ग दि/ग न

x 2 3 4 5 6 7

विजय ।20 मात्राएं।

धा ऽ धि न न क धे ऽ/धि न/न क/धे ऽता ऽ ध दि गन

x 2 3 4

विमोही ।।3 मात्राएं।

धिं ना तिट किट/धी धी ना/नग तिर किट तक/तेटे कत

x 2 3 4

विक्रम ।।7 मात्राएं।

धा ऽ कि ट/त क/धु म कि ट/त क/धे ऽ/धि न ता

x 2 3 4 5 6

लिछमु ।36 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धा ऽ धि ट/धि ट धा ऽ/ता ऽ/कि ट/धि ट/धा ऽ दि न/धि ट धि ट/धा

x 2 3 4 5 6 7 8

किट/त क/ध दि/ग न/धा ऽ दि न

8 9 10 11 12

विष्णु ।18 मात्राएं।

धा धा/दिं ता/किट धा/धिं ता ऽ/किट तक/गदि गिन/धुम किट/तक धदि गन

x 2 3 4 5 6 7 8

विश्व ।13 मात्राएं।

धा ऽ/धि न न/क/धे ऽ/धि/न/न/क त्ता

x 2 3 4 5 6 7 8 9

वीरपंच ।20 मात्राएं।

धा ऽ/धिं ता/तिट धा तिट कत/गदि गिन/दिन ता/किट तक धिट तिट/गेन किट/

x 0 2 3 0 5 6

तक दिग

0

सुदर्शन ।24 मात्राएं।

धा ऽ धि ट/धा धा धि ट ति ट ता ऽ ति ट ता ऽ ति ट/के तिट के धि ट त

x 2 3

सुधारी ।15 मात्राएं।

धिं ना धिं धिं/धा धा तिं ना/ऽ त्ता तिंना कत्ता/किटतक तिरकिट

x 2 3 4

अथवा :

धे ना ऽ कड़धे ना ऽ कड़/धे नात धीना धीना/तीकड़तुना तिरकिटतुना किड़नग/

x 2 0

कत्ता धीधी नाधी धीना

3

सुधारी ।15 मात्राएं, अन्य प्रकार

धीना धीधी/कत्ता धीधी नाधी धीना/तीकड़ तुना तिरकिट तुना/कत्ता धीधी नाधी धीना

x 2 0 3

सवारी ।30 मात्राएं, अन्य प्रकार।

धी ता क धी ता क धीं धीं/ता क धीं धीं ता क ती ना/ती ना त्रि किट

x 2 3

धी ना धी धी/ना धी धी ना धी ना

4

सवारी ।32 मात्राएं।

धी ऽ ना ऽ धी ऽ धी/ऽ ना ऽ धी धी ना धी धी ना/तिन तिरकिट तिन तिन

x 2 3

ना ना तू/ना कत् ता तिरकिट धी ना धीं धी ना

4

सवारी छोटी ।x

धा ध दि/म म धु म/कि ट त क/धि न ता

x 2 3 4

सवारी बड़ी ।16 मात्राएं।

धी ना/धी ना/धीधी धीना/धीधी धीना/ता ऽक तुना/ता ऽक तुना/कत्ता ऽकधिन/

x 0 2 0 3 4 5

गिनधागे नधातिरकिट

0

सवारी बड़ी ।16 मात्राएं, ध्रुपद की।

धा . कि ट/धु म कि ट/त कि ट त/का /कि ट

x 2 3 4 5

सरस्वती ।18 मात्राएं।

धा धिं ना/धि न/कि ट धे न/धा गे तिट/धा गे तुंन ना

x 2 3 4 5

सरोज ।12 मात्राएं।

त किट तक किट/तिट गदि गिन किड़ नग/तक धुं ना

x 2 3

सागर ।17 मात्राएं।

धा धु म धे ता/त क धु म क/धा क तिट कत गदि गिन ता

x 2 3

तार 18 मात्राएं।

धा कि ट/त क/धा कि ट

x 2 3

तालबंद 126 मात्राएं।

धा ऽ गे ऽ/धा ऽ मे ऽ/धि न न क/धे /ता ऽ धि म्र /न क त क/धा ऽ /धि न

x 2 3 4 5 6 7 8

सिंहनाद 140 मात्राएं।

धा ऽ कि ट/ध म कि ट त कि ट त/गा ऽ कि ट धु म कि ट/धा गे धे ट त क धा ऽ/

x 2 3 4

धि न न क/धा गे ते टे ध टी गिम्र न

5 6

सुदर्शन 120 मात्राएं।

धा ऽ/कि ट/त क/धु म/कि ट/त क/धे ऽ त्ता ऽ ध दि गिम्र न

x 2 3 4 5 6 7

संगविक्रम 164 मात्राएं।

धी त्रक धी ना/धीधी ना कत/दित्त क ता/ग दि गि न/ता दि धुं ना/धा गे ति ट/

x 0 2 0 3 0

ग दि गि न/धे टा ऽ न कि ट क त/ता ड़ी धुं धुं/कि ट त ग/दिं ग ड़/

4 5 0 6 0

धु म कि ट/धु म कि ट ग दि गि न/ता गे ते टे

7 0 8

संघलीला 114 मात्राएं।

धी त्रक धिं ना/तुं ता/धी धी/ना धी/धी ना क त्ता

x 2 3 4 5

शचित 110 मात्राएं।

धा धा/दिं/का किट/तक/तिट/किट/धुं धुं

x 2 3 4 5 6 7

शरजन्मा 115 मात्राएं।

धा धुम किट/धेत् धुम किट तक/धे त्ता तिट कत तिक तक गदि गिन

x 2 3

शरभक्रीड़ा ।19 मात्राएं।

धा त्रक धुं ना ना/क ता/धिन नक धेत् धिन नक तिट/धागे नधा/धिट/कत/गदि गिन

x 0 2 3 4 5 6

शरभलीला ।21 मात्राएं।

धा गे दिं ता ता किट/धागे दिं ता दिं दिं ता तिट/कत गिन धग तग दीं/

x 2 3

ता गदि गिन

4

शुंभ ।16 मात्राएं।

धा त्रक धिं ना/धा गदि गिन/किट तक/धा क त/तिट कत तिं ना

x 2 3 0 4

शुभागीं ।7 मात्राएं।

धा धा/धा देत ता किट कत

x 2

शिखिर ।17 मात्राएं।

धा त्रक धिन नक/धुं गा धिन नक/धुम किट तक/धेत् धा/तिट कत गदि गिन

x 2 3 4 5

शिखिरवाहन ।12 मात्राएं।

धा दिं ता/धा दिं ता/क त्ता/तिट कत गदि गिन

x 2 0 3

शेष ।19 मात्राएं।

धा , कि ट/त क धु म/कि ट/त क/धा ; ता /धा/गे ता

x 2 3 4 5 6 7

शोभाधाम ।22 मात्राएं।

धा त्रक धी ना/धा किट तक धुम तक/तिट कत धदि गिन गिन गिन/

x 2 3

किट तक धुम किट तक/धुं ना

5 6

शंकर ।11 मात्राएं।

धा किट/तकधुन/किटतक/धा दिन/धा किट/तादेत् ताधा/किटकिट/धा दिन/कतधा/दिनुता

x 2 3 4 5 6 7 8 9

शंख (10 मात्राएं)

धा/धिन/धिन धा तिट कत/गदि/गिन धेट ता

x 2 3 4 5

शंख (13 मात्राएं)

धीं त्रक धिं ना/ता तुं ना किट/धा गदि गिन/तुं ना

x 2 3 4

श्रवणनील (21 मात्राएं)

धा कड़धा ऽन/धि त्ता त्ता/ध दि गि न/कड़धा ऽन तिट कत तक ता ऽ तिट कत/

x 2 3 4

गदि गिन

5

श्रुति (22 मात्राएं)

धा ऽधि धि न/न क/धे ऽ/धि न न क/धे /धि ऽ/धि न/न क ता ऽ

षड़ताल (12 मात्राएं)

धा गे/धा गे/धिन नक/धेत् धिन/नक धेत्/धिन नक

x 2 3 4 5 6

हनुमान (22 मात्राएं)

धा ऽ कि ट/त क धु म/कि ट/त क धे ऽ/त्ता ऽ/त क/धे ऽ/त्ता ऽ

x 2 3 4 5 6 7 8

हिमांशु (15 मात्राएं)

धागे तिट धुम किट धा/तिर किट धिं धिं/तिर किट तिं/तिं ना धुं

x 2 3 4

हैमवती (21 मात्राएं)

धा गे/धा गे धा ऽ धिट/धा कत धिन ता/धा गे धिन ता क/त्ता तिट कत गदिगिन

x 2 3 4 5

हंसलील (5 मात्राएं)

धा धि/ट धि टि

x 2

त्रिपुट (8 मात्राएं)

धा तिट ता किट/तिट कत/गदि गिन

x 2 3

त्रिपुट (9 मात्राएं)

धा तिट किट/तक दिन्/ता तिट/किट तक

x 0 2 3

त्रिपुट (11 मात्राएं)

धा गेन तिट कत/गेन किट तक/धा तिं/धा तिट

x 0 2 3

त्रिपुट (13 मात्राएं)

धा धेत् ता धेत् ता किट/तिट कत धेत्/ता किट तक ता

x 0 2

त्रिवेणी (19 मात्राएं)

धा/धा/धि/ट/धि/ट धु/म कि/ट त/क/धा/ति/ट क/त/धे त्ता

x 0 2 3 0 4 5 6 7 8 9 10 11 12

======

अध्याय ७

१. गायन वादन शैली के अनुसार तालों का वर्गीकरण

२. समान मात्रा की तालों की तुलना

गायन-वादन शैली के अनुसार तालों का वर्गीकरण

भारतीय संगीत के अन्तर्गत गीत को प्रधान माना गया है और वाद्य व नृत्य का कार्य गीत का उपरंजन करते हुये उसे सम्यक् बनाना है । इसीलिए वाद्य को गीत का अनुवर्ती या अनुगामी कहा गया है जिसका प्रयोजन गीत व नृत्य आदि की सौंदर्याभिवृद्धि करते हुये लोकानुरंजन करना है । इस प्रकार संगीत में व्यवहार किये जाने वाले सभी वाद्यों का आविष्कार मूलतः संगति के लिए ही हुआ । अतः अवनद्ध वाद्य भी मूलरूप से संगति का ही वाद्य है ।

सभी प्रकार के अवनद्ध वाद्य मूलतः लय और ताल प्रधान वाद्य होते हैं और उनका कार्य गायन-वादन और नृत्य के साथ ताल व लय की संगति करना होता है । तबला और पखावज उनमें से मुख्य ताल प्रधान अवनद्ध वाद्य हैं । उनका भी प्रमुख कार्य विविध ध्वनियुक्त पाटाक्षरों (बोलों) के सम्प्रयोग से ताल और लय की अभिवृद्धि करते हुये वाद्य और नृत्य की संगति करना होता है ।

प्राचीन काल में संगीत के साथ ताल का काल मान करने अर्थात् ताल खंडों को प्रदर्शित करने का कार्य किसी व्यक्ति द्वारा हाथ से ताल देकर या घन वाद्य से ठोंके देकर किया जाता रहा[1] और अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग विविध ध्वनियुक्त पाटाक्षरों (बोलों) द्वारा ताल व लय के सौंदर्य वर्द्धन के लिए किया जाता था । अतः उस समय संगीत में घन वाद्यों का प्रयोग आवश्यक था और ठेका वादन की पद्धति नहीं थी । आज भी दक्षिण भारत में हाथ से ताली देते हुये ताल का कालमान करने की प्रथा है और अवनद्ध वाद्यों के बजाने के लिए किसी भी ताल का कोई निश्चित ठेका नहीं होता ।

प्राचीन संगीत शास्त्र में अनेक तालों का वर्णन मिलता है, परन्तु कालक्रम व राजनैतिक परिवर्तन के कारण भारतीय संगीत में गायन शैलियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन तालों का प्रचार कम हो गया है । तेरहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में मुसलमान शासकों के आगमन पर संगीत कला पर भी इनका प्रभाव था जो कि दक्षिण भारत में अछूता रहा जिसके कारण उत्तर भारत में ध्रुपद-धमार जैसे गंभीर गायन शैलियों का प्रचार बन्द हो गया और उनके स्थान पर ख्याल, तराना ठुमरी आदि गायन शैलियों का प्रचार बढ़ा । उनके साथ-साथ संगत करने वाले वाद्यों का भी परिवर्तन हुआ । प्राचीन पखावज के स्थान पर तबला जैसे आधुनिक अवनद्ध वाद्य का प्रचार बढ़ा ।

---

1. संगीत समयसार, (षष्ठमधिकरणम्).

दक्षिण भारत में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ और आज भी पखावज का प्रचार है । दक्षिण भारत में ध्रुपद-धमार जैसे गंभीर शैलियों के साथ मंदिरों में भजन-कीर्तन के समय आज भी पखावज बजाने की रीति प्रचलित है । वर्तमान युग में पखावज (मृदंग) वादकों में कुछ तालों की शिक्षा परम्परागत आज भी चली आ रही है, परन्तु वास्तव में आज के कोई गायक-वादक या नर्तक इन प्राचीन तालों का व्यवहार अपने कला प्रदर्शन में प्रायः नहीं करते, इसलिए पखावज वादकों को स्वतंत्र वादन के अतिरिक्त अन्य किसी संगीत प्रदर्शन में इन अप्रचलित तालों को प्रत्यक्ष व्यवहार करने का अवसर नहीं मिलता जिससे प्राचीन पद्धति के ताल प्रत्यक्ष व्यवहार से हट रहे हैं ।

17वीं शताब्दी तक मुगल दरबारों और भारतीय जनसमाज में ध्रुपद गायन की विधा बहुत प्रतिष्ठित रही और उस समय तक अनेक प्राचीन तालों में ध्रुवपद गाने की पद्धति भी थी । इसका प्रमाण शाहजहाँ के युग में संकलित किये गये बख्शू नायक के ध्रुवपदों के संग्रह "सहसरस" से मिलता है जिसमें अनेक ध्रुवपद प्राचीन परम्परा के तालों में निबद्ध हैं । यह भी उल्लेख मिलता है कि शाहजहाँ अपने दरबारी गायकों से इन ध्रुपदों को बड़ी रुचि पूर्वक सुना करता था ।[1] अतः स्वाभाविक है कि इन ध्रुपदों के साथ बजाने वाले तत्कालीन पखावज (मृदंग) वादकों में भी उन ध्रुपदों में व्यावहारिक प्राचीन बोलों को बजाने का प्रचलन था ।

17वीं शताब्दी के पश्चात् ख्याल गायन और सितार वादन का प्रचलन बढ़ने पर उनके साथ तबला वादन की प्रथा चली, अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक था कि जिन तालों में ख्याल गायन की या सितार वादन की रचनाएँ निबद्ध होती थीं, उन्हीं में तबला वादन भी होता था । अतएव आगे चलकर तबला वादन में वहीं ताल बजने लगे जो कि ख्याल गायन या सितार आदि वाद्यों के साथ वादन में व्यवहार किये जाते थे । इनके अतिरिक्त तबला वादन का संबंध ठुमरी, टप्पा, तराना, लोकगीत, भजन, कव्वाली और गजल इत्यादि सुगम संगीत की विधाओं से भी रहा । इसीलिए तबला वादन में ऐसे अनेक ताल भी बजाये जाते हैं जिनका मूल संबंध इन विधाओं से है ।

गायन, वादन या नृत्य के साथ पखावज (मृदंग) या तबला वादन का मुख्य लक्ष्य ताल व लय को ठेका वादन द्वारा ठीक रखना, साथ ही उपयुक्त बोलों को बजाते हुये संगीत को उपरंजित भी किया जाता है । ठेके की संरचना

---

1. सहसरस, भूमिका.

का उद्देश्य ही गायक, वादक व नर्तक को सचेत रखते हुये उसे बेताल न होने देना है । अतः संगति वादन में ठेका और लय की शुद्धता अत्यन्त आवश्यक होती है । संगति के मुख्यतः तीन भेद इस प्रकार हैं :-

(क) गायन की संगति

(2) वादन की संगति

(3) नृत्य की संगति

(1) गायन की संगति :

भारतीय संगीत में ध्रुपद, धमार (काल), तराना, टप्पा, ठुमरी, भजन, गीत, गजल, कव्वाली तथा लोक गीत इत्यादि गायन प्रचलित हैं । इनमें से कुछ विधायें शास्त्रीय, कुछ उपशास्त्रीय और कुछ सुगम संगीत के अन्तर्गत आती हैं । इन विभिन्न प्रकार की विधाओं के साथ अनुकूल पखावज वादन या तबला वादन की संगति विभिन्न प्रकार के तालों द्वारा किया जाता है ।

ध्रुपद-धमार शैली का गायन

प्राचीन भारतीय शैलियों में ध्रुपद और धमार शैलियाँ प्रमुख हैं । ध्रुपद और धमार के साथ प्रमुख रूप से पखावज वादन की प्रथा रही है, क्योंकि इन गायन शैलियों(गंभीर प्रकृति की होने के कारण पखावज(मृदंग)जैसे गंभीर वाद्य से संगत किया जाता है । समय के परिवर्तन के कारण पखावज के अभाव में इस प्रकार की गायन शैलियों के साथ तबला द्वारा ही संगत किया जाता है । वर्तमान समय में साधारणतः चारताल, सूलताल, ब्रह्मताल, बसन्तताल, रुद्रताल, धमार ताल आदि तालों में गाने का प्रचलन है । तबला वादक उन शैलियों की संगति में पखावज वादकों की भाँति खुले बोल द्वारा संगत करते हैं ।

ख्याल गायन शैली

मुख्यतः ख्याल शैली दो प्रकार से गाई जाती है (1) विलम्बित लय में, (2) मध्य या द्रुत लय में । विलम्बित ख्याल मुख्यतः एक ताल, तीन ताल, तिलवाड़ा, झूमरा ताल, आड़ा चार ताल, इत्यादि में गाये जाते हैं । मध्य या द्रुत लय में गाये जाने वाले ख्याल प्रायः तीन ताल, एक ताल, झप ताल, रूपक ताल, आड़ाचार ताल इत्यादि में गाये जाते हैं । इसमें लय की गति अधिक होने से तबला वादक ठेके का भराव तिहाई मोहरे इत्यादि का उचित प्रयोग करते हुये गायन की सौंदर्य वृद्धि करते हैं ।

तराना गायन शैली

तराना गायन प्रायः द्रुत लय में गाये जाते हैं । इसकी संगति भी प्रायः द्रुत ख्याल की भांति तीन ताल, एक ताल, झपताल इत्यादि तालों के द्वारा की जाती है । अतिद्रुत लय में तराना गायन के साथ तबला वादक ठेके की तैयारी और रेले इत्यादि से संगत करते हैं ।

टप्पा शैली

टप्पा गायन शैली के साथ भी ख्याल गायन की तरह तीन ताल, एक ताल, झपताल आदि का प्रयोग होता है ।

ठुमरी गायन शैली

ठुमरी भी दो प्रकार से गाई जाती है, (1) विलम्बित लय में, (2) मध्य लय में । विलम्बित लय में गाई जाने वाली ठुमरियां जत ताल, चाचर ताल, पंजाबी ताल, दीपचन्दी ताल, अद्धा ताल इत्यादि में गाई जाती है । विलम्बित ठुमरी के साथ तबला वादक जत, दीपचन्दी, चाचर, पंजाबी आदि तालों द्वारा संगत करते हैं और द्रुत लय में ठुमरी के साथ द्रुत तीन ताल अथवा कहरवा ताल के लग्गी लड़ियों द्वारा संगत किया जाता है ।

दादरा गायन शैली

दादरा गायन शैली के साथ मुख्यतः दादरा ताल का ही प्रयोग किया जाता है । कभी-कभी रचना के अनुसार कहरवा ताल द्वारा भी संगत किया जा सकता है ।

उपर्युक्त गायन शैलियों के अतिरिक्त भजन, गज़ल, गीत, लोकगीत इत्यादि गायन शैलियों में दीपचन्दी, रूपक, कहरवा, दादरा आदि तालों का व्यवहार होता है । इन शैलियों की संगति में ठेके व उनका प्रकार छोटी-छोटी तिहाइयां और लड़ियों का व्यवहार किया जाता है ।

(2) वादन की संगति

वादन की संगति से तात्पर्य स्वर प्रधान वाद्यों के साथ ताल प्रधान वाद्यों द्वारा संगत करना है । दक्षिण भारत में वीणा या वायलिन आदि के साथ पखावज (मृदंगम्), घटम् और मंजीरा द्वारा संगत किया जाता है । उत्तर भारत में सितार, सरोद, वायलिन आदि वाद्यों के साथ तबला द्वारा संगत किया जाता है । तंत्र वाद्यों में ध्वनि सूक्ष्म खंडों में उत्पन्न होने के कारण छन्द और लयकारी के वादन की सुविधा रहती है, इसलिए उनमें जो रचनाएं बजाई जाती है, उन्हें गत कहा जाता है । गत

मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं- ॥1॥ मसीतखानी गत, ॥2॥ रजाखानी गत । मसीत खानी गत विलम्बित तीन ताल, एक ताल, रूपक ताल आड़ाचार ताल आदि तालों में बजाया जाता है । रजाखानी गत मध्य लय और द्रुत लय में बजाया जाता है । रजाखानी गत के साथ अधिकतर तीन ताल, एक ताल, झपताल, आड़ाचार ताल, रूपक ताल आदि का प्रयोग होता है ।

॥ग॥ <u>नृत्य की संगति</u>

दक्षिण भारतीय नृत्यों के साथ संगत करने के लिए मूल रूप से मृदंगम् ॥पखावज॥ द्वारा संगत किया जाता है । उत्तर भारतीय नृत्य के साथ तबला द्वारा ही संगत किया जाता है । मुख्यतः नृत्य में तीन ताल, धमार ताल, एक ताल, आड़ाचार ताल, झपताल, रूपक ताल आदि तालों द्वारा संगत किया जाता है ।

उत्तर भारत के नृत्यों में मणिपुरी नृत्यों के साथ पुंग या खोल, ओडिसी नृत्य के साथ मृदंग और कथक नृत्य के साथ तबला या पखावज द्वारा संगत किया जाता है । कालान्तर में कथक नृत्य के साथ तबला वादन की शैली अत्यन्त लोकप्रिय है ।

=====

समान मात्रा की तालों की तुलना

समानता

एक ताल	चार ताल
1. एक ताल में 12 मात्राएं होती हैं।	चार ताल में भी 12 मात्राएं होती हैं।
2. एक ताल में छः विभाग होते हैं।	चार ताल में भी 6 विभाग होते हैं।
3. एक ताल में प्रत्येक विभाग 2-2 मात्रा का होता है।	चार ताल में भी 2-2 मात्रा का प्रत्येक विभाग होता है।
4. एक ताल में 4 ताली तथा दो खाली खाली होती है।	चार ताल में भी 4 ताली तथा 2 खाली होती है।
5. एक ताल में 1,5,9,11 मात्रा पर ताली तथा 3 एवं 7 मात्रा पर खाली होती है।	चार ताल में भी 1,5,9,11 मात्रा पर ताली तथा 3 व 7 मात्रा पर खाली होती है।

असमानता

एक ताल	चार ताल
6. एक ताल तबले की ताल है।	चार ताल पखावज की ताल है।
7. यह चाँट प्रधान तालें हैं।	यह थाप प्रधान ताल है।
8. इसके बंद बोल हैं।	इसके खुले बोल हैं।
9. एक ताल में खयालगाये जाते हैं।	चार ताल में ध्रुपद गाये जाते हैं।
10. एक ताल में मुखड़ा, मोहरा, पेशकार, कायदे, पल्टे, टुकड़े, परन, गतें आदि बजाई जाती हैं।	चार ताल में उठान, टुकड़े तथा परनें बजाई जाती हैं।
11. एक ताल में विलम्बित और द्रुत खयाल गाये जाते हैं।	चार ताल में विशेष रूप से विलम्बित लय में ध्रुपद गाये जाते हैं।
12. एक ताल दक्षिण पद्धति की ताल है तथा इसमें 3 मात्राएं बढ़ाकर इस ताल को इस रूप में लाते हैं।	चार ताल आदि काल से ऐसी ही बजाई है। यह दक्षिण पद्धति की ताल नहीं है।

धीरे-धीरे जब ध्रुपद गायन का ह्रास होता गया और खयाल गायन शैली का प्रचार हुआ, तब 12 मात्रा की खयाल गायन की संगत के लिए 12 मात्रा की दूसरी ताल की आवश्यकता हुई। इसके बाद इस एक ताल का निर्माण हुआ।

ठेका - एक ताल

धिं धिं/धागे तिरकिट/तू ना/कत् ता/धागे तिरकिट/धिं ना

x 0 2 0 3 4

ठेका - चार ताल

धा धा/दिं ता/तिट धा/दिं ता/तिट कत/गदि गन

x 0 2 0 3 4

तीन ताल तथा पंजाबी त्रिताल की तुलना

समानता

तीन ताल	पंजाबी
1. तीन ताल में 16 मात्राएं होती हैं ।	पंजाबी ताल में भी 16 मात्राएं होती हैं
2. तीन ताल में 4 विभाग होते हैं ।	पंजाबी ताल में भी 4 विभाग होते हैं
3. तीन ताल में प्रत्येक विभाग में 4-4 मात्राएं होती हैं ।	पंजाबी ताल में प्रत्येक विभाग में 4-4 मात्राएं होती हैं ।
4. तीन ताल में 3 ताली तथा एक खाली होती है ।	पंजाबी ताल में भी तीन ताली तथा एक खाली होती है ।
5. तीन ताल में पहली, पांचवीं तथा तेरहवीं मात्रा पर ताली और नवीं मात्रा पर खाली होती है ।	पंजाबी ताल में पहली, पांचवीं तथा तेरहवीं मात्रा पर तालह एवं नवीं मात्रा पर खाली होती है ।
6. तीन ताल तबले की ताल है ।	पंजाबी ताल भी तबले की ताल है ।
7. तीन ताल में थांट प्रधान बोल हैं ।	पंजाबी तालकेभी थांट प्रधान बोल हैं ।

विभिन्नता

8. तीन ताल में ख्याल गाये जाते हैं।	पंजाबी ताल में विशेष रूप से पंजाब अंग की ठुमरी गाई जाती है। ठुमरी के दो अंग हैं, घराना अंग तथा पंजाब अंग ।
9. तीन ताल में मुखड़ा, मोहरा, पेशकार कायदे, टुकड़े, परनें तथा गतें आदि बजती हैं ।	पंजाबी में ठुमरी के साथ बाद में नाना प्रकार की लग्गियां बजती हैं ।

ठेका - तीन ताल

धा धिं धिं धा/धा धिं धिं धा/धा तिं तिं ता/ता धिं धिं धा

x 2 0 3

ठेका पंजाबी

धा ऽधीं ऽक धा/धा ऽधी ऽक धा
x 2
धा ऽतीं ऽक ता/ता ऽधी ऽक धा
0 3

दीपचन्दी तथा झूमरा ताल की तुलना

समता

दीपचन्दी	झूमरा
1. दीपचन्दी ताल में 14 मात्रायें होती हैं ।	झूमरा ताल में भी 14 मात्रायें होती हैं
2. दीपचन्दी में 4 विभाग होते हैं ।	झूमरा में भी 4 विभाग होते हैं ।
3. दीपचन्दी में पहला विभाग तथा तीसरा विभाग 3-3 मात्रा के और दूसरा तथा चौथा 4-4 मात्रा के होते हैं ।	झूमरा में भी पहला विभाग तथा तीसरा विभाग 3-3 मात्रा के और दूसरा तथा चौथा 4-4 मात्रा के होते हैं ।
4. दीपचन्दी में तीन ताली तथा एक खाली होती है ।	झूमरा में भी तीन ताली तथा एक खाली होती है ।
5. दीपचन्दी में 1, 4, तथा 11वीं मात्रा पर ताल तथा आठवीं मात्रा पर खाली होती है ।	झूमरा में भी 1, 4 तथा 11वीं मात्रा पर ताली तथा आठवीं मात्रा पर खाली होती है ।
6. दीपचन्दी के तबले के बोल हैं ।	झूमरा के भी तबले के बोल हैं ।
7. दीपचंदी के चांट प्रधान बोल हैं ।	झूमरा के भी चांट प्रधान बोल हैं ।

असमानता

दीपचन्दी	झूमरा
8. दीपचन्दी में ठुमरी तथा होली गाई जाती है ।	झूमरा में ख्याल गाये जाते हैं ।
9. दीपचन्दी में ठुमरी गायन के अन्त में नानाप्रकार की लग्गियों का प्रयोग होता है।	झूमरा में मुखड़ा, मोहरा, पेशकार, कायदे, पल्टे, टुकड़े की लग्गियों का प्रयोग होता है ।

ठेका - दीपचन्दी (दूसरा प्रकार)

धा धीं ऽ/धा गे तीं ऽ/ता तीं ऽ/धा गे धीं ऽ
x 2 0 3

ठेका-दीपचन्दी

धा धीं ऽ/धा धा धी ऽ/ता ती ऽ/धा धा धीं ऽ
x 2 0 3

ठेका झूमरा

धिं ऽधा तिरकिट/धिं धिं धागे तिरकिट/तिं ऽता तिरकिट/धिं धिं धागे तिरकिट
x 2 0 3

=======

दक्षिणी ताल-पद्धति

उत्तरी ताल-पद्धति और दक्षिणी (कर्नाटकीय) ताल पद्धति में विशेष रूप से भिन्नता पाई जाती है । कर्नाटक ताल पद्धति में मुख्यतः सात तालें मानी गयी हैं, जिनके नाम इस प्रकार है- 1. ध्रुवताल, 2. मठताल, 3. रूपकताल, 4. झंपताल, 5. त्रिपुट ताल, 6. अठताल, और 7. एकताल ।

पंचजाति-भेद के अनुसार इन सात तालों की पांच-पांच जातियां हैं । इस प्रकार इनसे 7x5=35 तालें उत्पन्न होती हैं ।

दक्षिणी पद्धति में तालों को लिखने के लिए छह चिन्ह नियत किये गये हैं जिनकी सहायता से इन तालों को लिखा जाता है । वे छह चिन्ह इस प्रकार हैं:-

	अणुद्रुत अथवा विराम,	मात्रा	1
ब	द्रुत	मात्राएं	2
।	लघु	मात्राएं	4
	गुरू	मात्राएं	8
3	प्लुत	मात्राएं	12
x	काकपद	मात्राएं	16

उपर्युक्त छह चिन्हों में "लघु" नामक चिन्ह विशेष महत्वपूर्ण है और इसी एक चिन्ह के कारण तालों की विभिन्न जातियां पैदा हुई हैं । लघु चिन्ह की मात्राएं यद्यपि ऊपर चार बताई गयी हैं, किन्तु "पंचजाति-भेद" के अनुसार लघु की मात्राएं परिवर्तित होती रहती हैं और इसी परिवर्तन से पांच जातियां पैदा हुई हैं, यथा:-

1- चतुरश्र जाति, 2- त्र्यश्र जाति, 3- खंड जाति, 4-मिश्र जाति, 5-संकीर्ण जाति।

चतुरश्र जाति	:	इसमें लघु की चार मात्राएं मानी गयी हैं ।
त्र्यश्र जाति	:	इसमें लघु की तीन मात्राएं मानी गयी हैं ।
खंड जाति	:	इसमें लघु की पांच मात्राएं मानी गयी हैं ।
मिश्र जाति	:	इसमें लघु की सात मात्राएं मानी गयी हैं ।
संकीर्ण जाति	:	इसमें लघु की नौ मात्राएं मानी गयी हैं ।

कर्नाटक ताल-पद्धति की जिन सात तालों के नाम ऊपर दिये गये हैं, उनमें केवल अणुद्रुत, द्रुत और लघु नन्हीं तीन चिन्हों का प्रयोग होता है । शेष तीन चिन्हो-गुरू, प्लुत और काकपद का प्रयोग इनमें नहीं होता । इन तीन चिन्हों का प्रयोग दक्षिण की उन 108 तालों में होता है, जो कि उनके नृत्य में प्रयुक्त होती हैं ।

ऊपर बताये हुये "पंचजाति-भेद" के अनुसार सात तालों में 35 प्रकार कौन-कौन से उत्पन्न होते हैं, यह आगे की तालिका में देखिये:-

सात कर्नाटक-तालों के पंचजाति भेदानुसार 35 प्रकार:

ताल	जाति-भेद	ताल-चिन्ह	जाति-भेद से मात्रा विभाग	कुल मात्राएं
ध्रुव ताल	चतुरश्र	I 4 0 I 4 I 4	4+2+4+4	14
	त्र्यश्र	I 3 0 I 3 I 3	3+2+3+3	11
	मिश्र	I 7 0 I 7 I 7	7+2+7+7	23
	खंड	I 5 0 I 5 I 5	5+2+5+5	17
	संकीर्ण	I 9 0 I 9 I 9	9+2+9+9	29
मठ ताल	चतुरश्र	I 4 0 I 4	4+2+4	10
	त्र्यश्र	I 3 0 I 3	3+2+3	8
	मिश्र	I 7 0 I 7	7+2+7	16
	खंड	I 5 0 I 5	5+2+5	12
	संकीर्ण	I 9 0 I 9	9+2+9	20
रूपक ताल	चतुरश्र	I 4 0	4+2	6
	त्र्यश्र	I 3 0	3+2	5
	मिश्र	I 7 0	7+2	9
	खंड	I 5 0	5+2	7
	संकीर्ण	I 9 0	9+2	11
झंप ताल	चतुरश्र	I 4 0	4+1+2	7
	त्र्यश्र	I 3 0	3+1+2	6
	मिश्र	I 7 0	7+1+2	10
	खंड	I 5 0	5+1+2	8
	संकीर्ण	I 9 0	9+1+2	12
त्रिपुट ताल	चतुरश्र	I 4 0 0	4+2+2	8
	त्र्यश्र	I 3 0 0	3+2+2	7
	मिश्र	I 7 0 0	7+2+2	11
	खंड	I 5 0 0	5+2+2	9
	संकीर्ण	I 9 0 0	9+2+2	13
अठ ताल	चतुरश्र	I 4 I 4 0 0	4+4+2+2	12
	त्र्यश्र	I 3 I 3 0 0	3+3+2+2	10
	मिश्र	I 7 I 7 0 0	7+7+2+2	18
	खंड	I 5 I 5 0 0	5+5+2+2	14
	संकीर्ण	I 9 I 9 0 0	9+9+2+2	22

एक ताल	चतुरस्र	I 4	4	4
	त्र्यश्र	I 3	3	3
	मिश्र	I 7	7	7
	खंड	I 5	5	5
	संकीर्ण	I 9	9	9

ये तो हुये जाति भेद के अनुसार सात तालों के पैंतीस प्रकार । अब पंचगति भेद के अनुसार इनमें से प्रत्येक प्रकार के पांच-पांच भेद और होते हैं । इसमें 35×5=175 तालों के प्रकार इस पद्धति से उत्पन्न होते हैं । आगामी पृष्ठ में उदाहरण के लिए केवल "अठ ताल" के पच्चीस प्रकार पंचगति-भेदानुसार कैसे हो सकते हैं, यह दिखाया जाता है ।

अठ ताल के पच्चीस प्रकार

जाति	चिन्ह	मात्राएं	गतिभेद	गति-भेद के प्रकार से कुल मात्राएं
चतुरस्र	141400	12	चतुरस्र	12×4=48
			त्र्यश्र	12×3=36
			मिश्र	12×7=84
			खंड	12×5=60
			संकीर्ण	12×9=108
त्र्यश्र	131300	10	चतुरस्र	10×4=40
			त्र्यश्र	10×3=30
			मिश्र	10×7=70
			खंड	10×5=50
			संकीर्ण	10×9=90
मिश्र	171700	18	चतुरस्र	18×4=72
			त्र्यश्र	18×3=54
			मिश्र	18×7=126
			खंड	18×5=90
			संकीर्ण	18×9=162
खंड	151500	14	चतुरस्र	14×4=56
			त्र्यश्र	14×3=42
			मिश्र	14×7=98
			खंड	14×5=70
			संकीर्ण	14×9=126
संकीर्ण	191900	22	चतुरस्र	22×4=88
			त्र्यश्र	22×3=66
			मिश्र	22×7=154
			खंड	22×5=110
			संकीर्ण	22×9=198

ज्ञातव्य:- इसी तरह शेष छह तालों से भी पच्चीस-पच्चीस प्रकार पैदा होकर कुल 175 हो जायेंगे ।

ऊपर के नक्शों में चिन्ह वाले खाने में ताल-चिन्ह लघु के आगे जो अंक लिखे गये हैं, उनका अर्थ यह है कि लघु यहाँ पर इतनी मात्रा का माना गया है, जैसे लघु का चिन्ह "।" यह है, जहाँ पर चतुरश्र जाति में लघु दिखाया जायेगा, वहाँ । 4 इस प्रकार लिखेंगे । त्र्यस्र जाति में । 3 इस प्रकार लिखेंगे । मिश्र जाति में लघु को । 7 इस प्रकार लिखेंगे । खंड जाति में लघु को । 5 इस प्रकार लिखेंगे और संकीर्ण जाति में लघु को । 9 इस प्रकार लिखेंगे । लघु के चिन्ह के आगे दिये हुये विभिन्न अंकों द्वारा आसानी से यह मालूम हो जाता है कि यहाँ पर लघु की इतनी मात्राएं मानी गयी हैं । अन्य चिन्हों के साथ मात्रा लिखने का नियम नहीं है, क्योंकि केवल "लघु" की ही मात्राएं बदलती हैं, बाकी चिन्हों की मात्राओं में कोई परिवर्तन नहीं होता ।

कर्नाटक ताल पद्धति की बाबत निम्नलिखित बातें विद्यार्थियों को याद रखनी चाहिये:-

1. कर्नाटक ताल-पद्धति में लघु की मात्राएं जाति भेद के अनुसार बदलती रहती है ।
2. जिस ताल में जितने चिन्ह होंगे, उसमें उतनी ही ताली (थाप) या भरी तालें होंगी ।
3. कर्नाटक ताल पद्धति में खाली नही होती ।
4. सभी तालें "सम" से आरम्भ होती हैं ।
5. कर्नाटक ताल पद्धति में 7 तालें प्रमुख होती हैं ।
6. प्रत्येक ताल की पांच-पांच जातियां होती हैं, जिनसे 35 प्रकार उत्पन्न होते हैं ।
7. पांच-पांच जातियों के पांच-पांच भेद होते हैं, जिनसे 175 प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं ।

मर्नाटक ताल पद्धति की सात तालों की हिन्दुस्तानी पद्धति में लिखने का कायदा

ज्ञातव्यः ये सात तालें चतुरश्र जाति में दी जा रही हैं।

ध्रुव ताल, 14 मात्राएं (|0||), चतुरश्र जाति

मात्राः 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14

चिन्हः x 2 3 4

मठ ताल, 10 मात्राएं (|0|), चतुरश्र जाति

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10

x 2 3

रूपक ताल, 6 मात्राएं (|0), चतुरश्र जाति

(इस ताल को हिन्दुस्तानी पद्धति में 7 मात्राओं को मानते हैं)

1 2 3 4 5 6

x 2

झंपा ताल, 7 मात्राएं (|0), चतुरश्र जाति

1 2 3 4 5 6 7

x 2 3

त्रिपुट ताल, 8 मात्राएं (||00), चतुरश्र जाति

1 2 3 4 5 6 7 8

x 2 3

अठ ताल, 12 मात्राएं (||00), चतुरश्र जाति

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11

x 2 3 4

एक ताल, 4 मात्राएं (|), चतुरश्र जाति

(हिन्दुस्तानी पद्धति में "एक ताल" 12 मात्राओं की मानी गयी हैं।

1 2 3 4

x

पूर्व पृष्ठांकित 7 तालें चतुरश्र जाति में दी गयी हैं। यदि इन्हीं तालों को त्र्यश्र जाति में मानकर लिखे, तो इनका रूप बदल जायेगा, क्योंकि चतुरश्र जाति में लघु को 4 मात्रा काल का माना गया है और त्र्यश्र जाति में "लघु" की मात्राएं 3 मानी जाती हैं। उदाहरणार्थ ध्रुव ताल को अब त्र्यश्र जाति में इस प्रकार लिखेंगेः-

ध्रुव ताल (त्र्यश्र जाति), मात्राएं 11

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11

x 2 3 4

इसी ध्रुव ताल को खंड जाति में लिखना हो, तो निम्नांकित प्रकार से लिखेंगे, क्योंकि खंड जाति में लघु की पांच मात्राएं मानी गयी हैं:-

ध्रुव ताल (खंड जाति), मात्राएं 17

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17

× 2 3 4

मिश्र जाति में लघु मात्राएं 7 मानी गयी हैं, अतः यही ध्रुव ताल यदि मिश्र जाति में लिखी जायेंगी, तो इसका रूप यह होगा/-

ध्रुव ताल (मिश्र जाति), मात्राएं 23

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23

× 2 3

अब इसी ताल को संकीर्ण जाति में लिखे, तो इस ताल की मात्राएं 29 हो जायेंगी, क्योंकि संकीर्ण जाति में गुरू की मात्राएं 9 मानी गयी हैं:-

ध्रुव ताल (संकीर्ण जाति) मात्राएं 29

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23

× 2 3

24 25 26 27 28 29

अध्याय ८

१. दक्षिण भारतीय संगीत की ताल पद्धति

२. लोक संगीत में प्रयुक्त तालों का शास्त्रीय तालों से सम्बन्ध

३. लोक संगीत में लय की प्रधानता एवं उत्तर भारत के लोक संगीत में तालों का वर्णन और उनका शास्त्रीय तालों से सम्बन्ध

दक्षिण भारतीय संगीत की प्रमुख तालें तथा विशेषताएं

उत्तरी ताल पद्धति एवं दक्षिणी (कर्नाटकी) ताल पद्धति में विशेष रूप से भिन्नता पाई जाती है । कर्नाटकी ताल पद्धति में मुख्य रूप से 7 तालें मानी गयी हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं:- (1) ध्रुवताल, (2) मठताल, (3) रूपक ताल, (4) झम्पताल, (5) त्रिपुटताल, (6) अठताल, (7) एक ताल । पंच जातीय भेद के अनुसार इन सात तालों की 5-5 जातियां हैं । इस प्रकार इससे 7×5=35 तालें उत्पन्न होती हैं ।

(1) ध्रुवताल

I0II

(2) मठताल

I0I

(3) रूपक ताल

I0

(4) झम्प ताल

I00

(5) त्रिपुट

I00

(6) अठ ताल

II00

(7) एक ताल

I

कर्नाटक ताल पद्धति में बोल

कर्नाटिक ताल पद्धति में अंकों के आधार पर तालें चलती हैं । एक, दो तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ अक्षर काल में बजने वाले अलग-अलग बोल होते हैं । वादक जिस ताल में जो बोल बजाना चाहे, बजा सकता है । उदाहरण के लिए अक्षर काल में बजने वाले "त", "कु", "कि", "श्रु" और "ध" हैं । इन्हें अणु द्रुत के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है । द्रुत अंग के लिए दो वर्ण जैसे "तक", "तीघ", "जक", "धा", "थै",, "थरि", "कुकु", "नक", "विधि", "किट", "थों", "पाक", "जकि", "धिमि", "तां" "दा", "ते", "कुद", "तक", "जग" और "दिग" इत्यादि का प्रयोग किया जाता है । जब द्रुत विराम अर्थात "चार" या "तीन" अक्षर काल के अंकों के लिए बोल बनाने हों, तो "धलों", "थरिक", "धलों या "तधिधि" इत्यादि का प्रयोग करते हैं ।

इसी प्रकार लघु अंग को बजाने के लिए "जग जग", "रण कुकु", "टिटिकिण", " कुकुदिग", "धारिका", "तगथों", "तकथों", "तकुथिरि", "दांधिमि "तगधिमि", "थैथा", "थोंगा", "ताथों", "तत्था ", "थातत","धिमिथों"थरिदा" "धिधिकिट", "ततत्त", "ताकत", "गिडिगिडि", "धीतां","दिदिगां","धिमि-धिमि", "धिरकिट", "थिटिथिरि", "कुकुदां", और "कुकुथै" इत्यादि का प्रयोग किया जाता है । लघु विराम अर्थात पांच अक्षर काल के अंग के लिए "थथरि-धिधि" या "तकथों" जैसे बोलों को प्रयोग में लाया जाता है ।

"लयद्रुत" अर्थात् छः अक्षर काल के अंगों के लिए" धिमिधिमितत", "किटकिटकां", धिधिकिटतक", धींधीकिट", "धिधिंताधिमि", "गिडिगिडदां", "ताथोंगा" और "दांकिकिदां" जैसे बोलों का प्रयोग किया जाता है ।

गुरू या आठ अक्षर काल के अंगों के लिए "तातायोंकिट", "धिकिट-धिकिटधिग", "धिंधिनकथोंकिट", "धिकिटधिकिटतत", "नगधिमिथोंगा", कुकुथरि-थरिधिमि", कुदकिटकुदटकु", "धिकिटततकिटत", "थरिदांथरिदां", "डुड्डुगदादां" "नककिणकिरिट", "नकाकिणनकथों", किटथरितदितां", "धुमधुमधुमकिट", "तमधिमिधिमिधिमि" और "धुगुड्दांधुगुड्यां" इत्यादि का प्रयोग किया जाता है ।

गुरूद्रुत अर्थात दस अक्षर काल के लिए "धिधिमिधिधिमिधिमितों" या "धुगुडदांधुगुडदां" या "धिधिनकथोंकिटतां" इत्यादि का प्रयोग करते हैं ।

प्लुत या बारह अक्षर काल के लिए "तगधिमिनगनगझेझे", "तांधिमितांधिमितांथों", "थरिक्कुथरिक्कुथरिक्कु", "दिधितांदिधितांधिमिमि", धिगिउधिगिद्दांधिधिगिन", "तहकुटतहकुटततनग", "थिमिथिरकुजकिणकिणथो" "किरटकिरटगिडिथों", "धुमकिटधुधुमिदिधिथों, तकनकुथिधिगिनत्रों, कुकुदांकाथरिथोंगा, दांगिडिदांदागिडिदां, धिन्नाधिन्नादिधिनां, तककुकुतककुकुतकथों, तांताधिमिधिमिकतों, धीकटधीकिटकिटकिट, धिकतांधिकतांधिधिकिट, धुमकिटधुमकिटझिमझिम और थैताथैतततांथों इत्यादि बोलों को काम में लाते हैं ।

अब यदि एक ताल का रूप है तो उसके बोल तक थों/ दां दां दिगिदिगि/थरिकुकु थरिकुकु/नकुकुकु झें...जैसे कुछ भी हो सकते हैं ।

यदि इसका रूप है तो अब रचना निम्न प्रकार की जायेगी:
किटकिट/किटकिट धांकिट/धिमिधिमितांतां/तकथों

इसी प्रकार यदि इसका रूप ।।।0 है तो अब रचना इस प्रकार से होगी : ताकि तकि /दांतकि/धिमिधिमि/थों

। । । 0

यदि ताल का रूप 00। है तो रचना इस प्रकार होगी:
थां/थरि/थकुथरि/तककिट झें झें जैसी कुछ होगी ।

0 0 ।

यदि ताल का रूप 0 जैसा है तो रचना इस प्रकार होगी:
दिमिदिमदीकिट/तकधिमिधिमितक/थांकिटथांकिट/दिगदिगदि

इसी प्रकार यदि ताल का रूप । । है तो रचना भी तो दूं/ धिधिकिट तां दूं/गनथों जैसी होगी ।

चतुरश्र जाति की त्रुट को ताल आदि भी कहते हैं । इस प्रकार आठ मात्राओं की आदि ताल के बोल निम्न प्रकार जैसे भी हो सकते हैं:
तत-धित्—कि-ट-त-क/किटतक धों/तत्धित्किटतक-तकतकथों

1 2 3 4 5 6 7 8

इसी प्रकार चतुरश्र जाति के रूपक ताल के बोल तक—— कु-कु/त-क कु-कु-तो——तों-थों- होगे और त्र्यश्र जाति को अठताल के बोल ता-नुत नं-तरी तात/झं-तरी-ता - त णं-तरी/ता——तकुं दरी/कुकुं दरी किटतक हो जायेगें ।

(1 2 3 4 5 6 — 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10)

मार्गी और देशी ताल

जैसा पहले कहा जा चुका है प्राचीन ग्रन्थों में तालों के "मार्गी" और "देशी" ये दो भेद प्राप्त होते हैं । इन तालों की कुल संख्या 108 मानी गई हैं । ये तालें 35 तालों से अधिक प्राचीन हैं । इन 108 तालों में ऊपर बताये गये तालों के छहों अंगों का प्रयोग किया जाता है, जब कि 35 तालों की रचना करते समय केवल 3 अंगों-लघु द्रुत और अणुद्रुत का प्रयोग किया गया है । इन 108 तालों में से पहली पाँच तालों को मार्गी कहा गया है और शेष को देशी । मार्गी तालों में केवल लघु, गुरू और प्लुत का ही प्रयोग किया जाता है । ये मार्गी तालें निम्नवत हैं:-

चचत्पुट (चच्चत्पुट, चंचुपुट)	ऽ ऽ । ऽ̍
चाचपुट (चापपुट)	ऽ ऽ । ऽ
षट्पितापुत्रक (षट्पितापुत्रिक)	ऽ̍ । ऽ ऽ । ऽ
सम्पक्वेष्टाक	ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
उद्घट्ट ताल	ऽ ऽ ऽ

*. शेष 103 देशी तालों की रचना के मुख्य सिद्धान्त निम्नांकित हैं :-

1. अणुद्रुत का प्रयोग न तो ताल के प्रारंभ में होता है, और न गुरू, प्लुत तथा काकपद के साथ । इसका प्रयोग केवल लघु और द्रुत के साथ ही होता है ।
2. काकपद का प्रयोग भी न तो प्रारंभ में होता है और न मध्य में । इसे गुरू और प्लुत के पूर्व भी नहीं रखा जाता । इसका प्रयोग केवल द्रुत और लघु के उपरान्त किया जाता है ।
3. शेष चार अंगों (द्रुत, लघु गुरू और प्लुत) को ताल के आदि मध्य और अंत में चाहे जहां रखा जा सकता है ।

कुछ विद्वानों ने इन तालों की संख्या 108 से अधिक मानी है । उदाहरणार्थ शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ "संगीत रत्नाकर" में 5 मार्गी और 120 देशी तालों का वर्णन किया है ।

पैंतीस तालों की रचना का क्रम

आजकल कर्नाटक संगीत में मुख्य तालें सात हैं । इन्हें क्रम से ध्रुव, मठ, मठ्य, रूपक, झंप, (झंपा), त्रिपुट, अट और एक कहते है । इस पद्धति में इन्हें

"सप्त शुलादि तालें" भी कहते हैं । इन सप्त सूलादि तालों को अंगों के आधार पर निम्नांकित प्रकार से लिखा जाता है ।

ध्रु-।0।।, मठ- ।0।, रूपक-0।, झंप-।0, त्रिपुट-।00, अट-।।00, और एक-।. इन तालों की रचनाओं में निम्नांकित विशेषताएं होती हैं :-

1. प्रत्येक ताल में लघु का प्रयोग अवश्य किया जाता है ।
2. इन तालों में अणुद्रुत, द्रुत और लघु केवल तीन अंगों का प्रयोग किया जाता है ।
3. ध्रुव, मठ और अट तालों में लघु की संख्या एक से अधिक है ।
4. ध्रुव तथा अट ताल में चार अंग हैं । मठ, झंप और त्रिपुट में तीन-तीन, रूप में दो और एक ताल में केवल एक अंग है ।

इन सप्त सूलादि तालों की त्र्यस्र चतुरश्र, खंड, मिश्र और संकीर्ण-ये पांच जातियां मानी गयी हैं । इनमें त्र्यश्र का अर्थ तीन, चतुरश्र का चार, खंड का पांच, मिश्र का सात और संकीर्ण का अर्थ नौ अक्षर काल से हैं । इन जातियों का प्रभाव केवल लघु पर होता है । उदाहरण के लिये जब हम ध्रुव ताल को त्र्यश्र जाति का कर देंगे, तो उसका अक्षर काल 3, 2, 3, 3, अर्थात ।। मात्राओं का होगा । चतुरश्र जाति की ~~xxx~~, तो ~~xxx~~ ध्रुव ताल का रूप 4, 2, 4, 4 अर्थात ।4 मात्राओं का हो जायेगा । इसी प्रकार खंड जाति ध्रुव ताल का रूप 5, 2, 5, 5 अर्थात ।7 मात्राओं का मिश्र जाति की ध्रुव ताल का रूप 7, 2, 7, 7 अर्थात 23 मात्राओं का और संकीर्ण जाति की ध्रुव ताल का रूप 9, 2, 9, 9 अर्थात 29 मात्राओं के काल का हो जायेगा । यहां जिस प्रकार एक ध्रुव ताल को ही पांच जाति भेदों के आधार से पांच प्रकार का बनाया गया है, उसी प्रकार प्रत्येक ताल के 5-5 भेद हो सकते हैं । दूसरे शब्दों में इन सप्त सूलादि तालों से 35 सूलादि तालें बनाई जा सकती हैं ।

।75 तालों की रचना का सिद्धान्त

तालों का प्रभाव केवल लघु पर न करके ताल की सम्पूर्ण मात्राओं पर भी कर सकते हैं । उदाहरण के लिए रूपक ताल का रूप 0। है । अब त्र्यश्र जाति का होने पर यह $0।^{3}$ या पांच मात्राओं का, चतुरश्र जाति का होने पर $0।^{9}$ या ।। मात्राओं के काल का होगा । यहां तक जाति भेद का प्रभाव केवल लघु पर है । अब यदि हम किसी एक जाति के रूपक ताल की सम्पूर्ण मात्राओं को लेकर उन्हें जातियों से उनकी जाति में भेद उत्पन्न कर दें, तो यही एक जाति का

रूपक पांच प्रकार का बन जायेगा । उदाहरण के लिए, यदि त्र्यश्र के रूपक को (जो पांच मात्राओं का है) त्र्यश्र जाति में बदल दें, तो वह 5×3=15 मात्रा का काल हो जायेगा । इसी प्रकार यही रूपक चतुरश्र जाति का होने पर 5×4=20 मात्राओं का, खंड जाति का होने पर 5×5=25 मात्राओं का, मिश्र जाति का होने पर 5×7=35 मात्राओं का और संकीर्ण गति का होने पर 5×9=45 मात्राओं के काल का हो जायेगा ।

यहां जिस प्रकार त्र्यश्र जाति के रूप को गति भेद के आधार पर पांच प्रकार का बना लिया, उसी प्रकार इनके अन्य जाति भेदों को भी 5-5 प्रकार के गति भेदों के आधार पर बनाया जा सकता है । दूसरे शब्दों में 35 सूलादि तालों में से किसी भी एक को "पांच जाति गति-भेद" के आधार पर पांच प्रकार का बनाया जा सकता है, अथवा कुल तालों की संख्या इन "पंच-जाति गति भेद" के आधार पर 35×5=175 हो सकती है । इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है, कि इन सप्त तालों में से प्रत्येक ताल के "पंच-जाति-गति-भेद" के आधार पर 25 मेल बन सकते हैं ।

यहां यह बात और समझ लेनी चाहिए कि जब किसी रचना के शीर्षक के स्थान पर केवल-

ध्रुव ताल लिखा हो, तो उसका अर्थ चतुरश्र जाति की ध्रुवताल से होता है ।

मठ ताल लिखा हो, तो उसका अर्थ चतुरश्र जाति की मठ ताल से होता है ।

रूपक ताल लिखा हो, तो उसका अर्थ चतुरश्र जाति की रूपक ताल से होता है ।

झंप ताल लिखा हो, तो उसका अर्थ मिश्र जाति की झंप ताल से होता है ।

त्रिपुट ताल लिखा हो तो, उसका अर्थ त्र्यश्र जाति की त्रिपुट ताल से होता है ।

अटताल लिखा हो, तो उसका अर्थ खंड जाति की अटताल अटताल से होता है ।

एक ताल लिखा हो तो, उसका अर्थ चतुरश्र जाति की एकताल से होता है ।

<u>चापु ताल:</u> इन ताल का प्रयोग भारत में प्राचीन काल से चला आ रहा है । इस ताल में लोक गीत अधिक पाये जाते हैं । यह देशी तालों के अन्तर्गत आती है । इसमें दो आघात होते हैं, परन्तु सुविधा की दृष्टि से इसमें एक ताली व एक खाली रखते हैं । इसके चार भेद हो सकते हैं :-

(1) <u>मिश्रचापु</u> (3+4=7) यह सात मात्राओं की होती है । इसमें पहला खंड तीन मात्राओं का और दूसरा चार मात्राओं का होता है । कभी-कभी इस ताल में 3+4 के स्थान पर 4+3 के खंड भी पाये जाते हैं । उस स्थिति में इसे "विलोम चापु" ताल कहते है ।

(2) खंड चापु (2+3=5) इसमें 5 मात्राएं होती हैं । पहला खंड दो मात्राओं का और दूसरा तीन मात्राओं का होताहै ।

(3) त्र्यश्र चापु (1+2=3) इसमें पहला खंड एक मात्राका और दूसरा दो मात्राओं का होता है ।

(4) संकीर्ण चापु (4+5=9) यह नौ मात्राओं की होती है, इसमें पहला खंड चार मात्राओं का और दूसरा पांच मात्राओं का होता है । यह काम प्रयुक्त होती है ।

जब किसी रचना पर केवल "चापु ताल" लिखा होता है, तो मिश्र चापु से अभिप्राय होता है, शेष भेदों के लिए उनके नाम लिखने आवश्यक हैं ।

<u>देशादि और मध्यादि तालें:</u> इन तालों की एक-एक आवृत्ति चार-चार अक्षर काल की होती है जिसमें तीन अक्षर काल पर तालें और एक अक्षर काल पर खाली होती हैं । दूसरे शब्दों में, यदि हम 1, 2, 3, 4, गिनते हुये तीन की गिनती पर खाली रखें, तो यही हमारी मध्यादि ताल कहलाएगी । परन्तु यदि हम अपने गीत में खाली का स्थान प्रारंभ में कर दें, तो उसे देशादि ताल कहेंगे ।

<u>नवसंधि तालें:</u> जिस प्रकार उत्तर भारत में बल्लभ सम्प्रदाय के मंदिरों में भगवान की झांकी कराये जाने के विभिन्न समयों में आठ आरतियां हुआ करती हैं, जैसे-मंगल, ग्वालभोग, श्रृंगार, राज-भोग, शयन इत्यादि, उसी प्रकार दक्षिण भारत में मंदिरों में नौ संधि काल माने जाते हैं। उन नौ संधि-कालों के कीर्तन आदि के समय जिन नौ भिन्न तालों का प्रयोग किया जाता है, उन तालों को "नव संधि-तालें" कहते है। । इन संधियों के नाम उस समय प्रयुक्त होने वाली तालों के नाम तथा अंग निम्नवत् हैं:-

संधि का नाम	ताल का नाम	अंग
ब्रह्म संधि	ब्रह्म	I 8 I $\overset{I}{8}$
इन्द्र	इन्द्र	I I 8 I 0 0
अग्नि	मत्तापन	I 08 I 0 I
यम	भृंगी	I 8 I I
निऋति	नैऋति	I I I I 00
वरुण	नव	I 0 0 0 I
वायु	वली	0 0 0 I
कुबेर	कौट्टारी	I 8 8 $\overset{I}{8}$
ईशान	टक्करी	8 I 8

लोक संगीत में प्रयुक्त तालों का शास्त्रीय तालों से सम्बन्ध

लोकसंगीत मानवीय अभिव्यक्ति का सहज और सशक्त माध्यम हमेशा से रहा है। अपने मनोभावों को शास्त्रीय नियमों की अपेक्षा सीधी-सादी भाषा में अभिव्यक्त करना लोकसंगीत की सबसे बड़ी विशेषता है। केवल लोकसंगीत में ही नहीं, शास्त्रीय संगीत में भी लय का वही दृढ़ क्रम चला आ रहा है। अन्य देशों का संगीत केवल लय-साम्यों की विविधता में ही सीमित रह गया है। किन्तु भारतीय संगीत की विभिन्न धाराओं में इसी लयात्मकता का तालशास्त्र के रूप में जो व्यवस्थित व वैज्ञानिक विकास हुआ, उसके समान दृष्टान्त अन्य देशीय लय-स्वरूपों में दृष्टिगोचर नहीं होते।

लय ही ताल का सुसंस्कृत रूप है, जैसाकि संगीतशास्त्र द्वारा भी मान्य है। "लय: एवही ताल:", यह उक्ति सत्य ही है। हमारी सभी लोक-प्रचलित लयों ने तालों का रूप ले लिया। लोक-गायक अथवा वादक अपनी एक निश्चित मात्रा-संख्या के तालचक्र में भिन्न-भिन्न यति, विराम और गति का प्रयोग करते हैं और उसी मात्रा संख्या में लय का नया-नया रूप खड़ा करते हैं। इसके विपरीत शास्त्रीय संगीत में किसी निश्चित ताल के निश्चित तालखण्ड होते हैं, उसका विराम व लय निश्चित होती है। तालखण्डों, विराम, यति के भेद से तालभेद हो जाता है और उसके लिए नये नाम की आवश्यकता होती है। शास्त्रीय संगीत में इस प्रकार एक ही मात्रा-संख्या वाले कई-कई ताल प्रयोग में लाये जाते हैं। उनका निर्माण भावना के आधार पर स्वयंभू नाद पर यति, विराम, गण, छन्द आदि के नियमों के अनुसार संगीतशास्त्री करते हैं। इन तालों के निर्माण में मस्तिष्क का स्थान प्रथम है। लोकसंगीत में भावना और लय की प्रधानता है। शास्त्रीय संगीत में लोकधुनों में प्रयुक्त ताल-वैचित्र्य,

गति-वैचित्र्य, विराम आदि को लिया तो है, परन्तु उनके वैचित्र्य के एक ही प्रकार का प्रयोग एक निश्चित ताल में ही किया है । इस प्रकार नये-नये, अलग-अलग चलन वाले, एक ही मात्रा-संख्या वाले तालों का जन्म हुआ है ।

लोकसंगीत का कलाकार अपनी किसी भी धुन में, जो चाहे 6 मात्रा के तालचक्र में बँधी हो अथवा 8 मात्रा के तालचक्र में बँधी हो, विविध प्रकार की लयों का प्रयोग करता है ।

लोकसंगीत में प्रयुक्त 6 मात्रा वाली धुनों में तीन-तीन के विभाजन वाले भाग को 'दादरा' संज्ञा से नामांकित किया । संगीतशास्त्र में इस ताल का स्वरूप सदा-सर्वदा ऐसा ही रहेगा । अर्थात् पहली मात्रा पर ताली और चार पर खाली, इस प्रकार के विभाजन इस ताल में होते हैं । इसके विपरीत लोकसंगीत की 6 मात्राओं की धुनों में होने वाले लय-खण्ड कई प्रकार से हो सकते हैं । इस प्रकार के लय-खण्डों और विभिन्न मात्रा पर बल-अबल का बर्ताव वे लोग अपने भावों का प्रगटीकरण करने के लिए तात्कालिक कल्पना के द्वारा ही करते हैं । उसके लिए किसी नियम-सिद्धान्त का निर्माण उन्होंने नहीं किया है । ना ही वह इस बारे में पूछने पर बता सकते हैं । उनकी लय स्वयंभू है, भावात्मक है; हृदय से निकली हुई है, मस्तिष्क से नहीं । कई बार उनकी टेक, जिसको हम शास्त्रीय शब्दों में स्थाई कह सकते हैं, उसमें 6 मात्रा अथवा 8 मात्रा ही होती हैं । लय और विराम की स्थिति एक प्रकार की होती है, और अन्तरे की यति और लय-खण्ड की गति भिन्न प्रकार की होती है । मात्रा स्थाई और अन्तरे में एक ही तालचक्र की होती है । अर्थात् यदि स्थाई 8 मात्रा की धुन में बँधी है, तो अन्तरा भी 8 मात्रा की धुन में बँधा होता है । लोकसंगीत में लय के विभिन्न स्वरूपों को लोकसंगीतकार स्वयं

अनजाने ढंग से इतनी सुन्दरता से प्रगट करते हैं कि अच्छे तबला-वादक भी उससे चमत्कृत हो जाते हैं। उन्होंने अपनी ढोलक पर किन वर्णों को उस लय विशेष के प्रदर्शन के लिए बजाया, यह बात वे कई बार बता नहीं सकते।

लोकसंगीतकार विभिन्न मात्राओं पर बल-अबल देकर जो लय-वैचित्र्य अपनी 6 मात्रा की धुनों में प्रगट करता है, उन्हीं वैचित्र्यों का प्रदर्शन करने के लिए विद्वानों ने 6 मात्रा के कई तालों का निर्माण किया है। ऐसे ही कुछ उदाहरण नीचे दे रहे हैं।

6 मात्रा के ताल -

दादरा -

मात्रा -	1	2	3 |	4	5	6
बोल -	धा	धी	ना |	धा	तू	ना
चिह्न -	x		|	0		

ताल यति लग्न -

मात्रा -	1	2 |	3	4	5	6
बोल -	ध	तिट |	धा	तिटकत	गदि	गिन
चिह्न -		|				

इस ताल का रूप अर्थात् वर्गीकरण बिल्कुल दादरा से भिन्न है, इसमें 2 मात्रा और 4 के विभाग हैं।

ताल खेमटा 6 मात्रायें - खेमटा में तीसरी और छठीं मात्रा पर बल दिया जाता है।

मात्रा -	1	2	3 |	4	5	6
बोल -	धा	धिं	तक |	ता	तिं	तक
चिह्न -	x		|	0		

या

धागे धीन गीन | तागे तिन किन

इस ताल में पहली और छठी मात्रा पर बल दिया जाता है ।

तात भड़ौआ दादरा -

मात्रा -	1	2	3	4	5	6
बोल -	तक	धिन	नक	तक	तिन	तक
चिह्न -	x			0		

इन तालों में बोलों के साथ ही साथ विभाग भी परिवर्तित हैं । इनका चलन दादरा ताल से भिन्न है ।

उपर्युक्त सभी 6 मात्रा के शास्त्रीय ताल हैं, जो लोकसंगीत की 6 मात्रा के ही आधार पर बने हैं । लोकसंगीत का ही सहारा लेकर हमारे संगीतशास्त्रियों ने अनेकों तालों का विभिन्न रूपों में निर्माण किया इनसे ज्ञात होता है कि लोकसंगीत में प्रयुक्त 6 मात्रा के ताल का शास्त्रीय 6 मात्रा के तालों से पूरा सम्बन्ध है । यह लोकसंगीत में लय के रूप में प्रयुक्त होती थीं, शास्त्रकारों ने उनको नियमबद्ध करके शास्त्रीय रूप दिया। यह अधिकतर 6 मात्रा के ताल चंचल व प्रकृति के गायन के साथ के लिए उपयुक्त सिद्ध हुए हैं ।

ठीक इसी प्रकार 8 मात्रा को भी हमारे लोकसंगीतकारों ने अनेकों लयों के द्वारा प्रयुक्त किया । जैसे -

प्रथम रूप - 1/2/3/4/5/6/7/8/

दूसरा रूप - 12/ 34/ 56/ 78/

तीसरा रूप - 123/ 456/ 78/

चौथा रूप - 1234/ 5678/

पाँचवाँ रूप- 1/ 23/ 456/ 78/

छठा रूप - 12345/ 678/

आठ मात्राओं के तालचक्र में विभिन्न मात्राओं पर विराम, बल-अबल देकर संगीतशास्त्रियों ने कई आठ मात्रा के तालों का निर्माण किया, जो निम्नलिखित हैं -

ताल कहरवा -

मात्रा -	1	2	3	4	5	6	7	8
बोल -	धा	गे	ना	ति	न	क	धि	न
चिह्न -	x				0			

अद्धा तीन ताल का ठेका, या अद्धा त्रिताला -

मात्रा -	1	2	3	4	5	6	7	8
बोल -	नाधिं	ऽधि	ना	धिं	ना	तिं	ना	धींधीं
चिह्न -	x		1		0		1	

यह आठ मात्रा का ठेका है, यद्यपि इसका नाम अद्धत्रिताला करके गुणियों ने रखा है। त्रिताल से इसमें साम्यता केवल इतनी है कि 16 की आधी मात्रा अर्थात् आठ मात्रा काल में इसका निर्माण किया गया है और विभाजन भी खाली ताली का उसी प्रकार किया गया है। परन्तु चलन, लय, गति में बहुत अन्तर है। पंजाब और ग्वालियर घराने के ख्याल-गायक द्रुतलय के चपल प्रकृति के ख्याल इस ताल में गाते हैं। उनकी गति इस ठेके के ही अनुरूप होती है। लोकसंगीत में तो इसका प्रयोग प्रचुरता से होता है। इस ताल में पहली मात्रा की धिन्, दूसरी मात्रा का आधा काल ले लेती है और

आठवीं मात्रा की द्विरुक्ति भी इसकी विशेषता है । उपरोक्त विशेषतायें इस ठेके में विशेष थिरकन पैदा करती हैं, जो अत्यन्त मनोहारी होती हैं।

लावणी का ठेका -

मात्रा -	1	2	3	4
बोल -	धिन्‌धी	नाधिं	नातिं	नागे तिरकिट
मात्रा -	5	6	7	8
बोल -	तिन्‌ती	नाधिं	नातिं	नागे तिरकिट

इस ताल की तीसरी और चौथी मात्रा का तथा सातवीं और आठवीं मात्रा का गठन गुणियों ने विशेष प्रकार से किया है । लोकसंगीत की लावनी-विधा में इसका प्रयोग होता है, जो प्रायः नृत्य-नाटिकाओं {नौटंकियों} में देखा जा सकता है । महाराष्ट्र की लावणी यद्यपि लोकसंगीत की ही विधा है, परन्तु वह इससे भिन्न होती है ।

जत ताल -

मात्रा -	1	2	3	4		5	6	7	8
बोल -	ताक	धिन्‌	धागे	धिन्‌	|	ताक	तिन्‌	धागे	धिन्‌

इस ठेके का विभाजन तो दो-दो मात्राओं के आधार पर हुआ है, परन्तु इसमें दूसरी, चौथी, छठी और आठवीं मात्रा सबल हैं । इस ठेके का प्रयोग गज़ल, कव्वाली आदि के साथ में किया जाता है ।

ताल घट मात्रा 8 -

मात्रा -	1 2	3 4	5	6	7	8
बोल -	धा ऽ	ति ट	क	त	धे	ता
चिह्न -	x	2	3	4	5	0

इस ताल में 2,2, 1,1, 1,1 मात्रा के 6 विभाजन किये गये हैं। पहली मात्रा और आठवीं मात्रा पर विशेष बल दिया गया है। दूसरी मात्रा पर कोई आघात नहीं किया जाता है। पहली मात्रा के आघात की प्रबलता से ही जो ध्वनि निकलती है, दूसरी मात्रा का निर्वाह उसी से किया जाता है।

ताल चौ मात्रा 8 -

मात्रा -	1 2	3 4	5 6	7 8
बोल -	ता धिन्	नक धिन्	ता तिन्	ऽ धिन्
चिह्न -	x	2	0	3

इस ताल में 2+2+2+2 इस प्रकार चार विभाग बनाये गये हैं। सातवीं मात्रा पर आघात अवनद्ध वाद्य पर नहीं दिया जाता। यह ठेका लोक-संगीत की एक विधा ख्याल-गायन में चौ पर बजाया जाता है।

अद्धा का ठेका 8 मात्रा -

मात्रा -	1 2 3 4	5 6 7 8
बोल -	धिन ताधिन् ऽति धिन्	किन् तातिन् ऽति धिन्
चिह्न -		

जिस प्रकार मार्दंगिकों में कहरवा ताल को चार मात्रा का ताल माना जाता

है, उसी प्रकार अद्धा भी चार मात्रा का ताल माना जाता था। परन्तु, तबला वादकों ने कहरवा ताल की मात्रा संख्या जिस प्रकार आठ मानी है, उसी प्रकार अद्धा ताल की भी आठ मात्रायें मान ली गयी हैं। अन्तर केवल इतना है कि कहरवे के चार मात्रा वाले ठेके को आठ भागों में विभाजित कर दिया गया और अद्धा ताल के ठेकों को दो बार प्रयोग करके आठ मात्रायें पूरी की जाती हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि मौलिक ठेके की पहली मात्रा पर जो वर्ण धिन् का प्रयोग किया गया है, उसके स्थान पर पाँचवीं मात्रा पर किन् अथवा तिन् का प्रयोग किया जाता है। इस ताल की विशेषता है कि दूसरी मात्रा में जो धिन् का प्रयोग हुआ है, उसकी ध्वनि तीसरी मात्रा के पूर्वार्द्ध तक चलती है और तीसरी मात्रा के अगले आधे हिस्से में ति का आघात लगता है। ठेके के आठ मात्रा के हो जाने पर यही क्रिया छठी और सातवीं मात्रा पर की जाती है।

लोकसंगीत में कई बार ऐसा देखा जाता है कि उनकी स्थाई की लय और ताल किसी एक ताल में होती है और अन्तरा की गति व छन्द किसी दूसरे ताल के अनुरूप होते हैं। प्रायः अन्तरे में कहरवा की गति हो जाती है। स्थाई सात मात्रा के दीपचन्दी जैसे ताल में बँधी होती है और अन्तरा कहरवे की द्रुत गति में गाया-बजाया जाता है। इसी तरह स्थाई और अन्तरा दादरे में मध्य गति में गाकर, उसी बन्दिश को फिर द्रुत गति के कहरवा ताल में गाते हैं।

उपरोक्त तथ्य लोकसंगीत की सामर्थ्य और बलवत्ता को भलीभाँति प्रगट करते हैं। ये तथ्य यह भी इंगित करते हैं कि शास्त्रीय तालों के निर्माण में लोकसंगीत भागीदार हुआ है।

(ई) लोकसंगीत में लय की प्रधानता एवं उत्तर-भारत के लोकसंगीत में तालों का वर्णन और उनका शास्त्रीय तालों से संबंध :

लोकसंगीत और मानव के विकास की कहानी अनादि-काल से साथ-साथ चली है। जैसे-जैसे मानव का विकास हुआ, वैसे ही उसने अपने भावों का प्रगटीकरण किया और उसी के साथ संगीत का भी विकास होता गया।

लोकसंगीत सहज रूप में प्रकृति के सान्निध्य में पनपा है। लोकसंगीत भावप्रधान है। हृदय के भावों को सीधे-सादे ढंग से अपनी भाषा में लय में बांधकर वह व्यक्त कर देता है। लोकसंगीत स्वयं-स्फूर्त है। मन की हूक लोकसंगीत में प्रगट होती है। वह हृदयग्राही है, मन को छू लेता है। उसमें बुद्धिविलास एवं मस्तिष्क की पच्चीकारी नहीं होती है। लोकसंगीत के आधारभूत तत्व लय और भाव हैं। लय प्रकृति की देन है। चर-अचर सभी में लय विद्यमान है। हमारे शरीर के सब व्यापार व प्रकृति के भी सभी व्यापार लय पर ही आधारित हैं। स्वर ऐसी ईश्वरीय देन है, जो सबमें एक सी नहीं होती। लोकसंगीत स्वर का मुहताज नहीं है। वह तो लय को आधार मानकर चलता है, जो प्रत्येक मनुष्य में सहज रूप में होती है। लोकसंगीत का गायक लय के सूक्ष्म स्वरूपों की ओर नहीं भटकता, वह तो सीधी-सादी लय को ही आधार मानकर अपने भावों का प्रगटीकरण करता है। उसकी लय की डोर सीधी और मजबूत होती है, जिसको वह कभी नहीं छोड़ता है। स्वर का बन्धन उसे स्वीकार नहीं है और ताल के चक्कर में वह फँसता नहीं है। अपने भावों को स्वाभाविक रूप में जैसे ही उसने प्रगट किया, लय स्वयं ही अपने आप प्राकृतिक रूप में उसका साथ देने के लिए खड़ी हो जाती है और फिर मन का उल्लास व थिरकन आदि सभी कुछ उमड़ पड़ता है।

गायक अपनी मस्ती में झूमता है और श्रोताओं को अपने साथ बहा ले जाता है ।

लोकसंगीत का गायक लय का चयन नहीं करता । अपने सीधे सरल शब्दों में उसने ज्यों ही अपने भाव भरे और गुनगुनाना शुरू किया, लय स्वयं उसका साथ देने लगती है । उसके भाव उसकी सरल भाषा स्वयं लय से लिपट जाते हैं और फिर एक उल्लास की सृष्टि होती है, जिसमें कृत्रिमता, दिखावा कुछ भी नहीं होता । लोकसंगीत स्वान्त:सुखाय होता है और भाषा उसकी "प्रेम लपेटी अटपटी" होती है । लोकसंगीत के लिए वाद्यों की भी कोई विशेष चाहना नहीं है । लोकगायक तो लकड़ी और पत्थर के टुकड़े को भी खटखटाकर अपनी लय बाँध लेता है और गाता है । उसके संगतिकार भी उसके मिज़ाज के अनुरूप उसी लय में खंजरी, चिमटा, ढोलक, लोटा कुछ भी बजाने लगते हैं और लय का एक समाँ बँध जाता है । ताल को जानने वाले उस संगीत को सुनकर उसमें ताल भी ढूंढ सकते हैं । भरत के शब्दों में "लय: एवहि ताल:" के सिद्धान्त पर ताल स्वयं वहाँ आकर खड़ा हो जाता है, जिसकी चिन्ता लोकगायक को करनी नहीं पड़ती ।

कई बार तो लोकगायकों के द्वारा लयाश्रित ऐसी धुनें सुनने को मिलती हैं कि जिनको सुनकर ताल-ज्ञानी भी चकित हो जाते हैं ।

साधारणतया लोकसंगीत में 6 मात्रा का दादरा एवं 8 मात्रा का कहरवा जैसे सरल ताल ही प्रयोग में लाये जाते हैं । परन्तु कई बार 9 मात्रा, 13 मात्रा और 15 मात्रा के तालचक्र को भी सहज रूप में लोक-संगीतकारों के द्वारा प्रयोग करते देखा जा सकता है । प्रयोक्ता गायक या नर्तक स्वयं यह नहीं जानता कि वह किसी कठिन ताल का प्रयोग कर रहा है। उसके संगतिकार भी ताल की विशेषताओं के विषय में अनभिज्ञ होते हैं, वे तो केवल लयाश्रित होकर ही चलते हैं । भावानुकूल आघात वे अपने अवनद्ध वाद्य

पर करते हैं । सात मात्रा में होली के मस्ती भरे गीत गाते और नाचते हुए कितनी ही बार इन लोकसंगीत के कलाकारों को देखा जा सकता है । लय उनके अंग-अंग में बसी है । जब मस्ती से भावाभिभूत होकर लोकसंगीत का कलाकार टेर लगाता है, लय और ताल उसके सामने खड़े हो जाते हैं । लोकसंगीत लयात्मक है, भावात्मक है और स्वच्छन्द है, वह किसी बन्धन में बंधा हुआ नहीं है ।

संगीतरत्नाकर और उसके बाद के भी संस्कृत ग्रन्थों में दादरा, कहरवा जैसे लोकधुनों में प्रयोग किये जाने वाले तालों का कोई उल्लेख नहीं मिलता । ऐसे और भी कई प्रकार के ठेके, जो किसी विशेष लय में आबद्ध होकर लोकसंगीत की धुनों के अनुरूप लोकसंगीत के संगीतिकारों के द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं, शास्त्रकारों द्वारा स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं हैं । 8 मात्रा के तालचक्र में यति और विराम के भेद से लोकसंगीतिकार कितनी सुन्दरता से उन धुनों का साथ करते हैं, वह अत्यन्त मनोहारी होता है । उनका यति, विराम, बल, अबल आदि कहरवा ताल के तथाकथित शास्त्रीय रूप के अनुरूप नहीं होता है । ऐसे ही अयुग्म मात्रा वाले तालों का प्रयोग भी अनजाने ही सहज रूप में लोकगायक करता है । उपरोक्त अयुग्म मात्रा संख्या वाले तालों में ब्रज, राजस्थान, असम के ग्रामीण अंचल के लड़के-लड़कियों को गाते-नाचते देखा जा सकता है । वे कलाकार शास्त्रानुरूप ताल-क्रिया-विधि करके हमको नहीं दिखा सकते हैं और ताल का नामकरण भी सम्भवतः नहीं कर सकेंगे । परन्तु लय की डोर पकड़कर तालचक्र का अचूक व्यवहार सहज रूप में करते हुए प्रायः उनको देखा जा सकता है ।

लोकसंगीत ने कई चपल प्रकृति के, मादक कल्पनाओं से युक्त, कर्णमधुर एवं हृदयग्राही ताल शास्त्रीय संगीत को दिये हैं, और शास्त्रीय संगीत ने उन तालों को अपने नियमों का ठप्पा लगाकर बड़े स्नेह से स्वीकारा

है । श्रेष्ठ तबला वादकों में एक बात प्रसिद्ध है - "मियाँ, जो कहरवा दादरा नहीं बजा सके हैं, वह तबला बजाना क्या जानें ।" आशय है कि लय की जो खिलवाड़, कर्णप्रिय हृदयग्राही कल्पनायें इन तालों में लोकवादक करता है, वैसी अन्य तालों में नहीं होतीं । यह लोकसंगीत की शास्त्रीय-संगीत को बहुत बड़ी देन है । लोकसंगीत लय की विशेषता वाला संगीत है, वह उन्मुक्तता प्रदान करने वाला है । अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए लोकगायक बड़े जोर से चिल्लाकर या धीरे से अर्थात् कैसे भी गा सकता है, पर वह होगा लय से परिपूर्ण ।

लोकसंगीत इतना सरल होता है कि उसको सुनकर उसका अनुकरण सहृदय श्रोता कर लेता है । उसके लिए किसी शिक्षा विशेष की आवश्यकता नहीं होती । इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोकसंगीत की परम्परा चलती रहती है ।

विभिन्न प्रदेशों के लोकनृत्यों के चित्र और उनके भावों को देखकर पता लगता है कि वहाँ की जातियों का अपना संगीत है, अपना नृत्य है, जिसमें वे आत्मविभोर हो नाचते जाते हैं । उनकी सहज अभिव्यक्ति और सरल भाषा प्राकृतिक उन्मुक्तता को बाध्य कर देती है । लोकसंगीत की उन्मुक्तता लयात्मकता के कारण है । लयात्मकता के लिए लोकगायक किसी न किसी वस्तु का सहारा लेता है । कई बार लोकसंगीत को लय देने वाली वस्तुएँ संगीत में श्रेष्ठ वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गयीं । उदाहरण के लिए घटम् नामक वाद्य ।

लोकगायक किसी वाद्य विशेष का भी मुहताज नहीं रहा । बच्चा पैदा हुआ, थाली बजी । बैलगाड़ी की चूँ-चूँ और लय के झोके ने गाड़ीवान की भावना को जगाया और वह गाने लगा ।

लोकसंगीत में प्रयुक्त वाद्यों ने ही धीरे-धीरे शास्त्रीय संगीत के वाद्यों का रूप धारण किया । वाद्यों के बारे में विद्वानों का मत है कि शास्त्रीय वाद्यों का विकास लोकवाद्यों से हुआ । परन्तु वाद्यों में घन वाद्य, अवनद्ध वाद्य, तन्त्र वाद्य अथवा शुषिर वाद्य - किसका उद्भव पहले हुआ और प्रचलित हुआ, इसमें मतैक्य नहीं है । यह चर्चाका विषय बन गया है । कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि लोकसंगीत में सर्वप्रथम घन वाद्यों का उपयोग हुआ होगा । ऐतिहासिकता पर विचार करने पर भी यही अनुमान लगाया जा सकता है । फिर बाँसुरी का जन्म हुआ, इसी के ही साथ लगभग वीणा भी आयी । लोकसंगीत में वादक की आवश्यकता की पूर्ति जिस उपकरण से नहीं हो सकी, वह धीरे-धीरे परिमार्जित होकर शास्त्रीय स्वरूप धारण करता चला गया है । साधारणतया नर्तकी के ध्वनि बोल के साथ के लिए अवनद्ध वाद्य बजाये जाते हैं, परन्तु लोकनर्तक अपना कार्य थाली और लोटे को ही बजाकर चला लेते हैं, जिससे लय का प्रदर्शन होता है । इन सब प्रामाणिकताओं को देखकर ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सबसे पहले लय के वाद्य का ही जन्म हुआ होगा ।

ऐसा अनुमानित है कि प्रारम्भ में संगीत-प्रेमियों ने कोई अनगढ़ अवनद्ध वाद्य बनाया होगा और उसी से धीरे-धीरे श्रेष्ठ अवनद्ध वाद्यों का विकास हुआ । अवनद्ध वाद्य प्रथम वाद्य माने गये । धीरे-धीरे ढोलक का विकास हुआ । फिर तो जहाँ ढोलक पर थाप पड़ी और लोकगीतकार के गले की आवाज निकली, कि नृत्यकार के पैर स्वत: ही उठ गये और संगीत शुरू हो गया । नक्कारे की चोट की आवाज आयी और स्वांग शुरू हो गया । तमाशे में ढोलकी का डमरू बजा और लोगों की भीड़ एकत्र हो गयी, देखने के लिए । कहारों में हुड़क्का बजते ही, उनका नाचगाना शुरू हो गया ।

लोकसंगीत में ताल वाद्यों का इतना अधिक महत्व है कि परोक्षत: तन्त्र वाद्यों का प्रयोग भी लय, ताली के लिए किया जाता है, क्योंकि उसकी आवश्यकता लय वाद्य की है । कई बार लोकसंगीत में संगीत के लिए सारंगी का प्रयोग करते हुए देखा जा सकता है, परन्तु वह संगति नहीं होती है, केवल चीं-चीं की ध्वनि होती है । उससे कितने शब्द कट रहे हैं, इसकी लोकगायक को चिन्ता नहीं है । ढोलक अथवा हुड़क्का यह उसके लिए बराबर लय में बजते रहें, यह आवश्यक है । यही लय उनको उन्मुक्त करती है । यह बात निश्चित है कि लय की चोट ज्यादा प्रेरक है, तीव्र है, अपेक्षाकृत शब्दों के । कोई व्यक्ति बहुत अच्छी कोई धुन बजाये या गाये, यदि 10 बालक जहाँ बैठे हैं तो वे मस्त नहीं होंगे । परन्तु किसी तबलिए ने चहकती हुई लय में तड़ाका लिया, तो बालक ताली बजाकर नाचना शुरू कर देंगे । सितार-वादन अथवा ख्याल-गायन से जो बालक मस्त नहीं होता, वही बालक जहाँ तबलिए ने धाग धिना धिं ताक तिना तिन बजाया, तभी ताली बजाकर नाचने, गाने, चिल्लाने लगता है । यही है लय की प्रधानता या लयात्मकता अथवा लय की चोट ।

लोकसंगीत (गीत, नृत्य) में वाद्यों का प्रमुख स्थान रहा है । पौराणिक कथाओं व चित्रों द्वारा हमें पता लगता है कि हमारे इष्ट देवताओं का भी सम्बन्ध किसी न किसी वाद्य से रहा है । शिवजी डमरू बजाते थे, जो आज भी लोकवाद्यों में प्रतिष्ठित है । विष्णुजी के हाथ में शंख मिलता है, जिससे उन्होंने प्रथम नाद की उत्पत्ति की थी। कृष्णजी के हाथ की बंशी भी लोकवाद्यों का प्रमाण है । रामायण-काल में रावण भी बड़ा संगीत का ज्ञाता था । यह कहा जाता है कि वह शिवजी के नृत्य के समय मृदंग बजाया करता था । वीणा के साथ माँ सरस्वती की प्रतिमा साकार हो उठती है ।

लोकसंगीत और उसके प्रकारों की हम विस्तृत चर्चा कर चुके हैं । लोकसंगीत की शास्त्रीय विवेचना करने पर निम्न विशेष तथ्य सामने उभर कर आते हैं -

1. लोकसंगीत स्वरात्मक नहीं होता है । स्वर-शुद्धि की ओर उसमें ध्यान नहीं दिया जाता है । लोकसंगीत में चार-पाँच स्वरों का ही प्रयोग होता है । पाँच से अधिक स्वरों का प्रयोग प्राय: कम होता है । लोकसंगीत में स्वर-प्रयोजन की विधि प्राय: अवरोहात्मक होती है। गीत की एक ही शब्दावली को लोकगायक हर बार एक ही स्वर-रचना में गावे, यह आवश्यक नहीं है । वह उसमें प्रयुक्त स्वरों को कितनी ही बार मस्ती में भर कर बदल देता है और अलग-अलग स्वरावलियों में उसी पंक्ति को गाता है ।

2. लोकसंगीत लयात्मक है । उसकी धुनें भावों के आधार पर चलती हैं, लय उसमें लिपट जाती है । गायक, वादक और नर्तक लय और भावों के अनुरूप अपनी क्रिया करते हैं और लय की डोर को मजबूती से पकड़े रहते हैं । उनके संगीत का आधारभूत तत्व लय है । लय के आधार पर ही उनका तालचक्र निर्मित होता है ।

3. लोकसंगीत की धुनें प्राय: 4 अथवा 8 मात्रा, 3 अथवा 6 मात्रा और सात मात्रा में बँधी हुई होती हैं । हम यदि आधुनिक तालों का नामकरण उन धुनों के लिए करें, तब कहरवा, दादरा और आधुनिक दीपचन्दी की लय के अनुरूप सात मात्रा का ताल हो सकता है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो आधुनिक दीपचन्दी ताल का पूर्वार्द्ध सात मात्रा काल में प्रयुक्त होता है। आठ मात्रा की जो धुनें लोकसंगीत में प्रयोग की जाती हैं, उनका लय-स्वरूप भी कई बार दीपचन्दी के चलन के ही अनुरूप होता है-

1	2	3	4	5	6	7	8
धा	ऽ	धी	ऽन	धा	धा	धी	ऽन

जैसाकि हम आधुनिक शास्त्रीय संगीत में भी 16 मात्रा की ताल में देख सकते हैं।

4. लोकसंगीत के आठ मात्रा के कहरवा और छः मात्रा के दादरा का जो स्वरूप आज शास्त्रीय संगीत में व्यवहार में लाया जाता है, तत्सम स्वरूप में अधिकांश धुनें बँधी हुई होती हैं। परन्तु ऐसी भी धुनें प्राप्त होती हैं जो 6 या 8 मात्रा में तो बँधी होती हैं, परन्तु उनका स्वरूप कहरवा और दादरे के प्रचलित स्वरूप से भिन्न होता है। उनके यति-विराम और बल-अबल भिन्न होते हैं।

5. लोकसंगीत में आठ, छः और सात मात्राओं के अतिरिक्त नौ, तेरह जैसी मात्राओं का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार की मात्रा-संख्याओं में बँधी हुई धुनों का प्रयोग असम और राजस्थान के लोक-गीतों और नृत्यों में बहुत बार देखा जा सकता है। राजस्थान की 13 ताली और 'घूमर' प्रसिद्ध लोकनृत्य हैं। लोकगीतों में ऐसी धुनें भी प्राप्त होती हैं, जिनमें कई-कई मात्रा-संख्या के प्रयोग एक ही बन्दिश में होते हैं।

आगे हम लोकधुनों में प्रयुक्त तालों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं -

कहरवा ताल को मार्दंगिक चार मात्रा का ताल मानते हैं। परन्तु आजकल ताल वादकों में कहरवा ताल 8 मात्रा का माना जाता है। आधुनिक काल की पुस्तकों में भी इसी प्रकार से 8 मात्रा का ताल मानकर उसका वर्णन किया गया है। इस ताल का जो प्रचलित ठेका धा गे ना ती ना के धिं ऽ है, इस ठेके में पहली मात्रा से लेकर सातवीं मात्रा तक प्रत्येक मात्रा पर एक वर्ण लिखा रहता है। सातवीं मात्रा पर धी लिखते हैं,

8वीं मात्रा पर हलंत न् लिखते हैं। अथवा कुछ सातवीं मात्रा पर अनुस्वार लगाकर धिं ऐसा लिखते हैं और आठवीं मात्रा पर आकार ऽऽऽ लगाकर छोड़ देते हैं। प्राचीन शास्त्रकारों के अनुसार हलंत अक्षर और अनुस्वार का कोई आघात अवनद्ध वाद्यों पर अलग से नहीं देना चाहिए। वह केवल बोलने की सुविधा के लिए होता है। प्रचार में भी यही है, जैसे - कड़ान् अक्षर को बजाने में हलंत न् का आघात नहीं दिया जाता। आधुनिक श्रेष्ठ तबला वादक भी हलंत अक्षर और अनुस्वार के लिए कोई अलग आघात तबले पर नहीं देते हैं। इस प्रकार कहरवे की आठवीं मात्रा चाहे हलंत नकार के द्वारा पूरी की जाये अथवा सातवीं मात्रा के अनुस्वार से पूरी की जाये, परन्तु आठवीं मात्रा पर आघात कोई नहीं दिया जाता है। इसी कारण प्राचीन तबला के उस्ताद कहरवा ताल को लँगड़ा ताल कहते थे। कहरवा के प्रचलित रूप में पहली मात्रा और पाँचवीं और सातवीं मात्रा पर बल है, तथा आठवीं मात्रा अबल है।

लोकसंगीत के एक गेय पद को, जिसकी लय कहरवे के तत्सम रूप के समान है, लिख रहे हैं। बन्दिश के जिस अक्षर पर बल दिया जाता है, हम उसके नीचे एक लकीर खींच कर उसका प्रदर्शन करेंगे।

मात्रा -	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश -	मै	या	ते	रो	खू	ब	हि	ब
ठेका -	धा	गे	न	ति	ना	के	धिं	ऽ

मात्रा -	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश -	नो	ऽ	चो	ऽ	बा	ऽ	रो	ऽ
ठेका -	धा	गे	न	ति	ना	के	धिं	ऽ

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश	-	कु	ऽ	हे	की	ई	ऽ	ट	का
ठेका	-	धा	गे	न	ति	ना	के	धिं	ऽ

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश	-	हे	ऽ	को	ऽ	गा	ऽ	रो	ऽ
ठेका	-	धा	गे	ना	ती	ना	के	धिं	ऽ

नीचे हम एक लोकधुन का ऐसा उदाहरण दे रहे हैं, जिसमें कहरवा ताल की दूसरी मात्रा और छठी मात्रा पर बल दिया गया है। अत: यह धुन कहरवे के प्रचलित रूप के तत्सम नहीं हो सकती। लोक-संगीतिकार धुन के बल-अबल को पहिचान कर उसी प्रकार के आघात अपनी ढोलक पर करता है। शास्त्रीय संगीत के तबला-वादकों ने इस प्रकार कहरवा ताल की भिन्न-भिन्न मात्राओं पर बल-अबल का जो प्रयोग लोक-संगीत में होता है, उस पर विचार करके ही सम्भवत: ऐसे बाँटों और लग्गियों का निर्माण किया है जिनमें भिन्न-भिन्न मात्राओं पर बल दिया जाता है। यह ठीक है कि कई तालशास्त्र के मर्मज्ञ इस प्रकार के बाँटों और बल-अबल को देखकर नाक-भौंहें सिकोड़ सकते हैं। परन्तु लय का जो उल्लास व आँखमिचौनी इस प्रकार के बाँटों में ठेका को मिलती है, वह कर्णमधुर अवश्य है और यह बल-अबल गायक के भाव-सम्प्रेषण में भी सहायक होता है।

हम एक ऐसा लोकगीत लिख रहे हैं, जिसमें दूसरी और छठी मात्रा पर बल दिया गया है। उन मात्रा विशेष पर दिया गया बल ही उस गीत का प्राण है और भावाभिव्यक्ति का माध्यम है। इसकी संगति के लिए कहरवे का प्रचलित ठेका नितान्त अनुपयुक्त होगा, अत: उसके अनुरूप बल-अबल वाला कहरवे का बाँट बजाना उचित रहेगा।

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश	-	तु	म्हा	री	क	सम	बैं	गन	में
ठेका	-	धागे	धागे	नधि	नक	ताके	ताके	नति	नक्

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश	-	ने	मो	ऽ	ल	मैं	गा	ये	ऽ
ठेका	-	धागे	धागे	नधि	नक	ताके	ताके	नति	नक्

लोकसंगीत के आठ मात्रा के तालचक्र में चार-चार मात्रा के दो विभागों के अतिरिक्त कई और प्रकार के विभाजन भी दिखाई देते हैं। जैसे दो-दो मात्रा के चार विभाग तीन, तीन, दो, दो, तीन, तीन, तीन दो तीन, पाँच, तीन आदि आठ मात्रा के तालचक्र की विविध मात्राओं पर विराम देकर लय का अनोखा रूप बनाने का यह ढंग लोकसंगीत में केवल आठ मात्रा के तालचक्र में ही देखा जाता है। सम्भवतः लोकसंगीत में इस प्रकार के विभाजन को देखकर ही नये-नये बाँटों का निर्माण तबला-वादकों ने किया हो, ऐसा हम अनुभव कर सकते हैं।

उपरोक्त विभाजनों के अनुरूप जो बाँट आज श्रेष्ठ तबला-वादक बनाते हैं, उनके कुछ उदाहरण नीचे लिख रहे हैं -

1. धाती, धाती, धाती, धिना | ताती, ताती, ताती, कीना
2. धातिट, धातिट, घेना | तातिट, तातिट, केना
3. घेना, धातिट, धातिट | केना तातिट, तातिट
4. धातिट, घेना, धातिट | तातिट, केना, तातिट

उपरोक्त सभी बाँटों में तालाघात पहली और पाँचवीं मात्रा पर ही होता है।

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7
बन्दिश	-	साँ	ची	ब	ता	5	वैं	क
ठेका	-	धा	धिं	5	धा	धा	धिं	5

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7
बन्दिश	-	न्हा	5	ई	कहाँ5	5	सा	री
ठेका	-	धा	धिं	5	धा	धा	धिं	5

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7
बन्दिश	-	रे	5	न	ग	मा	5	यी
ठेका	-	धा	धिं	5	धा	धा	धिं	5

ऐसे भी कुछ लोकगीत होते हैं जिनकी गति चाँचर जैसी होती है, परन्तु जो दीपचन्दी ताल अथवा सात मात्रा के तालचक्र में नहीं बँधे होते हैं। उन गीतों को वे प्रायः आठ मात्रा काल में गाते हैं। उनकी लय दीपचन्दी जैसी होती है। आघात भी वही दिये जाते हैं। परन्तु मात्रा काल आठ होता है। उसमें ठेके जैसी वस्तु (बन्दिश) निम्न प्रकार की होती है -

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश	-	या	5	मे	री	अँ	खि	यों	में
ठेका	-	धा	5	धी	5न	धा	धा	धी	5न

मात्रा	-	1	2	3	4	5	6	7	8
बन्दिश	-	डा	5	ला	गु	ला	5	ल	दे
ठेका	-	धा	5	धी	5न	धा	धा	धी	5न

इस लोकगीत में चाँचर छन्द में आठ मात्राओं का प्रयोग हुआ है।

अध्याय ९

१. ताल और छन्द का सम्बन्ध

२. छन्द की ऐतिहासिकता

३. छन्द की व्याख्या

४. छन्द की आवश्यकता

५. आधुनिक तालों में छन्द का निरूपण

६. अवनद्ध वाद्यों के चित्र

·ं ताल और छन्द का सम्बन्ध :

प्राचीन युग में -

'ध्वनि' ही भाषा और संगीत दोनों का जनक है ।
ात्मिका वाक् से भाषा का और नादात्मिका वाक् से संगीत का जन्म
ा है । यही ध्वनि जब नियमित गति का रूप ले लेती है, तब काव्य में
द का और संगीत में ताल का स्वरूप धारण कर लेती है । छन्द और
ल दोनों का कार्य 'नापना' है । छन्द से काव्य और ताल से संगीत में
पन कार्य किया जाता है । यद्यपि छन्द और ताल दोनों ही काव्य एवं
ीत का नियमन कार्य तो करते ही हैं, इसके साथ ही वे काव्य और संगीत
लालित्य भी उत्पन्न करते हैं । यह कार्य इनमें अन्तर्निहित लय के द्वारा
ता है, लय दोनों में ही विद्यमान है ।

छन्द में वर्णों या मात्राओं की गिनती करके उसका स्वरूप
श्चित किया जाता है, और ताल या तो हाथ से लगायी जाती है या
- उसको प्रदर्शित करने के लिए किसी वाद्य यन्त्र का सहारा लेना पड़ता है।

काव्यात्मक छन्दों को पढ़ते या गाते समय यदि हाथ-पैर की
क्रिया स्वतः ही हो जाये (जो प्रायः होती है) या व्यक्ति भावावेश
ाकर कोई क्रिया करने लगे, तो वह क्रिया हमारे ताल की ही कोई
ा होती है । जैसे - हाथ का ऊपर उठना, नीचे गिरना, दायीं ओर
ा या बायीं ओर झुकना, यह सब क्रियायें ताल ही की कोई (सशब्दा
ा निःशब्दा) क्रिया होती हैं । इससे प्रमाणित होता है कि छन्द और
का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

जैसाकि हम ऊपर लिख चुके हैं कि संसार की प्रत्येक क्रिया
ा काल में होता है । उसके मापन का कार्य छन्द व ताल दोनों में
ुरु नाम की इकाइयों के द्वारा होता है । समय-मापन की इन

इकाइयों को कुछ विद्वान् ह्रस्व-दीर्घ - इन संज्ञाओं से पुकारने लगे हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि ह्रस्व और दीर्घ यह शब्द व्याकरण शास्त्र के हैं। छन्दशास्त्र में छन्दों के निर्माण के जो नियम हैं, उनमें सभी आचार्यों ने लघु और गुरु इन शब्दों का प्रयोग किया है।

आधुनिक काल के कुछ हिन्दी के विद्वानों ने ह्रस्व और दीर्घ इन शब्दों के प्रयोग की परम्परा डाली है, जिसका औचित्य शास्त्रीय परम्परा से सम्बद्ध नहीं लगता।

संगीत में ह्रस्व और दीर्घोच्चारण से महान परिवर्तन दिखायी देने लगता है। दीर्घोच्चारण से छन्द, लय, ताल, यति - सब कुछ बदल जाता है। अत: ह्रस्व-दीर्घ का सम्बन्ध वर्ण के उच्चारण से है और लघु-गुरु का हाथ से की जाने वाली क्रिया अर्थात् ताल से है।

यद्यपि दोनों का मात्रिक मूल्य एक ही है, लघु अथवा ह्रस्व का मात्रा-मूल्य एक मात्रा तथा गुरु या दीर्घ का अर्थ दो मात्रा से है। काव्य में समय-मापन का कार्य ह्रस्व और दीर्घाक्षरों के उच्चारण-काल से होता है। संगीतशास्त्र में ताल-मापन का कार्य लघु और गुरु इन दो संज्ञाओं के द्वारा होता है। साधारणतया लघु-गुरु और ह्रस्व-दीर्घ इन दोनों प्रकार की संज्ञाओं को लोग एक बराबर और पर्यायवाचक समझते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों में भेद है।

संगीत में साधारण गति की बोलचाल में 5 व्यंजनों के उच्चारण-काल को एक लघु माना गया है। भरतमुनि ने इन दो लघु और गुरु के अलावा प्लुत को भी मापक-अक्षर माना है। -

"ह्रस्वं दीर्घप्लुतं चैव त्रिविधं चाक्षरं स्मृतम्।"

- ना०शा०, 14/107

भारतीय संगीत का उद्गम साम से हुआ है। सामगान में स्वर और वर्ण का

कर्षण करके प्लुत का प्रयोग किया जाता था। प्लुत का काल लघु से तिगना माना जाता है। भरत ने गांधर्व और गान दोनों में ही प्लुत का प्रयोग किया है। गांधर्व की परिभाषा देते हुए भरत ने कहा है कि गांधर्व वह गायन-शैली है, जो देवताओं ने भगवान् शंकर के लिए उनकी स्तुति करने में प्रयोग की। गांधर्व देवताओं की गायन-शैली है, और गान भूतल पर रहने वालों की गायन-शैली है। प्लुत का प्रयोग उन्होंने मार्ग तालों में किया है। लौकिक छन्दों में और देशी तालों में प्लुत का प्रयोग दिखायी नहीं देता।

गले से उच्चारण में जितना समय लगता है, हाथ की ताली में उससे अधिक समय लगता है। इसलिए ताल के लघु का समय अधिक माना गया है - ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

परन्तु इस बात को मानने में कई अड़चनें दिखाई देती हैं। हाथ की क्रियाओं की गति (विशेष रूप से उँगलियों की गति) गले के उच्चारण की गति से किसी भी तरह से कम नहीं है।

पद्य व गद्य दोनों में ही ह्रस्व-दीर्घ वर्णों के उच्चारण-काल की गति, रस-छन्द और भाव के अनुसार होती है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होती है।

अतः छन्द के पाठ्य में अतिविलम्बित गति और अतिद्रुत गति प्रिय नहीं हो सकती, संगीत में कर्षण करके एक-एक अक्षर को कई ह्रस्व मात्रा में बोला जा सकता है। इसी प्रकार अतिद्रुत गति में तान, सरगम का प्रयोग गायन में, तोड़े और झाले की द्रुत गति वादन में नित्यप्रति हम देखते हैं। श्रोता उससे प्रभावित होते और चमत्कृत होते हैं। इस प्रकार संगीत में लघु-गुरु का उच्चारण-काल छन्द के लघु-गुरु (ह्रस्व-दीर्घ) के उच्चारण-काल से विलम्बित गति से हो सकता है और द्रुत गति से भी हो सकता है।

3. चगण = दो गुरु (55)

4. पगण = दो गुरु एक लघु (551)

5. छगण = तीन गुरु (555)

इस प्रकार से यह पाँच मात्रा गण बताये हैं। इनके अतिरिक्त जो तीन प्रकार के उपरोक्त गण हैं, उनके स्वरूप निम्न प्रकार से हैं -

1. रतिगण - दो वर्णों के समूह से रतिगण बनता है, उनके चार भेद हो सकते हैं -

1. 55
2. 15
3. 51
4. 11

2. कामगण - त्रिवार्णिक गण कामगण कहलाते हैं। यह कामगण आठ प्रकार के होते हैं। छन्दशास्त्र में कामगण के अन्दर मात्रागण और वर्णगण दोनों का प्रयोग होता है।

कामगण के तगण और भगण दो भेद मात्रागणों के पगण और छगण के ही समान हैं। इस प्रकार कामगण में शारंगदेवजी के अनुसार 6 गण वर्णगण हुए और दो गण मात्रागण हैं। इस प्रकार कामगणों में मात्रागण और वर्णगण दोनों ही प्रकार के गण प्राप्त होते हैं। इनके रूप इस प्रकार हैं -

1. 555 = मगण
2. 155 = यगण
3. 515 = रगण
4. 115 = सगण
5. 551 = तगण
6. 151 = जगण
7. 511 = भगण
8. 111 = नगण

किसी भी छन्द और ताल में वर्णों और मात्राओं का विनियोजन किसी विशेष प्रकार से होता है । इन स्थितियों को छन्दशास्त्र और संगीतशास्त्र में गण के नाम से अभिहित किया गया है ।

'गण' शब्द का अर्थ है - समूह । छन्दशास्त्र और संगीतशास्त्र में वर्णों के समूह को गण कहते हैं ।

आचार्य शारंगदेव ने अपने चौथे प्रबन्धाध्याय में ऐला प्रबन्ध के सन्दर्भ में गणों की विस्तृत चर्चा की है । ऐला प्रबन्ध के उन्होंने चार भेद किये हैं - गणैला, मात्रैला, वर्णैला एवं देशैला । इन गणैला के वर्णन में उन्होंने दो प्रकार के गण - वर्णगण और मात्रागण बताये हैं । वर्णों के भी उन्होंने दो प्रकार - लघु और गुरु बताये हैं, फिर लघु और गुरु की परिभाषा भी आपने दी है । अनुस्वार युक्त अक्षर, विसर्ग युक्त अक्षर, व्यंजनान्त (हलन्त) दीर्घ स्वरों वाला अक्षर और संयुक्ताक्षर व उससे पहले वाला अक्षर - ये सब गुरु होते हैं । इनके अतिरिक्त जो वर्ण होंगे उनको लघु कहा जायेगा ।

आचार्य शारंगदेव ने द्वैवार्णिक को रतिगण, त्रिवार्णिक को कामगण और चतुर्वार्णिक को बाणगण के नाम से उनका उल्लेख किया है । इन गणों के लघु गुरु के हिसाब से कितने प्रस्तार बन सकते हैं - उन्होंने यह भी बताया है ।

आचार्य शारंगदेव ने मात्रा और वर्ण के आधार पर दो प्रकार के ~~ह~~ गण माने हैं - 1. मात्रा गण, 2. वर्ण गण ।

उन्होंने दो मात्रा, तीन मात्रा, चार मात्रा, पाँच मात्रा और छः मात्रा काल के 5 गणों को मात्रा गण माना है और उनके नाम क्रमशः दगण, तगण, चगण, पगण और छगण दिये हैं -

1. दगण = एक गुरु (S)
2. तगण = एक लघु एक गुरु (IS)

3. बाणगण - चतुर्वर्णिक गणों को बाणगण की संज्ञा आचार्य शारंगदेव ने दी है। इनके निम्न सोलह प्रकार होते हैं। इन सोलह प्रकारों के नामों का अलग-अलग उल्लेख नहीं किया है -

5555, 1555, 5155, 1155
5515, 1515, 5115, 1115
5551, 1551, 5151, 1151,
5511, 1511, 5111, 1111,

इस प्रकार से सोलह भेद बाणगण के होते हैं।

आचार्य शारंगदेव ने मात्रागण और बाणगण दोनों के ~~अन्द~~ भेद उपरोक्त प्रकार से कहे हैं।

मात्रागण में प्रयुक्त जो मात्रा शब्द है, उसका आशय है एक लघु। इस प्रकार दो मात्रा (दगण) अर्थात् दो लघु या एक गुरु हो सकता है।

आचार्य शारंगदेव ने मात्रैला नामक ऐला प्रबन्ध के भी चार प्रकार किये हैं। इनके नाम रतिलेखा, कामलेखा, बाणलेखा एवं चन्द्रलेखा आदि दिये हैं। इनके निर्माण में रतिगण, कामगण व बाणगण - इन तीनों प्रकार के गणों का प्रयोग उन्होंने किया है।

उपरोक्त तीन प्रकार के गणों का वर्णन हमें संगीतरत्नाकर के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। आचार्य शारंगदेव संगीतशास्त्री हैं और संगीतरत्नाकर संगीतशास्त्र का ग्रन्थ है। छन्दशास्त्र के सूक्ष्मतम तत्वों का प्रबन्ध-निर्माण में जिस प्रकार उन्होंने वर्णन किया है, वह अपनी विशेषता रखता है। वह केवल गणों के प्रयोग से ही सन्तुष्ट नहीं होते, पद के निर्माण में उसके गुणों की ओर भी उन्होंने इंगित किया है।

काव्य के गुणों का भी उन्होंने वर्णन किया है। अवनद्ध वाद्यों

के वादन की विशेषता का वादक के माध्यम से आचार्य शारंगदेव और राणा कुम्भा ने विस्तार से वर्णन किया है । वह अधिकांश गुण पद के निर्माण में वर्णित उपरोक्त काव्य-गुणों से साम्यता रखते हैं । भरतमुनि ने तो नाट्य-शास्त्र में कहा है कि न तो कोई शब्द छन्दहीन होता है और न कोई छन्द शब्दहीन हो सकता है । मैंने इस विषय पर छन्दाध्याय में विस्तार से लिखा है ।

प्रबन्ध गेय पद रचना है । इस पद रचना के बारे में छन्द-शास्त्र के नियमों का पालन कितने सूक्ष्मरूप से किया है। यह तथ्य हेय छन्द और संगीत के अन्योन्याश्रित होने के बारे में स्पष्ट निर्देश देते हैं ।

इन गेय पदों के निर्माण में काव्य के आवश्यक अभीप्सित गुणों का भी वर्णन शारंगदेव ने किया है, जिन गुणों के बिना काव्य निष्प्रभावी होता है । पदों में निम्न गुणों का होना आवश्यक है । जैसे -समान, मधुर, सान्द्र, कान्त, दीप्त, अग्राम्य, सुकुमार, प्रसन्न आदि । छन्द-शास्त्र के ग्रन्थों में इनके नामों में तो भेद हैं, परन्तु आशय लगभग एक ही है। संगीत और काव्य के पारस्परिक सम्बन्धों को दर्शाने के लिए यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शारंगदेव ने अधिकांश प्रबन्धों का निर्माण, छन्दों के निर्माण के लिए आवश्यक तत्वों व गुणों के आधार पर ही किया है ।

शारंगदेव ने इन प्रबन्धों के लिए तालों का भी निश्चितीकरण किया है । प्रबन्धों के भेदों के निर्माण में संगीत के विभिन्न तत्वों के विनि-योजन का प्रकार, प्रबन्ध के धातुओं का विशेष ढंग, स्वर-सन्निवेशों का विनियोजन आदि के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के छन्दों के आधार भी विशेष तत्व थे । दूसरे शब्दों में छन्दों के आधार पर ही संगीत के तत्वों का

विनियोजन होता था, इसके लिए उसी छन्द के अनुरूप ताल का भी चयन किया जाता था। तालों का नामकरण भी उन्होंने प्रबन्ध के नाम से ही किया है। उदाहरण के लिए रासक प्रबन्ध को रास ताल में ही गाने का निर्देश दिया है।

छन्द और ताल के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने के लिए यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि रासक प्रबन्ध का ढाँचा जिस छन्द के आधार पर उन्होंने बनाया है, ताल का भी ढाँचा लगभग उसी प्रकार का है, जिसका विस्तार से वर्णन हम आगे करेंगे।

शारंगदेव ने ऐसे प्रबन्धों का भी उल्लेख किया है जिनमें प्रबंध के उद्ग्राह, मेलापक आदि अंगों में अलग-अलग छन्दों का प्रयोग होता है। इन अलग-अलग छन्दों से निर्मित उद्ग्राह, मेलापक आदि गीत के अंगों में अलग-अलग तालों का भी विनियोजन करने का उन्होंने आदेश दिया है। छन्द का एक प्रकार गाथा भी छन्दशास्त्रियों ने लिखा है। गाथा छन्द के उदाहरण आज भी छन्दशास्त्रियों के लिए दुष्प्राप्य हैं, परन्तु शारंगदेव ने गाथा छन्द में ही गाथा प्रबन्ध का निर्माण किया है। उन्होंने उस प्रबन्ध की गति तथा छन्द के अनुरूप ही ताल का प्रयोग करने का निर्देश किया है।

भारतीय संगीत के ऊपर प्रबन्ध गान कई शताब्दियों तक छाया रहा। आचार्य शारंगदेव ग्राम, मूर्च्छना पद्धति, जाति गान, प्रबन्ध गान के अधिकारी विद्वान् थे। भारतीय संगीत के मूल सिद्धान्तों और नियमों की जितनी विस्तृत व्याख्या उन्होंने की है, वैसी किसी भी प्राप्य ग्रन्थ में नहीं मिलती (अपवादस्वरूप संगीतराज को छोड़कर, वह भी सम्पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है)। उस काल के संगीतज्ञ साहित्य के भी ज्ञाता होते थे और साहित्य के मर्मज्ञ संगीत के तत्वों को समझते थे। साहित्य और संगीत के पारस्परिक

सम्बन्धों का उनको पूर्ण ज्ञान था । अतः मैंने संगीत और काव्य के सम्बन्धों को प्रदर्शित करने के लिए अधिकारी ग्रन्थ के रूप में आचार्य शारंगदेव के ग्रन्थ संगीत रत्नाकार को चुना है । उसी में वर्णित प्रबन्ध रचना के द्वारा संगीत और काव्य के सम्बन्धों पर विचार किया है ।

प्रबन्धों के निर्माण के आधारभूत तत्वों - स्वर, काल(ताल), मात्रा व गण, यति, विराम, उच्चारण के बल - अबल आदि - आदि सभी का वर्णन शारंगदेव ने किया है । प्रबन्धों के दो भेद कहे गयें हैं - अनिर्युक्त और निर्युक्त । छन्द ताल आदि के नियमों से युक्त ही प्रबन्ध के सन्दर्भ में उन्होंने पद के दस गुणों की चर्चा की है । इन गुणों का उन्होंने समान, मधुर, कान्त, दीप्त, समहित, अग्राम्य, सुकुमार, प्रसन्न, ओजस्वी और मान्धात्रा - इन नामों से उल्लेख किया है । ये लगभग वहीं गुण हैं, जो श्रेष्ठ काव्य के भी गुण माने जाते हैं । उपरोक्त दस गुणों में मान्धात्रा शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है । नाट्यशास्त्र में और संगीत रत्नाकार में "मान" शब्द का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है । परन्तु इस स्थान पर मान्धात्रा शब्द (जिसका अर्थ है - मान को धारण करने वाला) का प्रयोग आचार्य शारंगदेव ने काव्य के गुण के रूप में किया है ।

"मान" शब्द का अर्थ है - तौल । संगीत के सन्दर्भ में मान शब्द का आशय है स्वर अथवा पाठ अथवा करण, इनका किस वजन से प्रयोग किया जाये । यद्यपि छन्दशास्त्रियों ने मान पर विशेष कोई जोर कहीं पर नहीं दिया है, परन्तु मान शब्द छन्द के पाठ और संगीत के गायन-वादन में विशेष स्थान रखता है । ~~भार~~ एक ही स्वर कई रागों में अलग - अलग मान से प्रयोग किया जाता है । भारतीय संगीत में एक ही स्वर का विविध प्रकार से प्रयोग किया जाता है और यह विशेष प्रकार से प्रयोग ही राग विशेष विशेष को स्पष्ट करने में समर्थ होता है । किसी राग में अल्पत्व अथवा बहुत्व, किसी राग में दीर्घोच्चारण या प्रलम्बोच्चारण एवं किसी में मृदुउच्चारण से एक ही

स्वर का प्रयोग किया जाता है और यह उच्चारण के भेद रागों के भेदों के सूचक होते हैं।

छन्दों के पाठ में भी मान का बहुत बड़ा स्थान है। किस रस की कविता को किस अक्षर पर बल-अबल देकर पढ़ें - इसको जानना अति आवश्यक है। यदि छन्द का पाठ ठीक प्रकार से न हुआ, तब अभीष्ट रस की प्राप्ति असम्भव है। अतः प्रबन्ध के एक प्राण के स्वरूप में आचार्य शारंगदेव ने मान्धात्रा शब्द का प्रयोग किया है।

प्रबन्धों और तालों के निर्माण में उन्होंने गणों का प्रयोग बहुत बार किया है। उन्होंने अधिकांश प्रबन्धों का निर्माण, छन्द-निर्माण के तत्वों (मात्रा, वर्ण, गण) के आधार पर ही किया है और उन प्रबन्धों की संगति के लिए उन्होंने ताल नियुक्त किये हैं। उन तालों का नामकरण भी उस प्रबन्ध के नाम पर ही किया है। नीचे हम कुछ ऐसे उदाहरण दे रहे हैं -

प्रबन्ध नाम		प्रयोज्य ताल नाम
1. रासक प्रबन्ध	-	रास ताल
2. चर्चरी प्रबन्ध	-	चर्चरी ताल
3. ढेंकी प्रबन्ध	-	ढेंकी ताल
4. हयलीला प्रबन्ध	-	हयलीला ताल
5. गजलीला प्रबन्ध	-	गजलीला ताल

उपरोक्त कुछ उदाहरण उन प्रबन्धों के हैं, जिनकी संगति के जो ताल निश्चित किये गये हैं।

अब हम कुछ ऐसे उदाहरण भी दे रहे हैं, जिन प्रबन्धों का नाम उन्होंने छन्द के नाम पर ही रखा है -

छन्द का नाम	प्रबन्ध का नाम
तोटक छन्द	तोटक प्रबन्ध
कलहंस छन्द	कलहंस प्रबन्ध

ढेंकी प्रबन्ध के वर्णैला, मात्रैला, गणैला आदि भेद हैं। द्विपदी प्रबन्धों के भेद में उन्होंने छगण, पगण, जगण, तगण, दगण आदि के प्रयोग का निर्देश दिया है। यह हमें उनके प्रबन्ध-निर्माण में छन्द के प्रयोग की विशिष्टता को दिखाता है। "गद्यं निगद्यते छन्दोहीनं"- ऐसी उनकी मान्यता है। उन्होंने स्वरार्थ-प्रबन्ध में, जिसमें केवल स्वर और हस्तपादों का प्रयोग ही प्रबन्ध पाद की रचना में किया जाता है, उसको भी छन्दशास्त्र के नियमों के अनुसार ही बाँधा है।

किसी रस-विशेष की अभिव्यक्ति करने में कोई विशेष छन्द ही समर्थ होता है। आशय यही है कि प्रत्येक छन्द, हर भाव और रस की अभिव्यक्ति पूर्णरूप से नहीं कर सकता। छन्दशास्त्रियों ने भी, कौन सा छन्द किस रस की अभिव्यक्ति करने में समर्थ है अथवा असमर्थ है, ऐसे विधि-निषेध दिये हैं। महाकवि कालिदास के द्वारा शिखरिणी छन्द को रौद्र रस के लिए वर्ज्य किया गया है, यह एक उदाहरण है -

"रसैरुद्रैर्यस्यां भवति विरति सा शिखरिणी ।"

- श्रुतबोध

इसी कारण से आचार्य शारंगदेव और उनसे पहले के भी आचार्यों ने विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति करने के लिए विशिष्ट छन्द ~~में~~ बंधे हुए प्रबन्ध की रचना की है। रचना के पदों के शब्दार्थ उसी रस के अनुकूल होते थे। छन्द की गति, लय और यति आदि सभी कुछ रस की अभिव्यक्ति में सहायक होते थे और उसी के अनुरूप ताल का चयन किया जाता था। प्रबन्ध की संगति में वाद्यों पर ऐसे वर्णों और पाटाक्षरों का ही प्रयोग किया जाये, जो रस-

विशेष की अभिव्यक्ति के लिए सहायक हो सकें - ऐसी प्राचीन संगीतशास्त्रियों की मान्यता थी ।

ईसा से 500 वर्ष पहले (नाट्यशास्त्र का काल) से लेकर 13वीं शताब्दी तक (संगीतरत्नाकर का काल) जाति गान, ग्राम राग गान, देशी राग गान, प्रबन्ध गान - गायन की यह शैलियाँ एक-दूसरे के बाद चलती रहीं। पिछले पृष्ठों में हम इन सभी शैलियों में गेय पदों के निर्माण, उनमें प्रयोग होने वाले मार्ग ताल, देशी राग ताल आदि सभी के साथ छन्द का कैसा अटूट सम्बन्ध रहा था - इस पर विस्तृत विचार कर चुके हैं ।

नीचे संक्षेप में ताल और छन्दों के निर्माण के विशेष तत्वों, जो दोनों में ही विद्यमान हैं, की सारिणी लिख रहे हैं -

ताल के आवश्यक तत्व	छन्द के आवश्यक तत्व
1. काल - समय परिच्छेद में ही ताल की क्रिया होती है ।	1. समय के परिच्छेद में ही छन्द की क्रिया होती है ।
2. गण - तालों के निर्माण में आवश्यक तत्व है ।	2. गण - छन्द के निर्माण में आवश्यक तत्व है ।
3. लघु-गुरु - ताल के निर्माण में प्रयोग होता है ।	3. लघु-गुरु - छन्द के निर्माण में प्रयोग होता है ।
4. लय - ताल में लय का प्रयोग होता है ।	4. छन्द में भी लय का प्रयोग होता है ।
5. विराम - ताल में इसका प्रयोग होता है ।	5. छन्द में विराम का विशेष स्थान है ।

ताल और छन्द दोनों में ही लय के प्रयोग करने की विधि में कुछ अन्तर दिखाई देता है । परन्तु "क्रियान्तर विश्रान्तिः लयः" लय का यह रूप ताल और छन्द दोनों में ही मान्य है ।

6. यति - यति का प्रयोग ताल में होता है ।	6. यति का प्रयोग छन्द में भी होता है ।

यति ताल और छन्द में अपने-अपने विशिष्ट रूप के आधार पर प्रयुक्त होती है । स्थूल रूप से यति के प्रयोग में ताल और छन्द में भेद दिखाई दे सकता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कोई अन्तर नहीं है । "लय प्रवृत्ति नियमोयति ।"

7. प्रस्तार - यह क्रिया ताल में होती है । यह ताल के दस प्राणों में से एक है ।	7. छन्दों के निर्माण में भी प्रस्तार का बहुत महत्व है । छन्दों का निर्माण प्रस्तारों के आधार पर हुआ है । प्रस्तार के आधार पर ही छन्दों की संख्या-वृद्धि हुई है।

इनके अतिरिक्त छन्दों और तालों दोनों के बारे में उच्चारण के नियम भी एक से ही हैं ।

तालबद्ध कोई परन हो, गेय पद हो, छन्दोबद्ध कोई पद हो - सभी में उच्चारण के बल-अबल, यति-विराम का एक सा महत्व है । दोष-युक्त पाठ श्रोता पर कुप्रभाव डालता है, अर्थ का अनर्थ भी करता है । मृदंगिकों और तबला-वादकों में यह प्रसिद्ध है कि "पढन्त अच्छी, तब बजन्त अच्छी"। आशय है कि जब तक बल-अबल, छन्द के अनुरूप यति और विराम का प्रयोग किसी गत परन में नहीं किया जायेगा, तो उस बन्दिश का प्रभाव शून्य होगा । उपरोक्त बातें छन्द के पाठ पर भी लागू होती हैं और ताल में भी । ताल वर्णों की रचना अथवा छन्द का निर्दोष पाठ ही कविता और बन्दिशों में गति उत्पन्न करता है ।

प्राचीन संगीतशास्त्रियों ने पद-रचना के उच्चारण के बारे में बहुत विस्तृत विचार किया है । उन्होंने विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन तथा प्रशमन - ये छः प्रकार के उच्चारण के अंग बताये हैं । किस

प्रकार से उच्चारण करने पर किस रस की अभिव्यक्ति होगी - इस पर भी उन्होंने विचार किया है ।

ताल और छन्द की दृष्टि से उच्चारण के अंगों पर संक्षेप में थोड़ा सा विचार करना आवश्यक है -

1. विच्छेद - स्वल्प काल का विराम छन्द और ताल दोनों में होता है।

2. अर्पण - सुकुमारता से जो पाठ किया जाये, उसे अर्पण कहते हैं । ताल और छन्द दोनों में ही अर्पण का प्रयोग होता है ।

3. विसर्ग - छन्द या तालबद्ध रचना की समाप्ति ।

4. अनुबन्ध - पदों और शब्दों के बीच में साँस का न टूटना, अनुबन्ध कहलाता है ।

5. दीपन - पाठ में रसानुकूल ऊँचे स्वर स्थान तक तारतम्य टूटे बिना पाठ का क्रम दीपन कहलाता है ।

6. प्रशमन - पाठ के उच्च स्वर स्थान से नीचे की ओर धीरे-धीरे, बिना बेसुरा हुए आने की क्रिया को प्रशमन कहते हैं ।

छन्दों और तालों दोनों में ही यह क्रिया नित्यप्रति योग्य कलाकारों के द्वारा की जाती है । यह बात और है कि वे स्वयं इन क्रियाओं के बारे में न जानते हों, परन्तु भावसम्प्रेषण एवं रसाभिव्यक्ति के लिए यह कार्य योग्य कलाकारों द्वारा नैसर्गिक रूप से हो जाता है । आचार्य शारंगदेव ने उच्चारण, पाठ आदि में प्रयुक्त सभी तत्वों को मात्र एक शब्द 'मान्धात्रा' में कर दिया है ।

भरत ने नाट्यशास्त्र में काव्य के दस गुण माने हैं । भामह, दण्डी, भोज आदि विद्वानों ने इन गुणों की संख्या 24 तक बढ़ा दी है । सम्भवत: विश्लेषण के लिए अथवा बुद्धि-विलास के लिए संख्या-वृद्धि आवश्यक हो, परन्तु काव्य के जो दस गुण भरत ने निर्धारित किये थे, प्रचार में अधिकांशत: वही हैं ।

आचार्य शारंगदेव ने एला प्रबन्ध की रचना के सन्दर्भ में गेय पद रचना {स्मरण रहे कि आचार्य शारंगदेव ने प्रबन्धों के अनुरूप ही उनके तालों की रचना की है} के लिए भी दस गुणों का वर्णन किया है ।

भरत ने दस गुणों का वर्णन मूलत: काव्य के सन्दर्भ में किया है । आचार्य शारंगदेव ने संगीत के सन्दर्भ में किया है । इसलिए उन गुणों की नियमावली में अन्तर हो सकता है जैसे 'मातृधात्रा' शब्द, परन्तु भावार्थ में नहीं ।

छन्द और संगीत दोनों का चरम ध्येय रसिक श्रोता, प्रेक्षक व दर्शक को रसपान कराना है । रस-निष्पत्ति के लिए उपरोक्त सभी गुण आवश्यक हैं, परन्तु रस की चरम सीमा तक पहुँचाने वाले विशेष तत्व ओज, प्रसाद व दीप्ति ही हैं । इन तीनों गुणों को एक से ही नाम से प्राचीन शास्त्रकारों ने पुकारा है ।

मध्ययुग में ताल और छन्द का सम्बन्ध :

संगीत के इतिहास में भरत नाट्यशास्त्र से लेकर संगीतरत्नाकर तक के काल को विद्वानों ने प्राचीन काल माना है । हमने उपरोक्त वर्णन से मार्गी तालों और देशी तालों और इस काल के गायन-वादन का छन्दशास्त्र से कितना सम्बन्ध रहा है - इसको प्रदर्शित करने की चेष्टा की है ।

उत्तर भारत के ऊपर बारहवीं शताब्दी से बर्बर मुस्लिम आक्रान्ताओं के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे, जिनकी दृष्टि में संगीत हराम था, कुफ्र था। भारतीय संगीत का चरम ध्येय देवाराधन था; संगीत के विद्यापीठ, मन्दिर और रंगशालायें थीं, श्रेष्ठ विद्वान् मन्दिर और रंगशाला में बैठकर लक्ष्य-लक्षण सम्पन्न ग्रन्थों की रचना करते थे और विचार-विनिमय करते थे। विधर्मी आक्रान्ताओं की दृष्टि में पूजागृह और संगीत-शिक्षालय दोनों ही हेय स्थान माने जाते थे। मन्दिरों और रंगशालाओं, मूर्तियों और वाद्ययन्त्रों को ध्वस्त करने पर उनको एक समान पुण्य होगा - ऐसी उनकी मान्यता थी। अत: 12वीं शती के प्रारम्भ से ही उत्तर भारतीय संगीत के विद्वानों ने दक्षिण भारत की ओर पलायन प्रारम्भ कर दिया था, जहाँ वे अपेक्षाकृत सुरक्षित थे।

आचार्य शारंगदेव मूलत: काश्मीर के निवासी थे। परन्तु मोहम्मद गजनबी के आक्रमण के कारण उनके पूर्वज दक्षिण भारत चले गये। संगीतरत्नाकर दक्षिण भारत में ही लिखा गया था। रत्नाकर-काल के बाद का 200 वर्षों का काल संगीत के इतिहास में अन्धा-युग माना जाता है। इस 200 वर्ष के बाद भी संगीत की जो पद्धति उत्तर भारत में उभरी, वह ईरानी संगीत से मिश्रित 12 स्वरों वाली वर्तमान पद्धति थी।

साहित्य और संगीत के लक्ष्य और लक्षण का समन्वय टूटना प्रारम्भ हो गया। संगीत का शास्त्रीय पक्ष धीरे-धीरे कटता गया। 18वीं शताब्दी तक आते-आते घरानेदार संगीतज्ञों का भी सम्बन्ध संगीत के शास्त्रीय पक्ष और साहित्य से लगभग समाप्त हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशक तक स्थिति यह हो गयी कि अधिकांश संगीत-कलाकारों के लिए शास्त्र और साहित्य अपरिचित हो गये।

चौदहवीं शताब्दी से उत्तर भारत में भारतीय संगीत के आकाश में एक नयी गायनशैली उभरी, जो सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते पूर्णरूप से विकसित हो गयी। उसका नाम ध्रुवपद है। ध्रुवपद का शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में 500 वर्ष तक एकछत्र राज्य रहा।

ध्रुवपद का उद्भव प्रबन्ध गायकी से ही हुआ है। ध्रुवपद की भाषा मध्यदेशीय थी और उसका निर्माण संगीत के आधारभूत सिद्धान्तों के आधार पर ही हुआ। सन् 1304 ईसवी में देवगिरी से बन्दी बनाकर लाये गये आचार्य गोपाल नायक ने जो गेय पद हिन्दवी में (उस समय में उत्तर भारत की बोलचाल की भाषा को हिन्दवी कहा जाता था) अला-उद्दीन खिलजी के दरबार में गाया था, अधिकांश संगीत-मनीषियों की ऐसी मान्यता है कि वही पहला ध्रुवपद था। श्री गोपाल नायक सम्भवत: प्रबन्ध गायकी के अन्तिम अधिकारी विद्वान् थे। उस ध्रुवपद की भाषा और छन्द चन्दबरदायी के पृथ्वीराजरासो की भाषा और छन्द से बहुत साम्य रखते हैं। छन्द संगीत में ध्रुवपद के पहले गेय पद में ही लिपटा हुआ है। 200 वर्ष बाद आचार्य बैजनाथ नायक (बैजू नायक) और बख्शू ने जो श्रेष्ठ ध्रुवपद की रचनायें कीं, उनमें से अधिकांश रचनाओं का छन्द घनाक्षरी छन्द है। उन्होंने ध्रुवपद के लिए चौताल नामक ताल निश्चित किया। भाषा उनकी ब्रजभाषा थी। हिन्दी के कुछ विद्वान् घनाक्षरी छन्द के निर्माणकर्ता महाकवि सूरदासजी को कहते हैं। परन्तु हमें यह बात मान्य नहीं है, क्योंकि आचार्य बैजू सूरदासजी से काफी पूर्वकालीन हैं। गायकी में श्रेष्ठ गुणों को समाविष्ट करने के लिए सम्भवत: उन्हें किसी ऐसे छन्द की आवश्यकता अनुभव हुई, जिसमें प्रयुक्त वर्णों का कर्षण कई-कई ~~मात्रा~~-मात्रा-काल तक किया जा सके तथा गेय पद की भाषा रसमयी हो और उस भाषा के ह्रस्व अक्षरों का भी दीर्घोच्चार तथा अपकर्षण से अर्थ और रस का तारतम्य बना रहे। सम्भवत: इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर उन्होंने

पदरचना की भाषा के लिए ब्रजभाषा का चुनाव किया और घनाक्षरी छन्द का निर्माण किया। ब्रजभाषा में वर्ण के कर्षण का परम्परा है। इस प्रकार आचार्य बैजू को उपरोक्त दोनों सुविधायें प्राप्त हुईं।

घनाक्षरी छन्द में उन्होंने एक पाद में 31 वर्णों का विनियोजन किया। प्रथम तीन भाग में 8,8,8 वर्णों पर यति और अन्तिम यति सातवें वर्ण पर रखी। इस प्रकार 8,8,8,7 वर्णों का विनियोजन निम्न प्रकार से किया -

1 23 4 56 78 1,2 3 4 5 6 78
सुन्दर सुजान पर, बाँसुरी की तान पर
------------ --------------
आठ वर्ण आठ वर्ण

1 2 34 56 78 1 23 4 5 6 7
मन्द मुस्कान पर, औरन ठगी रही
------------ -----------
आठ वर्ण सात वर्ण

नीचे "सुन्दर सुजान पर" इस आठ मात्रा के पद-भाग को 12 मात्रा के चौताल पर कैसे बैठाया जाये, इसका एक रूप लिख रहे हैं -

सु ऽ न्द र ऽ सु जा ऽ ऽ न प र
1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

उपरोक्त प्रकार से केवल दो वर्णों का एक-एक मात्रा काल का कर्षण और एक वर्ण का दो मात्रा काल का कर्षण आठ मात्रा का यह पादांश 12 मात्रा में गेय हो जाता है। भाव और अर्थ की हानि भी नहीं होती। यह छन्द ध्रुपद गायकी और चौताल के साथ ऐसा एकरूप हो गया है कि इस छन्द में बँधी गेय रचना को प्रारम्भ करते ही मृदंगिक चौताल में गाना हो रहा है - ऐसा अनुमान कर लेता है।

नये छन्दों का निर्माण और उनके अनुरूप तालों का निर्माण व प्रयोग मध्यकालीन ध्रुवपद पद्धति के गायन में बहुत बार हुआ है । आगरा घराने के प्रवर्तक सुजानदास की रची एक ध्रुवपद है, जिसका प्रथम पाद 15 वर्णों का और दूसरा पाद 14 वर्णों का है । ध्रुवपद गायकों के द्वारा उसूले फाक्ता ताल ﴾सूल ताल﴿ में गाया जाता है । उसूले फाक्ता 10 मात्रा का ताल है । प्रथम पद में 5 मात्राओं का कर्षण और द्वितीय पाद में 6 मात्राओं का कर्षण करके उसूले फाक्ता ताल के दो आवर्तन में इस ध्रुवपद को सटीक रूप से बिठाया जाता है -

"जोगी अजब एक जालिम जहर खाये ।
करता करहका गले रूण्डमाल ।।"

- राग हिण्डोल, ताल सूल फाक्ता

उसूले फाक्ता ताल और प्राचीन ढेंकी ताल सर्व प्रकार से एकरूप हैं । ताल का विभाजन, मात्रा, तालाघात - सभी एक सा है । प्राचीन घरानेदार मृदांगिक इसको ढेंकी ताल भी कहते थे ।

भारतीय गायन पद्धति में गेय पदों का कर्षण और अपकर्षण निरन्तर होता चला आ रहा है । यह भारतीय गायन पद्धति का एक अभिन्न अंग और शृंगार बन गया है ।

मध्ययुग में शास्त्रीय-संगीत और लोक-संगीत में प्रयुक्त गेय धुनों के आधार पर कई तालों की रचना हुई । जैसे कि सितारखानी, दादरा, इकवाई, तिलवाड़ा, पंजाबी, भड़ौआ, कव्वाली, गजल आदि । लोक-संगीत में प्रयुक्त खयाल विधा की संगति के लिए हालिया, लावणी आदि-आदि ताल के ठेकों का जन्म हुआ । कहरवा नामक ताल का भी जन्म मध्ययुग में हुआ है ।

मध्ययुग में अवनद्ध वाद्यों के वादन की क्रम क्रिया में एक नवीन तत्व अवश्य जोड़ा गया । यह तत्व मृदंगिकों की भाषा में थीपया और तबला वादकों की भाषा में ठेका कहलाया । ताल वर्णों की यह रचना ताल के एक आवर्तन मात्र की होती है । इसमें ताल के तालांग, विभाग, खाली, भरी सभी प्रकार का प्रदर्शन होता है । ठेके का जन्म किस दिन हुआ इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण तो मिलता नहीं है, परन्तु ठेके जैसी वस्तु का तालों के साथ में समायोजन प्रथम बार हमको आचार्य सुधाकलश द्वारा लिखित संगीतोपनिषद्-सारोद्धार नामक ग्रन्थ में मिलता है । यह ग्रन्थ संगीतरत्नाकर से लगभग एक सौ वर्ष बाद लिखा गया है ।

14वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक उत्तर भारतीय संगीत के गायन-वादन में बहुत से परिवर्तन हुए । यह परिवर्तन तालशास्त्र में भी हुए एवं मान्यतायें-परिभाषायें भी बदल गयीं । संक्षेप में उनका भी वर्णन आवश्यक है । ताल के दसों प्राणों के लक्ष्य-लक्षण में भेद हो गया ।

1. काल -
---------- प्राचीन काल में अवनद्ध वादक का कार्य गायन-वादन को सजाना मात्र था । वह उनकी संगति का ही कार्य करता था, ताल-मापन का कार्य अवनद्ध वादक का नहीं था । ताल-मापन का कार्य घनवाद्य के द्वारा दूसरा व्यक्ति करता था ।

2. मार्ग -
---------- मार्ग द्वारा जो गायन-वादन की गति का माप होता था, वह समाप्त हो गया ।

3. क्रिया -
---------- खाली भरी को दिखाना मात्र दो क्रियायें ही रह गयीं ।

4. तालांग -
---------- तालांगों में प्लुत और काक पद समाप्त हो गया, अणु अणुद्रुत का प्रयोग बढ़ गया ।

5. गृह - गृहों की संख्या और परिभाषा दोनों बदल गयीं। विषम गृह एक और हो गया। गायन-वादन के आरम्भ करने के स्थान की मान्यता घटकर, समाप्ति के स्थान की महत्ता बढ़ गयी। गायक-वादक जिस स्थान पर एक साथ आकर मिलते हैं, वह स्थान समगृह कहलाने लगा और यह क्रिया समगृह की क्रिया कहलायी।

6. जाति - जातियों की संख्या बढ़ गयी और गायन-वादन के अन्तर्निहित जो भावना थी वह समाप्त हो गयी। उनका नामकरण गणित के आधार पर 3,4,5,7 और 9, चतुरश्र, त्र्यस्र, मिश्र, खण्ड और संकीर्ण के नाम से किया गया।

7. कला - प्रस्तुतीकरण के कौशल को ही कला कहा जाने लगा।

8. लय - लय की परिभाषा मान्यता बदल गयी। "द्विकलो द्विगुणो ज्ञेया" का सिद्धान्त समाप्त हो गया। द्विकल और चतुष्कल का स्थान दुगुन और चौगुन ने ले लिया। लय के बर्ताव में स्वच्छन्दता हो गयी। लय के प्रयोग का कोई सिलसिला नहीं रहा।

9. यति - यति भेद भी दो बढ़ गये, उनकी भी परिभाषा बदल गयी।

10. प्रस्तार - प्रस्तार करने का ढंग भी बदल गया।

20वीं शताब्दी तक आते-आते तबला-वादन के प्रस्तुतीकरण में आड़, कुआड़ आदि का प्रदर्शन विद्वत्ता समझा जाने लगा। साहित्य, छन्द, रस आदि से उसका सम्बन्ध टूट गया। श्रेष्ठ मृदंगिकों की परंपरा

के कुछ तबला वादकों को छोड़कर छन्द सभी के लिए अज्ञेय हो गया।

छन्द के बिना ताल निर्जीव है। यह ज्ञान तो आज के अधिकांश तबला वादकों को नहीं रह गया, परन्तु मध्ययुग में जिन छन्दों के आधार पर जाने-अनजाने में गेय धुनों का निर्माण हुआ, उन छन्दोबद्ध रचनाओं की संगति करने के लिए जाने-अनजाने में ही कई तालों का मध्ययुग में निर्माण हुआ और उनका प्रयोग आज तक होता है। ऊपर हमने जिन मध्ययुगीन तालों की चर्चा की है, वे सभी ताल मध्ययुगीन शास्त्रीय गायन-पद्धति तथा लोकसंगीत की धुनों के आधार पर बनी हैं।

18वीं शताब्दी से धीरे-धीरे ध्रुवपद का स्थान ख्याल गायकी ने लेना प्रारम्भ किया। गेय रचनाओं में स्वर की प्रधानता ही रह गयी। शब्द, अर्थ, छन्द, भाव, रस आदि की ओर वाग्गेयकारों ने ध्यान देना समाप्त कर दिया था। छन्द और साहित्य से उनका सम्बन्ध टूटता गया। द्रुत लय में गेय पद रचनाओं में अन्त्यानुप्रास तो मिल जाता है, परन्तु विलम्बित लय की रचनाओं में वह भी दुष्प्राप्य है। इस गायन शैली के लिए ही वाग्गेयकारों ने "एक-ताल" नामक ताल की रचना की। एक-ताल देशी तालों में वर्णित चार मात्रा के लघु वाला ताल (चतुरश्र जाति का एक ताल) था, जिसको आदि-ताल के नाम से पुकारा जाता है। इसका प्रयोग आज भी दक्षिण पद्धति में होता है। इस ताल की प्रकृति चपल और शृंगारमयी है।

आदि-ताल का त्रिकल रूप आज का एक ताल है। चार मात्रा के आदि-ताल में केवल एक तालाघात होता है। त्रिकल एक ताल में 12 मात्रायें मान ली गयी हैं तथा तीन तालाघात निश्चित किये गयेहैं - प्रथम, पंचम और नवम मात्रा पर। ग्यारहवीं मात्रा पर तालाघात करने की परम्परा घोर [illegible] शिक्षित तबला-वादकों ने 19वीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ कर दी। श्रेष्ठ मृदंगिक आज भी एक ताल में 11वीं मात्रा पर

तालाघात नहीं करते हैं (द्रष्टव्य - मृदंगसागर तरलदीपिका) । इस ताल में विलम्बित और द्रुत दोनों लयों में गायन-वादन होता है और उसकी गुंजाइश है । इसी प्रकार झूमरा, तिलवाड़ा, इकवाई आदि तालों की रचना हुई ।

19वीं शताब्दी में एक और गायन शैली का चलन प्रारम्भ हुआ, जिसको टप्पा कहते हैं । उस शैली के अनुरूप पंजाबी ताल का निर्माण हुआ । ताल की मात्रा संख्या, तालाघात, खाली भरी आदि सब कुछ तीन ताल जैसा है । परन्तु गायन शैली में जिस प्रकार के छन्द का प्रयोग होता है उसके अनुरूप तीन ताल की रचना, गति, ताल का छन्द अनुकूल नहीं बैठता है । अत: एक नये ताल की आवश्यकता पड़ी और एक नया ताल जो उस गायकी के अनुरूप था वह बना, इसका नाम पंजाबी ताल रखा गया। टप्पे की बन्दिशों की अधिकांश रचना पंजाबी भाषा में हुई है । सम्भवत: इसी कारण इस ताल का नाम पंजाबी ताल रखा गया ।

देशी तालों में वर्णित चर्चरी ताल, जो चर्चरी प्रबन्ध के साथ बजाया जाता था, चाँचर बन गया । 14 मात्रा के एक ताल दीपचन्दी का निर्माण भी इसी युग में हुआ । चाँचर और दीपचन्दी ठुमरी गायनशैली के लिए उपयुक्त समझे गये । उत्तर भारत में अमीर खुसरो के समय से ही लोकजीवन में गजल और कव्वाली का गायन प्रचलित हुआ और उनके लिए छन्दों के अनुरूप कव्वाली ताल का ठेका बनाया गया ।

इस प्रकार मध्ययुग में भी ताल निर्माण के लिए गेय पद के छन्द के अनुरूप ही तालों का निर्माण हुआ । संगीत के वे विद्वान, जिन्होंने इन तालों की रचना की थी, सम्भवत: छन्दशास्त्र से अनभिज्ञ थे । परन्तु उन्होंने गायन शैलियों और गेय धुनों के अनुरूप जो ताल निर्माण किये, उनका स्वरूप उन गेय रचनाओं के छन्दों के अनुरूप ही था । ताल और छन्द अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे के पूरक हैं । यह सिद्धान्त उपरोक्त तथ्यों से भैली-भाँति प्रमाणित होता है ।

3. अर्वाचीन युग में ताल और छन्द का सम्बन्ध :

संगीत के इतिहास में गत 100 वर्ष के समय को हम अर्वाचीन युग कह सकते हैं। इस युग में शास्त्रीय संगीत के गायन, वादन, ताल, छन्द आदि का स्वरूप मध्य युग के अन्तिम चरण में जिस प्रकार से स्थिर हो गया था, लगभग वैसा ही है। राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा। एक ही राग की चार-चार घण्टे तक बढ़त, एक ताल का 2 घण्टे तक सोलो वादन जो सामन्त युग में संगीत की श्रेष्ठतां का परिचायक बन गया था, वह समाप्त हो गया। संगीत ने अब समाज में प्रवेश पा लिया, जन-साधारण उसमें रुचि लेने लगे।

पिछले 60 वर्ष में फिल्म व्यवसाय ने धीरे-धीरे भारतीय समाज में मजबूत स्थान प्राप्त कर लिया। फिल्म, मनोरंजन, प्रचार एवं प्रसार के श्रेष्ठतम माध्यम बन गये। पिछले 40 वर्षों में रेडियो और दूरदर्शन ने भी भारतीय जनरुचि और मनोरंजन में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है।

प्रचार-प्रसार के इतने सशक्त माध्यमों ने तथा आज देश की आर्थिक स्थिति ने जनरुचि को पूरी तरह से प्रभावित किया है। शास्त्रीय संगीत में भी श्रोता गले की जेमनास्टिक और मस्तिष्क की पच्चीकारी को अधिक समय तक सहन करनेकी स्थिति में नहीं रह गया। जन-साधारण का रुझान भाव और रस की ओर अधिक, चमत्कार की ओर कम हो गया। इस कारण से शास्त्रीय संगीत में से सुगम शास्त्रीय संगीत का नैसर्गिक रूप में जन्म हो गया। रोमांटिक शैलियों को प्रधानता मिली, जैसे - ठुमरी, गायकी। देश के विभिन्न अंचलों में गायी जाने वाली धुनों के आधार पर श्रेष्ठ गायक-वादकों ने गेय पदों की रचना की और उनमें प्रयुक्त धुनों को शास्त्रीय परिधान पहिनाया। पहाड़ी, चैती, माँड, भजन आदि उसके उदाहरण हैं। आज के श्रेष्ठ गायक और वादक प्रस्तुतीकरण में इनका

प्रयोग करते हैं और इन धुनों के छन्दों के अनुरूप तालों का बर्ताव करते हैं ।

फिल्म संगीत में अधिकांशतः जो गेय पद-रचना होती है, वह चपल प्रकृति के कहरवा और दादरा तालों जैसी होती है । परन्तु यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि अधिकांश पद-रचनाओं में यद्यपि कहरवा व दादरा का एक स्वरूप तो दिखाई देता है, परन्तु तालशास्त्र में प्रसिद्ध कहरवा या दादरा के ठेके उन गेय रचनाओं के छन्दों में सटीक रूप से फिट नहीं बैठते । अतः कई बार देश के श्रेष्ठ तबला-वादक भी उन गेय रचनाओं के अनुरूप कहरवा और दादरा के ठेके के छन्द और गति में आवश्यक परिवर्तन करने में झिझक जाते हैं । वे उस बदल को ताल के साथ अनाचार मानते हैं, परन्तु उस ढंग से परिचित साधारण तबला वादक बड़े मिजाज के साथ उसका ठेका देता है जो सुनने में कर्णप्रिय लगता है । आशय यह है कि उस फिल्म संगीत की गेय धुनों के छन्दों और तालों का शास्त्रीय ढंग से विवेचन तथा नामकरण न हुआ हो, परन्तु वे छन्द और उनके अनुरूप ताल के ठेकों का प्रयोग नित्यप्रति हमें देखने को मिलता है । इस प्रकार नये छन्द बने हैं और उन नये छन्दों ने नये तालों के निर्माण की प्रेरणा दी है । प्राचीन कहरवा और दादरा ताल की प्रयुक्त मात्रा व विभाजन तथा इन नये ठेकों की मात्रा व विभाजन में जो साम्य हो सकता है, परन्तु लय, यति, विराम, बल, अबल का इनमें स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। ताल और छन्द के निर्माण में यति, विराम, बलाबल का विशेष स्थान है । इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काल में भी छन्द और ताल का अटूट सम्बन्ध है और छन्द, ताल के निर्माण में प्रधान तत्व के रूप में विद्यमान है ।

(अ) छन्द की ऐतिहासिकता :

छन्दों का और भावाभिव्यक्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि जब व्यक्ति भावावेश में होता है तब उसकी वाणी स्वतः ही छन्दमयी बन जाती है । अतः कहा जा सकता है कि जब आदिमानव का हृदय भावावेश में वाणी के माध्यम से छलका होगा तभी कविता, संगीत आदि का जन्म हुआ होगा ।

छन्दों का मूल खोजने के लिए हमें आदिमानव से सम्बन्ध स्थापित करने में काफी सहयोग मिलेगा । प्रत्येक चीज के विकास के क्रम में सहज और स्वाभाविक रूप ही पहले आता है । आनन्द-विभोर होकर झूम उठने के साथ मानव के हाथ-पैरों ने भी कुछ स्वाभाविक क्रियायें की होंगी । अतः मुख-ध्वनि से गीत, हाथ की क्रियाओं से ताल व पैरों की क्रियाओं से नृत्य की उत्पत्ति हुई । जब ध्वनियों के रूप में मनुष्य को एक साधन और मिल गया, तो उनका विकास करके पहले वर्ण, फिर पद, पद से वाक्य और वाक्य से मानव ने भाषा की रचना की । फिर पहले से व्याप्त लय को ताल के साथ जोड़कर प्रयोग किया । यहीं से छन्द की रचना और उसके विकास के इतिहास का प्रारम्भ माना जा सकता है । इस आधार से स्पष्ट है कि पहले लय का और फिर छन्द का विकास हुआ। लय छन्द के अन्दर बहती हुई एक ऐसी धारा है, जिसको छन्द से अलग नहीं किया जा सकता । लय को छन्द से अलग करने पर छन्द का स्वरूप ही नहीं रह जायेगा ।

मानव साहित्य में छन्दों का उद्गम कब, किस समय और किसके द्वारा हुआ ? यह निश्चय करना बहुत ही कठिन कार्य है । यह अवश्य है कि विश्व साहित्य की प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है । उनके नामों का भी उल्लेख किया गया है और उनकी

वर्ण-संख्या और भेदों आदि का भी वर्णन है ।

ऋग्वेद में इतने प्रकार के छन्दों के प्रयोगों और उनके नियमों आदि को देखकर हमें यह अनुभव करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि इन नियमों और छन्दों का निर्माण ऋग्वेद-काल से पहले ही हो चुका होगा। इतने सुनिश्चित नियमों के निर्माण में शताब्दियाँ लग गई होंगी । यह सम्भव है कि ऋग्वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने ही मन्त्रों के छन्दों को निश्चित किया हो, परन्तु असंस्कृत बीज रूप में वे छन्द निश्चित रूप से पहले से ही विद्यमान रहे होंगे ।

छन्दों के नाम का उल्लेख व उनके अक्षरों की निश्चिती आदि हमें पहली बार ऋग्वेद में ही मिलती है, अतः ऐतिहासिकता की दृष्टि से छन्द की प्राचीनता का साक्ष्य ऋग्वेद से ही हमें प्राप्त होता है । प्रागैतिहासिक भाषा, संगीत व छन्द आदि के प्रकार को जानने का कोई साधन अभी तक उपलब्ध नहीं है ।

छन्द की ऐतिहासिकता के बारे में छन्दसूत्र की यादव टीका में एक श्लोक दिया गया है -

"छन्दो ज्ञान मिदम भवात् भगवतो लेभेसुरारणाम् पतिः ।
तस्माददुष्च्यवन स्ततः सुर गुरूर्माण्डव्य नाम स्ततः ।।
माण्डव्यया ददि सैढ करतत ऋर्षियास्क स्तत पिंगलः ।
तस्येदम् यशसा गुर्लभुवि धृतम प्राप्य स्मदाधकृतम् ।।"

इसका अर्थ है कि छन्दशास्त्र का ज्ञान शंकर से इन्द्र ने प्राप्त किया, इन्द्र से दुष्च्यवन ने तथा उनसे देवताओं के सुरगुरु माण्डव्य ने प्राप्त किया । माण्डव्य से शैतव ऋषि ने, उनसे यास्क मुनि ने और उनसे फिर पिंगल जी ने, जिन पिंगलाचार्य के यश से यह पृथ्वी चमक उठी । इस प्रकार छन्दशास्त्र

का सम्बन्ध भगवान् शंकर से लेकर पिंगलाचार्य तक बताया गया है । इससे यह अनुभव होता है कि पिंगलाचार्य से पहले भी छन्दशास्त्र के कुछ आचार्य रहे होंगे, जिनके ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं हैं ।

(आ) छन्द की व्याख्या :

छन्दों के भेदों को हम निम्न प्रकार से भली-भाँति समझ सकते हैं -
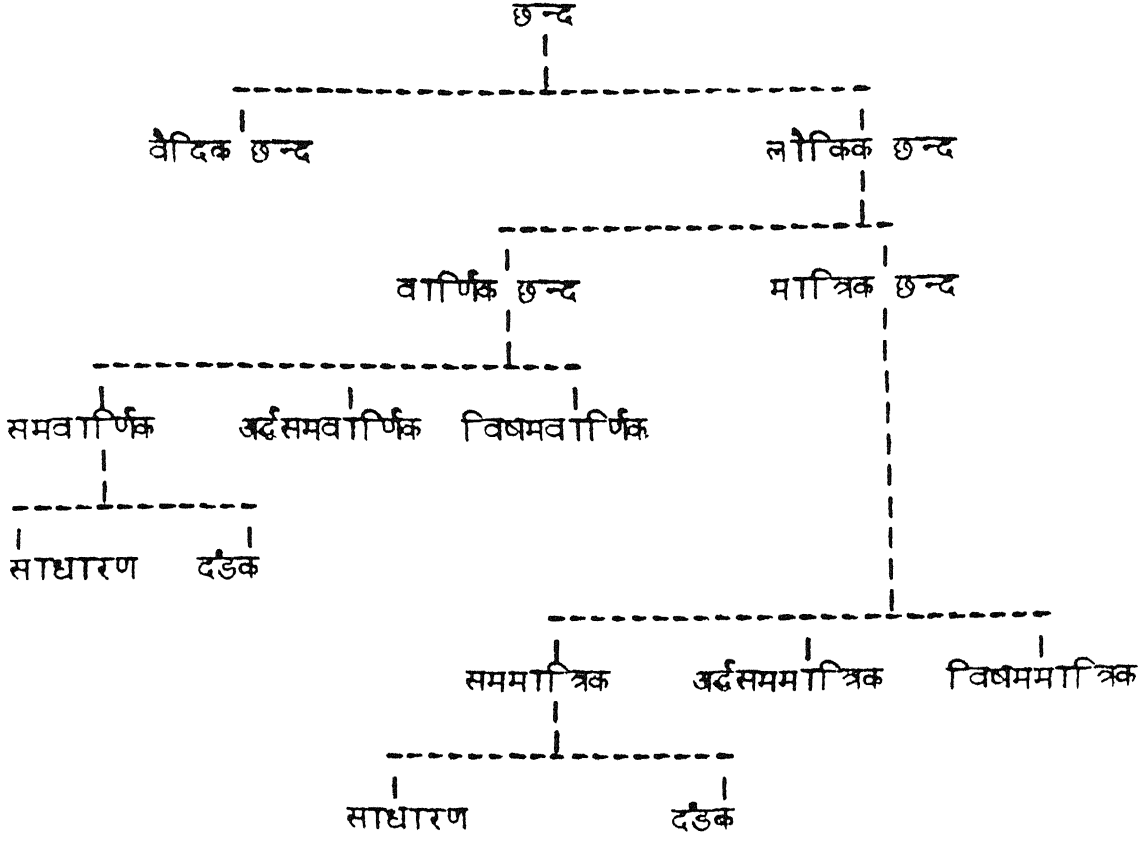
1. वैदिक छन्द - वेदों में प्रयोग होने वाले छन्दों को वैदिक छन्द कहा गया है। वैदिक छन्द के भी दो भाग किये हैं -

1. ऋक्छन्द, 2. यजुर्छन्द

ऋक्छन्द नियताक्षरावसान हैं और यजुर्छन्द अनियताक्षरावसान हैं।

नियताक्षरावसान - अक्षरों की निश्चित संख्या के बाद अवसान, अर्थात् विराम ऋक्छन्द का विशेष लक्षण है।

अनियताक्षरावसान -
--------------- इसमें विराम के लिए निश्चित संख्या वर्णों की नहीं की जाती थी और इसके लिए कोई नियम नहीं था । इस यजुर्छन्द में 1 से लेकर 120 अक्षर वाले पदों के उदाहरण पाये जाते हैं । वैदिक छन्दों का ज्ञान शौनक प्रतिशाख्य, कात्यायनसूत्र, उपनिषद्सूत्र तथा पिंगलाचार्य के ग्रन्थ से उपलब्ध होता है । साधारणतया ऋग्छन्द तथा यजुर्छन्द दोनों के सात-सात प्रकार माने गये हैं । वैदिक छन्दों के उदाहरण गायत्री, उष्णिक एवं महत्ती आदि हैं ।

छन्द की ऐतिहासिकता का सन्दर्भ हमें गायत्री छन्द अथवा गायत्री मन्त्र से भी मिलता है । वैदिक वाङ्मय में सातों छन्दों का प्रयोग होता है ।

गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती इन सातों छन्दों के नामों का उल्लेख अथर्ववेद में एक ही स्थान पर किया गया है ।

इनमें से प्रत्येक गायत्री आदि छन्द के आठ-आठ भेद किये गये हैं - 1. आर्षी, 2. देवी, 3. आसुरी, 4. प्रजापत्या, 5. याजुषी, 6. साम्नी, 7. आर्षी और 8. ब्राह्मी । इस प्रकार वैदिक छन्द 7×8=56 प्रकार के होते हैं । पुन: इनके अनेक भेद हैं, जिनका वर्णन पिंगल आदि छन्दशास्त्रों में और भी विस्तारपूर्वक मिलता है । गायत्री छन्द का एक पाद वसु = 8 अक्षरों का होता है । गायत्री छन्द तीन ही पाद का होता है, अत: उसके सम्पूर्ण अक्षरों की संख्या 24 होती है । इसी प्रकार सभी वैदिक छन्दों की अक्षर-संख्या आदि का वर्णन पिंगलाचार्य ने कियाहै ।

2. लौकिक छन्द -
--------------- शास्त्रों, पुराणों तथा काव्य आदि में प्रयोग होने वाले

छन्दों को लौकिक छन्द कहा गया है । इन छन्दों का प्रयोग कालिदास, भवभूति, तुलसी और जायसी आदि ने किया है ।

लौकिक छन्द के भी दो भेद माने गये हैं -

1. वार्णिक छन्द, 2. मात्रिक छन्द

1. वार्णिक छन्द -
-------------- इनका निर्माण लघु, गुरु और गणों के अनुसार हुआ है। गणों में लघु, गुरु, ह्रस्व व दीर्घ दो प्रकार के वर्णों का प्रयोग वार्णिक छंदों के निर्माण में छन्दशास्त्र में हुआ है । त्रिमात्रिक गणों के निर्माण में इन्हीं लघु-गुरु को व्युत्क्रम से सजाकर आचार्यों ने इनके आठ भेद किये हैं । त्रि-मात्रिक गणों का इनके अतिरिक्त और प्रस्तार नहीं हो सकता । वर्तमान छन्दशास्त्र की यह रीढ़ की हड्डी है । उन्होंने आठ गणों को निम्न नामों से अभिहित किया है ।
नीचे की सारणी में हम इन गणों का स्वरूप लिख रहे हैं -

गण	गण रूप	तत्सम पाटाक्षर	तत्सम साहित्यिक रूप	निरर्थक शब्द
• यगण	। ऽ ऽ	कृधाता	यशोदा	ननाना
• मगण	ऽ ऽ ऽ	धातीधा	मायावी	नानाना
• तगण	ऽ ऽ ।	धाधीन	तातार	नानान
• रगण	ऽ । ऽ	धाधिता	राधिका	नानना
• जगण	। ऽ ।	धिताग	उड़ान	ननान
• भगण	ऽ । ।	धाधिधि	कानन	नानन
नगण	। । ।	धिनक	कमल	ननन
सगण	। । ऽ	तिटधा	सरसो	ननना

छन्दशास्त्र के लेखकों ने उपरोक्त गणों के प्रायः प्रथम अक्षर का प्रयोग ही छन्दों के लक्षणों की व्याख्या करने में किया है और इसी प्रकार लघु और गुरु के लिए ल और ग अक्षर का प्रयोग किया है । उपरोक्त सभी गणों और लघु गुरु सूचक व्यंजनों में उन्होंने आ, ई, ओ आदि स्वरों का भी समावेश किया है । यह परम्परा संस्कृत और हिन्दी दोनों ही छन्दशास्त्रियों में रही है । उदाहरण के लिए -

"उक्ता वसंततिलका तभजाजगौगा"

अर्थात् - वसंततिलका छन्द के एक पाद में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरुओं का प्रयोग हुआ है ।

वर्णों की गिनती करने के लिए छन्दशास्त्र के विद्वानों ने कुछ नियम निर्धारित किये हैं । छन्दशास्त्र में दीर्घ स्वरों वाले व्यंजन, अनुस्वार वाले अक्षर, विसर्गान्त अक्षर, संयुक्ताक्षर या पाद के अन्त वाले और पद के अन्त वाले अक्षर का उच्चारण दीर्घ होगा । मात्रिक छन्दों में उनको गुरु माना जाता है । इसके अतिरिक्त जो वर्ण होंगे, वह ह्रस्व या लघु माने जायेंगे ।

छन्द-निर्माण में किसी एक गण का भी प्रयोग हो सकता है, अथवा कई गणों का भी प्रयोग हो सकता है । इन गणों के साथ लघु, गुरु का भी प्रयोग होता है । कभी लघु पहले गुरु बाद में, और कभी गुरु पहले लघु बाद में प्रयोग होता है । इन गणों को विशेष क्रम में सजाकर छन्दशास्त्रियों ने छन्दों के तो अनेक रूप बनाये ही हैं, उसके साथ-साथ छन्दों में अन्तर्निहित लय की गति के भी अनेक रूप अनायास बन जाते हैं ।

छन्दों के पाठ के लिए स्वर, विराम, बल, अबल और लय आवश्यक तत्व हैं । छन्द में प्रयुक्त शब्दों का भी शुद्ध उच्चारण उसके ह्रस्व दीर्घ के अनुपात के कारण ही छन्द की प्रकृति को दिखाता है ।

प्राचीन आचार्यों ने पाठक के गुणों के वर्णन के माध्यम से पाठ में लालित्य के लिए आवश्यक तत्वों का निर्देश किया है -

"माधुर्यमक्षर व्यक्ति पदच्छेदश्चसुस्वर: ।
स्थैर्यं लय समर्थंच षडेतेपाठका गुण: ।।"

- सिद्धान्तकौमुदी, संज्ञा प्रकरण,
शिवदत्त टीका

इनका आशय है कि शब्दपाठ में प्रयुक्त अक्षरों का स्पष्ट रूप से उच्चारण होना चाहिए । पद {पद्य या गद्य} में प्रयुक्त शब्दों का उचित स्थान पर छेद करना चाहिए {छिद् धातु, जिससे छेद शब्द बनाया गया है, उसका अर्थ है काटना, यहाँ पर लेखक का आशय है विराम}। स्वरों का उतार, चढ़ाव, यति, बल, अबल उचित प्रकार से होना चाहिए । पाठ में स्थिरता होनी चाहिए, वह हिलना नहीं चाहिए । पाठक को पाठ में प्रयुक्त लय को सँभालकर चलना चाहिए ।

उपरोक्त गुणों की आवश्यकता गद्य तथा पद्य, अथवा सभी प्रकार के वार्णिक-मात्रिक छन्दों के लिए आवश्यक है ।

आचार्य शारंगदेव ने तीन प्रकार के गणों - {बालगण, रतिगण, कामगण} द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक और चतुर्मात्रिक आदि की भी चर्चा की है । गणों की चर्चा भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भी की है ।

गणमात्रावर्णदेशविशिष्टास्ताश्चतुर्विधा: ।
गण: समूह: स द्वेधा वर्णमात्राविशेषणात् ।।
तत्र वर्णगणो वर्णैस्त्रिभिरष्टविधश्च स: ।
मस्त्रिगु: पूर्वलो य: स्यान्मध्यलोरोऽन्त गुरुस्तु स: ।।[1]

---

1. सं०र०, श्लोक 4/53,57

मात्रागण -

मात्रा कला लघुर्ल, स्यात्तग्दणाश्छपचस्तदौ ।
स्यु: षट्पचक्तुस्त्रिद्विसंख्यमात्रायुता: क्रमात् ।।

एवं मध्याभवा भेदा अष्टौ कामगणा: स्मृता: ।
तद्वद्रामगणा भेदा: प्रतिष्ठायास्तु षोडश ।।[1]

वार्णिक छन्द का रूप निम्न दोहे से और भी स्पष्ट होता है -

क्रम अरु संख्या वरण की, चहुँ चरणनि सम जोय ।
सोई वर्णिक वृत्त है, अन्य मातरिक होय ।।

अर्थात् - वार्णिक छन्द उन छन्दों को कहते हैं, जिन छन्दों की रचना वर्णों के आधार पर की जाती है । इनके तीन भेद होते हैं -
1. समवार्णिक, 2. अर्द्धसमवार्णिक, 3. विषमवार्णिक ।

समवार्णिक छन्द - जिन छन्दों में वर्णों की संख्या, लघु गुरु का स्थान, यति और विराम सभी चारों पादों में एक ही प्रकार से निश्चित किये जाते हैं, ऐसे छन्दों को समवार्णिक छन्द कहते हैं ।

वार्णिक छन्दों में दण्डक, शशिवदना, कमल, दोधक, तोटक, भुजंगप्रयात, मत्तगयंद, मालिनी, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, सवैया, इन्द्रवज्रा और शिखरणी आदि हैं ।

समवार्णिक छन्द का उदाहरण इस प्रकार है -

---

1. सं०र०, श्लोक 4/63,65

I I 5	I I 5	I I 5	I I 5
ज य रा	म स दा	सु ख धा	म ह रे
I I 5	I I 5	I I 5	I I 5
र घु ना	य क सा	य क चा	प धे रे
I I 5	I I 5	I I 5	I I 5
भ व वा	रु ण दा	रु ण सिं	ह प्र भो
I I 5	I I 5	I I 5	I I 5
गु ण सा	ग र ना	ग र ना	थ वि भो

इस पद के चारों चरणों में वर्ण क्रम और वर्ण संख्या समान है, अतः यह समवार्णिक छन्द है। उपरोक्त पद 'तोटक छन्द' में बंधा हुआ है। तोटक छन्द का लक्षण 'छन्द प्रभाकर' में इस प्रकार से दिया गया है -

" स सि सो सु अलंकृत तोटक है।"

यह छन्द चार सगणों (।।5) से बनता है। (स सि सो सु इन चार स्वर-सहित सकारों के द्वारा लेखक ने चार सगणों को अभिहित किया है।)

उपरोक्त पद के प्रत्येक पाद को, छन्द के लक्षण (चार सगण) को दिखाने के लिए इस प्रकार लिखा है।

अर्द्धसमवार्णिक छन्द - अर्द्धसमवार्णिक छन्द वे होते हैं जिनमें दो पादों के वर्ण समान स्वरूप के हों, अर्थात् जिनमें प्रथम-तृतीय, द्वितीय-चतुर्थ पादों के वर्ण समान हों वे अर्द्धसमवार्णिक छन्द कहलाते हैं।

अर्द्धसमवार्णिक छन्द का उदाहरण सोरठा -

1. 5 I I I I I I 5 I
जो सु मि र त सि धि हों य,

2. I I 5 I I I I I I I I I
ग न ना य क क रि व र व द न न।

3. | | | | | S | S |
क र हु अ नु ग्र ह सो य,

4. | S S | | | | | | | |
बु द्धि रा सि सु भ गु न स द न ।।

इस पद के प्रथम-तृतीय, इसी प्रकार द्वितीय-चतुर्थ चरण में वर्णक्रम और वर्णसंख्या समान है, अतः यह छन्द अर्द्धसमवार्णिक छन्द है । सोरठा छन्द काफी लोकप्रिय छन्द रहा है । तुलसीदास जी ने दोहे के साथ इस छन्द का प्रयोग किया है । इसके पहले और तीसरे चरणों में 9-9 वर्ण और दूसरे व चौथे में 12-12 वर्ण हैं । साथ ही पहले और तीसरे में 11-11 तथा दूसरे और चौथे में 13-13 मात्रायें हैं । यही सोरठा छन्द का लक्षण है ।

विषमवार्णिक छन्द - विषमवार्णिक छन्द वे होते हैं जिनमें पद के चारों चरणों की वर्ण-संख्या भिन्न हो, अर्थात् दो चरणों के परस्पर पादों के वर्णों की संख्या मिलती हो, अथवा तीन पादों के वर्णों की संख्या मिलती हो, एक पाद के वर्णों की संख्या न मिलती हो, या चारों चरणों की वर्ण-संख्या भिन्न हो, वे विषमवार्णिक छन्द कहलाते हैं ।

विषमवार्णिक छन्द का उदाहरण 'लवली' छन्द है । इस छन्द के प्रथम चरण में 12, द्वितीय में 16, तृतीय में 8 और चतुर्थ में 20 वर्ण होते हैं । प्रत्येक चरण के अन्त में दो गुरु भी जरूरी हैं । यथा -

प्र थ म म धि व स ति य दि तु यैं = 12 वर्ण
च र म च र ण प द ग व सि त गु रु यु ग्म म् = 16 वर्ण
नि खि ल म प र मु प रि ग त मि ति ल लि त प द यु क्ता = 20 वर्ण
त दि द म मृ त धा रा = 8 वर्ण

इस छन्द में चारों पादों की वर्ण-संख्या भिन्न है ।

छन्दशास्त्रियों ने समवार्णिक और सममात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों के साधारण और दण्डक - यह दो भेद किये हैं। यह दोनों भेद प्रत्येक चरण की मात्रा-संख्या और वर्णों की संख्या पर आधारित हैं।

समवार्णिक साधारण छन्द - एक से लेकर छब्बीस अक्षरों तक के समवार्णिक छन्द साधारण छन्द कहलाते हैं।

समवार्णिकदण्डक छन्द - इस प्रकार 26 से अधिक वर्णों की संख्या वाले छन्दों के भी दो भेद विद्वानों ने माने हैं।

1. साधारण दण्डक - जिसकी वर्ण-संख्या 26 वर्णों से अधिक होती है, परन्तु गण, लघु, गुरु, यति आदि के नियम निश्चित होते हैं, जैसे - सिंहविक्रीड़त छन्द।

सिंहविक्रीड़त - (य 9 व अधिक)

। ऽ ऽ। ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ ।ऽऽ ।ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ। ऽ ऽ
यचौ पंच इन्द्री लगा सीय देवी सहस्रानने मार जो सिंहविक्रीड़ वारी।

2. मुक्तक दण्डक - छन्द के इस प्रकार में 26 से अधिक वर्ण तो होते ही हैं, परन्तु गण, लघु, गुरु की व्यवस्था से यह मुक्त होते हैं।

लक्षण - अक्षर की गिनती यदा, कहुँ कहुँ गुरु लघु नेम।
वर्ण वृत्त में ताहि कवि, मुक्तक कहे सप्रेम।।

- भिखारीदास, छन्दप्रभाकर, पृ0 213

जिस प्रकार वार्णिक छन्दों का निर्माण वर्णों की संख्या के अनुसार होता है, इसी प्रकार मात्रिक छन्दों का निर्माण मात्राओं के आधार पर किया जाताहै-

2. मात्रिक छन्द - इन छन्दों में वर्णों की स्थिति के ऊपर विशेष विचार नहीं होता। जिस प्रकार से वार्णिक छन्दों में हर मात्रा में लघु गुरु की स्थिति निश्चित होती है, मात्रिक छन्दों में मात्राओं की स्थिति निश्चित नहीं रहती, केवल मात्राओं की संख्या चारों पादों में निश्चित रहती है। वर्ण-क्रम चाहे एक सा हो अथवा न हो, किन्तु मात्रा-संख्या निश्चित हो - ऐसी पदरचना मात्रिक छन्द कहलाती है।

नीचे हम मात्रिक छन्द चौपाई का उदाहरण लिख रहे हैं, जिसके प्रत्येक पाद में 16 मात्रायें होती हैं -

ऽ।। ।।। ऽ । ऽ ऽ ऽ
पूरण भरत प्रीति मैं गाई,

। । ।।ऽ। ।ऽ। । ऽ ऽ
मति अनुरूप अनूप सुहाई।

।। ।। ।। । ।।। ।। ऽ ।।
अब प्रभु चरित सुनत अति पावन,

।।। ।।। ।। ।। । । ऽ ।।
करत जवन सुर नर मुनि भावन।

उपरोक्त छन्द में प्रत्येक पाद में 16 मात्रा तो निश्चित हैं, परन्तु उनके लघु गुरु वर्ण की स्थिति प्रत्येक पाद में भिन्न-भिन्न है। इस पदरचना में लघु गुरु की संख्या भी प्रत्येक पाद के लिए निश्चित नहीं होती है।

सममात्रिक छन्द - जिनमें मात्राओं की संख्या, लघु गुरु का स्थान एवं यति सभी चारों पादों में एक ही प्रकार से निश्चित की जाती हैं, ऐसे छन्दों को सममात्रिक छन्द कहते हैं। उदाहरणार्थ - 'भुजंगप्रयात' छन्द सम-मात्रिक छन्द हैं, इसके लक्षण इस प्रकार हैं -

भुजंगप्रयात छन्द - य चौं युक्त ताता भुजंगप्रयाता ।

(य य य य) । 5 5, । 5 5, । 5 5, । 5 5 = 20 मात्रा

। 5 5   । 5 5   । 5 5 ।   5 5
य चौं में   प्र भू तें   यही हा,थ   जो री
= चार यगण, 20 मात्रा

। 5 5   । 5 5   । 5 5   । 5 5
फि रे आ   पु तें ना   क बौ बु   द्धि मो री
= चार यगण, 20 मात्रा

। 5 5   । 5 5   । 5 5   । 5 5
भु जं ग   प्र या तो   प मा चि   त्त जा को
= चार यगण, 20 मात्रा

। 5 5   । 5 5   । 5 5   । 5 5
जु रे ना   क दा भू   ल कै सं   ग ता को
= चार यगण, 20 मात्रा

भुजंगप्रयात छन्द मात्रिक व वार्णिक दोनों भेदों में आ सकता है । इसमें जिस प्रकार से वर्णों की संख्या निश्चित क्रम से बँधी हुई है, उसी प्रकार से मात्राओं की संख्या भी निश्चित क्रम में बँधी हुई है ।

अर्द्धसममात्रिक छन्द - अर्द्धसममात्रिक छन्द वे होते हैं, जिनमें दो पद की मात्राओं की संख्या समान हो । जिनमें प्राय: प्रथम और तृतीय, द्वितीय और चतुर्थ पाद की मात्रायें समान होती हैं, वे अर्द्धसममात्रिक छन्द कहलाते हैं । इस छन्द का उदाहरण 'दोहा' छन्द है । इसके लक्षण इस प्रकार हैं। इसमें प्रथम पाद और तृतीय पाद में 13 मात्रायें तथा द्वितीय पाद और चतुर्थ पाद में 11 मात्रायें होती हैं ।

दोहा छन्द -

5   ।।।। 5 । ।   ।।।   । 5।।।   ।।5 ।
श्री रघुवर राजिव नयन, रमारमण भगवान ।

13 मात्रा   11 मात्रा

।।। 5 । 5 ।। । 5   ।।। । ।। ।। 5 ।
धनुष बाण धारण किये, बसहु सु मम उर आन ।।

13 मात्रा   11 मात्रा

विषममात्रिक छन्द - विषममात्रिक छन्द वे होते हैं, जिनमें पादों की मात्रा-संख्या भिन्न होती है । मात्राओं की विषमता के कई प्रकार हो सकते हैं,जैसे-दो चरण के परस्पर पादों की मात्राओं की संख्या एक सी हो और दो पादों की मात्राओं की संख्या भिन्न हो । अथवा तीन पादों की मात्राओं की संख्या मिलती हो, एक पाद की मात्राओं की न मिलती हो । या फिर चारों चरणों की मात्रायें परस्पर पृथक् हों - वे विषममात्रिक छन्द कहलाते हैं । जैसे - कुण्डलिया ।

कुण्डलिया छन्द के लक्षण इस प्रकार हैं -

"दोहा रोला जोरि कै छै पद चौबिस मत्र ।
आदि अन्त पद एक सो, कर कुण्डलिया सत्र ।।
कर कुण्डलिया सत्र, मत्र पिंगल धरि ध्याना ।
कवि जन वाणी सत्र, करै सब को कल्याणा ।।"

कुण्डलिया -

5 5 II 5 5 I 5 5 5 5 I I 5 I
मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय ।

5 II 5 5 5 I5 5 I I II I I 5 I
जा तन की झाँई परे, श्याम हरित दुति होय ।।

5 I I I I II 5 I I5 II III I55
श्याम हरित दुति होय, कटै सब कलुष कलेसा ।

I 5 I 5 5 III I5 II III 5I 5
मिटै चित्त को भरम, रहै नहिं कछुक अँदेसा ।।

II I 5I II 5I 5 I II I I 5 5 5
कह पठान सुलतान, काटु यम दुःख की बेरी ।

5 5 5 5 III I 5 I I 5 II 5 5
राधा बाधा हरहु, हहा विनती सुन मेरी ।।

उपरोक्त कुण्डलिया विषममात्रिक छन्द का उदाहरण है । इसमें दोहा छन्द और रोला छन्द का मिश्रण है । प्रथम दो पाद दोहा छन्द से बने हैं और अन्तिम चार पाद रोला छन्द से निर्मित हैं । दोहा छन्द में विषम पादों का निर्माण I3 और सम पादों का निर्माण II मात्राओं से होता है । रोला में इसके बिल्कुल विपरीत विषम पादों का निर्माण II मात्राओं से और सम पादों का निर्माण I3 मात्राओं से होता है । इस प्रकार कुण्डलियाँ छन्द दो विषम मात्रिक छन्दों के मिश्रण से बना है ।

सममात्रिक साधारण छन्द - 32 मात्रा संख्या तक के सममात्रिक छन्द, साधारण सममात्रिक छन्द कहलाते हैं ।

सममात्रिक दण्डक छन्द - 32 मात्राओं से अधिक मात्रा-संख्या वाले सम-मात्रिक छन्दों को दण्डक मात्रिक छन्द कहा जाता है ।

गाथा - संस्कृत के कवियों ने छन्दों का एक और प्रकार भी कहा है, जिसको उन्होंने गाथा के नाम से अभिहित किया है । इस छन्द के पादों की संख्या चार से कम अथवा अधिक होती है । संस्कृत भाषा में तो इस प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता ही था, हिन्दी भाषा के भी गिरधर कविराय और पण्डित नाथूराम 'शंकर' आदि ने इस प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है ।

छन्द की परिभाषा :

'छन्द' शब्द की उत्पत्ति दो धातुओं से मानी गयी है । एक तो 'चदि' जिसका अर्थ होता है आह्लादकारी, और दूसरा अर्थ यास्क ने 'छदि' सम्वर्ण से इस शब्द की उत्पत्ति मानी है जिसका अर्थ है ढकना । दोनों व्युत्पत्तियों से छन्द का स्वरूप व गुण प्रगट होते हैं । इस प्रकार छन्द शब्द का एक अर्थ हुआ - ढकने वाला अर्थात् ढक्कन तथा दूसरा अर्थ हुआ - चमकाने वाला अथवा प्रसन्नता पैदा करने वाला ।

विश्व में सबसे पहले जो ग्रन्थ लिखा गया, उसका नाम ऋग्वेद है । ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति, मान्यता, देवता, आराधना, रहन-सहन आदि सभी विषयों का वर्णन है । देवताओं की आराधना के बहुत से सूक्तों और स्तुतियों का एक विशाल संग्रह ऋग्वेद में है । ऋग्वेद की सभी ऋचाओं में से अधिकांश ऋचायें गेय थीं । जो ऋचायें गेय हो सकती थीं, उन सबका संग्रह सामवेद में है । इस प्रकार समावेद ही हमारे गांधर्व का जनक माना जाता है । भारतीय संगीत का मूल तत्व सामवेद में ढूंढा

जा सकता है । गेय होने के कारण ही यह ऋचायें गायक व श्रोता दोनों के लिए प्रसन्नतादायक हो गयीं । उनमें एक विशेष प्रकार की चमक पैदा हो गयी । ऋचाओं के गायन की विधि तथा शब्द-उच्चारण की विधि निश्चित थी और उनका कठोरता से पालन किया जाता था । गायन-विधि अथवा शब्द या वर्ण के उच्चारण की विधि में प्रमाद होने पर अप-राध माना जाता था और देवता अप्रसन्न हो सकता था - ऐसी मान्यता थी । इस प्रकार उन सूक्तों आदि को उचित व्यवस्था से गाने के लिए गुरु-मुख से शिक्षा लेना आवश्यक था । उस परम्परा से शिक्षा को प्राप्त करने वाला व्यक्ति शुभ अदृष्ट फल प्राप्त कर सकता था - यह मान्यता थी । इसके लिए कुछ पौराणिक कथायें भी हैं । इस प्रकार 'छन्द' शब्द के दोनों अर्थ ही (प्रसन्न करनेवाला, ढकने वाला) वैदिक मन्त्रों और ऋचाओं के लिए प्रयुक्त हुए । धीरे-धीरे कालान्तर में 'छन्द' शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्मय के लिए होने लगा । महर्षि पाणिनि ने वेदमन्त्र के लिए छन्द शब्द का प्रयोग किया है -

"यथा बहुलं छन्दांसि ।" - 2/4/39

"बहुलं छन्दांसि ।" - 2/4/36

"अभ्युत्सायां प्रजनमाम ... छन्दांसि ।" - 3/1/42

छन्द की परिभाषा विभिन्न विद्वानों के मतानुसार - नियम संख्या वाली मात्राओं या वर्णों से युक्त निश्चित संख्या की पंक्ति, अथवा पाद, जो भी हो, उस शब्द की रचना को छन्द या वृत्त कहते हैं ।

इन वृत्तों के प्राय: चार चरण ही होते हैं । अपवाद-स्वरूप दो, छ: या आठ भी हो सकते हैं ।

मनुष्य की वाणी से जो कलात्मक रचना की जाती है, उसे भी छन्द माना जा सकता है ।

छन्द को विद्वानों ने इस प्रकार और भी परिभाषित किया है -

छन्द वह लयात्मक, नियमित तथा अर्थपूर्ण वाणी है, जिसमें आबद्ध होकर कोई वाक् (वाणी) पद का रूप धारण कर लेता है।

यहाँ पर भी अर्थपूर्ण वाणी, वाक् सब सार्थक पदों को इंगित करते हैं।

'छन्दप्रभाकर' नामक पुस्तक में छन्द को इस प्रकार वर्णित किया है -

"मत्त वरण यति गति नियम, अन्तहिं समता बन्द ।
जा पद रचना में मिलै, भानु गनत सोई छन्द ।।"

छन्द उस वाक्य-योजना का नाम है जो अक्षरों, मात्राओं और यति आदि के नियम विशेष के अनुसार लिखी गयी हो।

भरत ने छन्द को इस प्रकार व्यक्त किया है -

"छन्दोक्षरपदानां हि समत्वंयत्प्रकीर्तितम् ।"

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में छन्द की परिभाषा सूत्र रूप में की है।[1] इसमें आशय यह है कि निश्चित संख्या वाले अक्षरों के द्वारा जो रचना की जाये उसको छन्द कहते हैं। इसको हम विस्तार से इस प्रकार कह सकते हैं।

---

1. निबद्धाक्षरसंयुक्तं यतिच्छेदसमन्वितम् ।
निबद्धन्तु पदं ज्ञेयं प्रमाण नियतात्मकम् ।।
- ना०शा० 15/38

एवं नानार्थ संयुक्तैः पादैर्वर्ण विभूषितैः ।
चतुर्भिस्तु भवेद्युक्तं छन्दोवृत्ताभिधानवत् ।।
- ना०शा० 15/39

कुछ नियमों के आधीन होकर जो शब्द-रचना की जाती है, उसको छन्द कहते हैं ।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के अतिरिक्त छन्द का रूप इस प्रकार भी वर्णित किया जा सकता है - "सार्थक पद अथवा ध्वनि मात्र की रचना के अन्दर रहने वाला आनन्ददायक तत्व छन्द है ।"

छन्द में चार चरण होना आवश्यक हैं, अपवाद-स्वरूप तीन और छः भी होते हैं ।

आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द की परिभाषा इस प्रकार की गयी है - "छन्द वह बैखरी ध्वनि है; जो प्रत्यक्षीकृत निरन्तर तरंग-भंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके ।"

डॉ० शुक्ल के अनुसार - "छन्द नियमित मुख-ध्वनि-रचना है ।" इसमें मुख-ध्वनि का अर्थ सार्थक पद से है, जैसाकि अगले वाक्यों से स्पष्ट है ।

"संसार में अनेक प्रकार की रचनाएँ हैं, उनमें छन्द-रचना भी है । ध्वनि-रचना संगीत में भी होती है, पर वाद्ययन्त्रों की मोहक रचना छन्द नहीं है । छन्द के लिए आवश्यक है कि उसकी ध्वनि मनुष्य की वाणी से निर्मित हो ।"

यहाँ पर डॉ० शुक्ल के इस कथन से हमारा मतभेद है कि "वाद्ययन्त्रों की मोहक रचना छन्द नहीं है ।" हमारा नम्र निवेदन है कि वाद्यों की भी बहुत सी रचनायें छन्द के नियमों के आधार पर निर्मित हुई हैं और उनको सुनकर कोई भी प्रबुद्ध श्रोता उनके आधारभूत छन्द का नामकरण सहज में ही कर सकता है । आगे हम विस्तार से इस विषय पर विचार करेंगे ।

सम्पूर्ण वाक्-व्यवहार का मूल नाद है, वह चाहे भाषा के रूप में हो या संगीत के रूप में। इसको शारंगदेवजी ने भी अपने शब्दों में कहा है -

"नादेन व्यज्यते वर्ण: पद वर्णाद् पदाद्वच: ।
वचसा व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।।"

संगीत की उत्पत्ति नाद से होती है, किन्तु भाषा जो व्यवहार का माध्यम है, उसके और नाद के बीच कई सीढ़ियाँ हैं। जैसे नाद से वर्ण, वर्ण से शब्द, शब्दों से वाक्य और वाक्यों से भाषा बनती है। लौकिक व्यवहार भाषा से ही होता है, इसलिए सम्पूर्ण सृष्टि नाद के आधीन है। नाद की अभिव्यक्ति देश और काल में होती है। यही काल जब नियमित निरन्तर गति का रूप ले लेता है, तो लय बनकर संगीत में ताल और भाषा में छन्द का निर्माण करता है। साथ ही अनियमित गति में रहकर सामान्य बोलने की भाषा अथवा गद्य कहलाता है।

भरत ने अत्यन्त व्यापक रूप में वाक् तत्व को 'शब्द' और काल तत्व को 'छन्द' के रूप में कहा है -

"छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति नच्छन्दश्शब्द वर्जितम् ।"

अत: कोई भी ध्वनि काल-मान से बाहर नहीं होती है और न ही काल का मान ही ध्वनि के बिना होता है। ध्वनि और काल अन्योन्याश्रित हैं और एक दूसरे के पूरक हैं।

हिन्दी भाषा के सभी छन्दशास्त्रियों (कुछ अपवादों को छोड़कर) ने केवल सार्थक शब्द की रचना को ही छन्द माना है। किसी भी छन्द का प्रयोग निरर्थक शब्दों के द्वारा भी बड़ी कुशलता से किया जा सकता है। छन्द के लिए अभिहित नियमों का पालन करने वाला निरर्थक शब्दों द्वारा रचा गया छन्द भी आनन्ददायक हो सकता है।

संगीत के गायन-वादन में नित्यप्रति छन्दों का प्रयोग निरर्थक शब्दों के द्वारा भी होता है और आनन्ददायक होता है। तराना व तेनक निरर्थक शब्दों की गेय रचना है, जो किसी भी छन्द में बँधी हुई हो सकती है। सितार के श्रेष्ठ वादक अपने आघात मात्र से ही कितने ही छन्दों का प्रदर्शन करते हैं और उनकी वह कृति सराही जाती है। भरत से लेकर संगीतरत्नाकर के काल तक और उसके आगे भी गायन-वादन में निरंतर छन्दों का प्रयोग होता था और सराहा जाता था। यह परम्परा आज भी प्रचलित है।

भरत ने वर्णों के आधार पर गायन में जो छन्द निर्माण किये उनको अलंकार कहा, और वैसी ही नियमबद्ध रोचक छन्द-क्रिया जो वीणा पर की जाती थी उसको उन्होंने धातु कहा।

गत तीन शताब्दियों से संगीतकार साहित्य से और साहित्यकार संगीत से दूर होते चले गये, इसलिए एक विषय दूसरे विषय के विद्वान् के लिए अज्ञेय हो गया। इस प्रकार साहित्य और संगीत का सम्बन्ध टूट गया। अतः जो परिभाषायें आज के विद्वानों ने दी हैं, वह सब काव्य को ही आधार मानकर लिखी गयी हैं। छन्द का मूल तत्व लय है।

लय, संगीत और काव्य दोनों में वर्तमान है। काव्य में भाषा प्रधान और लय गौण है, संगीत में स्वर प्रधान और लय गौण है। परन्तु काव्य में लय परोक्ष रूप से चलती है और आह्लादकारी होती है। संगीत में लय प्रत्यक्ष रूप से चलती है। काव्य और संगीत दोनों में भाषा और स्वर उनके शरीर हैं, उनकी प्राणदायिनी शक्ति लय है। लय उनमें जीवन फूँकती है। अतः उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि निश्चित अक्षर वाली, यति, विराम और छेद आदि से युक्त प्रसन्नतादायक आह्लादकारी निःशब्द रचना को भी छन्द कहा जाता है।

रचना सार्थक शब्दों से बनी हुई हो अथवा निरर्थक शब्दों से बनी हुई हो, वह छन्द कहलाती है । उदाहरण के लिए -

न न ना । न न ना । न न ना । न न ना

इस निरर्थक अक्षरों की पद-रचना में हमें निश्चित रूप से तोटक छन्द के दर्शन होते हैं, जो चार सगण के आधार पर बनता है । इसी तरह के और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

छन्द के नियत अक्षर, निश्चित स्थान पर विराम, बल-अबल के साथ उच्चारण उसकी अन्तर्निहित लय को प्रगट करता है। उदाहरण के लिए "रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीता राम" - इस पद की अर्धालि "पतित पावन" में यदि हम पतित के त को पावन के पा से पहले जोड़ दें और ति के ऊपर विराम दें, तब इसका स्वरूप बनेगा - "पति तपावन सीता राम"। इस प्रकार अर्थ का कुअर्थ हो जायेगा। अतः छन्द के जो नियम हैं, उन्हीं के अनुरूप उच्चारण करने पर छन्द का स्वरूप, उसका अर्थ और लालित्य रह सकता है ।

छन्द में लय के नियामक तत्व है लघु-गुरु, और प्रदर्शनकारी तत्व हैं विराम और बल-अबल से उच्चारण । छन्द में इनका उचित उपयोग ही, छन्द का श्रोता को रसपान कराता है ।

काव्य और संगीत दोनों की माता ध्वनि है, ये दोनों सहोदर भाई जैसे हैं । सार्थक शब्दों का आनन्द लेने के लिए भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है, परन्तु संगीत में निरर्थक अक्षरों वाले छन्द के लिए संगीत के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि काव्य मस्तिष्क-गम्य है और संगीत हृदय-ग्राही है ।

§इ§ छन्द की आवश्यकता :

"आवश्यकता आविष्कार की जननी है ।" भारतीय साहित्य, वैदिक और लौकिक संगीत, गांधर्व मार्गी और देशी - सभी में छन्दों का प्रयोग हुआ है । वैदिक वाङ्मय अर्थात् चारों वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, शिक्षाग्रन्थ, संहित-ग्रन्थ, प्रतिशाख्य-ग्रन्थ आदि सभी छन्दोमय हैं ।

छः शास्त्रों के मूलग्रन्थ, उपवेद ग्रन्थ, पुराण ग्रन्थ, इतिहास, महाभारत और रामायण तथा अन्य काव्य और कथाग्रन्थ - सभी छन्दों में ही लिखे गये । वैदिक काल से लेकर ईसा के जन्मकाल तक सैकड़ों ग्रन्थों की रचना भारतवर्ष में छन्दों के ही आधार पर हुई है, जिनमें से बहुत से ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं हैं ।

इतना विपुल भण्डार छन्दों में क्यों रचा गया ? यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा है । वैदिक छन्दों के निर्माण के बारे में एक पौराणिक कथा मिलती है । जिसमें ऐसा कहा गया है कि दुष्ट-बुद्धि असुरों के द्वारा वैदिक मन्त्रों का दुरुपयोग न हो - यह आवश्यकता उस काल के श्रेष्ठ महर्षियों को हुई, इस कारण उन्होंने वेदों की ऋचाओं को छन्दोबद्ध कर दिया ।

छन्दोबद्ध करने के लिए उन्होंने छन्दों के उच्चारण को बल, अबल, कर्षण, यति, विराम आदि के द्वारा ऐसा नियमबद्ध कर दिया, जिसका गुरु-मुख से सीखे बिना उचित और शुद्ध उच्चारण करना असम्भव हो गया । इस प्रकार वैदिक मन्त्रों का दुरुपयोग न होने पावे, इसके लिए उन्होंने छन्दों को साधन बनाया और इसीलिए उन्होंने छन्द को मन्त्र के ढक्कन के रूप में प्रयोग किया । इस प्रकार यास्क द्वारा की गई छन्द की निरुक्ति सटीक हो गयी और वेदमन्त्र भी सुरक्षित हो गये ।

उपरोक्त कथा हमको एक विशेष तथ्य की ओर इंगित करती है । वेदों की ऋचायें इस प्रकार परवर्ती काल के लिए छन्दोबद्ध होने पर सुरक्षित अवश्य हो गयीं । भारतीय साहित्य का विपुल भण्डार, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, वह भी छन्दोबद्ध इसलिए लिखा गया कि उसकी सुरक्षा हो सके । गद्य-रचना से पद्य-रचना करना कठिन है, परन्तु हमारे उन श्रेष्ठ मनीषियों ने अपने विचारों और ज्ञान को छन्दोबद्ध करना इसलिए आवश्यक समझा कि छन्दोबद्ध रचना ही गुरु-शिष्य-परम्परा में कण्ठस्थ रह सकती है । इस प्रकार उनके महान् ग्रन्थ पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुरु से शिष्य के पास निरन्तर हस्तान्तरित होते रहे और आज भी हमें सुलभ है । यह बात ज्ञातव्य है कि गद्य-रचना को रटकर स्मृति में संजोकर रखना अत्यन्त कठिन है । पद्य-रचना निश्चित रूप से बहुत सरलता से कण्ठस्थ की जा सकती है और इस प्रकार नष्ट होने से बचाई जा सकती है । स्मरण रहे कि ईसा के कितनी ही शताब्दियों के बाद तक छापाखाने की कोई सुविधा नहीं थी । शिष्यगण गुरुओं से छन्दोबद्ध रचनायें प्राप्त करते थे, और उनको रटकर भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखते थे । अतः ज्ञान की सुरक्षा के लिए छन्द का आविष्कार किया गया ।

छन्दशास्त्र का धीरे-धीरे विकास हुआ, वैदिक और लौकिक छन्द बने । भारत की सभी भाषाओं में छन्दों का प्रयोग दिखाई देता है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मानव को ज्ञान की सुरक्षा के लिए और विस्तार के लिए एक साधन की आवश्यकता पड़ी थी । उस आवश्यकता को छन्द ने ही पूरा किया । यह कार्य केवल हमारे देश में ही नहीं हुआ, बल्कि अन्य प्राचीन सभ्यताओं वाले देशों में भी प्राचीन ग्रंथों का निर्माण छन्दोबद्ध ही हुआ है । पाश्चात्य देशों में भी उनकी प्राचीन श्रेष्ठ रचनायें छन्दोबद्ध हैं ।

आदि सभी स्थितियों में ताल के कलाविधि में गुरु को ही मान्यता दी है । यथाक्षर चच्चत्पुट 8 मात्रा का ताल है और चाचपुट 6 मात्रा का ताल है । यद्यपि यथाक्षर स्थिति में चच्चत्पुट और चाचपुट दोनों में ही चार कलायें होती हैं, परन्तु द्विक्कल या चतुष्कल होने पर भी चच्चत्पुट की कलायें चार ही रहेंगी परन्तु चाचपुट की कलायें तीन हो जायेंगी । जैसे - द्विक्कल चाचपुट की स्थिति 55,55,55 = 12 लघु मात्रा । इस प्रकार चाचपुट ताल के द्विक्कल, त्रिक्कल, षडकल आदि किसी भी कला-विधि में उसके पादांश तीन ही बनेंगी । यही स्थिति सम्पक्वेष्टक, षड-पितापुत्रक और उद्घट - इन तालों की भी होगी । अत: यह चारों ताल त्र्यस्र जाति के ही माने गये हैं । चच्चत्पुट ताल द्विक्कल, चतुष्कल, अष्ट-कल - किसी भी स्थिति में चतुरश्र ही रहेगा ।

भरत ने चतुरश्र और त्र्यस्र यह दो ही जातियाँ आधारभूत मानी हैं । इनको उन्होंने तालयोनि कहा है । अभिनवगुप्त और शारंग-देव ने तालयोनि शब्द से यह आशय प्रगट किया है कि इन दो जातियों के मिश्रण, उलट-पुलट {व्युत्क्रम} आदि से असंख्य तालों का निर्माण हो सकता है ।

भरत ने अपने मार्ग ताल विधि में छन्द-निर्माण में गुरु और दो की संख्या को प्रधानता दी है । उन्होंने छन्द-निर्माण में अधिकांशत: द्विवार्णिक गणों का ही प्रयोग किया है । उनमें ही लघु आदि का प्रयोग करके छन्द में वृद्धि की है । सम्भवत: छन्दशास्त्र का विकास, कामगण और बाणगण की स्थापना उस समय तक नहीं हो पायी थी ।

छन्दशास्त्र के आधारभूत नियम, गुण, अलंकार आदि अवयवों का वर्णन हमें भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है । परवर्ती काल में छन्द-शास्त्र का विकास वटवृक्ष के रूप में हमें शारंगदेव के काल तक आते-आते मिलता है ।

भरत ने गीतकों और ध्रुवागान के पदों में छन्दों और तालों का निश्चित निरूपण किया है ।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मार्गीय गान पद्धति में छन्द का विशेष स्थान था ।

(उ) आधुनिक तालों में छन्द का निरूपण :

छन्दों के विकास के बारे में दो प्रकार की मान्यता को विद्वानों ने लिखा है । एक प्रकार में छन्दों के उद्भव का सम्बन्ध पौराणिक कथा से जोड़कर ब्रह्माजी को उसका आदिस्रोत बताया गया है । दूसरा प्रकार वैज्ञानिक ढंग से आदिमानव से जोड़ा गया है । हमारी चर्चा का विषय वैज्ञानिक दृष्टिकोण से छन्द के इतिहास के बारे में विचार करना है।

आदिम मानव अपने मूल भावों की तृप्ति होने पर, अथवा प्रकृति के सान्निध्य में किसी दृश्य को देखकर अथवा अनुभव करके जब आनंदातिरेक में झूमता था, कूदता था, हाथ-पैर हिलाता था और मुख से विविध प्रकार की ध्वनियाँ निकालता था, तब उसकी इन सारी क्रियाओं में ही छन्द और संगीत के बीज छिपे हुए थे ।

आदिमानव ने अपने भावों के प्रगटीकरण के लिए एक विशेष गति में हाथ और पैरों को हिलाया । उसके हाथों का हिलाना आवर्तक रूप में होता था । यह आवर्तक रूप ही ताल का जनक है । ताल के निर्माण में एक निश्चित गति, निश्चित क्रिया खण्डों के आवर्तन का विशेष स्थान है । इन आवर्तनों के बिना ताल के स्वरूप का प्रगटीकरण हो ही नहीं सकता ।

छन्द के निर्माण में भी एक विशेष स्थान पर विशेष मात्रा, अथवा वर्णों की संख्या के बाद यति होती है । उसकी विशेष गति होती है और उसका बार-बार आवर्तन होता है । यह आवर्तन वैदिक छन्दों और अपवादस्वरूप कुछ अन्य छन्दों को छोड़कर, छन्द के स्वरूप के प्रगटीकरण के लिए अत्यावश्यक है ।

भाषा और संगीत दोनों की जननी ध्वनि ही है। नादात्मका

वाक् से संगीत की और वर्णात्मिका वाक् से भाषा की उत्पत्ति हुई - ऐसी मान्यता संसार के सभी विद्वानों की है । आदिम मानव को जब वर्णात्मिका ध्वनियाँ मिल गयीं, तब उन ध्वनियों का विकास वर्ण, शब्द, वाक्य और भाषा के रूप में हुआ ।

इस प्रकार ताल को जब भाषा मिल गई, तब आदिम छन्द की उत्पत्ति हुई होगी । छन्द अथवा ताल में यह सारी क्रियायें आवर्तक रूप में ही होती हैं । लयबद्ध और निश्चित मात्राओं पर यति के आवर्तन से ही ताल का निर्माण हुआ । इसी प्रकार सरल वाक्यों के लयबद्ध आवर्तन से ही छन्द का रूप बना होगा । इन आवर्तनों का कालखण्ड भी प्रारम्भ में दो, तीन, चार मात्रा-काल में होता होगा । इस प्रकार मात्रिक छन्दों का प्रारम्भ हुआ । प्रत्येक क्रिया को आवर्तन के रूप में करने की मानव की सहज प्रकृति है । इसी कारण से आवर्तक छन्द पहले बने । मानव की बुद्धि का जब विकास हुआ, शास्त्रों का निर्माण हुआ और गणों का निर्माण भी उसने कर लिया, तब वर्णवृत्तों का निर्माण सम्भव हुआ होगा । इन गणों के आधार पर सरल और व्युत्क्रम रूप से, लघु और गुरु के सहयोग के अथवा बिना सहयोग के विविध प्रकार के छन्दों का निर्माण हुआ । संगीत में भी निरर्थक अक्षरों के आधार पर स, रे, ग, स, रे, ग, म, स, रे, ग, म, प आदि त्रिवार्णिक, चतुर्वार्णिक एवं पंचवार्णिक जैसे छन्दों का निर्माण हुआ ।

वैदिक छन्द वर्ण-संख्याओं के आधार पर ही बने । संस्कृत के छन्द अधिकांशतः वर्णवृत्तों के आधार पर ही बने । वर्णवृत्तों में तुकान्त होना आवश्यक नहीं था । प्राकृत में मात्रिक छन्दों का बाहुल्य है । अपभ्रंश में मात्राधारित-तालछन्दों का प्रयोग हुआ है । अपभ्रंश से विकसित छन्द थे - डिंगल छन्द । डिंगल छन्दों की पढ़न्त के समय, तालवाद्यों का प्रयोग अथवा ताली देकर ताल का प्रयोग दिखाना आवश्यक था । यह

परम्परा राजस्थान और ब्रज में भी बहुत काल तक रही, परन्तु बाद में लुप्त हो गयी । परन्तु डिंगल कवियों ने उसे आज भी गुजरात में सुरक्षित रखा है । गुजराती भाषा के 'बृहत पिंगल' नामक ग्रन्थ में किस छन्द में किस ताल का प्रयोग हो, इसका भी निरूपण किया गया है । इसी परम्परा का कुछ रूप हमें बुन्देलखण्ड में आल्हा के पाठ और महाराष्ट्र में पवाड़ा के पाठ के अवसर पर ताली अथवा ढोलक बजाकर, ताल छन्द के स्वरूप में दिखाई देता है । पाठ के विषय में पाठ के लिए सुस्वर और लययुक्त होना आवश्यक है, इसके शास्त्रोक्त नियमन के विषय में मैं पहले लिख चुकी हूँ ।

उपरोक्त परम्पराओं के आधार पर ही डॉ० वेलण्कर और डॉ० व्यास ने भी छन्दों के पाठ में ताल-वाद्यों का प्रयोग होता था - ऐसा लिखा है ।[1]

मात्रिक छन्दों की परम्परा बहुत पुरानी है । भरतमुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र में दो मात्रिक (आर्या, वानवासिका) छन्दों का वर्णन किया है । परवर्तीकाल में 16 मात्रा के जो छन्द बनें, उनका मूल सम्भवतः वानवासिका नामक छन्द में ही था । मात्रिक छन्द में लय मूलरूप से रहती ही है । आवर्तन मात्रिक छन्द की विशेषता है । मात्रिक छन्द सहज रूप में विकसित हुए और वर्णवृत्त मानव की बुद्धि के श्रम का फल है । वर्णों की ह्रस्व-दीर्घ, लघु-गुरु, दो प्रकार की संज्ञायें प्रयोग में आती हैं । कई बार साधारण रूप से लोग ह्रस्व-दीर्घ को लघु-गुरु का पर्यायवाचक समझते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है । ह्रस्व-दीर्घ का संबंध व्याकरण

---

1. भा०सं० में ताल छन्द

से है । उनका प्रयोग उच्चारण कैसे हो, इसलिए किया जाता है । लघु-गुरु यह संज्ञायें संगीत और साहित्य दोनों में प्रयुक्त होती हैं । लघु-गुरु का प्रयोग तालक्रिया और उच्चारण के काल की लम्बाई से सम्बन्धित है ।

तालों के आधार पर बने छन्दों को हम ताल-छन्द कह सकते हैं । इन छन्दों का नियमन तालसूचक गण और यति के आधार पर ही होता था । तालों का निर्माण तो मात्रा संख्या, यति, गण, लघु-गुरु के आधार पर ही होता है । एक ही मात्रा संख्या वाले कई ताल हैं । परन्तु उनकी मात्रिक यतियाँ भिन्न-भिन्न हैं । यद्यपि पूरे आवर्तन का कालखण्ड एक बराबर होता है, परन्तु उनकी भिन्नता यति के आधार पर स्पष्ट दिखाई देती है । इन छन्दों के वर्णों का काल-नियमन ताल की मात्राओं से होता है ।

ताल-छन्दों की विशेषता -

1. सम्पूर्ण मात्रा संख्या के साथ-साथ विशिष्ट मात्रा खण्डों का सृजन ।
2. विशिष्ट स्थानों पर विशिष्ट गणों का विधि-निषेध ।

उदाहरण के लिए मात्रिक छन्दों में ताल के एक आवर्तन की समाप्ति के बाद, यदि समाप्ति लघु से हुई है तो दूसरे आवर्तन का आरम्भ प्राय: 5 से ही होता है । इस प्रकार तालखण्ड अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। जैसे - पादाकुलक छन्द में पहले तालखण्ड का प्रारम्भ लघु से होकर 5 पर समाप्त होता है, दूसरा 5 से प्रारम्भ होकर 5 पर ही समाप्त होता है। तीसरा खण्ड लघु से प्रारम्भ होकर 5 पर समाप्त होता है और चौथा खंड लघु से प्रारम्भ होकर गुरु पर समाप्त होता है । इस व्यवस्था में हम देखते हैं कि पहले खण्ड की अन्तिम मात्रा और अगले खण्ड की पहली मात्रा लघु नहीं होती । क्योंकि दोनों मात्रायें यदि लघु रहेंगी, तब व्याकरण-

शास्त्र के अनुसार दीर्घ हो जायेगी और तालखण्ड अलग-अलग नहीं मालूम होगे। इस प्रकार ताल के अगले आवर्तन की पहली मात्रा बलहीन नहीं हो सकेगी। इसी कारण 'बृहद् पिंगल' में ताल-छन्दों में जगण से ताल प्रारम्भ करने का निषेध है।

छन्दों में रासक और चर्चरी छन्दों का भी वर्णन है। संगीत-रत्नाकरकार ने अपने प्रबन्धों में रासक और चर्चरी प्रबन्धों का भी वर्णन किया है। यह प्रबन्ध रासक और चर्चरी ताल में ही गाने-बजाने का आदेश शारंगदेव ने दिया है। यह दोनों छन्द लोकगीतों में प्रयुक्त होते थे, इसलिए हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि इन प्रबन्धों का निर्माण लोक-संगीत के आधार पर ही हुआ होगा।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ताल और छन्द का सम्बन्ध प्रारम्भिक काल से चला आ रहा है। छन्दों और तालों का निर्माण अन्योन्याश्रित रूप में ही प्राचीन काल से संगीत और साहित्य के आचार्य करते रहे हैं। यह बात आज के युग में सम्भवतः कुछ लोगों को सन्देहात्मक प्रतीत हो सकती है। प्राचीन काल से लेकर मध्ययुग तक संगीत के आचार्य साहित्य के भी पूर्णरूप से ज्ञाता होते थे और इसी प्रकार साहित्यशास्त्री भी संगीत पक्ष को समझते थे। प्राचीन काल की बात न करके, 18वीं शताब्दी के श्रेष्ठ साहित्यशास्त्री महाकवि देव संगीत के भी धुरन्धर ज्ञाता थे, जिनसे सदारंग जैसे संगीत के मूर्धन्य कलाकार ने भी संगीत और साहित्य की शिक्षा ली थी। इसका उल्लेख सदारंग के शिष्य, भतीजे और दामाद अदारंग (फीरोजखाँ) ने अपनी हस्तलिखित पुस्तक में किया है। यह पुस्तक रामपुर राज्य की लाइब्रेरी में सुरक्षित है - ऐसा आचार्य बृहस्पति ने लिखा है।

प्राचीन काल और मध्ययुग के जितने भी संगीत विषयक ग्रन्थ

संस्कृत में लिखे गये हैं, वे सभी कविता में ही लिखे गये हैं । इससे भी यह तथ्य उजागर होता है कि संगीतशास्त्रियों के लिए साहित्य अछूता नहीं था और उनका साहित्य पर भी पूरा अधिकार होता था । इसीलिए विभिन्न प्रबन्धों, अष्टपदियों और स्फुटों की रचना तालों के आधार पर ही हुई । मध्ययुग में जब प्रबन्ध गायकी का ह्रास हो गया और ध्रुवपद गायकी का उदय हुआ जिसकी भाषा हिन्दी थी, तब ध्रुवपद के श्रेष्ठ ~~गायक~~ वाग्गेय-कार नायक बैजू (आचार्य बैजनाथ) ने ध्रुवपद गायकी के योग्य एक छन्द का निर्माण किया । उन्होंने अपनी अधिकांश श्रेष्ठ ध्रुवपदों की रचना उसी छंद में की है और उस छन्द का नाम है - घनाक्षरी । बाद के काल में हिंदी भाषा के कवियों को यह छन्द इतना रुचिकर लगा कि उन्होंने भी ब्रजभाषा में असंख्य पदों की रचना इसी छन्द में की है । हिन्दी के कई विद्वानों ने घनाक्षरी छन्द के निर्माता सूरदासजी को माना है । मेरा उनसे मतभेद है! मेरा नम्र निवेदन है कि नायक बैजू का काल महाकवि सूरदास से काफी प्राचीन है । इस प्रकार ताल और छन्दों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, इस तथ्य में कोई शंका नहीं दीखती है ।

छन्दों में ताल का निरूपण करने से पहले एक-दो बातें हमें और ध्यान में रखनी होंगी ।

वर्णवृत्तों में लघु-गुरु की इकाई की स्थिति निश्चित होती है, वह बदली नहीं जा सकती । इसके विपरीत मात्रावृत्त में मात्रा निश्चित होती है । लघु-गुरु की स्थिति इन छन्दों के भिन्न-भिन्न पादों में अथवा भिन्न पद रचनाओं में भिन्न-भिन्न हो सकती है ।

जिस प्रकार वर्णवृत्तों में लघु-गुरु का क्रम निश्चित है, ठीक उसी प्रकार से मार्ग तालों में लघु-गुरु का क्रम निश्चित है । देशी तालों में भी, जिनका वर्णन हमें संगीतरत्नाकर में मिलता है, लघु-गुरु का क्रम निश्चित है ।

आजकल के व्यवहार में प्रचलित तालों में मात्रा-संख्या और मात्रा-खण्डों का ही महत्व है। इस प्रकार हम तालों को दो वर्गों में बांट सकते हैं। एक वह वर्ग जिसमें मार्ग और देशी ताल होंगे, जिनकी लघु-गुरु की स्थिति निश्चित है। दूसरा वह वर्ग होगा जिसमें आज के प्रचलित ताल होंगे, जिनमें मात्रा-संख्या और मात्रा-खण्ड तो निश्चित हैं परन्तु लघु-गुरु की स्थिति का कोई निश्चित नियम नहीं है। आधुनिक तालों का निर्माण लघु के आधार पर ही हुआ है। लघुमान एक मात्रा-काल है। दीपचन्दी और धमार जैसे अपवादों में गुरु का प्रयोग हम देख सकते हैं, परन्तु कण्ठक्रिया निःशब्दा है। उदाहरण का लम्बा करके ही प्रयोग होता है। इन प्रचलित तालों में भी, जिनमें मात्रा-संख्या की ही प्रधानता है, एक ही मात्रा-संख्या वाले तालों में मात्रा-खण्डों के विभाजन और विराम के स्थान बल-अबल अलग-अलग हैं। छन्दों में भी वर्णगणों की समानता होने पर भी पाठ की लय में भेद होने पर लय-भेद के कारण छन्द भिन्न हो जाते हैं। उदाहरण के लिए चार सगण वाला तोटक छन्द और आठ सगण वाला दुर्मिल-सवैया छन्द अलग-अलग हैं, क्योंकि उनमें लय-भेद है। तोटक छन्द की गति सवैया की तुलना में द्रुत है, जोरदार है और उछलती हुई है। अतः इस छन्द का वीररस और रौद्ररस के लिए ही कवियों ने प्रयोग किया है। सवैया छन्द इसके विपरीत मन्द गति का होता है और उसकी चाल भी सरल होती है। तोटक छन्द 16 मात्रा का छन्द है। उसके मात्रा-खण्ड भी चार-चार मात्राओं के हैं। फिर भी तीन ताल, जिसमें 16 मात्रा भी हैं और चार-चार मात्रा के खण्ड भी हैं, लयभेद से तोटक के अनुरूप नहीं हो सकता, क्योंकि तीन ताल की चाल सरल है और तोटक छन्द की चाल उछलती हुई है। तीन ताल के अनुरूप सवैया छंद हो सकता है।

जिस प्रकार लयभेद से भिन्न-भिन्न छन्दों का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार एक ही मात्रा-संख्या और मात्रा-खण्डों वाले ताल भी

-भेद के कारण अलग-अलग बने । उदाहरण के लिए तीव्रा और रूपक, रा और दीपचन्दी, तिलवाड़ा और तीनताल - उपरोक्त तीनों ड़ियों में मात्रा-संख्या और विभाजन 3,2,2, 3,4,3,4, 4,4,4,4 है, परन्तु तीव्रा, झूमरा और तिलवाड़ा - इनकी लय विलम्बित है, का प्रयोग द्रुत लय में नहीं होता । इसके विपरीत रूपक, दीपचन्दी र तीनताल - यह मध्य और द्रुत लय के ताल हैं, इनकी गति चपल है। रवा, दादरा इनकी गति और चाल है । यह द्रुत गति में ही श्रोता आनन्ददायक लगते हैं ।

छन्दों में तालों का निरूपण करने के लिए छन्दों के मात्रा-डों, सम्पूर्ण मात्राओं और उनकी लय के अनुरूप दो तालों का चयन करना आवश्यक होता है । तालों में छन्दों का निरूपण दो प्रकार से होता । प्रथम - तालों की छन्दों के अनुरूप रचना के आधार पर और द्वितीय-न के बोलों-परनों की छन्दों के अनुरूप रचना । हम आगे दोनों ही ार के उदाहरणों को प्रस्तुत करेंगे ।

छन्दों में तालों के निरूपण से पहले एक विशेष तत्व पर हमें ार करना होगा, जिसका नाम है कर्षण । कर्षण का प्रयोग केवल संगीत ी होता है, छन्द या ताल में नहीं । परन्तु कर्षण फिर भी ताल और से सम्बन्धित है, इसलिए इसका विचार आवश्यक है । कर्षण का अर्थ - खींचना । संगीत में गायन और वादन के स्वरों को लम्बाने का नाम ा है । यह कर्षण गेय पद के किसी भी अक्षर, जो प्राय: गुरु होता है, ी गुरु मात्रा को लम्बा करके किया जाता है । कर्षण करते हुए गायक-क एक ही स्वर को खींचकर लम्बा कर सकता है और काल-खण्ड को सकता है, अथवा कर्षण में कई स्वरों का प्रयोग, मींड़, मुर्की आदि त के सौन्दर्य-वृद्धि के तत्वों का समावेश करके कर सकता है । ध्रुवपद-

शैली की गायकी में इस कर्षण का प्रयोग होता है, परन्तु अधिक लम्बा कर्षण नहीं होता है । विलम्बित ख्याल की गायकी में कई-कई मात्रा-काल का कर्षण किया जाता है । कर्षण एक ओर जहाँ गायन-वादन की सौन्दर्य-वृद्धि का साधन है, वहीं कई बार ताल-व्यवस्था के लिए भी आवश्यक है । तालों में भी कर्षण का प्रयोग होता है, जैसे - दीपचन्दी के ठेके में दूसरी, छठी, दसवीं, तेरहवीं मात्रा के बोल का कर्षण करके अगली मात्रा-पूर्ति होती है ।

छन्दों की तत्सम तालों का चयन करने में एक विशेष दृष्टिकोण अपनाना होगा । केवल मात्रा-संख्या अथवा वर्ण-संख्या को आधार मानकर ही तत्सम रूप नहीं चयन किये जा सकते । छन्द की लय, यति, मात्रा अथवा वर्ण-संख्या आदि सभी पर ध्यान देकर ही हम तद्रूप ताल खोज सकेंगे ।

सभी छन्द जो आज प्राप्य हैं, उनमें से कुछ के सटीक रूप से लय मात्रा और वर्ण-संख्या आदि के अनुरूप ताल आज प्राप्य नहीं हैं। हाँ, छन्दों में जिन लयों का बर्ताव होता है, उन सभी लयों का बर्ताव श्रेष्ठ मार्दंगिक करते रहे हैं और यह बात उनकी बन्दिशों में ढूंढी जा सकती है। तत्सम तालों का चयन करने में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आधुनिक प्रचलित तालों की प्रत्येक मात्रा का मान एक लघु होता है । तालों की बन्दिशों के पाठ की सुगमता के लिए उनके ठेकों अथवा परनों का उच्चारण ह्रस्व या दीर्घ किसी भी प्रकार से करने की छूट है । उदाहरण के लिए चार ताल के ठेके की पहली चार मात्राओं को देखें । धा धा दिं ता - इन चार वर्णों में प्रथम दो और चौथे वर्ण का उच्चारण दीर्घ होता है और तीसरे वर्ण दिं का उच्चारण ह्रस्व होता है । परन्तु इन चारों वर्णों का मात्रा-मान एक-एक लघु ही है । ताल वर्णों के उच्चारण की यह छूट भरत-

मुनि ने नाट्यशास्त्र में तालवर्गसमूह के, जैसे -झन्ट्, दिगदिग आदि के उच्चारण के बारे में व्याख्या करते हुए दी है । इसके विपरीत छन्दशास्त्र में यदि हम दीर्घ अक्षर का प्रयोग करेंगे, तो इनका मूल्य मात्रिक छन्दों में गुरु अर्थात् दो मात्रा का हो जायेगा । ताल में प्रयुक्त अनुस्वार अथवा हलंत् अक्षर का मूल्य नहीं होता और उसको अवनद्ध वाद्य के ऊपर पृथक् आघात देकर बजाया भी नहीं जाता ।

कुछ तालों के ठेकों में एक वर्ण का आघात करके उसकी ध्वनि से ही उससे अगली मात्रा की पूर्ति की जाती है । इस पूर्ति का कालखण्ड एक मात्रा का होता है । उदाहरण के लिए दीपचन्दी के ठेके में तीसरी मात्रा, सातवीं मात्रा, दसवीं मात्रा और चौदहवीं मात्रा की पूर्ति, उनसे पहली मात्रा के आघात से की जाती है और उपरोक्त मात्रा पर कोई आघात नहीं दिया जाता । इसी प्रकार धमार के ठेके में सातवीं और चौदहवीं मात्रा-ध्वनि से ही पूर्ति होती है । इसको हम ताल-विधान में भी कर्षण के रूप में देख सकते हैं ।

ठेका दीपचन्दी

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
धा	धी	ऽन	धा	धा	धी	ऽन	ता	ती	ऽन	धा	धा	धी	ऽन

ठेका धमार

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
क	धि	ट	धि	ट	धा	ऽ	ग	ति	ट	ति	ट	ता	ऽ

कई ठेके ऐसे भी हैं जिनमें आधी मात्रा-काल अकार अथवा ध्वनि से ही पूरा किया जाता है । जैसे - कव्वाली ताल

ठेका कव्वाली, सितारखानी या कव्वाली -

1	2	3	4	5	6	7	8
तार्धि	ऽता	तार्धि	ऽता	तार्धि	ऽता	तार्धि	ऽता

(ताल दीपिका, तीसरा भाग)

छन्द के ग्रन्थों में दो मात्रा से लेकर 36 मात्रा तक के आवर्तन वाले छन्द प्राप्त हैं। इनमें से अधिकांश छन्द न तो प्रयोग में ही आते हैं और न ही ताल छन्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार दो मात्रा से लेकर 120 मात्रा तक के तालों का वर्णन तालशास्त्र में और श्रेष्ठ मार्दंगिकों के द्वारा बताया गया है। तीन मात्रा के पटताल को मार्दंगिक व्यवहार में लाते थे। इस ताल का ठेका इस प्रकार है -

1	2	3
धागे	तिट	कत

इस ताल का वर्णन संगीतरत्नाकर में 'षटताल' के नाम से किया गया है - "द्रुतभिः षडभिस्तु षटतालः"। इस ताल का निर्माण 6 द्रुतों के द्वारा होता है। पटताल के ठेके की रचना भी मार्दंगिकों ने 6 द्रुत वर्णों के द्वारा ही की है। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण-काल $\frac{1}{2}$ लघु के बराबर एक द्रुत कालमान में किया है। परन्तु इसकी गति, लय के अनुरूप कोई भी छन्द हमें नहीं मिलता।

तीन मात्रा का कमल छन्द -

कमल छन्द का निर्माण तीन (।।।) से होता है। मुंशी भिखारीदास ने 'छन्दार्णव' के पृष्ठ 182 पर कमल छन्द का उदाहरण इस प्रकार दिया है -

चरण । गरण । अमल । कमल

इस छन्द की गति और मात्राखण्ड 'दादरा ताल' की गति और खण्ड के अनुरूप है। दादरा ताल 6 मात्रा का है, जिसके तीन-तीन मात्राओं के दो खण्ड हैं। कमल छन्द दो आवर्तन में दादरा ताल में सटीक रूप से बैठता है। जैसे -

कमल छन्द ------ चरन, वरन। {छन्दार्णव, पृ0 182}
दादरा का ठेका - धाधीना, धातूना

12 लघु अक्षरों से निर्मित 'तरल नयन' छन्द भी दादरा ताल के अनुरूप है। इस छन्द में 6 मात्रा पर यति है। दादरा ताल इस छन्द में दो आवर्तन में ठीक प्रकार से आता है। तरल नयन का उदाहरण -

कमल वदनि, कनक वरनि। {छन्दार्णव, पृ0191}

कुछ विद्वानों ने 24 मात्रा और 16 अक्षरों वाले 'पंचचामर छन्द' को भी दादरा ताल में फिट करने की चेष्टा की है, परन्तु 'पंचचामर छन्द' की गति दादरा ताल के अनुरूप नहीं है।

चार मात्रा के दो छन्द रमणी और मन्दर छन्द 'छन्दार्णव' में पृष्ठ 182 पर मिलते हैं, जिनके उदाहरण निम्न हैं -

1. रमणी छन्द - {115}

धरनी वरनी रमनी रमनी।

2. मन्दर छन्द - {511}

स्यावत त्यावत चन्दर मन्दर।

इसके लिए चौ या ख्याल का 8 मात्रा का ठेका उचित रूप से बैठता है।

ठेका ख्याल या चौग - मात्रा 8

1	2	3	4	5	6	7	8
ता	धिं	नग	धिं	ता	तिं	अऽ	धिं

(ताल दीपिका, भाग-3, पृ0 8)

उपरोक्त ठेका छन्दों के दो आवर्तन में आता है ।

हरि छन्द - चार मात्रा (।।।।)

जगमहिं सुखनहिं भ्रमतज हरिभज

तीन ताल का अद्दा ठेका जिसे कहा जाता है अष्टमात्रिक इस छन्द के अनुरूप है ।

अद्दा ठेका -

1	2	3	4	5	6	7	8
ना	धिं	ना	धिं	ना	तिं	ना	धिं

मध्ययुग में तीन ताल 8 मात्रा का ताल माना जाता था । 16 मात्रा के तीन ताल को 'धीमा त्रिताला' कहा जाता है । विष्णु दिगम्बर पद्धति में और मार्दंगिक आज भी तीन ताल की 8 मात्रा ही मानते हैं । दो आवर्तन में उपरोक्त ठेका, छन्द के पूर्णतया अनुरूप है ।

वीर छन्द - (।।ऽ।), मात्रा 5

हम्मीर अरुभीर बरधीर रघुबीर ।

(छन्दार्णव, पृ0 183)

यह छन्द निम्न ढंग से पढ़ा जाता है और झपताल में ठीक रूप से दो आवर्तन में आता है -

1 2	3 4 5	6 7	8 9 10	
ह रु	पी ऽ र	अ रु	भी ऽ र	(वीर छंद)
धी ना	धी धी ना	ती ना	धी धी ना	(ठेका झपताल)

मदनक छन्द - मात्रा 6 (||||||)

तरुनि चरन । अरुन वरन । हृदय हरन । मदन करन

(छन्दार्णव, पृ० 185)

यह छन्द दादरा ताल में सटीक रूप से बैठता है ।

सात मात्रा के तीन छन्द - शुभगति, रंगी और क्रीड़ा प्रकार में मिलते हैं । इन तीनों छन्दों की गति और लय 'रूपक ताल' के अनुरूप है। उदाहरण -

कृ पाऽ | सिंऽ | धोऽ | दीऽ न | बंऽ | धोऽ (शुभगति छन्द, 1ऽऽऽ
छन्दार्णव, पृ० 185)

रा ऽ ग | रं ऽ | गी ऽ | श्या ऽ म | सं ऽ | गी ऽ |

(रंगी छन्द, ऽ1ऽऽ)

यु गे ऽ | चा ऽ | रो ऽ | ह री ऽ | ता ऽ | रो ऽ |

(क्रीड़ा छन्द, 1ऽऽऽ,
छंदप्रभाकर, पृ० 120)

उपरोक्त तीनों छन्दों में गुरु अक्षरों के आगे अवग्रह लगाकर हमने उनके दो मात्रा मान को लिखा है । रूपक के ठेके का विभाजन और गति उपरोक्त छन्दों के अनुसार ही है ।

1 2 3	4 5	6 7
तिं तिं ता	धिं धिं	धा धा

तिन्ना छन्द, वार्णिक छन्द है, मात्रा 8 = §5555§, §छन्दार्णव,पृ0 186§

धर्मज्ञाता निर्भयदाता तृष्नाहिन्नों जीवैतिन्नो

तत्सम 8 मात्रा का ठेका लावनी

1	2	3	4	5	6	7	8
धिंधी	नाधिं	नातिं	नागेतिट	तिंती	नाधिं	नातिं	नागेतिट

§ताल दीपिका, भाग-2, पृ0 16§

मधुमति छन्द - मात्रा 8 §1111115§

तपनिकस्त हो । धरि कब सिर हो ।
विमल वनलती । सुरभि मधुमती ।

इस छन्द का एक पाद 8 मात्रा का है । इस छन्द की गति तीन ताल जैसी है । इस छन्द के लिए 8 मात्रा वाला तीन ताल, जिसको हम अद्धा त्रिताला के नाम से लिख चुके हैं, ठीक बैठता है ।

सम्मोहा छन्द - मात्रा 10 = §55555§,§छन्दार्णव, पृ0 187§

उदाहरण -

जो ह्वै चाहो सन्ता । जो मेरे कन्ता ।
तो भंजो कोहा । लोभा सम्मोहा ।।

उपरोक्त छन्द का 5 गुरुओं से निर्माण हुआ है । उसूलेफाक्ता ताल, जिसे सूलताल कहते हैं, 10 मात्रा का ताल है । इसमें दो-दो मात्राओं का विभाजन है । मृदंगिक संगीतरत्नाकर में वर्णित ढ़ेकीताल और सूलताल को एक ही मानते हैं । सूलताल का प्रयोग ध्रुवपद गायकी और पखावज-वादन में ही दिखाई देता है । अतः मैं सूलताल का पखावज का ठेका ही लिख रही हूँ । सूलताल का गठन-चलन इस छन्द के अनुरूप है ।

ठेका सूलताल -

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
धा	धा	दिं	ता	तिट	धा	तिट	कत	गदि	गिन

सम्मोहा छन्द में 5 मात्रा खण्ड हैं, जो 5 गुरु अथवा 10 लघु से निर्मित हुए हैं। गति सरल है। सूलताल इसके बिल्कुल अनुरूप बैठता है।

कमल छन्द - मात्रा 10 (।।,।।।।।।,ऽ), (छन्दार्णव, पृ0 188)

उदाहरण -

कब | अँखियन | लखिहौं | अरु | भुज भरि | रखिहौं |

इस छन्द में तीन मात्रा खण्ड हैं, 2, 6 और 10 पर यति है। 10 मात्रा के करालमंच ताल में 10 मात्रायें हैं। इसका मात्रा-खण्ड भी 2,4,4 है -

ठेका ताल करालमंच -

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
धा	तिट	किट	तक	दिं	ता	तिट	कत	गदि	गिन

(तालदीपिका, भाग-3, पृ0 9)

शिष्या छन्द - मात्रा 14 (ऽऽऽऽऽऽऽ), (छन्दार्णव, पृ0 192)

इस छन्द का निर्माण सात गुरुओं से हुआ है। आड़ाचार ताल 14 मात्रा का ताल है। इसमें 2,2 मात्रा के सात विभाग हैं। गति सरल है। अतः यह शिष्या छन्द के बिल्कुल अनुरूप है।

उदाहरण -

मीं चो बाँधी जाके ही | नाहीं वाचो ताको जी |

ठेका आड़ाचार ताल -

धिं त्रक | धी ना | त ना | क त्ता | धी धी | ना धी | धी ना

शुद्धगा छन्द - मात्रा 14 {1555, 1555}, {छन्दार्णव, पृ0 194}

इसके दो खण्ड हैं, जो एक लघु और एक मगण से बने हुए हैं। इनमें 3, 2, 2, 3, 2, 2 पर यति है। अत: यह छन्द रूपक ताल के पूर्णतया अनुरूप है।

उदाहरण -

अरी | कान्हा | कहाँ | जइहे

ठेका रूपक -

1	2	3		4	5		6	7	
ती	ती	ना	|	धी	ना	|	धी	ना	|

{तालदीपिका}

हरणी छन्द - मात्रा 15 {151151151151}, {छनदार्णव, पृ0 195}

इस छन्द के मात्रा खण्ड 3, 4, 4, 4 हैं। इन्हीं मात्रा खण्डों से बना हुआ ताल 15 मात्रा की स्वारी है। इसमें 3, 4, 4, 4 ऐसे विभाजन हैं। अत: यह ताल हरणी छन्द के बिल्कुल अनुरूप बैठता है।

उदाहरण -

बसे 5, उर अं, तर में 5, नित ही 5, |

इसमें अवग्रह लगाकर गुरु अक्षर की दो मात्रा दिखाई है।

ठेका सवारी-

1	2	3		4	5	6	7		8	9	10	11	
धी	ना	धीधी	।	क्त	धीधी	नाधी	धीना	।	तीक्ड़	तीना	तिरकिट	तूना	।

12	13	14	15
कत्ता	धीधी	नाधी	धीना

16 मात्रा के विद्युन्माला छन्द, मत्ता छन्द, चक्र छन्द, तीन ताल में उचित ढंग से बैठते हैं। इनकी गति भी तीन ताल के अनुरूप है।

विद्युन्माला छन्द - मात्रा 16 (55555555), (छन्दार्णव,पृ0 196)

उदाहरण - दूजै कोप्यो वासौ भारी

मत्ता छन्द - मात्रा 16 (5555।।।।,55), (छन्दार्णव,पृ0 196)

उदाहरण - आयो आली विषम वसंता

चक्र छन्द - मात्रा 16 (5।।।।।।।।।।।।5), (छन्दार्णव,पृ0 97)

उदाहरण - देव चतुरभुज चरनन परिये

उपरोक्त सभी छन्दों का मात्रा खण्ड 4,4 का है, जो तीन ताल के अनुरूप है।

16 मात्रा के ऐसे भी छन्द हैं, जिनकी गति कहरवा ताल के अनुरूप है। जैसे - कुसुमविचित्रा छन्द। इस छन्द का निर्माण चार लघु, दो गुरु, चार लघु, दो गुरु, से हुआ है। इस छन्द का चलन कहरवा ताल की तरह चपल उछलता हुआ है। आठ-आठ मात्रा के दो खण्डों में सातवीं मात्रा पर बल है।

उदाहरण - चलन कह्यो पै, मोहे डर भारी ।

कहरवा ताल की विशेषता है - सातवीं मात्रा पर बल । अत: लय और गति तथा बल के स्थान के कारण कहरवा ताल इस छन्द के अनुरूप है ।

मणिगुण छन्द 14 गुरु एक लघु से निर्मित होता है । 16 मात्रा हैं । इसमें भी चार-चार मात्रा पर यति है । इस छन्द की गति, यति तीन ताल के समान है ।

उदाहरण - अभिनव | जलधर | सम्तन | लस्तिम |

(छन्दार्णव, पृ० 178)

ठेका तीन ताल -

ता धिं धिं ता | ता धिं धिं ता | ता तिं तिं ता | ता धिं धिं ता |

ऊपर हमने आधुनिक प्रचलित तालों में छन्दों का निरूपण किया है । मध्ययुग में बहुत से ऐसे छन्द और ताल थे, जिनका प्रयोग अब नहीं होता है । उदाहरण के लिए रासक, चर्चरी आदि छन्द, जिनके अनुरूप रासक, चर्चरी प्रबन्ध भी बने और ताल भी बने, परन्तु आज उनका प्रयोग नहीं होता है ।

बहुत से ऐसे छन्द भी हैं, जिनका सटीक रूप से आज के प्रचलित ताल में बैठना कठिन है । परन्तु उन छन्दों का प्रयोग श्रेष्ठ मार्दंगिक अपनी परनों में किया करते थे । परन्तु अब वह छन्द-प्रयोग समाप्त होता जा रहा है ।

कुछ प्रचलित छन्द ऐसे भी हैं, जिनके अक्षरों पर अधिष्ठित स्वरों का कर्षण करके गायन और वादन में प्रयोग किया जाता है। साधारणत:

उनकी मात्रा अथवा वर्ण संख्या प्रयुक्त ताल के अनुरूप नहीं होती है । नीचे में उपरोक्त दोनों ही प्रकार के प्रयोगों के उदाहरण प्रस्तुत कर रही हूँ -

तोटक छन्द - तोटक छन्द का निर्माण चार सगणों के द्वारा हुआ है । यह वर्णवृत्त है । इसके पाद के अन्त में गति होती है । इस छन्द में 12 वर्ण होते हैं, जिनमें चार गुरु होते हैं । एक पाद में चार पाद भाग होते हैं। कई विद्वानों ने इसे 'दादरा ताल' अथवा 'त्रिताल' में ठूँसने की कोशिश की, परन्तु इसकी गति भिन्न है । प्रचलित आधुनिक तालों में इसकी गति के अनुरूप कोई ताल दिखाई नहीं देता । इस तोटक छन्द का बर्ताव श्रेष्ठ तबला वादक और मार्दंगिक अपनी बन्दिशों में करते हैं ।

उदाहरण - ति ट धा, ति ट धा, ति ट धा, ति ट धा,
| | 5 , | | 5 , | | 5 , | | 5 ,

तबले की उपरोक्त वर्णावलि चार सगणों से ही बनी है ।

द्रुतविलम्बित छन्द - (सुन्दरी छन्द)

इस छन्द का निर्माण एक नगण, दो भगण और एक रगण से हुआ है । यह भी 16 मात्रा का छन्द है । यद्यपि यह छन्द भी 16 और 12 वर्णों का है, परन्तु इसकी लय तोटक से भिन्न है । मार्दंगिक इस छन्द को भी अपनी बन्दिशों में प्रयोग करते हैं ।

उदाहरण छन्द का - इतर ताप शतान्यहेच्छया,
वितरतानि अहो चतुराननं । (छन्द प्रभाकर)

उदाहरण - क ति ट, धा ति ट, धा ति ट, धा त धा
| | |, 5 | |, 5 | |, 5 | 5

(तालदीपिका, भाग-3)

भुजंगप्रयातम् छन्द - इसका निर्माण चार यगणों से हुआ है । मात्रा मूल्य के हिसाब से इस छन्द का निर्माण 20 मात्रा और 12 वर्णों के द्वारा हुआ है । मात्राओं के आधार पर कई श्रेष्ठ विद्वानों ने इस छन्द को 'झपताल' के अनुरूप बैठाने की बात कही है । परन्तु मेरा उनसे नम्र निवेदन है कि झपताल की लय और भुजंगप्रयातम् छन्द की लय भिन्न है । इस छन्द की लय साँप की गति के अनुसार छन्दशास्त्रियों ने बाँधी है । इस छन्द की लय के अनुरूप कोई प्रचलित ताल प्राप्य नहीं है । श्रेष्ठ मार्दंगिक इस छन्द का प्रयोग करते रहे हैं ।

उदाहरण - कृ धि त्ता, कृ धि त्ता, कृ धा धा न्‌ | धा
I 5 5, I 5 5, I 5 5

(तालदीपिका, भाग-3)

शिखरिणी छन्द - इस छन्द का निर्माण एक यगण, एक मगण, एक नगण, एक सगण, एक भगण, एक लघु और एक गुरु से हुआ है । इसमें 25 मात्रायें होती हैं और 17 वर्ण होते हैं । इसमें 6 और 11 पर यति होती है । इस छन्द की लय, यति के अनुरूप कोई ताल ठीक नहीं बैठता है । इस छन्द का भी प्रयोग मार्दंगिक अपनी बन्दिशों में करते रहे हैं ।

उदाहरण - कृधा कद्दा तिद्दा कृधित्‌ तिट ताना तिन गिना

पंचचामर छन्द - इस छन्द का निर्माण जगण, रगण, जगण, रगण, जगण गुरु से हुआ है । यह 16 वर्ण और 24 मात्राओं से बना है । 16 वर्णों के हिसाब से कई विद्वानों ने इस छन्द को तीन ताल में बिठाया है । मेरा नम्र निवेदन है कि इसकी लय तीन ताल से भिन्न है । पंचचामर छन्द की लय उछलती हुई चलती है । इसके अनुरूप बन्दिशें श्रेष्ठ मार्दंगिक बनाते रहे हैं।

उदाहरण - धग्द धग्द धग्द धग्द कृधिट्ट धिट्ट धिट्ट धिट्ट | धा
I 5 I,5 I 5,I 5 I,5 I 5, I 5 I, 5

(तालदीपिका, भाग-4)

यह बन्दिश पंचचामर ताल के अनुरूप गणों में बनी है। इसकी चाल पंच-चामर छन्द के अनुरूप है।

नोट - उपरोक्त बन्दिश प्रथम धग्द से आरम्भ हुई है। अन्तिम धा ताल के पुनरावर्तन या सम का सूचक है।

नीचे मैं एक ऐसे छन्द का उदाहरण लिख रही हूँ, जिस छन्द का निर्माण ही संगीत के लिए किया गया है। घनाक्षरी छन्द का निर्माण नायक बैजू ने ध्रुवपद रचनाओं के लिए ही किया है। मनहरण घनाक्षरी में 31 मात्रायें एक पाद में होती हैं। एक पाद की रचना 8,8,8 और 7 वर्णों के आधार पर होती है। इसमें 9 और 15 मात्रा पर यति है। इस छन्द में कर्षण करके 8 मात्राओं और 7 मात्राओं को 12 मात्रा काल में करके ध्रुपद गाये जाते थे और धार ताल उसमें बजाया जाता था। इस प्रकार यह छन्द ध्रुवपद शैली की गायकी में 12 मात्रा के चौताल के अनुरूप कर्षण के द्वारा बनाया जाता है।

घनाक्षरी छन्द को ही बाद के काल में कवित्त के नाम से कहा जाने लगा। फखुरुल्लाह ने राजा मानसिंह तोमर द्वारा लिखित 'मानकौतूहल' नामक संगीत ग्रन्थ का अनुवाद फारसी में 'रागदर्पण' के नाम से किया है। इसमें भी उसने ध्रुवपद की गेय रचनाओं को कवित्त के नाम से पुकारा है। घनाक्षरी छन्द में बँधी हुई तीन ताल की बन्दिशें भी श्रेष्ठ तबला वादक बजाते हैं।

उदाहरण -

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
कित्तट	किटधा	ऽन	तिट	तिट	कृधा	तिट	धिट	कृधा	तिट

11	12	13	14	15	16	
धा	कृधा	तिट	धा	कृधा	तिट	। धा ।

(तालदीपिका, भाग-4)

उपरोक्त बन्दिश में भी आधी मात्रा का कर्षण तीसरी मात्रा पर आकार देकर किया गया है ।

उपरोक्त जितने भी छन्द मैंने लिखे हैं उनमें कुछ मात्रिक हैं, कुछ वार्णिक हैं और कुछ मात्रिक और वार्णिक दोनों वर्गों में आते हैं । छन्दों के तत्सम तालों की खोज में गणों, मात्राओं, मात्राखण्डों के अतिरिक्त ताल अथवा छन्द और दोनों की प्रकृति और चलन के ऊपर पूरा विचार करके तत्सम रूप मैंने खोजे हैं । छन्दों के तत्सम रूपों के अतिरिक्त छन्दों की यति, चलन और लय के अनुसार तालशास्त्रियों द्वारा परनों में जो छन्दों का बर्ताव किया जाता था, उसके भी कुछ उदाहरण देने की चेष्टा की है । इन उदाहरणों में छन्द का स्वरूप ताल वर्णों के द्वारा स्पष्ट दिखाई देता है । इस छन्द का प्रदर्शन तीनताल, चारताल, रूपताल आदि तालों में श्रेष्ठ मार्दंगिक करते रहे हैं । यह ठीक है कि उन छन्दों का सम्पूर्ण स्वरूप उन मौलिक तालों के तत्सम नहीं होता है । भारतीय संगीत पद्धति में लय-वैचित्र्य का प्रदर्शन करना गायक-वादक की विशेषता तो मानी ही जाती है, साथ ही यह लय-वैचित्र्य श्रोताओं के लिए भी आनन्ददायक होता है । श्रेष्ठ मार्दंगिक छन्दों के अनुरूप सार्थक परनें भी बजाया करतेथे। नीचे गीतांगी छन्द की एक परन का भाग लिख रही हूँ ।

गीतांगी छन्द सार्थक परन -

\+ । 0 ।
करके अंगन करक गये किन गढ़त नट नागर किधर ।

उपरोक्त परन तील ताल की है, जिसका एक आवर्तन मैंने लिखा है ।

उपरोक्त सारे वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है कि ताल और छन्द दो सहोदर भाई के समान हैं । मानव और संगीत के इतिहास से यह तो स्पष्ट है कि ताल की मूल लय का जन्म भाषा से पहले हो गया था और मात्रिक छन्दों का विकास भाषा के जन्म के बाद हुआ। वार्णिक छन्द का विकास भाषा के अतिविकसित होने पर ही सम्भव हुआ होगा । तालों का विकास भी इसी प्रकार धीरे-धीरे कितनी ही शताब्दियों में हुआ होगा । कितने ही छन्द मानव-बुद्धि ने हजारों वर्षों में बनाये होंगे। इसी प्रकार तालों की भी संख्या सैकड़ों में तो आज भी संगीतशास्त्र के ग्रंथों में मिलती है । 'स्वरसागर' के रचयिता सेनिया उस्ताद दूल्हाखाँ ने 16 सौ से अधिक तालों की संख्या बताई है और यह भी कहा है कि उनमें से प्रचार में केवल 16 ताल ही आजकल दीखते हैं ।

'सिल्लिपपी कारकम' नामक तमिल ग्रन्थ में एक स्थान पर एक लाख तालों के बारे में कहा गया है । 'सिल्लिपपी कारकम' की रचना लगभग एक हजार वर्ष पहले हुई थी । उस समय तक भारतीय संगीत पद्धति, उत्तर और दक्षिण - दो भागों में नहीं बँटी थी । यह पुस्तक एक उपन्यास जैसी है । इसलिए हम यह कह सकते हैं कि एक लाख की संख्या में अतिशयोक्ति हो सकती है । 'मृदंगसागर' के रचयिता श्री घनश्याम पखावजी ने लिखा है कि "मृदंग-सम्राट श्री कुदऊ सिंह जी ने रीवां-नरेश राजा विश्वनाथ सिंह को पूछने पर बताया था कि उनकी तालीम 350 तालों की हुई है और 250 तालों पर उनका पूर्ण अधिकार है और इन तालों को श्री कुदऊ जी ने रीवां-नरेश के सम्मुख वादन करके दिखाया था ।"

परन्तु आज के श्रेष्ठ तबला-वादक भी 10-12 तालों से अधिक नहीं बजाते हैं और गायक भी 8-10 तालों की बन्दिशों को ही प्राय: गाते हैं।

इसी प्रकार छन्दों की भी संख्या छन्दशास्त्रियों ने हजारों में लिखी है, परन्तु प्रचार में बहुत कम हैं । कई छन्दों का गायन-वादन तो अब केवल लोकसंगीत में ही देखने को मिलता है । आचार्य केशवदास ने मध्ययुग में अपनी 'रामचन्द्रिका' की रचना में बहुत से छन्दों का प्रयोग किया है । आधुनिक युग के खड़ीबोली के कवि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने भी अपने काव्यग्रन्थों में काफी छन्दों का प्रयोग किया है । परन्तु यह अपवादस्वरूप ही माना जाता है । अधिकांश पूर्ववर्ती और आधुनिक श्रेष्ठ कवियों ने केवल गिनती के ही छन्दों का प्रयोग किया है । लोक-संगीत में अधिक संख्या छन्दों की मिलती है । यह बात ठीक है कि वे छन्द स्वल्प मात्रा अथवा वर्णों के हैं, जैसे - 6 मात्रा अथवा 8 मात्रा । परन्तु उनमें यति, मात्रा खण्ड के भेद स्पष्ट दिखाई देते हैं । एक ही मात्रा अथवा वर्ण संख्या वाले असंख्य छन्द इस यति और मात्रा खण्ड के आधार पर बने हैं । इन छन्दों के आधार पर बनी गेय रचनाओं की संगति के लिए ही नये-नये तालों अथवा ताल वर्णों में छन्दों के अनुसार बँधी हुई परनों, बाँटों, कायदों और लग्गियों का निर्माण तालशास्त्रियों ने किया है ।

जैसे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कब और किसके द्वारा किस छन्द का निर्माण हुआ, ठीक इसी प्रकार यह भी कहना कठिन है कि किसके द्वारा और कब किस ताल का निर्माण हुआ । परन्तु यह तथ्य निश्चित रूप से स्पष्ट है कि ताल-वादन गेय पद-रचना का अनुवर्ती होता है, इसलिए छन्दों ने ताल-निर्माण में काफी योगदान दिया है ।
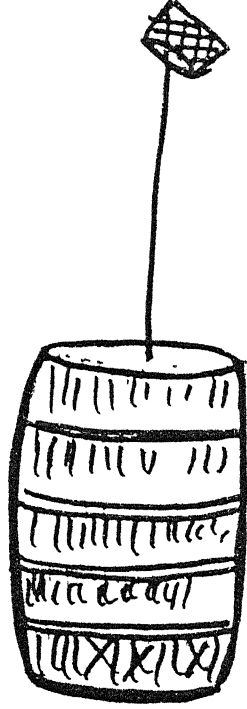
उपंग (आनन्द लहरी)
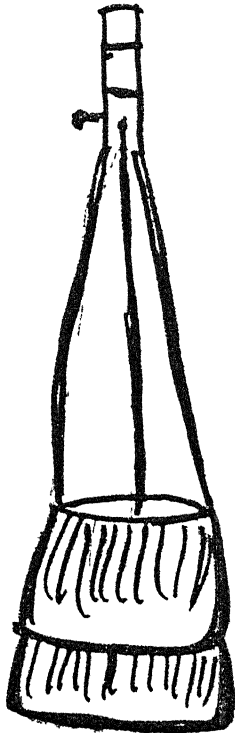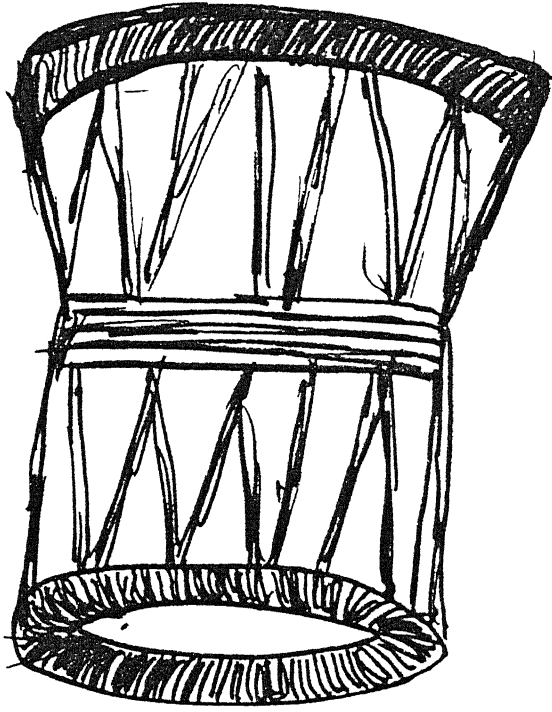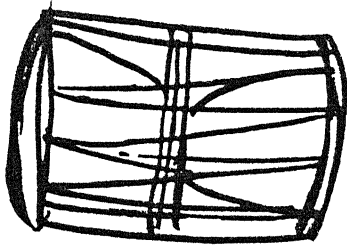
गोपी यंत्र

तबिल

छोटा हुड़क

हुड़क का एक प्रकार

रूंजा

ढोलकी

ढोलकी

डमरू

खोल

कर्णाटक मृदंगम्

धौंसा

टमक-टमक

गंजीरा

नगड़िया

नगाड़ा

चेण्डा
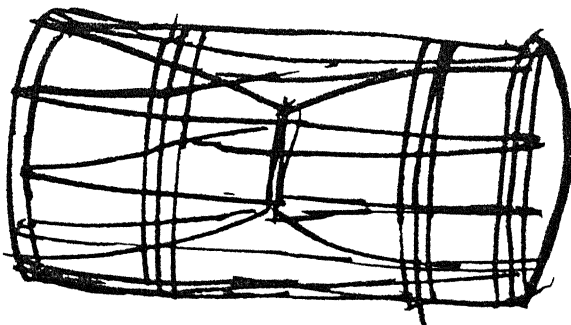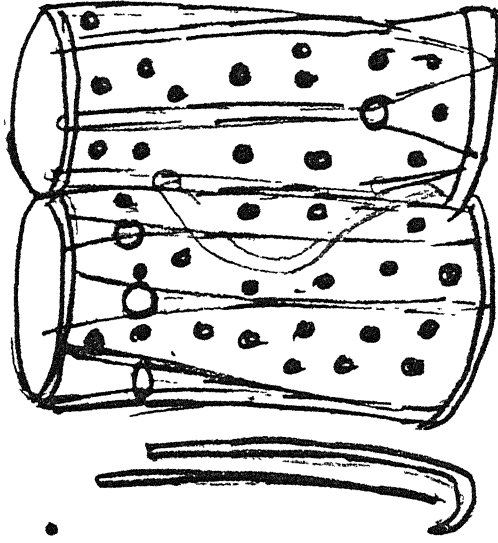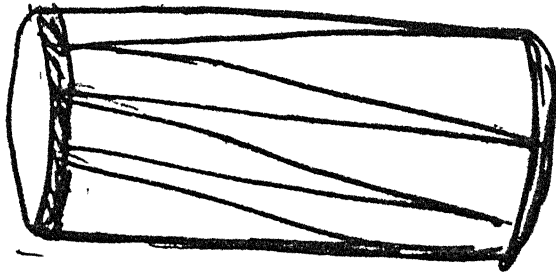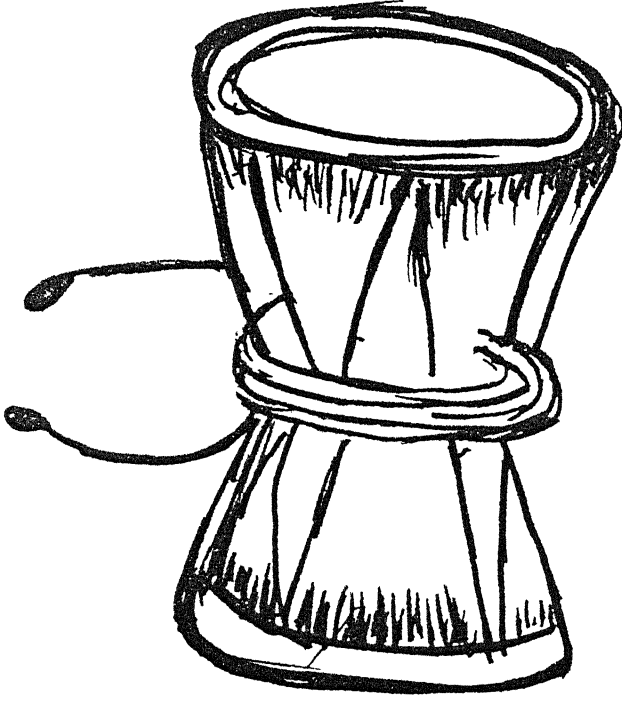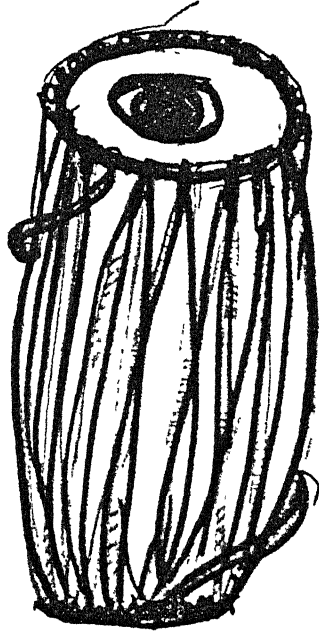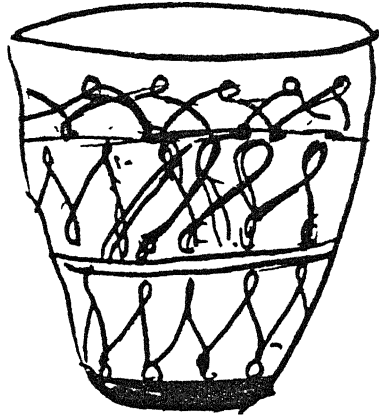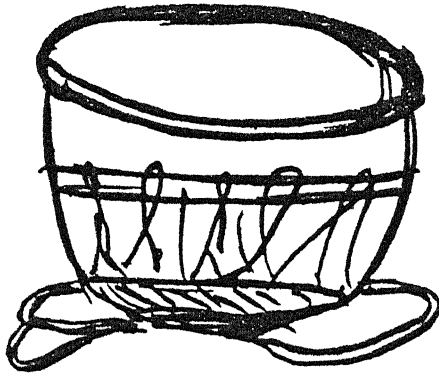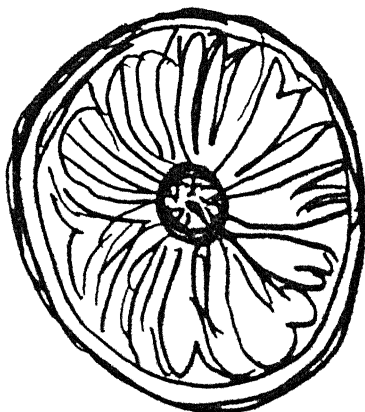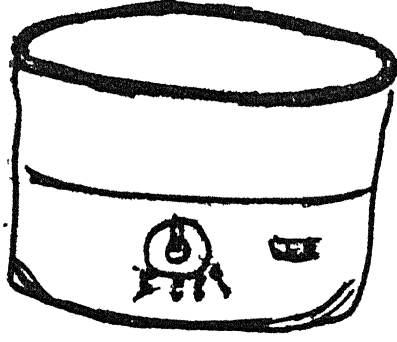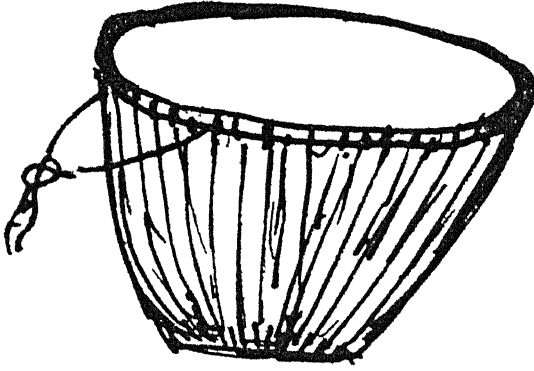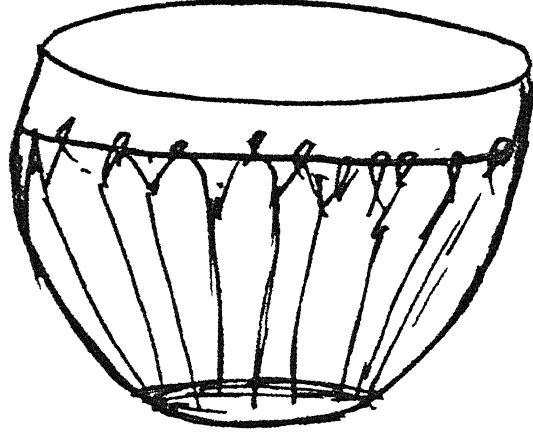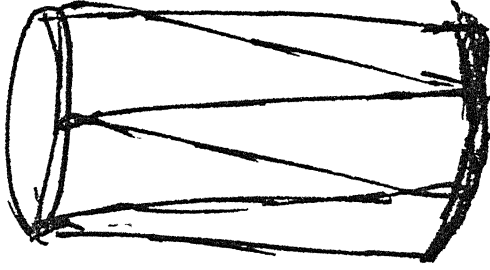
खजड़ी अथवा करचक्र
के विभिन्न प्रकार
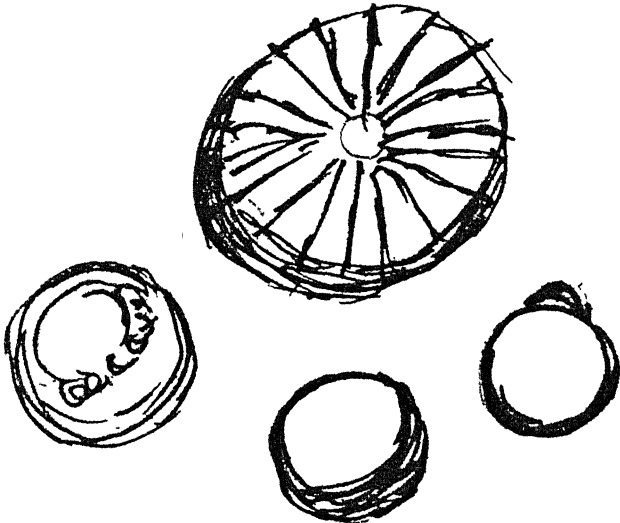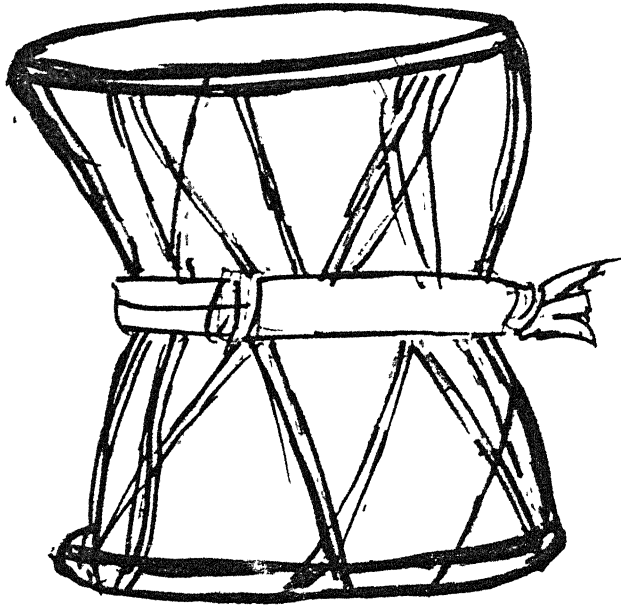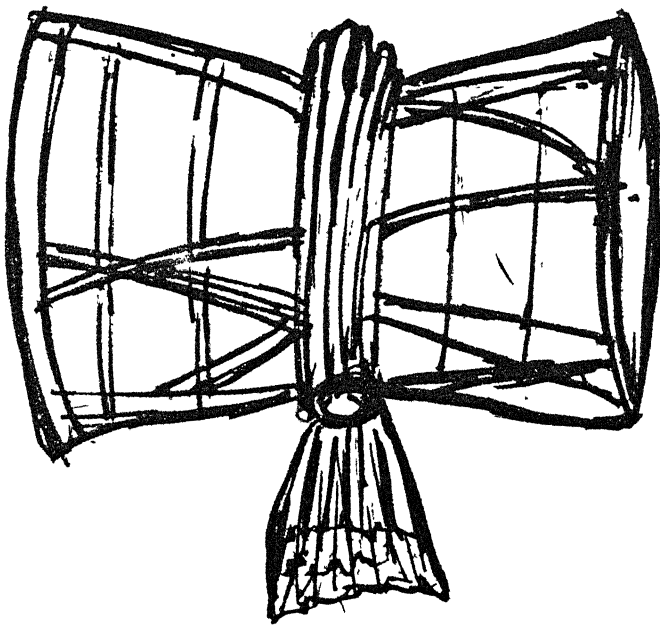
हुड़ुक का प्रकार

हुड़ुक का प्रकार

परवावज

ढोलक
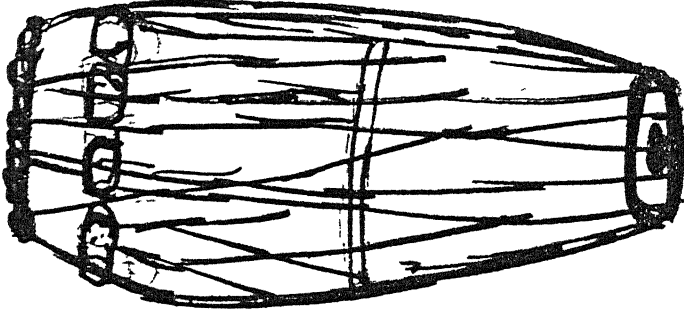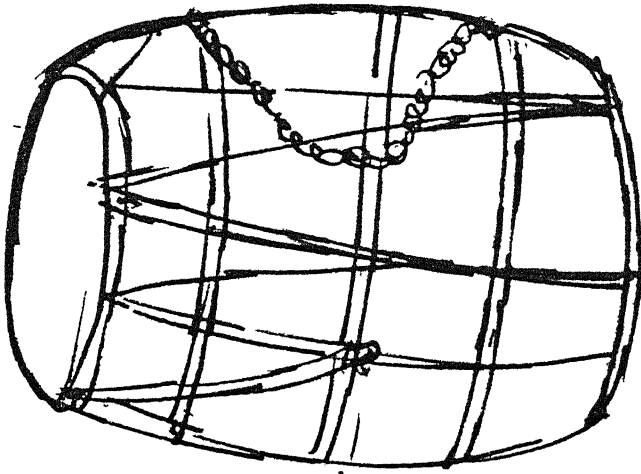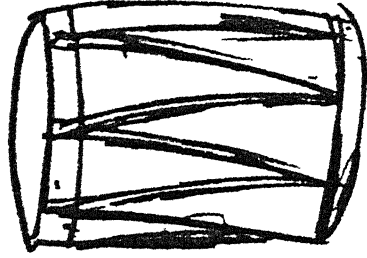
आदि वासियों की मादल
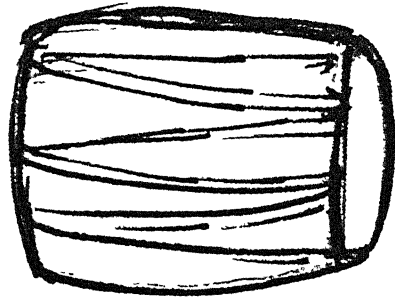
तीबल
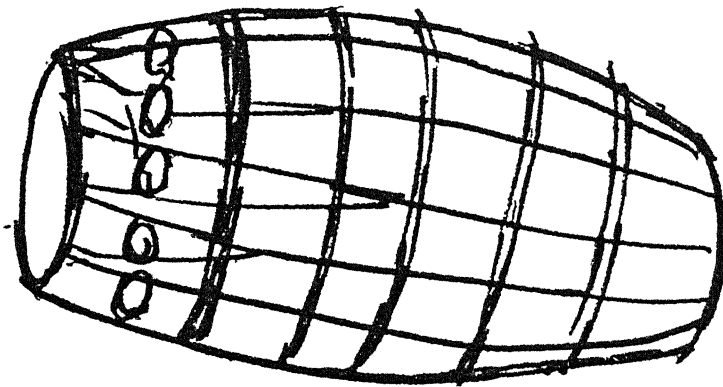
ढोलक

करचक्र

डुमारुम

सूर्य तथा चन्द्र पिरई

तबल

आदि वासियों की मादल

आदि वासियों की मादल

११. धौंसा
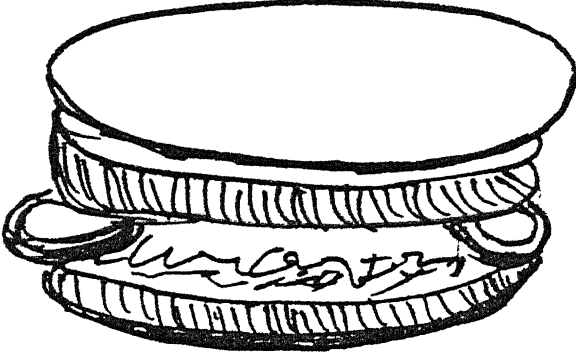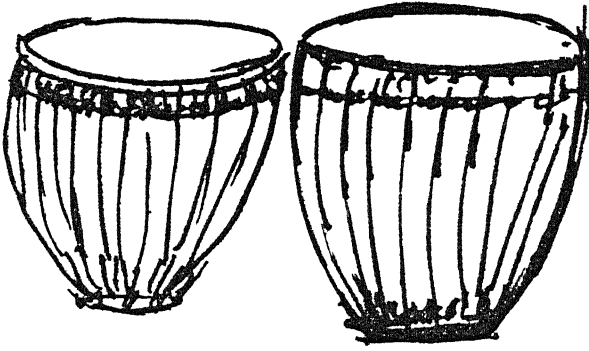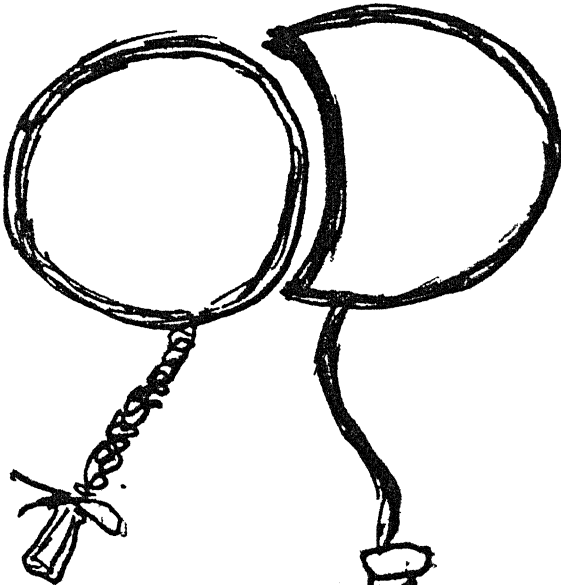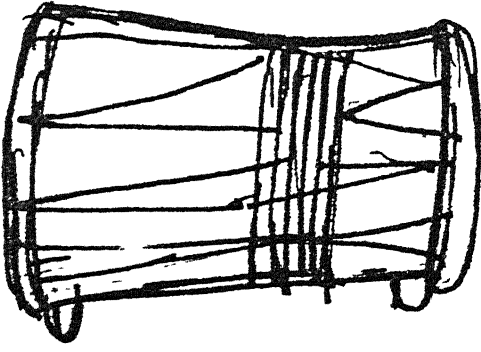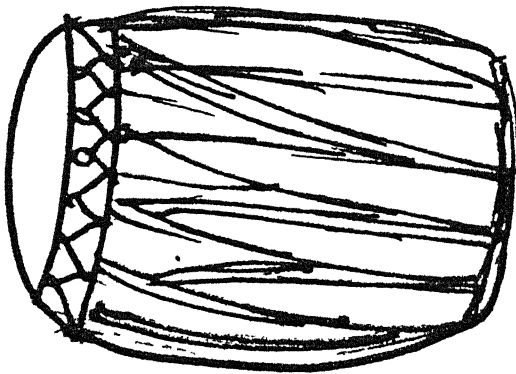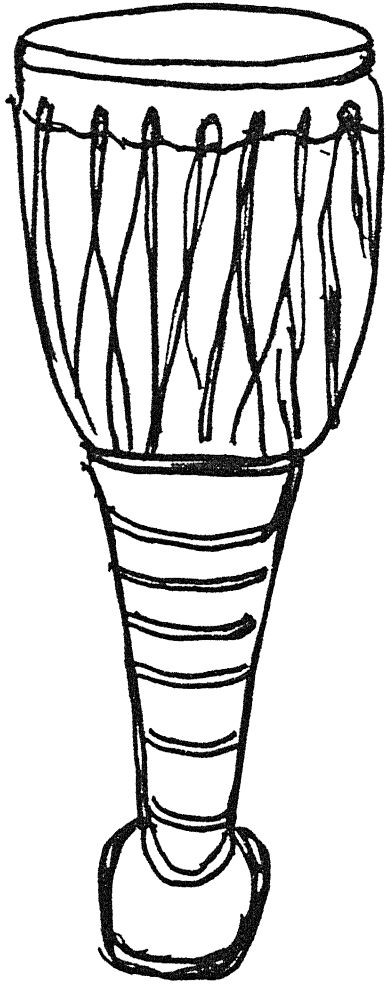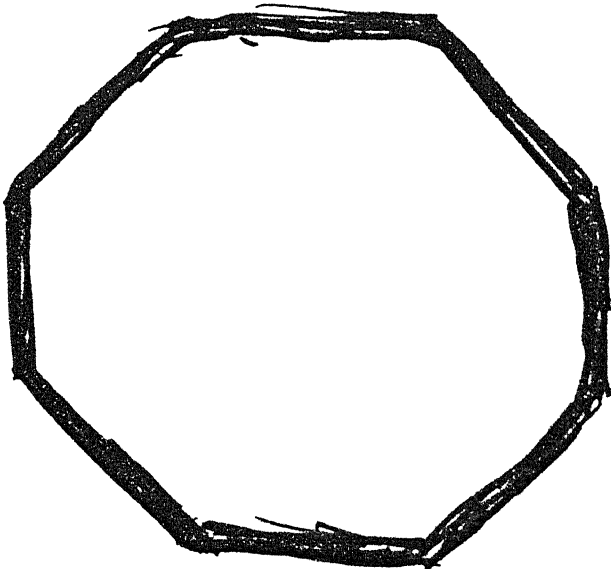
ढफ का एक प्रकार

पखावज
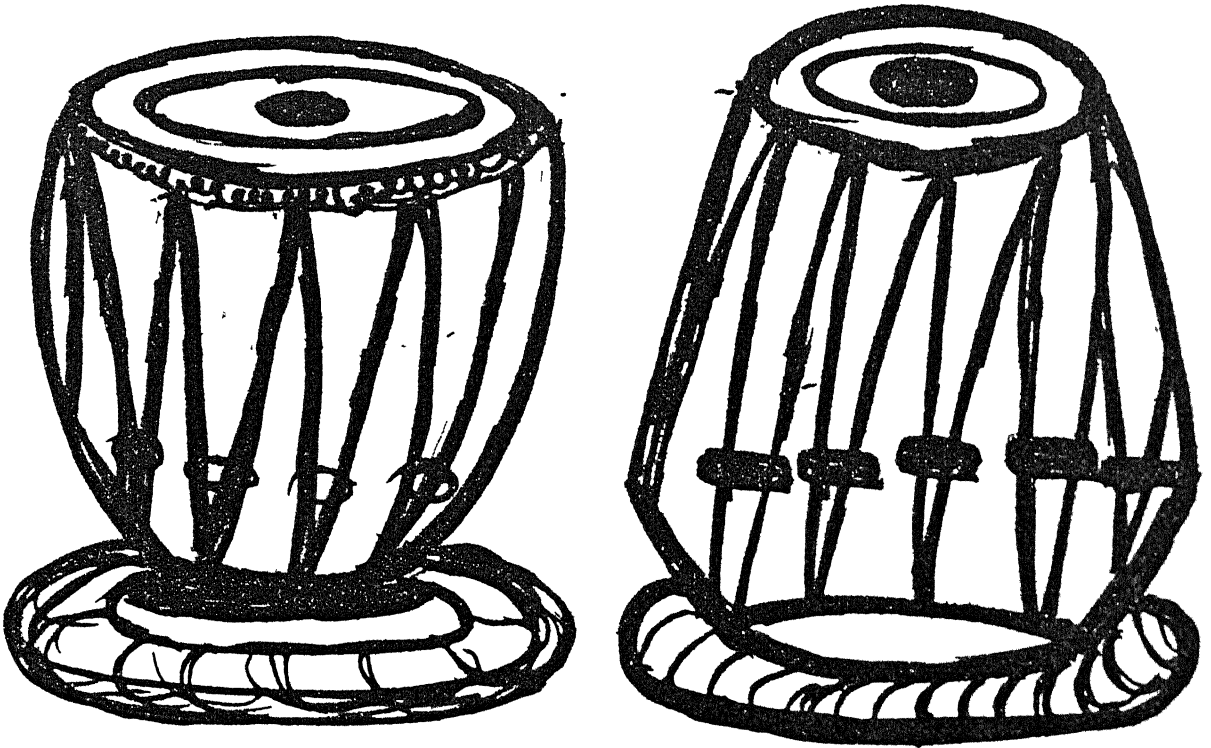
तबला

उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भारतीय अवनद्ध वाद्यों के उपयोग एवं तुलनात्मक अध्ययन जिसमें मैंने मुख्यतः प्राचीन अवनद्ध वाद्यों से लेकर अर्वाचीन अवनद्ध वाद्यों का अध्ययन किया है। प्राचीन अवनद्ध वाद्यों तथा अन्य ताल में सहायक लय वाद्यों का परिचय एवं चित्र प्रस्तुत किया है।

अति प्राचीन अवनद्ध वाद्यों का परिचय तो ग्रन्थों द्वारा प्राप्त होता है, जो कि अधिकतर लोक वाद्य होते थे जिनका कोई शास्त्रीय आधार न होने से वादन शैली, वादक कलाकारों का नाम, वंश परम्परा का भी परिचय नहीं प्राप्त हो सका।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने संगीत के इतिहास का प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक का अध्ययन किया है। संगीत वाद्यों का वर्गीकरण, अवनद्ध वाद्य उनकी उत्पत्ति, विकास एवं विभिन्न प्रकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

संगीत ही जीवन है। माँ सरस्वती की वीणा की मधुर झंकार में ही मानव ने संगीत की मिठास को जीवन में उतारने का प्रयास किया। संगीत में ताल और लय प्रमुख होता है।

उत्तरी एवं दक्षिणी संगीत के लय वाद्यों में तबला और पखावज का तुलनात्मक अध्ययन, साथ ही उत्तर और दक्षिण भारत के प्रमुख अवनद्ध वाद्यों का प्राचीनकाल से अर्वाचीन अवनद्ध वाद्य आदि का विशेष रूप से वर्णन किया है। मानव और संगीत के विकास की कहानी प्रागैतिहासिक काल से साथ-साथ चली है। मानव का विकास और संगीत का विकास अन्योन्याश्रय के सिद्धान्त पर ही आगे बढ़ा है। कारण मानव ने प्रकृति के सानिध्य में रहकर स्वर और लय की प्राप्ति के साधन और माध्यम ढूँढे हैं। उदाहरण के लिए शायद कीड़े द्वारा खाये बाँस में वायु फूंककर सुर पैदा कर कौतूहल द्वारा ही आज की बाँसुरी का जन्म हुआ। दूसरे शब्दों में सुर और कुछ नहीं ताल और लय का ही दूसरा स्वरूप है।

इसमें तबले की उत्पत्ति विकास एवं घराना तथा मृदंग की उत्पत्ति विकास घराने के साथ ही साथ कलाकारों (घरानों) के जीवन चरित्र का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

ताल और लय ही संगीत का प्राण है । अतः ताल और लय का विस्तृत अध्ययन किया गया है । ताल शब्द की परिभाषा ताल एवं लय का महत्त्व एवं संबंध (संगीत में) ताल की ऐतिहासिकता आदि पर भी विचार किया है । ताल के दस प्राण, (भारतीय) ताल लिपि पद्धति (उत्तरी और दक्षिणी) उनका वर्गीकरण गायन शैली के अनुसार दो सौ साठ (260) अप्रचलित तालों के ठेके, दक्षिण भारतीय संगीत की पूर्ण ताल पद्धति, लोक संगीत में प्रयुक्त तालों का शास्त्रीय तालों से सम्बन्ध आदि का अध्ययन है । आदि काल से भारत के लोक जीवन शैली में संगीत का विशेष महत्त्व रहा है । मानव जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कहीं न कहीं लोक गीतों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की धरोहर को संजोये हुआ है । जैसा कि लोक गीत के माध्यम से प्रकट है । समाज एवं परिवार का प्राचीन काल से आज तक की बनती-बिगड़ती छवि और उनका इतिहास प्राप्त कर सके हैं । यही कारण है कि आज के अत्याधुनिक सभ्य जीवन में भी लोकगीत को हम अलग नहीं कर पाते, क्योंकि लोकगीत हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के आधार हैं इसलिए लोक गीतों में भी लय की प्रधानता विशेषकर उत्तर भारत के लोक संगीत में तालों का वर्णन और उनका शास्त्रीय तालों से सम्बन्ध भी प्रस्तुत है ।

संगीत रत्नाकर के गणों जिनके द्वारा छन्दों का निर्माण होता है, उनके बारे में विशद विवेचन किया है । गणक द्वारा घन वाद्यों पर आघात देकर ताल मापन की क्रिया को एक प्रकार से लघु गुरु और प्लुत तालांगों के काल को ध्यान में रखकर की जाती थी, जो छन्दबद्ध गेय पदों में लय, ताल को बनाये रखने में सहायक हैं ।

गायन वादन व नृत्य को प्राचीन काल से भारत में संगीत का अंग माना जा रहा है ।

ध्वनि और काल, संगीत की संरचना के मूल भूत के तत्त्व हैं । ध्वनि से स्वर और काल से ताल की उत्पत्ति हुई है । ध्वनि के आहत और अनाहत दो भेद हैं जिनमें से अनुरंजनयुक्त रंजक आहत नाद संगीत उत्पत्ति का प्रधान कारण है । अतएव संगीत की संरचना में नाद प्रधान और काल उसका सहायक बन रहता है ।

प्राचीन काल से मध्य काल तक के भारतीय अवनद्ध वाद्यों की विविधता एवं सार्वभौमिकता विश्व के अवनद्ध वाद्यों में अद्वितीय है । इन वाद्यों के क्रमिक विकास पर विचार करते हुये ऐसा लगता है कि

प्राचीन काल में ही डमरु, डक्का जैसे द्विमुखी वाद्य बन चुके थे । स्वाति मुनि के द्वारा पुष्कर वाद्यों की संकल्पना भारतीय अवनद्ध वाद्यों में स्वर की प्रतिष्ठा का प्रारंभ थी । भारतीय अवनद्ध वाद्यों में जो मुख्य रूप से ताल की व्यवस्था से संबंधित थे, प्रारंभिक अवस्था में अवनद्ध वाद्य जिनमें किसी प्रकार के लेप का उपयोग नहीं होता था स्वयं में पूर्ण विकसित थे, किन्तु गूंज के अभाव में वे एक पक्षीय थे । भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में ऐसे 100 वाद्यों के प्रचलित होने की सूचना दी है, परन्तु विस्तृत वर्णन पुष्कर वाद्यों अर्थात मृदंग, पणव एवं दुर्दुर का ही किया गया है । उन्होंने कहा है चूंकि पुष्कर वाद्यों की भाँति अन्य अवनद्ध वाद्यों में स्वर नहीं मिलाये जाते तथा उनके पाटाक्षर भी इनमें भिन्न नहीं होते अतः उनका गायन तथा वादन ही सर्वोपरि है । भारतीय अवनद्ध वाद्यों के रूप तथा उनकी वादन सामग्री जो मूल रूप में ही पर्याप्त विकसित थी वह अधिक विकसित हो गई । वर्तमान समय में लगभग 280 प्रकार के अवनद्ध वाद्य देश भर में प्रचलित हैं जिनमें द्विमुखी वाद्य मृदंग, ढोलक, खोल, मार्दल, हुडुक, डमरु आदि एक मुखी वाद्य, करचक्र, खंजरी, धद, नगाड़ा, तबला आदि के अनेक भेद भी देखने को मिलते हैं । इनमें से अधिकांश वाद्य भारत की अपनी निधि हैं, विशेष तया वे वाद्य जिनमें किसी प्रकार के लेप का प्रयोग होता है, विशुद्ध भारतीय हैं ।

अवनद्ध वाद्यों की वादन विधि का गंभीर अध्ययन करने पर कुछ विशेष बातों का पता चलता है । पहली बात यह कि प्राचीन काल में प्रयुक्त होने वाले मृदंग आदि के पाटाक्षरों में मध्य काल तक सामान्य अन्तर था, जो अन्तर मध्य काल में और बढ़ता गया तथा वर्तमान मृदंग के बोलों का रूप सामने आया । मृदंग के कुछ भिन्न पाटाक्षर तबले के लिए बने हैं । इस प्रकार प्राचीनकाल से अब तक इन बोलों के निर्माण में चार बार परिवर्तन हो चुका है । महर्षि भरत ने मृदंग के पाटाक्षरों को प्रमुख बताते हुये पणव तथा दुर्दुर के भी कुछ स्वतंत्र पाट बताये हैं । मध्यकाल में मृदंग तथा पटह के पाटाक्षरों को प्रमुख माना गया है, जबकि वर्तमान काल में मृदंग तथा तबला के बोलों को प्रमुख माना गया है। अन्य अवनद्ध वाद्यों में इन्हीं के बोलों का प्रयोग होता है । प्राचीन, मध्यकालीन तथा वर्तमान मृदंग के बोलों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं जिनके बाद तबले में प्रयुक्त होने वाले बोल की तुलना के लिए गये गये हैं:

प्राचीन बोल

1- भटदट धिधधटघधधोद्ट मंधि धंघन धिधि ।

2- छ्ड गुड़ गुड़ुमधे धो धिघ दुधि दुधैधि ।

3- किंका किम्द्र किंता किकेकितांद तक्तिां गुड्ग ।

4- मद्रि कुट छेछेमत्थिद्धिथ खखर्णव धोष्टत्थिमट । आदि ।

मध्य कालीन बोल

1. ननग्डि । ग्डिदगि ।
2. ननग्डिदि ।।
3. नखुं नखुं ।।
4. ख च ट किट ।।
5. धिकट धिकट ।।
6. धों गिधि । धों धां गि ।।
7. धिरिकि धों ।
8. नगि डें ।। आदि ।

वर्तमान बोलों के अक्षरों में सामान्य अन्तर परिलक्षित होता है जो विशेष काल का सूचक है । जिस प्रकार बोल-चाल की भाषा में परिवर्तन होता है, ठीक इसी प्रकार मृदंग के इन्हीं पाटाक्षरों में परिवर्तन देखने में आता है । वादन विधि में परिवर्तन की दूसरी बात काल के ठेके की है । प्राचीन काल में ताल देने का काल ताल नामक एक प्रमुख घनवाद्य के द्वारा होता था । अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग यद्यपि लय, ताल अथवा गान के छन्दों की संगति के लिए था किन्तु इन वाद्यों से ताल देना अथवा ताल की मात्रा के प्रतिनिधि के रूप में इन्हीं बोलों को बजाना नहीं था ।

प्राचीन गान पद्धति कुछ ऐसी थी, जिसमें गायक स्वयं ताल देकर गान करता था । वीणा वादक गान के स्वरों की संगति करता था तथा मृदंग वादक उसके छन्द के साथ संगति करता था । मृदंग के विभिन्न मुखों द्वारा अदभुत स्वरों का भी संगति के लिए प्रयोग होता था । संगति के विभिन्न प्रकार थे जिसके आधार पर कभी गायक के साथ-साथ कभी गीत के शब्दों के पूर्व मृदंग की संगति होती थी ।

प्राचीन ग्रन्थों में जिनमें अनेक तालों का वर्णन है, उन तालों के ठेकों के बोल नहीं दिये गये हैं । वास्तव में उन दिनों किसी भी ताल के बोलों के बजाने की न तो प्रथा थी और न आवश्यकता थी । आज भी कर्नाटक संगीत के गायन के साथ ठेका बजाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इसीलिए आज भी कर्नाटक ताल पद्धति के किसी ताल का कोई निश्चित ठेका नहीं होता । कर्नाटक संगीत को सुनकर प्राचीन मृदंग वादक किस प्रकार संगति करते थे, यह

सामान्य रूप से जाना जा सकता है । जब ठेका वादन का प्रचार बढ़ा तब से ही ठेका के अतिरिक्त उस वाद्य विशेष के अन्य बोलों का गठन भिन्न-भिन्न तालों से होने लगे । इस प्रकार ठेका के अतिरिक्त कायदा, रेला, पेशकारा, टुकड़ा, नात, परन आदि बोलों के जितने प्रकार तबला साहित्य में दिखते हैं उतना किसी अवनद्ध वाद्य में नहीं हैं । मृदंग साहित्य का मजा तबले की अपेक्षा बहुत अधिक है । फिर भी बोलों के प्रकार तबला साहित्य में ही सर्वाधिक हैं। इस प्रकार शास्त्रीय अवनद्ध वाद्य अपने स्वरूप, सामग्री तथा वादन विधि में अद्वितीय हैं ।

काल और यति के घनिष्ठ संबंध हैं । यति से ही काल को बीतने की अनुभूति मनुष्य को होती है और यही अनुभूति ताल के सृजन का मूल कारण है । किसी भी परिसीमित समय को सशब्द और निशब्द क्रियाओं द्वारा किये जाने वाले मापन को संगीत में ताल कहा गया है जिसकी अभिव्यक्ति में ध्वनि का विशेष महत्व है । ध्वनि उत्पादन करते हुये स्वर व ताल को अभिव्यक्त करने वाले उपकरणों को भारतीय संगीत में वाद्य कहा जाता है, जिसके मूलरूप से 4 भेद बताये गये हैं :-

|1| तत

|2| सुषिर

|3| अवनद्ध

|4| घन

इनमें से तत और सुषिर स्वर प्रधान वाद्य होने से उनमें स्वरों द्वारा धुन या राग बजाये जाते हैं और अवनद्ध व घन ताल प्रधान होते हैं । उनमें लय और ताल की अभिव्यक्ति होती है ।

ताल वह शब्द है जिस पर गीत, वाद्य और नृत्य सभी प्रतिष्ठित अर्थात स्थापित होते हैं । ताल के साथ लय शब्द भी जुड़ा है । लय शब्द "ली" धातु से उत्पन्न हुआ है । ली धातु का अर्थ है लीन हो जाना । जब गति समान रूप में होती है अथवा शमा बन जाता है तभी लय का प्रादुर्भाव होता है । लय केवल संगीत में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण संसार लय के वश में है । लय विहीन होने से प्रलय की संभावना है ।

विश्व का कोई भी संगीत बिना लय के नहीं हो सकता । लय दो भागों में विभाजित है- एक छन्द, दूसरा- काल । काल- द्रुत, मध्य और विलम्बित गति का माप है । लय सम्पूर्ण विश्व के संगीत में विद्यमान है, परन्तु ताल केवल भारतीय संगीत की विशेषता है ।

वैदिक संगीत में लय विद्यमान थी । उसका नाम वृत्ति था परन्तु वैदिक संगीत में ताल प्रयुक्त नहीं होता था । वैदिक संगीत जब गंधर्व संगीत में विकसित हुआ तब ताल का प्रयोग प्रारंभ हुआ । भरत के नाट्य शास्त्र में गंधर्व संगीत का वर्णन किया गया है । ताल के व्यक्त करने के लिए क्रियाएँ होती थीं जिनको निशब्द क्रिया तथा सशब्द क्रिया कहते थे । निशब्द क्रिया के चार भेद होते थे- आवाप, निष्काम, विक्षेप और प्रवेश । सशब्द क्रिया के भी चार भेद थे- ध्रुव, शम्या, ताल और सन्निपात ।

भरत ने ताल के तीन मार्ग बताये हैं- चित्र, वार्तिक और दक्षिण। शारंगदेव ने एक मार्ग और जोड़ा- ध्रुव। लय प्रवृत्ति के नियम को यति कहा गया। यतियों के तीन भेद थे- समायति, स्रोतागता यति और गोपुच्छा यति।

ग्रह भी तीन प्रकार के थे- समग्रह, अतीत ग्रह तथा अनागत ग्रह। भरत के समय तक ताल का मुख्य वाद्य "घन" था। उसका नाम ही ताल वाद्य था। यह वाद्य काँसे का बना हुआ होता था जिसमें डोरियाँ लगी होती थीं, इन्हीं के द्वारा ताल व्यक्त करते थे। मृदंग इस ताल वाद्य का उपरंजक था। मृदंग को पुष्कर भी कहते थे। तीन पुष्कर वाद्य एक साथ बजते थे जिनके नाम थे- अंकिक, ऊर्ध्वक और आलिंग्य। धीरे-धीरे यह सब लुप्त हो गये। ताल वाद्य भी लुप्त हो गया। केवल मृदंग द्वारा ताल प्रदर्शित किया जाने लगा। निशब्द क्रिया भी समाप्त हो गयी। केवल सशब्द क्रिया रह गयी। मृदंग का विकास बढ़ा इसमें प्रस्तार, परन इत्यादि विभिन्न प्रकार से विस्तार होने लगा। सबसे अद्‌भुद विकास जो हुआ वह था- "ठेका" (ताल के एक निश्चित बोल)। यह कब प्रारंभ हुआ यह कहना कठिन है, लेकिन (13 वीं शताब्दी से इसका संकेत मिलता है। ठेका के प्रचार से हिन्दुस्तानी संगीत में एक भारी क्रान्ति आ गयी। ठेके के द्वारा ही विलम्बित लय में ध्रुवपद और ख्याल गाना संभव हुआ।

मृदंग के दो प्रकार प्रचार में आये- पखावज और पखवाज। कहीं-कहीं मृदंग को पखवाज कहते हैं और कहीं-कहीं पखावज। पखावज पक्षातोष का अपभ्रंश है। आतोष का अर्थ है, बाज। आ उपसर्ग है, ताद्य शब्द तुद धातु से बना है जिसका अर्थ है "आघात करना"। आतोष का अपभ्रंश साधारण भाषा में होता है, आवुज या आवज। पक्ष का अपभ्रंश पख। पख और आवज मिलकर बन गया- पखावज। धीरे-धीरे पखावज केवल संगत का ही वाद्य नहीं रह गया। पखावज में परन, टुकड़ा इत्यादि के द्वारा "एकल" (सोलो) भी बजाया जाने लगा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने पखावज का विकास तथा घरानों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पखावज के विभिन्न घराने जैसे- जावली, मथुरा, पंजाब, कुदऊसिंह घराना, नाना पानसे घराना और विभिन्न परम्पराओं (जयपुर, बंगाल, महाराष्ट्र, ग्वालियर, रायगढ़, गुजरात और राजस्थान) के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

प्राचीन काल से मध्य काल तक के भारतीय अवनद्ध वाद्यों की विविधता एवं सार्वभौमिकता विश्व के अवनद्ध वाद्यों में अद्वितीय है । इन वाद्यों केके विकास पर ध्यान देते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल में डमरू, ढक्का जैसे दोमुखी वाद्य बन चुके थे । स्वाति मुनि के द्वारा पुष्कर वाद्यों की कल्पना, भारतीय अवनद्ध वाद्यों में, जो मुख्य रूप से ताल की व्यवस्था से सम्बन्धित थे, स्वर की नियोजना करना विश्व के ताल वाद्यों के लिए अभूतपूर्व बात थी । प्रारंभिक अवस्था के अवनद्ध वाद्य जिनमें किसी प्रकार के लेप का उपयोग नहीं होता था स्वयं में पूर्ण विकसित थे, परन्तु विस्तृत वर्णन पुष्कर वाद्यों अर्थात् मृदंग, पणव एवं दर्दुर का ही किया है। उन्होंने कहा है कि चूंकि पुष्कर वाद्यों की भाँति अन्य वाद्यों में स्वर नहीं होते अतएव उनका ज्ञान तथा सर्वोपरि है । भारतीय अवनद्ध वाद्यों के रूप तथा उनकी वादन शैली जो मूलरूप में पर्याप्त विकसित थी, और भी विकसित होती गयी। वर्तमान समय में लगभग 280 प्रकार के अवनद्ध वाद्य देश भर में प्रचलित हैं जिनमें द्विमुखी वाद्य मृदंग, खोल, ढोलक, मार्दल, हुडुक, डमरु आदि तथा एकमुखी वाद्य करचक्र, खंजरी, घट, नगाड़ा, तबला आदि के अनेक भेद देखने को मिलते हैं । इनमें से अधिकतर वाद्य भारत की अपनी मौलिक देन हैं ।

अवनद्ध वाद्यों की वादन शैली का गंभीर अध्ययन करने पर कुछ विशेष बातों का पता चलता है। पहली बात यह कि प्राचीनकाल में प्रयुक्त होने वाले मृदंग आदि के पाटाक्षरों में मध्यकाल तक सामान्य अन्तर पड़ा था जो उत्तर-मध्य काल में और बढ़ता गया तथा वर्तमान मृदंग के बोलों का रूप सामने आया । मृदंग के कुछ भिन्न पाटाक्षर तबले के बने । इस प्रकार प्राचीन काल से अब तक इन बोलों के निर्माण में काफी परिवर्तन हो चुका है । महर्षि भरत ने मृदंग के पाटाक्षरों को प्रमुख माना है । अन्य अवनद्ध वाद्यों में इन्हीं के बोलों का प्रयोग होता है ।

वास्तव में मध्यकाल से ही विश्व के अनेकों देशों में, विशेषकर पाश्चात्य देशों में इतने नये वाद्यों का नये-नये रूपों में आविष्कार शुरु हुआ है कि उनका वर्गीकरण विश्व के संगीतज्ञों के लिए एक कठिन समस्या बन गया है। प्राचीनकाल में जिस प्रकार वाद्यों को चार वर्गों में बाँटा गया है उसी प्रकार चीन के वाद्यों में आठ वर्ग माने गये हैं, जो वाद्यों के निर्माण में प्रयुक्त वस्तुओं के आधार पर हैं । चीनी विद्वानों के मत में ध्वनि उत्पादन के स्रोत मुख्यतः [illegible] पत्थर, धातु, मिट्टी, लकड़ी, बाँस, रेशम, तुम्बी हैं। अतः इन्हीं ध्वनि उत्पादक सामग्री के आधार पर वाद्यों के 8 वर्ग मानते हैं ।

ताल क्या है, इसकी परिभाषा और व्याख्या प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मिलती है । मैंने संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर ही ताल की परिभाषा और व्याख्या की है । हिन्दी के ग्रन्थों में जो आधुनिक काल में लिखे गये हैं, उनमें अपवाद स्वयं आचार्य मन्नू जी द्वारा लिखित "ताल दीपिका" और के० वासुदेव शास्त्री द्वारा लिखित "संगीत शास्त्र" को छोड़कर तालशास्त्र की चर्चा और विवेचना प्राय: प्राप्त नहीं होती । इस कारण संस्कृत के ग्रन्थों का ही अध्ययन और मनन आवश्यक था ।

ताल की ऐतिहासिकता के बारे में आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित "लय: स्व हि ताल:" इस सूत्र के आधार पर मैंने खोज प्रारंभ की । इस खोज में मुझे प्रसिद्ध पुरातत्व और गुफाचित्रों के विशेषज्ञ, पद्मश्री डा०वाकणकर जी द्वारा भीमबेटिका के प्राप्त गुफा चित्रों से विशद सामग्री प्राप्त हुई है । इन चित्रों में जो नृत्य के चित्र हैं उनमें अंगों की गति से लय का प्रदर्शन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । प्रागैतिहासिक काल में ताल के बीज लय युक्त अंग-विक्षेपों में ही निहित हैं ।

वैदिक काल के सामगान में ताल की स्थिति पर भी मैंने विवेचना की है । वैदिक कालीन संगीत में ताल शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । परन्तु मात्रा-संख्या और काल-मान का मापन गणकों के द्वारा हाथ से आघात देकर सामगान के साथ किया जाता था । इन गणकों को पाणिघ्न भी कहा जाता था ।

भरत मुनि का नाट्य शास्त्र, संगीत का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ है । संगीत के सूक्ष्मतम तत्वों और सिद्धान्तों का सूत्र रूप में वर्णन इस महान ग्रन्थ में मिलता है । भारतीय संगीत शास्त्र का आधारभूत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ही है । नाट्यशास्त्र पर महामाहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त की टीका, जो नवीं शताब्दी में की गयी है, वह नाट्यशास्त्र को समझने के लिए एक मात्र सहायक ग्रन्थ है । "भरत" की मान्यता है कि छन्दहीन कोई अक्षर नहीं होता और अक्षर के बिना छन्द नहीं होता ।

12वीं शताब्दी के प्रारंभ में लिखा गया ग्रन्थ "संगीत रत्नाकर" है । इस ग्रन्थ में एक ओर नाट्य शास्त्र में वर्णित तालों की विशद विवेचना की गई है, और दूसरी ओर देशी तालों, जो भरतकाल से लेकर उस समय तक प्रचार में आ गये थे, का भी वर्णन किया गया है । आचार्य शारंगदेव ने अपने प्रबंधों में ताल का प्रयोग किस प्रकार हो, उसका भी वर्णन किया है । किस प्रबन्ध में किस ताल का प्रयोग किया जाये, इसका निर्देश भी उन्होंने स्पष्ट रूप से दिया है । "संगीत रत्नाकर" में अवनद्ध वाद्यों के वादन की विधि पर भी पर्याप्त विचार किया गया है ।

आचार्य शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ के चौथे अध्याय में छन्द शास्त्र के मूल तत्त्व- मात्रा, वर्ण और गणों पर भी विशद रूप से विचार किया है। पाँचों अध्याय में तालों के निर्माण के गणों के प्रयोग को उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है। 'संगीत दर्पण' जो यद्यपि कलेवर में छोटा ग्रन्थ है, परन्तु उसमें चतुर दामोदर ने संगीत रत्नाकर में वर्णित 120 देशी तालों के अतिरिक्त लगभग 100 अन्य तालों का भी वर्णन किया है और यह भी इंगित किया है कि इनके अतिरिक्त भी प्रचुर संख्या में और ताल भी हैं, जो मार्दंगिक प्रयोग में लाते हैं। संगीत दर्पण का उपरोक्त वर्णन हमें इस ओर इंगित करता है कि बहुत से नये-नये तालों का निर्माण इस युग में हो रहा था। उन तालों में से अधिकांश ताल आज लुप्त हो चुके हैं।

संगीत दर्पण के लेखक चतुर दामोदर मुगल सम्राट जहाँगीर के कृपापात्र थे। उत्तर भारतीय संगीत पद्धति और साहित्य का उनको पर्याप्त ज्ञान था। उस काल तक हिन्दी में भी सैकड़ों छन्दों का विकास हो चुका था। गेय पद रचनाएं विभिन्न छन्दों में की जा रही थीं। राजस्थान, गुजरात और ब्रज में डिंगल छन्दों का प्रचुर प्रयोग हो रहा था। यह छन्द तालबद्ध होते थे। पिछले अध्यायों में इन छन्दों को ताल-छन्द नाम दिया है। डा0सुभद्रा चौधरी ने भी अपने ग्रन्थ "भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान" में इन ताल-छन्दों का कई बार उल्लेख किया है। इन छन्दों का पाठ (अथवा गान) ताल वाद्यों की संगति अथवा ताली देकर ही गाये जाते हैं।

जो ताल आज प्रयोग में नहीं लाये जाते हैं, संभवतः समाज की रुचि की कसौटी पर उनको कोई स्थान नहीं मिला होगा। उस काल में निर्मित कुछ ऐसे भी ताल हैं, जो आज भी गुणी गायकों और वादकों के द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं। उदाहरण के लिए संगीत दर्पण में वर्णित ब्रह्म, विष्णु, लक्ष्मी, अष्टमंगल आदि ऐसे ताल हैं, जो आज भी प्रयोग में आ रहे हैं। उसी काल में एक ताल, झूमरा जैसे तालों का निर्माण मार्दंगिकों ने किया होगा, ऐसा हम अनुमान कर सकते हैं।

उपरोक्त तथ्य इस बात की ओर इंगित करते हैं कि बहुसंख्यक तालों का निर्माण नये-नये छन्दों के आधार पर निर्मिति के ताल एक सशक्त साक्ष्य हैं। जिस प्रकार पूर्व काल में प्रयुक्त ताल आज प्रयोग में नहीं आते, उसी प्रकार बहुत से छन्द भी आज प्रयोग में नहीं लाये जाते हैं। महाकवि केशव दास की "रामचन्द्रिका" में प्रयुक्त कितने ही छन्द आज प्रायः प्रयोग में नहीं लाये जाते।

छन्द : छन्द के उद्भव और विकास का मैंने शास्त्रीय और वैज्ञानिक दोनों अध्ययन प्रस्तुत किया है । लेकिन प्रबन्ध शोध के लिए मैंने वैज्ञानिक विधि का ही सहारा लेकर अध्ययन किया है । छन्द की विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का मनन किया और छन्दों के निर्माणक तत्वों पर भी मैंने समुचित प्रकाश डालने का प्रयास किया है । छन्द और ताल दोनों के निर्माण के लिए जिन आधार भूत तत्वों की आवश्यकता होती है उनकी भी चर्चा की है ।

हिन्दी साहित्य के विचारक छन्द का सम्बन्ध मोटे तौर पर काव्य से मानते हैं । पिछले 300 वर्षों में साहित्य और संगीत का सम्बन्ध एक प्रकार से दूर सा होता जा रहा है जिससे एक विषय के मर्मज्ञ दूसरे विषय की आत्मा में प्रवेश करने से कतराने से लगे हैं ।

छन्द की परिभाषाएं हिन्दी के विद्वानों ने एकांगी रूप से काव्य पर विचार करके ही लिखी हैं । मैंने संगीत और काव्य दोनों दृष्टियों से विचार करके छन्द की परिभाषा और व्याख्या अपने शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । मुझे विश्वास है कि मेरी यह परिभाषा आलोचकों को मान्य होगी । मैंने छन्द की परिभाषा निम्न प्रकार से की है- "छन्द वह आह्लादकारी सार्थक या निरर्थक शब्दों अथवा केवल ध्वनि निर्माण के लिए आवश्यक तत्वों और नियमों का भी विचार इस शोध प्रबन्ध में किया है ।

छन्दों का विन्यास काव्य शास्त्र के नियमानुसार एक प्रकार से निश्चित मात्रा एवं वर्ण पर ही आधारित है। लेकिन संगीत शास्त्र में निरर्थक शब्दों से भी छन्दों के सौन्दर्य का निर्माण हो सकता है । उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य है निम्न प्रकार :-

1. नन ना नन ना नन ना नन ना ।
2. नना ऽना नना ऽना नना ऽना नना ऽना ।

अथवा

सरग, सारेगम, रेगम, रेगमम । आदि ।

श्रेष्ठ तन्त्री वादक एवं अवनद्ध-वादक भी अपने वादन में विविध नवीन छन्दों का प्रयोग करते हुये नित्यप्रति देखे जा सकते हैं ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने छन्द और ताल एक-दूसरे के कैसे पूरक हैं और उनके कौन-कौन से तत्व समान रूप से दोनों में विद्यमान हैं, इसका भी प्रतिपादन करने की चेष्टा की है । ताल और छन्द दोनों ही के निर्माण में जिन विशेष तत्वों को आधार माना जाता है, वे निम्न हैं :-

1. काल - किसी समय परिच्छेद में ताल और छन्द दोनों का निर्माण होता है ।
2. गण - ताल और छन्द दोनों के निर्माण में सहायक है ।
3. लघुगुरु- ताल और छन्द दोनों के निर्माण में इनका प्रयोग होता है ।
4. लय - ताल और छन्द दोनों में व्याप्त है ।
5. विराम-ताल और छन्द दोनों में न्यूनाधिक रूप में होता है ।
6. यति -स्थूल में देखने पर ताल और छन्द में यति के प्रयोग में भिन्नता हो सकती है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर एकता ही दिखाई देती है । "लय प्रवृत्ति नियमो यतिः"[1] लय के चलन के नियम को यति कहते हैं, ऐसा आचार्य शारंगदेव की मान्यता है । यह नियमबद्धता ताल और छन्द दोनों में ही दृष्टिगोचर होती है ।
7. प्रस्तार- ताल और छन्द दोनों में ही प्रस्तार का प्रयोग होता है । ताल और छन्द के नये-नये रूप प्रस्तार के आधार पर ही बनते हैं ।

संक्षेप में लय और काल ताल और छन्द दोनों के ही आधारभूत तत्व हैं । ताल में लय और काल का मापन हाथ से आघात पाकर अथवा मंजीरा जैसे घन वाद्य से उत्तर भारत में आज के युग में अवनद्ध वाद्यों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है ।

छन्द में काल और लय का मापन शब्दों अथवा ध्वनि के, लघु-गुरु, ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण, मृदु और प्रबल आघात, वर्ण गणों की स्थिति तथा बल-अबल के आधार पर किये गये उच्चारण द्वारा प्रदर्शित होता है । अवनद्ध एवं तन्त्री वाद्यों पर आघात करने के विभिन्न स्थानों और प्रहार के बल-अबल का छन्द की स्वरूप-निर्मिति में विशेष योगदान है ।

काव्य और संगीत में छन्द का उपयोग कैसे होता है तथा काव्य और संगीत एक दूसरे के प्राण हैं । इस विषय पर भी शोध प्रबन्ध में विचार किया गया है ।

लय और ताल दोनों ही छन्द का ही अभिन्न अंग हैं । "क्रियान्तर विश्रान्ति लयः"- यह लय की परिभाषा है । लय ताल का तो प्राण ही है, परन्तु लय के बिना छन्द भी गद्य हो जायगा । प्रत्येक छन्द के पादान्त में विराम होता ही है । इसके अतिरिक्त पदों के अन्तर्गत भी यति का नियम छन्दों में होता है । छन्द के पाठ के लिए उच्चारण में बल, अबल, यति आदि आवश्यक तत्व हैं । लय, ताल का प्राण है । ताल के एक

---

1. संगीत रत्नाकर 5/47

आवर्तन में भी कई विभाग होते हैं। इस विराम एवं आवर्तन के अन्त में स्वल्प विराम ही लय प्रतिपादक तत्व है। जिस प्रकार ताल में आवर्तन की गतिमयता प्रदान करने वाला तत्व है, उसी प्रकार छन्द में भी पदों के द्वारा आवर्तन होता है। इस प्रकार लय, ताल और छन्द दोनों की जीवनी-शक्ति है। लय के बिना छन्द अपने अभीष्ट भाव और रस का प्रतिपादन नहीं कर सकता है।

"पतित, पावन, सीताराम"- इस छन्दांश में विराम का स्थान अर्द्धविराम लगाकर दिखाया गया है। इस पादांश के विराम यदि बदल कर निम्न कर दें, तब पादांश के अर्थ का अनर्थ हो जायगा। यह निम्न प्रकार से द्रष्टव्य है - "पति, तपावन, सीताराम"। लय, छन्द निर्माण का आवश्यक तत्व है, यह निर्विवाद सत्य सिद्ध होता है।

आधुनिक तालों में छन्दों का निरूपण तथा अवनद्ध वाद्यों के वादन की बन्दिशों में छन्द का किस प्रकार से प्रयोग किया जाता है, मेरे शोध विषय का एक अंग है।

मेरे शोध प्रबन्ध में एक अध्याय के अंतिम खण्ड का शीर्षक है- "आधुनिक तालों में छन्दों का निरूपण" जो मेरे शोध विषय का मुख्य अंग है। तालों में छन्दों के निरूपण को मैंने दो वर्गों में बाँटा है।

प्रथम वर्ग में उन छन्दों और तालों पर अध्ययन किया है, जिनमें छन्द और तालों का निर्माण लगभग एक प्रकार से ही हुआ और वे ताल छन्दों के अनुरूप हैं। इस वर्ग में तीन मात्रा अथवा वर्ण से सोलह मात्रा, अपवादस्वरूप कुछ अधिक मात्रा वाले छन्दों का इसमें समावेश किया है और उनके ही अनुरूप तालों को प्रस्तुत किया है। प्रत्येक छन्द के चार पद या चरण होते हैं। प्रत्येक पाद भाग में छन्द निर्माण के लिए निश्चित वर्ण अथवा मात्राएं होती हैं। वर्ण गणों की स्थिति, यति, विराम आदि के नियम निश्चित होते हैं। इन नियमों के अधीन ही चारों पाद भाग होते हैं। आगे उदाहरणों में मैंने छन्द के एक अथवा दो पाद का ही उल्लेख किया है और उसके ही अनुरूप ताल का उल्लेख किया है। आवर्तन ताल और छन्द दोनों में ही आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए छः मात्रा का मदनक छन्द प्रस्तुत है :-

<u>मदनक छन्द</u> : "तरुनि, चरन। अरुन, बरन"

इस छन्द का एक पाद छः लघु अक्षरों से बना है और यह दादरा ताल में सटीक रूप से आता है।

इसी प्रकार से झपताल की लय, गति और विभाजन के अनुरूप वीरछन्द है । इस छन्द का एक पाद भाग पाँच वर्णों से निर्मित है । इस छन्द के दो पाद झपताल के एक आवर्तन में आते हैं । गति और लय दोनों की झपताल के अनुरूप हैं ।

वीरछन्द	1 2	3 4 5	1 2	3 4 5
	हरु,	पीऽर	अरु,	भोऽर

ठेका झपताल 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10
धी ना धी धी ना ती ना धी धी ना

सात मात्रा वाला रंगी छन्द -

रूपक ताल की मात्रा संख्या एवं गति रंगी- छन्द के अनुरूप है । इस छन्द का निर्माण 1555 इस प्रकार हुआ है ।

रंगी छन्द -	रा	ऽग	रु	गीऽ	श्या	ऽम	सं	गी
	1	5	5	5	1	5	5	5

रूपक ताल का ठेका- ती तीना, धीना धीना ती तीना, धीना धीना

इसे मैंने उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयास किया ।

दूसरा वर्ग - इस वर्ग में वे छन्द हैं, जिनका आजकल प्रचुर मात्रा में प्रयोग नहीं मिलता । यदि प्रयोग मिलता भी है तो दूसरे रूप में । श्रेष्ठ सांगीतिकों और तबला-वादकों ने अपनी बन्दिशों का निर्माण इन छन्दों के आधार पर किया है और उनका प्रयोग भी वे अपने मुक्त वादन और गायक और वादकों[1] की संगति में करते हैं । उसके उदाहरण भी मैंने दिये हैं ।

गीतांगी अथवा झूलना छन्द की बंदिश, तीन ताल

धगेन धागेतिट, तगेन तागेतिट, धित्ता धिड़नग, दिगेन धीनगिन, नगेन नगनग, तक्टि तकतक, कृधेत धिरधिर, धकिट धाधाकिट, धाऽकृधातित, धगेन धागेतिट, धा, धाकृधातित, धगेन धागेतिट, धा, धाकृधातित, धगेन धागेतिट, ।धा।

तीन ताल की इस बन्दिश में गीतांगी छन्द का स्पष्ट दर्शन, ।पाठक और श्रोता। होता है ।

---

1. सितार गिटार बाँसुरी आदि ।

जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि जिन छन्दों के आधार पर गेयपद रचनाओं की संगति के लिए तालों की आवश्यकता हुई, उसे तालशास्त्रियों ने छन्दों के अनुरूप तालों की रचना की । जिन छन्दों के आधार पर गेयपद रचनाओं का निर्माण नहीं हुआ, संगीत-शास्त्रियों ने रागों में जिन छन्दों के स्वरूपों को गेयपद रचना में निबद्ध नहीं किया, उनके अनुरूप तालों का निर्माण नहीं हुआ । परन्तु जिन छन्दों की रसवत्ता ने वादकों और गायकों को भी आकर्षित किया, उनका मोह तंत्री वादक विशेष रूप से नहीं छोड़ सके। उनका प्रयोग तंत्री वादकों ने किया और आज भी करते हैं । तंत्री वादकों की संगति के लिए मार्दंगिकों ने छन्दों के अनुरूप तालबद्ध रचनाएं कीं । छन्दों में ताल निरूपण का उल्लेख इसी वर्ग में आता है । गेयपद की महत्ता ध्रुवपद शैली की गायकी के बाद समाप्त हो गयी । ध्रुवपद के गायकों ने छन्दों का प्रयोग किया है, परन्तु स्वरों के कर्षण से छन्द का सौन्दर्य और स्वरूप वे गायक स्थिर नहीं रख सके ।

ध्रुवपद गायकी के पतन के बाद ख्याल गायकी की प्रधानता हुई । ख्याल गायकी में पद-रचना के छन्द पर ध्यान नहीं दिया जाता है, केवल प्रयोज्य स्वरों की ही प्रधानता रहती है जिसे गेय रचनायें पद भी नहीं कहा जा सकता । गेय रचना के स्थायी और अन्तरा दोनों में तुकों के शब्दों के विन्यास का सामंजस्य भी नहीं होता । अतः अधिकांश बन्दिशों का सम्बन्ध छन्दों से नहीं जोड़ा जा सकता । इस कारण से ख्याल गायकी की संगति के लिए जिन तालों का निर्माण हुआ वे ताल, छन्दों के आधार पर नहीं बने । वे ताल गायकी के चलन तथा मात्रा आदि के आधार पर बने, जैसे- तिलवाड़ा झूमरा आदि ।

यद्यपि ख्याल गायकी में छन्द को स्थान नहीं मिला, किन्तु तंत्री-वादन और नृत्य में छन्द की स्थिति अक्षुण्य रही । वादकों और नृत्यकारों ने छन्दों का प्रयोग निरन्तर जारी रखा । आज के किसी भी तन्त्री वादन की गोष्ठी में यह सहज ही देखा जा सकता है । ख्याल गायक भी तानों के प्रयोग में विभिन्न छन्दों का प्रयोग करते हैं ।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर मैं कह सकती हूँ कि छन्दों ने संगीत के सभी अंगों को प्रभावित किया है और नये तालों के निर्माण की प्रेरणा दी है, तथा तालों की बन्दिशों की छन्दानुसारी रचना करने को भी बाध्य किया है ।

छन्दों के ताल निर्माण में योगदान का कार्य 18वीं शताब्दी तक पूर्णरूप से चलता रहा । 19वीं शताब्दी में यह कार्य रुक सा गया । 19वीं शताब्दी ठुमरी शैली और टप्पा शैली की गायकियों के उत्कर्ष का काल था और उनके लिए अत, पंजाबी इन ठेकों का भी विकास हुआ । यह दोनों शैली भावनात्मक लोक संगीत का ही परिमार्जित स्वरूप हैं । यह दोनों शैली रोमांटिक हैं। इनमें लय का चमत्कार भी देखने को मिलता है । द्रुतलय में ठुमरी में कहरवा ताल की लय में बांटों और लग्गियों का प्रयोग प्रशंसनीय होता है । लग्गी और बांटों के निर्माण का मूल लोकसंगीत में है ।

19वीं शताब्दी का काल, उत्तर भारत में बहुत विप्लव का काल था । ब्रिटिश साम्राज्य अपनी जड़ें जमा रहा था । इसका प्रभाव संगीत पर भी पड़ा । शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत दोनों ही इससे प्रभावित हुये । 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में और बीसवीं शताब्दी में संगीत के दोनों पक्षों का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ ।

लोक संगीत भावना प्रधान है जिसका हृदय पक्ष प्रबल होता है, जिसका मूल मन होता है । बुद्धि की पहुंच है ही नहीं जिसे गायक अपने भावों को सीधी सरल धुनों में व्यक्त करता है । लोक संगीत का गायक अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जैसे ही किसी धुन को गुनगुनाता है, उसकी लय उसके भावों के अनुसार स्वयं स्फूर्त हो जाती है । वह ताल की मात्राओं के पचड़े में नहीं पड़ता, लयानुसार ही ताल सहज ही संगीतकार के सामने प्रगट हो जाता है । लोक गायक अपनी लय की डोर को संभालने के लिए ताल वाद्यों पर आश्रित नहीं है । वह लकड़ी, पत्थर, घड़े और चिमटे जैसे उपादानों को टकराकर ही अपनी लय की डोर को स्थिर कर लेता है । इस प्रकार उसका ताल, लय की स्थिरता के कारण स्वयं उपस्थित हो जाती है । "लय एव हि ताला:" शास्त्र के इस सूत्र के अनुसार उसका ताल भी कायम हो जाता है । उसके गायन में फिर यति और विराम के परिवर्तित रूप, जो उसकी मस्ती में स्वयं स्फूर्त होते हैं, स्वयंभू रूप में प्रकट होते हैं । इस परिवर्तन से नये ताल चक्र के विभिन्न स्वरूपों को वह प्रकट करता है । लोक गायक की धुनें प्राय: छ: और आठ मात्रा में ही बंधी होती है ।

आठ मात्रा के कहरवा ताल का जो रूप आज की पुस्तकों में वर्णित है और प्राचीन शास्त्रकारों ने जिसे चम्पकमाला छन्द कहकर पुकारा है, इस लोक गायक की धुनों में यति विराम के भेद से विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं, जो कहरवा ताल के ठेके की गति और यति से बिल्कुल भिन्न होते हैं ।

अपनी धुन की गति में वैचित्र्य उत्पन्न करके ही गायक अपने अनेक प्रकार के कहरवा ताल प्रस्तुत करता है, जिनको सुनकर अच्छे तबला वादक भी मुग्ध हो जाते हैं ।

तबला वादकों के कहरवा ताल के बांटों, लग्गियों के निर्माण की प्रेरणा-स्रोत लोक संगीत की धुनें ही हैं । उदाहरण के लिए धाग, धाती, धाती, धाग । यह दो-दो मात्रा का विभाजन धीन, धीन, धाग । अथवा तीन-तीन और दो मात्रा का विभाजन शास्त्रीय कहरवा ताल का नहीं है । यह और इसी प्रकार के और बांट शास्त्रीय ताल वादकों को लोक-गायक की धुनें ही हैं । कई बार वह अपनी आठ मात्रा की धुन को दीपचन्दी ताल की गति के अनुसार आठ मात्रा में निबद्ध करके ही गाता है । यह कार्य वह अनायास ही करता है ।

कभी वह आठ मात्रा काल में ही निबद्ध कोई ऐसी धुन गाता है, जिसकी गति अन्य धुनों से भिन्न होती है । इस प्रकार भिन्न गतियों और लयों वाली धुनों को वह, धुमाली अथवा लाचारी ताल में निबद्ध करते हैं । अपनी भिन्न-भिन्न लय वाली धुनों के लिए भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं [illegible] अंचलों में भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं । शास्त्रीय संगीत के तालों के निर्माण में भी लोकधुनों ने पर्याप्त प्रेरणा दी है । विभिन्न कालखंडों में यह प्रेरणा विभिन्न तालों के निर्माण का कारण बनी । इसी लिए एक मात्रा संख्या वाले अनेक तालों का निर्माण हुआ, जिनकी गति और यति भिन्न होती है जिन्हें संगीत शास्त्री प्रयोग में लाये ।

होली के अवसर पर राधाकृष्ण के परस्पर होली खेल गीतों के लिए धुमाली लय का प्रयोग किया और वह पद रचना "होरी" कहलाई । इसी होरी ने श्रेष्ठ ध्रुवपद गायकी के गायकों को धमार गायकी और धमार ताल के निर्माण की प्रेरणा दी होगी, ऐसा अनुमान ही किया जा सकता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत दोनों के आपसी सम्बन्ध और उससे हुये परिवर्द्धन, परिमार्जन तथा प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत किया है । दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है ।

लोक संगीत की धुनों ने श्रेष्ठ शास्त्रीय गायकों का मन मुग्ध किया है, उसकी भाव सम्प्रेषण की शक्ति और रसवत्ता ने शास्त्रीय संगीत में उस लोक धुन को स्थान दिलाया है उदाहरण के लिए- पहाड़ी, पीलू ऐसी ही धुनें हैं । कई धुनें जो शास्त्रीय रागनियों के निकट एवं रोचक थीं, उनका अध्ययन करके संगीत शास्त्रियों ने अपना लिया और उनके नाम शुद्ध रागिनी के साथ स्थान विशेष के नाम जोड़कर निश्चित कर दिये, जैसे कसूरी, भैरवी, सिंधु काफी आदि । इस प्रकार लोक संगीत ने शास्त्रीय संगीत कोषागार के वृद्धि में पर्याप्त सहायता की ।

शास्त्रीय संगीत ने भी लोक संगीत पर पर्याप्त प्रभाव डाला है । लोक संगीत जो कभी अनगढ़ पत्थर, लकड़ी अथवा बर्तनों को टकराकर गाया जाता था, उसमें खंजरी, चंग और धीरे-धीरे ढोलक ने स्थान पा लिया । बिहार के लोक गीत के संगतिकार ने अपनी ढोलक पर मृदंग की तरह से बायीं ओर. आटा भी लगाया । लोक गायक की संगति के लिए पहले कोई तन्त्री वाद्य नहीं था ।

धीरे-धीरे उसने सारंगी का अनुकरण करके चिकारा और रावण हत्था का प्रयोग प्रारम्भ किया। इन वाद्यों को स्वर में मिलाने की चेष्टा संगतिकार करने लगा। अब तो हारमोनियम भी लोक संगीत में प्रयुक्त होने लगा। शास्त्रीय संगीत का लोक संगीत पर स्पष्ट प्रभाव इस प्रकार प्रमाणित होता है।

प्रस्तुत लय, ताल और छन्द के द्वारा निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आए :-

1- ताल, संगीत का आधारभूत तत्व है। ताल के बिना संगीत अधूरा है।

2- प्राचीन मार्ग तालों का निर्माण छन्दों के आधार पर हुआ।

3- भरत के काल से शार्ङ्गदेव के काल तक देशी गायन पद्धति, जिसको हम लोक गान पद्धति अर्थात् लोक संगीत कह सकते हैं, के लिए देशी तालों का निर्माण हुआ, जिनकी संख्या संगीत रत्नाकर में 120 थी और जो संगीत दर्पण में आते-आते 300 के आस-पास हो गयी। यह संख्या वृद्धि प्रबन्धों और देशी रागों की गेयपद रचनाओं, जो कि छन्दों के आधार पर बनी थीं, के साथ संगति करने के लिए अनुरूप तालों के निर्माण के कारण हुई।

4- छन्द और ताल के निर्माण के आधारभूत तत्व समान हैं तथा दोनों में लय और काल की प्रधानता होती है।

5- छन्दों के अनुरूप तालों का निर्माण, एवं छन्दानुरूप तालों की बन्दिशों का निर्माण हुआ।

6- लोक संगीत के आधार पर नये तालों का निर्माण हुआ।

7- लोक संगीत के द्वारा यति और विराम के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के बाँटों और लग्गियों के निर्माण की प्रेरणा उत्पन्न हुई।

8- तन्त्री वादन में छन्दों का प्रयोग।

9- अवनद्ध वाद्यों की बन्दिशों पर छन्दों और लोक संगीत का स्पष्ट प्रभाव।

=======

सहायक ग्रन्थों की सूची

1- भारतीय संगीत वाद्य - डा०लाल मणि मिश्र

2- भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन-डा०अरुण कुमार सेन

3- ताल प्रकाश- श्री भगवत शरण शर्मा

4- भारतीय संगीत का इतिहास- श्री भगवत शरण शर्मा

5- हमारे संगीत रत्न- श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग

6- तबला शास्त्र- श्री मधुकर गणेश गोडबोले

7- ताल तरंग- श्री टी०आर०शुक्ल

8- ताल मार्तण्ड- श्री सत्य नारायण वशिष्ट

9- ताल दीपिका- श्री मुन्न जी मृदंगाचार्य

10- ताल परिचय भाग-1, 2- श्री गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

11- ताल अंक- विशेषांक "संगीत" हाथरस

12- तबले पर दिल्ली और पूरब- श्री सत्य नारायण वशिष्ट

13- तबला शास्त्रो प्रभाकर-[बंगला]- श्री राम कृष्ण महन्ती

14- भारतीय संगीत का इतिहास- श्री उमेश जोशी

15- मृदंग सागर- घनश्याम दास पखावजी

16- भरत नाट्य शास्त्र[संस्कृत]-भरत मुनि-अनुवाद-श्रीकृष्णदत्त बाजपेई

17- संगीत रत्नाकर-[संस्कृत]-शारंगदेव-अनुवाद-श्री लक्ष्मीनारायणगर्ग

18- तबला कथा-[बंगला]- श्री सुबोध नन्दी

19- तबलार इतिहास[बंगला]- श्री शम्भु नाथ घोष

20- ताल प्रभाकर प्रश्नोत्तरी- श्री गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

21- Benaras School of Tabla Playing-Dr.K.N.Bhoumik

22- Musical Instrument of India- Dr.S.C.Deva

23- पखावज और तबला के घराने एवं परम्परायें-डा०आबान ए०मिस्त्री

24- राग परिचय-भाग-1,2,3- श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

25- संगीत शास्त्र दर्पण-भाग-1,2,3- शान्ती गोवर्धन

26- निबन्ध संगीत- श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग